हिंदी-नवरत्न

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

'हिंदी-नवरत्न' का यह संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। हमारे चाचा स्वर्गीय पं० शुकदेवविहारीजी मिश्र ने इसका यह परिष्कार सन् १९४८ में किया था। उनकी लेखनी द्वारा नवरत्नों का यही अंतिम प्रसाधन था। लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में, सन् १९५१ की १९ मई को, उन्होंने यह नश्वर शरीर त्याग दिया। जीवन के अंतिम दिन तक उनकी स्मृति, प्रतिभा, विचार-शक्ति और वाक्शक्ति अप्रतिहत बनी रही।

मिश्र-भवन
गोलागंज, लखनऊ
१५ मार्च, १९५५

प्रतापनारायण मिश्र

सूची

सूच

संपादक का वक्तव्य

ग्रंथकार

साहित्य-सेवा शिक्षित मनुष्य-मात्र का एक आवश्यक कर्तव्य और प्रशंसनीय व्यसन है। उसमें भी निस्स्वार्थ-भाव से लोकोपयोगी और राष्ट्र में जातीयता के भाव भरनेवाले साहित्य की रचना करनी मानो अपने को अमर बना देना है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी अथवा राष्ट्र-भाषा-भूषण महाकवि भूषण का पद, इस दृष्टि से, केवल शृंगार-रचना-रसिक अन्यान्य प्रौढ़ कवियों से ऊँचा है। लोकमान्य तिलक, माननीय गोखले अथवा महात्माजी की लेखनी से निकले हुए ग्रंथों या लेखों और चंद्रकांता-संतति या भूतनाथ की जीवनी में महान अंतर है, यद्यपि साहित्य में समावेश दोनो प्रकार की रचनाओं का हो सकता है। जो सुशिक्षित सज्जन नौकरी या अन्य अनेक प्रकार के अपने आवश्यक काम करते हुए भी, समय बचाकर, निस्स्वार्थ-भाव से केवल देशवासियों के उपकारार्थ अपनी मातृभाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिये उपयोगी लेख लिखते अथवा पठनीय उच्च पुस्तकों का प्रणयन करते हैं, उनका नाम जातीयता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाता है, अथच सर्व-साधारण में वे श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

हमारे हिंदी साहित्य जगत् में यद्यपि ऐसे लेखक अभी यथेष्ट संख्या में नहीं हैं, तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नहीं। इस प्रकार के जो कतिपय लेखक राष्ट्र-भाषा के शरीर को समय-समय पर बहुमूल्य रचना-रत्नों के आभूषणों से अलंकृत किया करते हैं, उनमें मिश्रबंधुओं का नाम

सादर लिया जा सकता है *। ये तीनो बंधु जैसे सत्कुलोद्भव, सुशिक्षित और सज्जन हैं, वैसे ही बिना किसी स्वार्थ के मातृभाषा की सेवा करनेवाले भी। आप लोगों को गद्य और पद्य, दोनो में रचना करने का व्यसन है। समय-समय पर, हिंदी के पत्रों और पत्रिकाओं में, आप लोगों ने जो ऐतिहासिक और आर्थिक निबंध लिखे हैं, या समालोचनाएँ की हैं, वे महत्त्व-पूर्ण हैं। आप लोगों का यह क्रम अभी तक जारी है। इनके समकालीन कई लेखकों की लेखनी ने जहाँ संन्यास ग्रहण कर चुप्पी साध ली है, वहाँ आपकी लेखनी दूने उत्साह के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने को उद्यत रहती है। हमारे इस कथन का प्रमाण 'सुधा' और 'माधुरी' में समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आपके सुचिंतित, सुलिखित, गवेषणा-पूर्ण निबंध हैं। आप लोगों ने केवल लेख लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली है, वरन् समय-समय पर बहुमूल्य और विस्तृत कई उपयोगी ग्रंथ भी लिखकर अपनी अध्ययनशीलता, गवेषणा-प्रियता और देश-प्रेम का परिचय दिया है। उनमें 'हिंदी नवरत्न', मिश्रबंधु विनोद', 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' और 'बुद्ध-पूर्व का भारतीय इतिहास', ये चारो ग्रंथ बड़े महत्त्व के हैं। पुस्तकाकार प्रकाशित 'व्यय'-नामक आप लोगों का विशालकाय निबंध भी आर्थिक दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखता। १९३५ से रचनात्मक साहित्य पर भी आप लोगों का विशेष ध्यान रहा है, तथा ऐतिहासिक भाव-गर्भित आप लोगों के छ नाटक अथवा छ बड़े उपन्यास-ग्रंथ निकल चुके हैं।

अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं के साहित्य में आप ऐसी अनेक पुस्तकें देखेंगे, जिनमें समस्त प्राचीन कवियों अथवा लेखकों के संबंध में विस्तृत रूप से ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कौन कवि किस समय,

* शोक का विषय है, इन तीनो लेखकों का—पंडित गणेशविहारीजी मिश्र का फ़रवरी, १९३७ में तथा रावराजा डॉ० श्यामविहारीजी मिश्र का फ़रवरी १९४७ मे और रा० ब० पं० शुकदेवविहारीजी मिश्र का मई, सन् १९५१ में—देहांत हो गया!

किस देश में, किस कुल में उत्पन्न हुआ, उसने कौन-कौन से ग्रंथ लिखे, उसकी प्रकृति और रचनाओं में क्या विशेषताएँ थीं—कौन गुण थे, कौन दोष थे, इन बातों का विस्तार के साथ विशद विवेचन उन भाषाओं के लेखकों ने किया है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के कवियों और लेखकों की संपूर्ण ग्रंथावलियों के भी सुंदर संस्करण निकले हैं और निकलते जाते हैं। ग्रंथावलियों में पाठांतर, कठिन शब्दों और स्थलों के अर्थ, शंका समाधान, निष्पक्ष आलोचना आदि का समावेश भी रहता है। तुलनात्मक आलोचनाएँ भी निकली हैं। ऐसी पुस्तकों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह दिखलाया गया है कि अमुक कवि या लेखक के विषय में अमुकामुक धुरंधर विद्वानों की क्या सम्मति है? तात्पर्य यह कि अन्य भाषाओं में—विशेषतया अँगरेजी में प्राचीन कवियों और लेखकों के संबंध में सभी ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण ग्रंथ खोज के साथ लिखे गए और प्रकाशित हुए हैं। हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी का यह विभाग बहुत हीन है। हमारे यहाँ ऐसे ग्रंथ प्रायः लिखे ही नहीं गए। लिखे कौन? इस प्रकार के ग्रंथ लिखने के लिये काफी समय और धन के साथ ही यथेष्ट परिश्रम करने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। हमारे प्राचीन कवियों और लेखकों में से अधिकांश अपने बारे में मौन हैं। इतने बड़े महाकवि कालिदास और भारवि आदि के कुल और समय का ठीक पता नहीं है! हिंदी के सूर्य तुलसी, सूर, देव बिहारी, भूषण, मतिराम आदि के विषय में भी बहुत-सी बाते अज्ञात हैं। इस गड़बड़ का एक कारण तो हमने ऊपर लिखा है कि वे ग्रंथों में अपने बारे में अथच समय के विषय में अधिकतर कुछ लिखते ही न थे। दूसरा कारण यह भी है कि उस समय छापेखाने तो थे नहीं; बहुत हुआ, तो लेखक या कवि ने अपने लिये एक प्रति ग्रंथ की लिख ली। रेल आदि यात्रा के सुगम साधन न होने के कारण ऐसे ही किसी भारी कवि का, जो राज-दरबारों में घूमता था, नाम दूर तक प्रसिद्ध हो पाता था, नहीं तो आस-

पास दस-बीस पचास कोस तक—बहुत हुआ, तो ज़िले या प्रांत-भर में वह प्रसिद्ध होकर रह जाता था। कवि के लड़के अगर अपढ़ हुए जैसा कि प्रायः देखा जाता है - तो कवि की अपनी 'प्रति' भी नष्ट हो गई। बस, उसके शरीर के साथ उसके ग्रंथ का भी अंत हो गया। कौन जाने, इस तरह कितने बहुमूल्य ग्रंथ और कवियों के परिचय लुप्त हो गए हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी हस्त लिखित प्रतियों की खोज का उपयोगी कार्य कई वर्षों से करा रही है, और उसे बहुत-से ग्रंथ मिले भी हैं। उनसे कई कवियों के समय, कुल आदि के विषय में कुछ नई बातें भी मालूम हुई हैं। सभा का यह कार्य प्रशंसनीय है।

ऐसी स्थिति में मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न की रचना करके, नव प्रसिद्ध-प्राचीन महाकवियों का इतिहास लिखकर, उनकी रचनाएँ उद्धृत करके एवं गुण-दोष का विवेचन करके हिंदी और हिंदी-भाषा-भाषियों का कितना बड़ा उपकार किया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन महाकवियों की कविता पढ़कर काव्य-प्रेमी सज्जनों को इनके संबंध में विशेष बातें जानने का कौतूहल होना स्वाभाविक था। उस कौतूहल को शांत करने का उपाय करके मिश्रबंधुओं ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है, इसमें संदेह नहीं।

ग्रंथ

आप लोगों का लिखा हिंदी-साहित्य का इतिहास तथा कवि कीर्तन 'मिश्रबंधु-विनोद' हिंदी की एक स्थायी संपत्ति है। यह 'हिंदी नवरत्न' भी अमूल्य रत्न है। स्थायी साहित्य में उसी रचना की गणना की जा सकती है, जिसका महत्त्व और उपयोगिता केवल सामयिक न हो, बल्कि सदैव एक सी बनी रहे। यह बात आप लोगों के 'नवरत्न' और 'विनोद', दोनो में पाई जाती है। इन्हीं दोनो ग्रंथों पर ज्येष्ठ मिश्र रावराजा श्यामविहारी जी को इलाहाबाद-विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिल चुकी है। हिंदी नवरत्न एक दर्पण है, जिसमें हम अपने प्राचीन महाकवियों की

योग्यता और इतिहास का पूरा प्रतिबिंब देख पाते हैं। 'मिश्रबंधु-विनोद' का महत्त्व इसलिये अधिक है कि आगे जो लेखक इस विषय पर विशेष विस्तार से लिखना चाहेंगे, उनके लिये यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक का काम करेगा, और करता आया है। हम बड़े हर्ष के साथ यहाँ यह सूचना देते हैं कि हिंदी नवरत्न की तरह मिश्रबंधु-विनोद का सर्वांग-सुंदर नवीन संस्करण भी हमारे यहाँ से चार भागों में प्रकाशित हो गया है, जिनमें नवीन खोजों के फल तो आ ही गए हैं, अन्य उन्नतियाँ भी बहुत हुई हैं। हिंदी-साहित्य का इतिहास इन्हीं दिनों बना है जो केवल प्रायः ३७० पृष्ठों में इस भारी विषय का उत्कृष्ट वर्णन करता है।

द्वितीय संस्करण की विशेषताएँ

हिंदी-नवरत्न का प्रथम संस्करण निकलने पर उसकी अनुकूल और प्रतिकूल, सभी तरह की आलोचनाएँ प्रायः सभी प्रसिद्ध विद्वानों ने की। मतभेद होना कुछ अस्वाभाविक नहीं। उससे किसी रचना की उपयोगिता नहीं कम होती। लेखकों ने इस संस्करण में उन आलोचनाओं पर विचार करके आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किए हैं। जिन आपत्तियों को उन्होंने अग्राह्य समझा, उन पर ध्यान नहीं दिया। इस संस्करण में कवियों के विषय में इधर ज्ञात हुई बहुत-सी नई बातों का समावेश भी किया गया है। जिस-जिस विषय में लेखकों का मत बदल गया है, वहाँ भी निस्संकोच परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिया गया है। भाषा में भी सर्व-प्रिय सुधार हो गए हैं। कविताओं के उद्धृत उदाहरणों की मात्रा दूना-तिगुना कर दी गई है, जिससे पुस्तक का कलेवर दूने के लगभग हो गया है। काग़ज़, छपाई सफ़ाई में भी पहले की अपेक्षा उन्नति की गई है। इस बार पुस्तक की जिल्द भी, अधिक व्यय का ख़याल न करके, बढ़िया बनवाई गई है। प्रूफ़ पढ़ने में भी बड़ी सावधानी रक्खी गई है, जो गंगा-पुस्तकमाला की एक सर्वजन-विदित लोकप्रिय विशेषता है। गोस्वामी

तुलसीदास, बिहारीलाल, केशवदास और महात्मा कबीरदास के प्रामाणिक रंगीन चित्र भी प्राप्त करके दिए गए हैं। मतलब यह कि नवरत्न का यह संस्करण सर्वांग सुंदर और सर्वप्रिय बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी गई, और मूल्य भी यथासंभव कम ही रक्खा गया है। आशा है, हिंदी-भाषा-भाषी जनता में इस संस्करण का अच्छा आदर और प्रचार होगा। इसमें कबीरदास को भी रत्न-कवि के लक्षणों से युक्त समझकर स्थान दिया गया है। किंतु 'रत्न' नव ही रखने के विचार से, 'नवरत्न' नाम की सार्थकता बनाए रखने के लिये, मतिराम और भूषण को 'त्रिपाठी-बंधु'-शीर्षक में एकत्र स्थान दिया गया है। कबीर को क्यों स्थान दिया गया, इसका विस्तृत विवरण लेखकों की भूमिका में देखिए। इस प्रकार, इस बार, यह एक नई ही पुस्तक बन गई है। पीछे की अन्य आवृत्तियों में और भी उन्नतियाँ हुई हैं। और भी संस्करण हिंदी-नवरत्न के समय के साथ निकलते रहे। अंतिम षष्ठ संस्करण सं० १९९८ में निकला।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
सं० १९९८ } दुलारेलाल
संपादक

भूमिका

हिंदी-नवरत्न का यह छठा संस्करण निकल रहा है। प्रथम पाँच एक-एक करके सं० १९६७, १९८१, १९८५, १९९१ तथा १९९४ मे निकले। चौथे संस्करण तक प्रत्येक की भूमिका पृथक्-पृथक् छपती थी, किंतु समय के फेर से उनमें से बहुतेरे कथन अनावश्यक हो गए है, सो पाँचवे संस्करण से एक ही रक्खी गई है। सम्मेलन, आई० सी० एस्०, बहुतेरे भारतीय विश्वविद्यालयो, विशेष योग्यता आदि की परीक्षाओं मे इसे पाठ्य पुस्तक नियत करके चिर काल से लोगो ने हमारा उत्साह बढ़ाया है। सं० १९९२ में इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी निकल चुका है। प्रथम संस्करण हिंदी-ग्रंथ-प्रकाशक मंडली, प्रयाग से निकला, और शेष गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ ने निकाले। इतर पुस्तको की भाँति इससे भी हमने कभी कोई आर्थिक लाभ नही उठाया, वरन् प्रकाशक को विविध संस्करण छापने की आज्ञा केवल इसी नियम पर दे दी है कि ग्रंथो का मूल्य कम रखकर भी लोकप्रियता बढाई जाय। ऐसा ही होता भी आया है।

अब तक हमारा समालोचना-विभाग संपन्न नही है। अँगरेज़ी मे यदि अकेले शेक्सपियर के समालोचको के लेखो का परिमाण जोड़ा जाय, तो वह स्वयं इस कवि की रचनाओ से पंद्रहगुना निकलेगा। इसी प्रकार अन्य साधारण कवियो तक की रचनाओ के मर्म प्रकट करने और उनके गुण-दोष परखने मे अँगरेजी के समालोचको ने कुछ उठा नही रक्खा है, और प्राय: सभी कवियो की रचनाएँ पढ़ने मे साधारण पाठक और विद्यार्थी तक इन समालोचना ग्रंथो से उनके गुण-दोष भली भाँति समझने मे समर्थ होते है। इस तरह समालोचना-ग्रंथो द्वारा कवियो की रचनाओ के जौहर चमकते है, और उत्कृष्ट एवं शिथिल ग्रंथो के भेद समझने मे साधारण मनुष्य भी कृतकार्य होते है—संसार मे श्रेष्ठ कवियो का मान बढता और निकृष्ट ग्रंथो का प्रचार कम होता है। संसार मे किसी भी विषय को अच्छी तरह समझनेवालों की संख्या बहुत कम होती है, और पाठको मे प्रति सैकड़े प्राय: ९५ समयाभाव एवं अन्य कारणो से उस विषय के पूर्ण ज्ञाता नही हैं। बहुत लोगो की रुचि भी इतनी उन्नत नही होती कि सब प्रकार की रचनाओ का यथार्थ रहस्य समझ सकें। जो लोग इस विषय मे अधिक समय लगा सकते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे ग्रंथो के ठीक-ठीक गुण-दोष बताकर ऐसे

मनुष्यो की रुचियो की भी उचित उन्नति करे । इस प्रकार समालोचना केवल किसी कवि का हाल ही नहीं बताती, वरन् साधारण पाठक-समाज मे औचित्य भी बढाती है ।

फिर, प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न हुआ करती है, परतु वह अपनी रुचि के अनुरूप सब ग्रंथ खोजने मे सदैव समर्थ नही होता । समालोचना से हरएक ग्रंथ का असली रूप साधारण पाठक के सम्मुख, बिना उसके पढे ही, उपस्थित हो जाता है । इस प्रकार समालोचना से उचित एवं उपयोगी पुस्तको के चुनाव मे भी लोगो को बड़ी सहायता मिलती है । सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है । ऐसे ग्रंथो की संख्या बढाने मे भी समालोचना परम पटु या समर्थ है; क्योकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रंथो का मान न होने पावगा, तब श्रेष्ठ ग्रथ आप ही अधिक बनेगे । भविष्य के लेखको और कवियो के लिये समालोचना गुरु का काम करती है, क्योकि उन्हे वह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज मे आदर पा सकती है । यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण-युक्त होने के कारण एक ही मूल्य पर आँके जाने लगे, तो संसार मे उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाय ।

इन सब बातो से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की उन्नति के लिये समालोचना-विभाग का पूर्ण होना परमावश्यक है, और जितना ही जिस समाज में समालोचना का ज़ोर होगा, उतने ही उपयोगी एवं उत्कृष्ट ग्रंथ उसमें बनेंगे । अँगरेजी की भारी उन्नति का एक बहुत बड़ा कारण समालोचनाओं का बाहुल्य है । यही सब सोच-विचारकर हम समझते है कि इन एक सहस्र वर्ष के कवियो की रचनाओ को जीवन-दान करने के लिये प्रत्येक लेखक का कर्तव्य है कि पक्षपात-रहित मान्य समालोचनाओ द्वारा हिंदी का भाडार भरे । किंतु समालोचना का लिखना भी कोई साधारण काम नही है । वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रंथो को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयो से अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो । इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल-ग्रथ का भली भाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा । अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नही हो सकता । इस बात पर ध्यान देने से हमे इस काम मे हाथ लगाने का साहस नही होता था । पर अच्छे विद्वानो का इस ओर विशेष झुकाव न देखकर, उनका ध्यान आकृष्ट करने के विचार से ही, हमने इस कार्य मे हाथ लगाया है । यदि हमारी शिथिल समालोचनाओं द्वारा इस ओर विद्वानों का ध्यान गया, और इस विभाग की उन्नति हो सकी, तो हमारा अभिप्राय सिद्ध हो जायगा ।

हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने का विचार सन् १६०१ की सरस्वती में प्रकाशित एक लेख मे हमने पहलेपहल प्रकट किया। तब से हम लोग बराबर, अन्य लेखो के साथ-साथ, समय-समय पर, समालोचनाएँ भी लिखते रहे। पर साहित्य का इतिहास लिखने का अवकाश नही मिला, और न इस ओर कुछ समय तक विशेष ध्यान ही गया। धीरे-धीरे लेख लिखते और ग्रंथ पढ़ते रहे, जिससे हम लोगो का विचार गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं पर समालोचनात्मक लेख लिखने का हुआ। इसी बीच मे हम लोगो ने स० १६६१ के लगभग, प्राय: तीन मास परिश्रम करके, गोस्वामीजी-कृत कविता की समालोचना के नोट लिखे, परंतु फिर भी अन्य रामायणों को भली भाँति देखे और तुलना किए विना समालोचना को यथोचित बना सकने का साहस न पड़ा, और इस प्रकार अधिक पठन-पाठन के लिये वे नोट, जैसे-के-तैसे, प्राय: तीन साल तक रक्खे रहे। समालोचना लिखने मे अति विलंब देखकर हम लोगों ने सं० १६६४ में फिर परिश्रम किया। बस, हरदोई मे तीनो भाइयों ने एकत्र होकर तीन दिन में ही गोस्वामीजी की कविता पर एक समालोचना लिख डाली। फिर भी उसको, ललित बनाने के विचार से, हम लोगों ने प्रकाशित नहीं कराया। वह तीन वर्ष तक इसी प्रकार रक्खी रही, पर अवकाशाभाव से विशेष ललित न बनाई जा सकी।

उधर, सं० १६६२ के लगभग, हम लोगो ने भूषण की कविता पर एक समालोचना लिखकर जयपुर के समालोचक पत्र में छपवाई। उस समय काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा अपनी ग्रंथ-माला मे भूषण के ग्रंथ निकालना चाहती थी। हमारी समालोचना देखकर उसने भूषण की रचना के संपादन का भार हम लोगों ही को सौपा। इस काम मे हमे डेढ़ साल तक इतना परिश्रम करना पडा, जितना हमने आज तक अपनी बहुतेरी हिंदी-पुस्तकों पर नहीं किया, चाहे वह स्वयं हमारी बनाई हो, चाहे किसी दूसरे की। भूषण-ग्रंथावली के संपादन में हमने भूषण के ग्रंथो की विविध प्रतियाँ एकत्र की, और यथासंभव शुद्ध और पूर्ण कविता छापने का प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि हमारे प्रकाशित शिवराज-भूषण-ग्रंथ मे तब तक की अन्य प्रतियो से प्राय: ड्योढे छंद है। इस प्रयत्न मे हमे भूषण-कृत छंद बहुत बार पढने पडे, और तब हमें भूषण की कविता का महत्त्व जान पड़ा।

पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे, पर पीछे से इस विचार मे शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुक़ाबला किया। तब जान पडा कि मतिराम के प्राय: १० या

१२ कवित्त तो ऐसे रुचिर है कि उनका सामना भूषण का कोई कवित्त नहीं कर सकता, और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त ठहर नहीं सकते, पर मतिराम के शेष पद्य भूषण के अनेक पद्यों के सामने ठहर नहीं सके। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशवदास से मिलाया, तो भी भूषण ही की कविता मे विशेष चमत्कार देख पड़ा। प्रथम तो हमे इस बात पर आश्चर्य-सा हुआ, क्योंकि हम पहले केशवदास को भूषण से बहुत अच्छा समझते थे, पर ज्यों-ज्यों अधिक मिलाते गए, त्यो-त्यो हमारी दृष्टि में भूषण का ही चमत्कार बढता गया। तब हमने इन्हे बिहारीलाल से मिलाया, पर उन कवि-रत्न के सम्मुख इनके पद्य ठहर न सके। यह तुलना केवल पद्य पढकर ही नही की गई, वरन् प्रत्येक पद्य को नंबर देकर, मनोहर पद्यो की संख्या और प्रति सैकडे उनका औसत लगाकर, सब बातो पर कई दिन तक ध्यान-पूर्वक विचार करने के उपरांत की गई थी।

इसी बीच मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हमसे प्राय: २०० पृष्ठो में हिंदी-साहित्य का एक इतिहास लिखने के लिये कहा। उस समय हम कालिदास-कृत रघुवश का पद्यानुवाद कर रहे थे। वह ढाई सर्गों तक हो भी चुका था। हमने उसी जगह उसे छोड दिया, और इतिहासवाले काम के लिये समालोचनाओ का लिखा जाना आवश्यक समझकर यही काम फिर हाथ में ले लिया। तब, सं० १९६४ में, हमने बहुत-से कवियो पर समालोचनाएँ लिखी। यह काम करते-करते धीरे-धीरे इसमें बुद्धि फैलने लगी, अर्थात् सब प्रकार के कवियों की उत्तमता अथवा निकृष्टता समझ पडने लगी। धीरे-धीरे यह विचार उठा कि पाँच परमोत्कृष्ट कवियों को लेकर, संस्कृत-कवि-पंचक की भाँति, भाषा-कवि-पंचक नाम का एक ग्रंथ हम भी लिखे। उसमे सूर, तुलसी, देव, बिहारी और केशवदास के नाम रखने का विचार हुआ। फिर भूषण की कविता का चमत्कार जब ध्यान में आया, तब उनको छोड़ देना अनुचित जान पड़ने लगा, और भाषा-कवि-षट्क लिखने का विचार उठा। पीछे से सेनापति की कविता मे ऐसा अनूठापन देख पड़ा, और वह ऐसी अच्छी समझ पडी कि उनका भी नाम मिलाकर कवि-सप्तक बनाने का संकल्प हुआ। अनंतर भारतेंदु तथा चंद की रचनाएँ भी उत्कृष्ट तथा परम मनोहर देख पडी। इस प्रकार हिंदी-नवरत्न का नाम ध्यान में आया, और इसी नाम से प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का दृढ संकल्प हुआ। पीछे से जायसी की कविता बहुत बढिया समझ पड़ी, और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ; किंतु अंत को, उसे कई बार ध्यान से पढने पर, उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा, और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी में

समझ पड़ा। यह पद्माकर की श्रेणी के नीचे है। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी, फिर दास की, और तब पद्माकर की। तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है। धीरे-धीरे यह समझ पड़ा कि सेनापति की कविता परम अनूठी एवं विशद होने पर भी मतिराम-कृत रचना की समता नहीं कर सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया, और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न मे नव कवियो की स्थिति हुई। अनंतर कबीरदास को भी नवरत्न मे लेना ठीक जँचा, किंतु किसी को निकाल डालना उचित न जानकर भूषण और मतिराम को त्रिपाठी-बंधु कहकर नवरत्न नाम सार्थक रक्खा।

इस ग्रंथ का साहित्य के इतिहास से बहुत घनिष्ठ संबंध है, अतः उचित समझ पड़ता है कि इस स्थान पर केवल दिग्दर्शन की तरह उसका भी थोड़ा-सा सारांश लिख दिया जाय। बंगाल और दक्षिण को छोड़कर प्रायः समस्त भारतवर्ष की मातृभाषा हिंदी है। इसके कवि सभी जगह हुए हैं, और सभी स्थानो पर इसका मान रहा है। कवि की पदवी भी इतनी ऊँची है कि मनुष्य महाराजाधिराज होने पर भी कवि होने से अपना गौरव समझता है। जापान के महाराज मत्सुहितो मिकाडो भी राजकाज से समय निकालकर नित्य कुछ कविता करते थे। महाराजों की कवि बननेवाली लालसा से हिंदी-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार हुआ, और हो रहा है। कविता करनेवाले कुछ तो ऐसे होते है, जो शौक़िया, बचे हुए समय मे, करते है, पर अपना प्रधान कार्य मुख्य रूप से किया करते हैं। ऐसे लोग संसार के सभ्य देशो मे बहुत होते है, पर बहुत कुछ उत्साह रहने पर भी इन लोगो से बहुत कार्य नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते है, जो व्यापार की भाँति कविता ही करते हैं, और यही उनका प्रधान कार्य है। ऐसे मनुष्यों के लिये कविता ही सब कुछ है, और वे लोग बहुत अधिक काम कर सकते हैं। पर उनकी जीविका के दो ही उपाय हो सकते है, अर्थात् या तो वे अपने ग्रंथों की बिक्री से गुजर करे, या किसी राजा-महाराजा का आश्रय लें। जब तक भारत मे प्रेस न था, तब तक ग्रंथो की बिक्री से जीविका चलना सर्वथा असंभव था। आज प्रेस के होने पर भी जीविका इस प्रकार नही चल सकती, क्योंकि भारत मे इतने शिक्षित मनुष्य नहीं हैं कि किसी उत्कृष्ट ग्रंथ की भी इतनी प्रतियाँ बिक जायँ कि कवि की गुज़र उसी के लाभ से हो सके *। इँगलैंड मे विद्या का प्रचार बहुत दिनो से यथेष्ट है; पर वहाँ भी ऐसा

* अब कुछ लेखकों की गुज़र इस प्रकार हिंदी-पुस्तकें लिखकर भी होने लगी है।

समय थोड़े ही दिनों से आया है कि कविगण ग्रंथों की बिक्री का ही भरोसा कर सकें। ऐसी दशा में, धनिकों के आश्रित होकर रचना करने के सिवा, निर्धन कवियों के लिये कोई और उपाय न पहले था, और न अब है। हर्ष की बात है कि भारत मे पहले ही से धनी लोग बहुत अधिक कविता-प्रेमी रहे है। 'जाने सोई माने' के अनुसार अगुणज्ञ धनिक कविता की क़दर या सत्कार नहीं कर सकते थे। गुणी लोगों के आश्रय से ही हिंदी का कलेवर पुष्ट हुआ है। गुणी धनिकों में भी जो लोग स्वयं कविता करते थे, उनकी लक्ष्मी कवियों के लिये कामधेनु हो जाती थी। साहित्य का इतिहास, कवियों का हाल और चक्र देखने से विदित होगा कि महाराजा छत्रसाल और महाराजा भगवंतराय खीची के यहाँ इतने कवियों को आश्रय मिलता था, जिसका वार-पार नही। ये दोनो क्षत्रिय राजा कवियो के कल्पवृक्ष थे। इनके अतिरिक्त बाधव-नरेश एवं काशी-नरेश के यहाँ भी कई पुश्तों तक बहुत-से कवियों को आश्रय मिलता रहा और अब भी मिलता है। महाराजा मानसिह अयोध्या-नरेश ने भी कवियो का अच्छा मान किया था। चित्तौर के महाराणा कुंभकर्ण कवियों के बडे सहायक थे; पर उनके आश्रित कवियों का अब पता नहीं लगता। आश्रयदाताओ के विषय में इतना लिखकर अब हम साहित्य के इतिहास का सूक्ष्म रूप से कुछ वर्णन करते है।

हिंदी की जननी प्राकृत है, अर्थात् वही बदलते-बदलते अपभ्रंश होती हुई हिंदी हो गई है। इस परिवर्तन का समय स्थिर करना कठिन है, क्योंकि ऐसा अदल-बदल किसी एक समय में नहीं होता, वरन् धीरे-धीरे शताब्दियों तक होता रहता है। यह कहना बहुत कठिन है कि किस स्थान से व्रजभाषा समाप्त होती और पूर्वी बोली शुरू होती है, अथवा पूर्वी बोली समाप्त होती और बंग-भाषा चलती है। इन समाप्तियों और प्रचारों का कोई एक स्थान नही है, वरन् धीरे-धीरे ग्राम-प्रतिग्राम एक भाषा मंद पड़ती जाती है, और दूसरी का अंश कुछ-कुछ बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि बहुत दूर चलकर एक पूर्ण रूप से मिट जाती और दूसरी का पूरा ज़ोर हो जाता है। समयानुसार भाषाओं के परिवर्तन और उत्थान-पतन की ठीक यही दशा है। दूसरी शताब्दी संवत् पूर्व के वैयाकरण महर्षि पतंजलि के कथनों से प्रकट है कि उस काल प्राचीन प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश का जन्म हो रहा था। समय के साथ धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ता गया। कालिदास के विक्रमोर्वशी-ग्रंथ में विक्षिप्त पुरूरवा के कथनों में इसका आभास देखा गया है। महाराजा हर्षवर्धन के समकालीन विक्रमीय छठी शताब्दी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक बाण भट्ट की रचना में प्राकृत के साथ देश मे भाषा

नाम्नी एक बोली का भी चलन लिखा हुआ है। भाषा-शब्द से हिंदी का प्रचार माना जा सकता है। स्थूल रूप से हिंदी का उत्पत्ति-काल उसी शताब्दी मे कहा जा सकता है। उस काल से संवत् १२०० तक अब ३३ कवियो के नाम, समय, ग्रंथ, उदाहरण आदि मिल चुके हैं। इनके विवरण मिश्रबंधु-विनोद मे है। इनमे मुख्य पुंड (सं० ७७०), सरहपा (८००), शबरपा (८२५), लूहिपाद (८४५), भूसुक (८७०), खुमान रासोकार (८७०), देवसेन (६३३), बुद्धिसेन (दसवी शताब्दी), राजा नद (१०७५) आदि है। संवत् १२१२ मे नरपतिनाल्ह ने बीसलदेव-रासो-नामक ग्रंथ बनाया, जो प्रकाशित हो चुका है। प्राचीन ग्रंथ होने से यह बहुत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। स्वामी रामानुजाचार्य (१०७३ से ११६३ तक), निबार्क स्वामी (मृत्यु १२१६), स्वामी माधवाचार्य (१२५४-१३३४) और विष्णु स्वामी इस काल के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक हो गए है। चंद कवि ने प्राय: संवत् १२२५ से १२४६ तक कविता की। इनके नाम पर बहुत कविता मिलती है। चंद के समकालीन जगनिक वंदीजन ने आल्हा बनाया , पर लिखित न होने के कारण जगनिक की भाषा का भी अब आल्हा मे पता नही है। केदार, बरवै सीता और बारदरबेणा नाम के कवियो का भी उल्लेख इसी समय के आस-पास के ग्रंथो मे है, पर इनकी भी कविता अब नहीं मिलती। संवत् १२४७ मे मोहनलाल द्विज ने पत्तलि-ग्रंथ रचा। यह हाल ही में मिला है। गद्य के पुराने उदाहरण मिश्रबंधु-विनोद के चतुर्थ संस्करण मे बहुतेरे है, और पद्य के भी। चंदबरदाई की रचना छितर जाने से महाराणा अमरसिह के समय (सं० १६२६-४२) तक अन्य कवियो द्वारा रासो का पुन: निर्माण हुआ, जिसमें जितनी मिली, उतनी चंदीय कविता रक्खी गई, तथा बहुत प्राचुर्य से नवीन रचना चंद ही के नाम पर पृथ्वीराज-रासो मे मिला दी गई, ऐसा समझा जाता है।

चंदबरदाई के अनंतर उसका पुत्र जल्हन हुआ, जिसने रासो के शेष भाग को समाप्त किया, और चंद के मरने के पीछे ग्रंथ को सुरक्षित रक्खा। १२८६ मे महाराष्ट्र-देश के प्रसिद्ध हिंदी-कवि ज्ञानेश्वर का समय है। सं० १३२६ से १३५० तक कवयित्री उमाबाई और मुक्ताबाई का समय है। संवत् १३५७ के लगभग शार्ङ्गधर नाम के एक कवि ने रणथंभौर-नरेश हम्मीरदेव के यहाँ शार्ङ्गधर-पद्धति, हम्मीर-काव्य और हम्मीर-रासो नाम के तीन ग्रथ बनाए। यह पहला कवि है, जिसकी भाषा वर्तमान रचनाओं से मिलती और श्रेष्ठ भी है। यथा—

"सिंह-गमन, सुपुरुष-बचन, कदलि फरै इक सार,
तिरिया - तेल, हमीर - हठ चढ़े न दूजी बार।"

उपर्युक्त समय के कुछ और भी कवि मिले हैं, जिनके कथन हमने अपने इतिहास-ग्रंथ मे किए हैं।

उर्दू और फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो का देहांत संवत् १३८२ मे हुआ। इनकी कविता उर्दू से मिलती हुई हिंदी मे होती थी। वह मनोहर भी है। प्रसिद्ध ग्रंथ ख़ालिक़बारी इन्ही का बनाया हुआ है। प्रसिद्ध महात्मा गोरखनाथ का कविता-काल संवत् १४०७ के लगभग है। इन्होंने कितने ही संस्कृत के पूज्य ग्रंथ बनाए, और भाषा के तो बहुत-से ग्रंथ इन महात्मा ने भक्ति-पक्ष मे रचे। इनकी कविता-शैली पुराने ढर्रे से बहुत मिलती है। इस रचना मे छंदोभंग भी देख पड़ते है। जान पड़ता है, यह बात लेखको की असावधानी से आ गई है, नही तो संस्कृत का इतना बड़ा पंडित भद्दे छंदोभंग कैसे कर सकता था? गोरखनाथ और ज्योतिरीश्वर ठाकुर ही ऐसे कवि हैं, जिनके गद्य-ग्रंथ भी मौजूद है। उनकी रचना बड़ी ज़ोरदार और मनोहर है। ज्योतिरीश्वर एक मैथिल गद्य-लेखक थे। यह रचना शुद्ध मैथिल-भाषा मे संस्कृत-शब्द-गर्भित है, जो बहुत श्लाघ्य बन पड़ी है। समय प्रायः १३५४ और ग्रंथ-वर्ण या वर्णन रत्नाकर है। समझ पड़ता है कि समय-समय पर गुरु-शिष्य के रूप मे दो-तीन मत्स्येंद्रनाथ (मुछंदरनाथ) तथा गोरखनाथ हिंदी-जगत् मे हुए है। चित्तौर के प्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण का राज्य-काल १४१९ से १४६९ तक है। इन्होंने हिंदी-कविता रची, और कवियो का बहुत मान किया, पर इनकी रचना अथवा इनके सम्मानित कवियों के नाम अब अप्राप्य है। गीत-गोविंदवाली इनकी टीका मिलती है।

संवत् १४५३ मे नारायणदेव ने हरिचंद-पुराण-कथा नाम का ग्रंथ बनाया। प्रसिद्ध महात्मा महर्षि रामानंद का समय संवत् १४५७ के निकट है। इन्होंने कुछ कविता भी की। इनके शिष्य भवानंद, रैदास, सेन नाई आदि इसी समय हुए। ये लोग भी कविता करते थे। रामानंद के प्रसिद्ध शिष्य महात्मा कबीर-दास का समय संवत् १४५५ से १५७५ तक है। इन्होने भी हिंदी के बहुत-से ग्रंथ बनाए। इनकी भाषा वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिल जाती है। वह साहित्य की दृष्टि से भी प्रशंसनीय है। इन्होंने उल्टवाँसी आदि के पदो म साधारण शब्दो से बहुत गूढ़ अर्थ, बड़े ज़ोरदार छंदो मे, निकाले। कमाल, भगोदास, श्रुतगोपाल और धरमदास कबीर के शिष्यो मे थे। ये लोग भी इसी समय के लगभग रचना करते थे। इसी समय बिहार मे विद्यापति ठाकुर-नामक एक बड़े ही सत्कवि हो गए हैं। इन्होने विशेष रूप से संस्कृत की रचना की, पर इनकी मैथिली तथा अवहट्ठ हिंदी-रचना भी बहुत ही लोक-प्रिय और ज़ोरदार है। बिहार के कवि जयदेव और उमापति ने भी इसी समय छंद रचे।

बाबा नानक का जन्म संवत् १५२६ मे हुआ, और १५९६ मे यह महात्मा पंचत्व को प्राप्त हुए। यह महात्मा सिक्ख-मत के संस्थापक थे। इन्होने ग्रंथ-साहब का बड़ा अंश तथा अष्टागयोग-नामक एक और भी ग्रंथ बनाया। महात्मा चरणदास ने १५३७ में ज्ञान-स्वरोदय आदि कई ग्रंथ रचे; पर यह संवत् संदिग्ध है। सेन कवि ने संवत् १५६० में रचना की। इनकी कविता वर्तमान ब्रजभाषा हिंदी से बिलकुल मिलती है। अत: हमारी हिंदी चंद कवि के समय से उन्नति करते-करते सूरकाल के समय के प्रथम ही, प्राय: ३०० वर्षों मे, वर्तमान हिंदी से बिलकुल मिल गई। सेन कवि के साथ-ही-साथ कुतबन शैख़ ने मृगावती नाम की एक मनोहर प्रेम-कहानी कही। इसकी रचना-शैली जायसी की-सी है, यद्यपि यह उसकी समता नहीं कर सकती। इधर संवत् १५३५ मे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का जन्म हो चुका था। उन्होंने उत्तर-भारत मे निर्गुणवाद से मिलती-जुलती अलौकिक भक्ति का स्रोत बहाया। उधर बंगाल मे महात्मा चैतन्य ने भक्ति की अखंड धारा प्रवाहित की। महात्मा वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इनके मत मे राधा-संबंधी शृंगार-रस भी बहुतायत से जोड़ा। इस प्रकार समस्त उत्तर-भारत मे इस समय भक्ति का समुद्र-सा लहराने लगा। कविता के लिये तल्लीनता एक बहुत ही आवश्यक गुण है। यह हमारे कवियो को भक्ति से प्राप्त हो गई। अब संभव था कि यह कविता की ओर झुक पड़ती, या तपस्या की ओर झुककर ज्ञान-विज्ञान को जाग्रत् करती, अथवा कोरी तपस्या ही की ओर लगती। तल्लीनता एक भारी बल है। यह जिस ओर लग जाती, उसी ओर कुछ करके दिखला देती। हिंदी के सौभाग्य-वश महाप्रभु वल्लभाचार्य ने यह तल्लीनता कविता की ओर लगा दी। आपने स्वयं भी कविता की। उनके पुत्र महाप्रभु विठ्ठल स्वामी ने भी ऐसा ही किया। फिर क्या था, तल्लीनता ने भक्ति के सहारे पूर्ण विकास पाकर हिंदी-साहित्य का भंडार भर दिया। चैतन्य महाप्रभु की वैष्णवता से भी हिंदी-काव्य को लाभ पहुँचा। स्वामी रामानद और उनके संप्रदाय ने सीताराम के सहारे पवित्र भक्ति का प्रसार किया। सूफी भक्तो ने बंगाल और युक्त प्रात मे इस मत का अच्छा प्रचार किया, तथा जैनों ने भी प्रचुर परिश्रम किया। इस काल सं० १५६० पर्यंत हिंदी ने चार समय देखे, अर्थात् चंद से पूर्व की हिंदी, रासो-काल की हिंदी, उत्तर प्रारंभिक हिंदी और पूर्व माध्यमिक हिंदी। चंद से पूर्व के अब तक ३३ कवि मिले हैं। इस काल के कवि ऐतिहासिक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, किंतु न तो उनका साहित्य ही श्रेष्ठ है, न देश पर धार्मिक से इतर उनका कोई कथन-योग्य प्रभाव पड़ा। इनमे से अधिकाश थे प्राकृत-भाषा के कवि, किंतु इन रचनाओं मे कुछ

पंक्तियाँ हिंदी की भी मिलने से ये हिंदी के भी कवि समझे गए हैं। इसी समय मुसलमानी शक्ति पहले कुछ-कुछ शांति-पूर्वक सिंध में स्थापित हुई, और फिर उद्दंडता के साथ उत्तर-पश्चिमी पंजाब मे। धर्म पर बल-प्रयोग होने से हिंदुओ को समाज-संरक्षण बहुत आवश्यक समझ पड़ा, जिससे हमारी धर्म की तार्किक प्रगति भक्ति की ओर भी चलने लगी। चंद के प्रथमवाले कवियो ने इस विषय पर कोई कथनीय प्रभाव न डाल पाया, यद्यपि दाक्षिणात्य वैष्णवो ने बहुत कुछ कर दिखलाया। यह समय सं० ७०० से १२०० तक चलता है। रासो-काल सं० १२०० से १३४३ तक समझा गया है। इसमे अब तक १८ कवि मिले है, जिनमे नरपतिनाल्ह, चंदबरदाई, जल्हन आदि प्रधान थे। चंद-पूर्व-काल तथा रासो-काल मिलकर पूर्व प्रारंभिक समय माने जाते है। उत्तर प्रारंभिक हिंदी (१३४४-१४४४) मे जज्जल, अमीर खुसरो, महात्मा गोरखनाथ, ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मुख्य थे। इस काल हिंदी मे गद्य-काव्य का प्रारंभ हुआ, और पंथ-स्थापन द्वारा समाज-संगठन का प्रणाली चली। प्रयोजन मुसलमानी धार्मिक आक्रमण से हिंदू-समाज के रक्षण का था। पूर्व माध्यमिक हिंदी (१४४५ से १५६० तक) मे स्वामी रामानंद, नामदेव, कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि ने भक्तिवाद के सहारे समाज को दृढ किया। मुसलमानी संतों ने भी सूफी-साहित्य द्वारा प्रेम-मार्ग से हिंदुओ मे मुसलमानी मत से सहानुभूति स्थापित करनी चाही। यह समय आगे आनेवाले का गुरु था। इसमे नवीन प्रणालियाँ अच्छी स्थापित हुईं, तथा सामाजिक सुधार उत्कृष्टता-पूर्वक चलाया गया। अब प्रौढ माध्यमिक (१५६१-१६८०) समय आता है। संवत् १५३५ मे महात्मा सूरदास का जन्म हुआ। उन्होंने प्राय: १५६० से रचना का आरंभ किया। उधर वल्लभजी और विठ्ठलजी के अन्य शिष्यो ने भी पदो की रचना मे पूरा ज़ोर लगाया। इस प्रकार सैकड़ों कवियो ने इस समय उत्कृष्ट पद बनाए। यह देख विठ्ठलनाथजी ने चार पिता के और चार अपने शिष्यो को सत्कवि समझकर छाँट लिया, और उस चुनी हुई कवि-समिति का नाम 'अष्टछाप' रक्खा। अष्टछाप मे सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नंददास और गोविंददास के नाम थे। इस अष्टछाप मे सूरदासजी तो अनुपम कवि थे ही, नंददास भी अच्छे थे। इनकी गणना पद्माकर की श्रेणी में हुई है। नंददासजी गोस्वामी तुलसीदास के गुरु भाई या चचेरे भाई थे। नंददास के अतिरिक्त, अष्टछाप में कृष्णदास और परमानंददास भी सुकवि थे। इनकी गणना तोष कवि की श्रेणी में है। इसी समय महात्मा हरिदास, नरसैयाँ आदि ने भी मनोहर कविता की। सौर काल में चित्तौर की महारानी मीराबाई ने कृष्ण-संबंधी

परमोत्कृष्ट कविता की, और कई ग्रंथ रचे। इस स्त्री-रत्न के चरित्र से सब नर-नारी अभिज्ञ हैं। कवि-शिरोमणि कृपाराम ने, १५९८ मे, हिततरंगिणी-नामक एक अलंकारो का बड़ा ही विशद दोहा-ग्रंथ रचा। इसके दोहे मनोहर हैं। संवत् १५७५ से १६०० तक मे मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत-नामक एक सुंदर सूफी-ग्रंथ, पूर्वी भाषा में, बनाया। इनका अखरावट-ग्रंथ भी अच्छा है। इस प्रकार की प्रेम-कथाएँ, जिनका अवतारों आदि से कोई सरोकार नहीं, हिंदी में पहलेपहल बहुत करके मुसलमान-कवियों ही ने लिखी। इनमें इस काल क़ुतबन और जायसी के नाम आते हैं। आगे चलकर नूरमुहम्मद ने भी इंद्रावती-नामक एक ऐसा ही बढिया ग्रंथ रचा। हिंदू-कवियों ने ऐसे जितने ग्रंथ उस समय रचे, उनमे धार्मिक विचार से बहुधा देवतो, अवतारो, पौराणिक कथाओ आदि का सूत्र नही छोड़ा। क़ुतबन, जायसी, कृपाराम आदि को छोड़कर १५६० से प्राय: १६३० तक पदों के निर्माण का काल रहा, और कृष्णानंद ही में हमारे कविगण मग्न रहे। इसे हम सौर काल कह सकते है। इसमे अच्छी कविता बहुत बनी।

संवत् १६३० के पीछे १६८० तक तुलसीदास का कविता-काल समझना चाहिए। इस समय पद बनानेवालों का वैसा प्राधान्य नही रहा, और राम-चरित्र-मानस के साथ-ही-साथ विविध विषयो के वर्णन की परिपाटी पड़ने लगी। कृष्ण की सच्ची भक्ति भी सौर काल के पीछे उतनी अधिकता से नहीं रही। अभक्त लोगों ने तुलसी-काल से ही कुछ-कुछ सिर उठाया, और भक्ति-विचार को छोड़कर श्रृंगार-सौंदर्य के लिये कृष्णचंद्र को नायक बनाकर नायिकाओं की चेष्टाओं में ध्यान लगाना शुरू किया। महाकवि केशवदास ने इसी समय रसिक-प्रिया ग्रंथ बनाया, जिसमें उन्होंने सब रसों के उदाहरण रस-गर्भित श्रृंगार मे ही दिए।

तुलसी-काल मे एक तुलसीदास का होना ही कवियो के एक दल के बराबर है। इस एक ही कवि ने ऐसी कविता की, जैसी चार-पाँच भिन्न-भिन्न प्रकार के परमोत्कृष्ट कवि करते। इनके विषय में यहाँ कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है, क्योंकि इनका बृहत् वर्णन ग्रंथ मे मिलेगा। गोप, कृपाराम आदि के अतिरिक्त महाकवि केशवदास ने ही रीति-ग्रंथों की प्रणाली डाली। सौर काल में निपट-निरंजन और नरोत्तमदास भी अच्छे कवि हुए, और स्वयं सूरदास के पीछे गोस्वामी हितहरिवंश की कविता बहुत ही टकसाली होती थी। यह महाशय संस्कृत के कवि और एक संप्रदाय के संस्थापक थे। भाषा में इन्होंने केवल ८४ पद बनाए; पर उन्हीं मे क़लम तोड़ दी।

तुलसी-काल में केशवदास के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र भी श्रेष्ठ कवि हो गए हैं। इन्होंने प्रधान ग्रंथ केवल एक नख-शिख बनाया; पर उसी से यह आचार्य गिने जाते हैं। इनकी रचना बड़ी गंभीर है। रहीम, नाभादास, रसखानि और मुबारक भी इस काल मे अच्छे कवि है। अकबर बादशाह भी इसी काल मे हुए। यह स्वयं कविता करते थे। इनके यहाँ कवियो का मान भो अच्छा होता था। रहीम, बीरबल, गग, टोडरमल, मानसिह आदि सब अकबर ही के यहाँ कविता करते थे। इनमे से कई श्लाघ्य कवि थे। आईन-अकबरी में लिखा है कि संवत् १६५४ के लगभग सूरदास अकबर के यहाँ गवैयो में थे। यह सूरदास प्रसिद्ध सूरदास नही समझ पड़ते, क्योंकि एक तो सूरदास की जीवनियो मे उनका अकबर के यहाँ रहना नहीं वर्णित है, दूसरे, सूरदास का १६४२ के पीछे जीना सिद्ध नही है। तुलसी-काल मे ही महात्मा बिठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने ८४ और २५२ वैष्णवो की वार्ता नाम के दो प्रसिद्ध मौखिक गद्य-ग्रथ रोजाना बोलचाल की व्रजभाषा मे रचे। इन्ही के वंशवाले स्वामी हरिराय ने कुछ आगे चलकर दो संपादनो द्वारा उन्हे लिपिबद्ध किया। वास्तव में वर्तमान वार्ता-ग्रंथो के ये ही रचयिता है। महात्मा गोरखनाथ के पीछे हिदी मे ये ही दो उत्कृष्ट गद्य-ग्रंथ मिलते है। ८४ वार्ता मे अकबर की सूरदास से भेट वर्णित है। जैन-कवि बनारसीदास तुलसी-काल ही मे हुए। घासीराम भी इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि हो गए है। महात्मा तुलसीदास के राम-चरित्र-मानस का प्रभाव भाषा-साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा, और दोहे-चौपाइयो मे कथा-प्रासंगिक काव्य करने की प्रणाली-सी पड गई। इसी समय से रामायण लिखने का हमारे यहाँ ऐसा शौक बढा कि बहुतेरे कवियो ने राम-यश गाया। केशवदास का भो प्रभाव कवि-समाज पर बहुत पड़ा।

गोस्वामीजी के पीछे पूर्वालंकृत-काल (१६८१-१७९०) चलता है। इसमे, थोड़े ही दिनो में, पाँच बहुत बड़े कवि हुए, अर्थात् सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम और लाल। सेनापति ने अनूठापन सबसे अच्छा दिखलाया। इनका ग्रंथ संवत् १७०६ में बना। बिहारी ने १७१९ में सतसई समाप्त की। भूषण ने १७३० में शिवराज-भूषण बनाया। यही समय मतिराम की भी कविता का है। लाल कवि ने छत्रप्रकाश-नामक, छत्रसाल की जीवनी का, एक बहुत ही मनोहर ग्रंथ, केवल दोहे-चौपाइयों में, बनाया। इनकी रचना बड़ी ज़ोरदार और प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ मे छत्रसाल का, प्राय: संवत् १७६५ तक का, हाल बड़ी ही कुशलता-पूर्वक वर्णित है। इसी समय लाल कवि एक युद्ध में मारे गए। कवि होने के अतिरिक्त छत्रसाली दल मे आप युद्धकर्ता भी थे। देवजी का जन्म उसी

संवत् (१७३०) में हुआ, जिसमें शिवराज-भूषण समाप्त हुआ। ईश्वर ने मानो ऐसे पूज्य ग्रथ के पुरस्कार में ही ऐसा बढिया कवि संसार को दे दिया। देव का कविता-काल प्राय: १८२४ संवत् तक है। इस भूषण और देववाले काल मे अच्छे कवियों की संख्या बहुत बढी, और वीर-काव्य का भी अच्छा निर्माण हुआ। जैसे सूरदास के समय मे भक्ति का समुद्र उमड पड़ा था, वैसे ही इस काल मे शौर्य की ध्वजा ऊँची हुई। चिर-विमर्दित हिंदू-राज्य का उत्थान और चिर-विजयी मुसलमान-बल का पतन इसी काल मे हुआ। ऐसे अमूल्य समय में वीर-काव्य का बाहुल्य स्वाभाविक ही था, और हुआ भी, पर इसी के साथ श्रृंगार-काव्य ने अधिक बल प्राप्त किया, और इसका भी सिक्का जम गया। श्रृंगार की ऐसी लोक-प्रियता बढी कि सेनापति-जैसे ऋषि-कवि ने भी रसवान् श्रृंगार-काव्य करने में कोई दोष न माना। है तो भक्ति की भी गणना श्रृंगार-काव्य मे ही, किंतु श्रृंगार-मात्र कहने से स्त्री संबंधी रति-भाव-पूर्ण काव्य पर ही ध्यान जाता है।

इस समय जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ने दोहो मे भाषा-भूषण नाम का एक परमोत्कृष्ट अलंकार-ग्रंथ बनाया, जो अब भी जिज्ञासुओं के काम आता है। आपके यहाँ कवियो का मान भी बहुत था। महाराजा छत्रसाल ने इसी समय कवियो का परम प्रशंसनीय सम्मान किया। इनके यहाँ जाने-आनेवालों मे भूषण, नेवाज, हरिकेश और लाल परम प्रशंसित कवि थे। नेवाज ने संयोग-श्रृंगार बहुत ही अच्छा कहा। शेष तीन महाकवियो ने बडी ही जोरदार रचना की। इनके अतिरिक्त बीसो कवि छत्रसाल के यहाँ जाते और मान पाते थे। इस समय भाषा की अन्य उन्नतियो के साथ आचार्यों की भी अच्छी वृद्धि हुई। देव, भूषण, मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति, कवींद्र, सूरति मिश्र, रसलीन, कुलपति आदि सब आचार्य थे। इन सबकी रचना भी परम मनोहर होती थी। गोकुलनाथ के पीछे सूरति मिश्र ने भी गद्य मे प्रशंसनीय रचना की। अत. इस समय तक ज्योतिरीश्वर, गोरखनाथ, हरिराय और सूरति मिश्र ही गद्य के मुख्य लेखक थे। इनके अतिरिक्त देव आदि ने भी एक-आध स्थान पर गद्य का उदाहरण देते हुए वचनिकाएँ लिखी, पर उनसे वे लोग गद्य-लेखक नहीं कहे जा सकते। कालिदास, घनश्याम शुक्ल, आलम, शेख़, गंजन आदि प्रसिद्ध और परमोत्कृष्ट कवि इसी समय मे हो गए है।

कविता की उन्नति इस काल अवश्य बहुत हुई, पर उसमें भक्ति-हीन श्रृंगार की मात्रा भी बहुत बढ गई। सूर एवं तुलसी के काल मे अनुप्रास का उतना मान न था, पर इस काल मे पद-मैत्री का हिंदी-कविता पर प्रगाढ अधिकार हुआ। इस प्रकार भाषा श्रुति-मधुर और सुंदर हो गई, पर बहुत-से कवियो ने शब्दा-

डंबर के फेर में पड़कर भाव का समुचित ध्यान रखना छोड़ दिया। इसी समय सेनापति ने षड्ऋतु पर ग्रंथ रचकर इस विषय पर पृथक् ग्रंथ बनाने की नीव डाली। देव कवि ने उसे और भी बढाकर अष्टयाम-नामक ग्रंथ रचा, जिसमे एक दिन के भी प्रति पहर और प्रति घड़ी का वर्णन किया। कई अन्य वैष्णव-कवियों ने भी अष्टयाम रचे। रस-भेद, भाव-भेद आदि पर ग्रंथ बनने की प्रथा ने इस समय बहुत जोर पकड़ा, और रीति-ग्रंथों का प्रचार बढ़ा। व्रज-भाषा ने इस काल में चरम उन्नति कर ली, क्योकि इसके पीछे उसके ऐसे कवि नही हुए। सौर काल के प्रथम हिंदी का प्रचार तो बहुत दिनों से था, पर न तो चंद आदि तीन कवियो को छोड़कर उसमे कोई बहुत अच्छा कवि हुआ, और न गणना मे कवियो की संख्या ही बहुत हुई। बहुत दिन बीत जाने के कारण कविताएँ लुप्त हो जाने से भी गणना मे कमी हुई है, पर वह कमी है अवश्य। प्राय: शिथिल कवियो की ही कविता लुप्त भी होती है। सौर काल तथा तुलसी के समय मे कवियो की संख्या एवं उत्तमता, दोनो मे एकाएक बहुत बड़ी और संतोष-प्रद वृद्धि हुई। इस काल मे जो ग्रंथ बने, उनमे से कुछ हिंदी क्या, पृथ्वी की किसी भी भाषा का शृंगार कहे जा सकते है। अकबर शाह (सं० १६१२-१६६२) ने हिंदुओ से प्रेम-पूर्ण व्यवहार करके हिंदू-मुसलमानों की प्राय. साढे तीन शताब्दियों की सामाजिक शत्रुता हटानी चाही। देश मे सत्य-युग-सा स्थापित हो गया। कवियो ने अकबर को हिंदूपति के पवित्र नाम तक से पुकारा। हिंदी-काव्य की उन्नति के साथ हिंदू-समाज भी सुखी हुआ। भारत मे दक्षिण को छोड़ एकाधिपत्य स्थापित हुआ। १७२५ पर्यंत मोग़ल-राज्य का विस्तार होता रहा। इस काल हिंदुओं का नत प्रभाव कुछ बढ़ा अवश्य, किंतु तुलसीदास ने इसी समय "भूमि-चोर भूप" तथा "साधु सीद्यमान" कहे है। इसके पीछे शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब ने धार्मिक बखेड़ा फिर से उठाया, और दक्षिणी भारत का झगड़ा बढकर उत्तर मे भी फैल गया। हम सं० १७२५ तक मोग़ल-प्रभाव-विस्तार पाते हैं, १८७५ तक हिंदू-साम्राज्य-स्थापन और अनंतर ब्रिटिश-शासन-काल। सूर-तुलसी-काल में अकबरी प्रभाव से मुसलमानो के अत्याचार और तज्जन्य हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य प्राय: पूर्णतया या कम-से-कम बहुत कुछ स्थगित रहे।

इस समय के पीछे सेनापति, भूषण और देव के समय मे हिंदुओ की राजनीतिक बातो मे अच्छी उन्नति हुई, यहाँ तक कि महाराष्ट्रों ने चिर-संस्थापित मुसलमान-राज्य को विध्वस्त कर एक विशाल साम्राज्य बना ही लिया, यद्यपि काल की कुटिल चाल से वह भी चिरस्थायी न रह सका। इसी समय बुंदेलखंड, बघेलखंड, राजपूताना, पंजाब आदि प्राय: सभी स्थानो मे जातीयता जग उठी। इस

जाग्रति की झलक साहित्य मे भी भली भाँति देख पडती है। अन्य उन्नतियों के साथ-साथ इसने भी अभूतपूर्व उन्नति की। यह महत्ता कवियो की संख्या और उत्तमता, दोनो बातों में बहुत ही संतोष-प्रद हुई। इस समय भारत मे वीर पुरुष थे, और वे स्वभावतः वीर-कविता का अच्छा मान भी करते थे। इस कारण भाषा में वीर-कविता का अच्छा समावेश हुआ, पर पीछे से कायरता की वृद्धि के कारण वे वीर-ग्रंथ जहाँ-के-तहाँ पड़े रहे, और उनका अच्छा प्रचार न हो सका। इसका फल यह हुआ कि उनमे से बहुत-से लुप्त हो गए, और उनका पता तक नही लगता। हिंदी-प्रेमी अब धीरे-धीरे खोज-खोजकर वे ग्रंथ प्रकाशित करते जाते है। यही कारण है कि विविध विषयो के ग्रंथ होते हुए भी हिंदी मे शृंगार-रस की प्रधानता समझ पड़ती है। यह प्रधानता वर्तमान साहित्य मे लुप्त हो गई है।

यद्यपि देव कवि के पीछे प्राय: पचास वर्ष तक हिंदुओ के बल और जातीयता की अच्छी उन्नति रही, पर न-जाने किस कारण दुर्भाग्य-वश हिंदी ने वैसा एक भी कवि उत्पन्न नही किया, जैसे देव, तुलसी और सूर के समय मे अनेक हो गए थे। कवियो की संख्या मे देव के पीछे और भी विशेष उन्नति हुई, सत्कवि भी बहुत हुए, पर बहुत ही अच्छे कवियो का एक प्रकार से अभाव ही रहा। देव के पीछे हिंदी मे भिखारीदास तथा पद्माकर का समय आता है। देव-काल के कुछ ही पीछे दास, रघुनाथ और दूलह, ये तीन बड़े प्रधान आचार्य और सुकवि हुए। दूलह अलंकार के आचार्य थे, और दास दशाग कुबिता के। रघुनाथ ने अलंकार और नायिका-भेद, दोनो बहुत स्पष्ट कहे। सूदन कवि ने इसी समय सुजान-चरित्र-नामक एक बड़ा मनोहर युद्ध-ग्रंथ रचा, और गोकुलनाथ, गोपीनाथ तथा मणिदेव ने भाषा-भारत रचकर हिंदी का अपार उपकार किया। इन तीनो कवियो ने अन्य ग्रंथ भी अच्छे बनाए, विशेषकर गोकुलनाथ ने। इनका समय संवत् १८८५ के लगभग तक है। रघुनाथ और दास का समय संवत् १८०० के इधर-उधर है। दूलह का भी १८०२ के लगभग पडता है। सूदन का कविता-काल १८११ के इर्द-गिर्द पड़ेगा। इनकी रचना से यदि प्राय. १०० पृष्ठो का संकलन निकाला जाय, तो उसमे इतिहास की मूर्ति खड़ी मिलेगी, और युद्ध की तैयारी बहुत श्रेष्ठ है। युद्ध-काव्य मे सूदन की तैयारी, लाल-कृत युद्ध तथा भूषण-कृत युद्धानतर आतंक दर्शनीय है। पद्माकर कवि ने प्राय: १८८३ तक ग्रंथ-रचना की। इन्होने सात-आठ ग्रंथो मे केवल जगद्विनोद ही शृगार का ग्रंथ बनाया, पर काल की गति से इनका यही ग्रंथ अधिक लोक-प्रिय हुआ। अमेठी के राजा गुरुदत्तसिह ने भी इसी समय दोहो मे उत्कृष्ट कविता-

की। सोमनाथ, ठाकुर, शंभुनाथ मिश्र, बैरीसाल, मनोराम मिश्र, बोधा, सीतल, रामचंद्र पंडित, मनियार, थान, बेनी, लल्लूलाल, सदल मिश्र, दत्त, बेनीप्रबीन, रामसहाय, प्रतापसाहि आदि बहुत-से निपुण कवि इस समय में हुए। इसकी अवधि संवत् १७९१ से १८८९ तक है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त सोमनाथ, बेरीसाल, मनोराम मिश्र और प्रतापसाहि भी इस काल अच्छे आचार्य हो गए है। ठाकुर और बोधा प्रेमी कवि हैं। सीतल ने पहलेपहल खड़ी बोली में बहुत प्रशंसनीय कविता की। यह महा-कवि श्रेष्ठ खडी बोली के प्रवर्तक कहे जा सकते है। १८६० मे लल्लूलाल और सदल मिश्र ने वर्तमान साधु भाषा के गद्य की नीव डाली। इनके प्रथम गोरखनाथ, हरिराय, सूरति मिश्र आदि ने भी गद्य मे ग्रंथ रचे थे, पर उनमें से बहुतो का गद्य साधारण व्रज-भाषा में ही लिखा गया था। उपर्युक्त दोनो कवियो तथा इनके कुछ ही पूर्ववर्ती मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाख़ाँ ने खड़ी बोली के श्रेष्ठ गद्य की नीव डाली, जिसका प्रयोग आजकल गद्य मे सर्वत्र किया जाता है। इनके प्रथम भी कुछ लोगो ने खड़ी बोली मे गद्य-रचना की थी, पर उसका प्रचार नहीं हुआ। गणना मे इस समय अन्य सभी समयो की अपेक्षा प्रशंसनीय कवि अधिक हुए, पर न-जाने क्यों कोई भी कवि नवरत्न के कवियो की योग्यता को न पहुँचा।

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के पीछे राजा लक्ष्मणसिह तथा राजा शिव-प्रसाद सितारे-हिंद अच्छे गद्य लेखक हुए। प्रथम ने अधिकतर अनुवादो की रचना की, और द्वितीय ने पाठशालाओ के लिये पाठ्य-पुस्तकें हा विशेष बनाई। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य-समाज चलाया, तथा इस परिवर्तन-काल मे केवल आपने स्थायी ग्रंथ रचे। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी हिंदी के प्रतिपादक थे, राजा लक्ष्मणसिह और स्वामीजी विशुद्ध हिंदी के तथा भारतेंदु प्रचलित उर्दू-शब्द-मिश्रित शुद्ध हिंदी के। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र वर्तमान गद्य-प्रणाली के सुधारक और सुदृढ संस्थापक हुए। इन्होंने हिंदी का बडा उपकार किया। इनके प्रोत्साहन और परिश्रम से सैकड़ो मनुष्य सुलेखक बन गए, और काशी मे हिंदी की जड बहुत ही पुष्ट होकर जम गई। इस समय बहुत-से ऐसे लेखक वर्तमान है, जिनका गद्य स्वयं भारतेंदु के गद्य से टक्कर ही नहीं लेता, बल्कि आगे भी निकल जाता है। इस स्थान पर हम वर्तमान गद्य-लेखको के विषय मे कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते।

पद्माकर के पीछे देवकाष्ठजिह्वा, नवीन, पजनेस, सेवक, सरदार, कुमारमणिभट्ट, द्विजदेव, भौन, गदाधरभट्ट, औध, लछिराम, सहजराम, लेखराज, ललित और

प्रतापनारायण मिश्र सुकवि हुए। आजकल भी बहुत-से सुकवि विद्यमान हैं। अब ऐसा समय आ गया है कि प्राचीन प्रथा की पद्य-रचना भी धीरे-धीरे उठती जाती है। लोग भक्ति एवं प्रेम को छोड़कर पाश्चात्त्य प्रकार के विषयो पर पद्य-रचना अब अधिक पसंद करते जाते हैं। यह बात उचित भी है। हिंदी मे भूत-काल के कवियो ने प्रधानत: धर्म और शृंगार पर ही ध्यान रक्खा, और इन विषयो पर मान्य ग्रंथ भी बहुत बन चुके हैं। अब इन्ही पर रचना करके एक तो भूत-कालवाले महाकवियो के सम्मुख यश प्राप्त करना बहुत कठिन है, दूसरे, उसी चर्वित चर्वण से कोई लाभ नही देख पड़ता। फिर वह समयानुकूल भी नही है। इन कारणो से पाश्चात्त्य प्रणाली से लाभ उठाकर, भाषा मे सामयिक कबिता करके उसकी अधिकाधिक उन्नति करनी ही उचित है। यश:प्राप्ति के लिये यही बुद्धिमत्ता की बात भी है। अब इस प्रकार के कवि होते भी अधिकता से है।

सूर और तुलसी के समय तक भाषा मे अनुप्रास का आदर तो था, पर उस पर बहुत अधिक ध्यान नही दिया जाता था। बिहारी तथा सेनापति ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उधर मतिराम ने सरल, साधु भाषा लिखकर भी यमक आदि का विशेष मान नही किया। सो इस काल मे अनुप्रास-पूर्ण कविता के विषय मे कुछ गड़बड़-सी थी। इसी समय मे महाकवि देव का जन्म हुआ, जिन्होने पद-मैत्री से परम प्रगाढ़ मैत्री रक्खी, और उसका परमोत्कृष्ट प्रयोग किया। इसी समय से इसका संबंध भाषा-साहित्य से बहुत घनिष्ठ हो गया। पद्माकर ने तो इसे दोनो हाथो से अपनाया। पद-मैत्री से इतना लाभ तो अवश्य है कि संसार मे किसी भाषा की रचना हिंदी-कविता के समान सुष्ठु और श्रुति-मधुर न होगी। श्रुति-कटु वर्णों का जितना बराव इसमे है, उतना किसी अन्य भाषा में न होगा। पद-मैत्री मे इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि उसके लालच मे भाव न बिगड़ने पावे, और अनुचित शब्दो का प्रयोग न हो। यदि ये दूषण बचाकर कोई पद-मैत्री लावे, तो वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

बहुत दिनों से कुछ कवियो का विचार तुकात-हीन छंद लिखने का है। आल्हा-छंद तुकात-हीन होने पर भी ललित है। फिर भी अभी बहुतो को तुकात-हीन छंदों में कोई ग्रंथ बनाने का साहस नही हुआ है। जिस दिन कुछ श्लाघ्य तुकांत-हीन ग्रंथ बन जायँगे, उसी दिन ऐसे छंद भी चल जायँगे। इनका प्रयोग बढ़ भी रहा है। अब यह प्रयोग बहुत कुछ बढ गया है, तथा छंदो के नियमो की भी ख़ासी अवहेलना हो रही है। एक ही विवरण में पंक्तियाँ अनेकानेक छंदो में क्या, गद्य के-से छंदों मे मिलती है। विषयो मे भी छायावाद, प्रगतिवाद आदि का मान बढा है, तथा घासलेटी और कभी-कभी चाकलेटी साहित्य भी बनने लगा है।

इसी स्थान पर साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास समाप्त होता है। इसके पढ़ने से यह प्रकट होगा कि नवरत्न के कविगण कैसे-कैसे समयों मे हुए, और उनका प्रभाव साहित्य पर कैसा-कैसा पड़ा ?

अँगरेज़ी या वर्तमान विचारो से कवियो की जाँच मे दो मुख्य प्रश्न उठते है—कवि को कुछ कहना था या नही, और उसने उसे कैसा कहा है ? संक्षिप्त रीति से कहने मे पहला प्रश्न यो भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है ? इन प्रश्नो का प्रयोग हिंदी-नवरत्न के कवियो पर करने से वे कैसे उतरते है, सो यहाँ संक्षेप मे लिखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास का संदेश शुद्ध भक्ति का है, और उन्होने उसे बहुत ही अच्छा कहा है। उस काल मुसलमानी धार्मिक प्रकोप कई शताब्दियो से चला आता था, सो भक्ति के द्वारा हमारा समाज संगठित किया गया। महाकवि सूर का भी वही संदेश है, और उन्होने भी उसे बहुत अच्छा कहा है, किंतु भक्ति को शृंगार से अधिक मिलाने के कारण आपका संदेश हर जगह साधारण पाठक को याद नही रहता। महात्मा कबीरदास ने भी सखी-भाव की भक्ति की है, किंतु उन्होने हर जगह जीवात्मा-परमात्मा का संबंध बहुत दृढ रक्खा, और शृंगार का वर्णन कम किया है। इसी से उनके सखी संप्रदाय-वाले वर्णनो मे साहित्यानंद अपर्याप्त है। इधर सूरदास ने जीवात्मा-परमात्मा के भाव को गौण रक्खा है, और शृंगार को प्रधान। इससे उनकी रचना मे साहित्यानंद तो अच्छा है, किंतु उनका संदेश गौण पड गया है। हमारी समझ मे सखी-सप्रदाय की भक्ति का वर्णन संदेश और साहित्य, दोनो को कठिनता से दृढ रख सकेगा। यदि संदेश सबल रहेगा, तो साहित्य गौण होकर फीका पड जायगा, और यदि साहित्य सबल रक्खा जाय, तो संदेश दब जायगा। हम यह नही कहते कि संदेश सबल रखने पर सखी-भाव से सरस काव्य नही बन सकता, किंतु सूर और कबीर की रचना मे कुछ ऐसा हो अवश्य गया है। तुलसी ने दास-भाव की भक्ति को कथा से मिलाकर संदेश और साहित्य, दोनो को बहुत दृढ रक्खा है। इसीलिये आप मध्यकालीन सर्वोत्कृष्ट धार्मिक उपदेशक हुए, और हमारे समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही आज भी है।

देव और बिहारी शृंगारी कवि थे। इनका कोई मुख्य संदेश नही है, किंतु इन्होने कथन बड़े ही अनमोल किए हैं, कहा बहुत ही अच्छा, किंतु संदेश बिल-कुल गौण है। देव मुख्यतया साहित्याचार्य थे। इन्होने जो कुछ रचना की, वह प्रधानतया काव्यांगों के उदाहरणार्थ हुई। इनका कोई धार्मिक संदेश नही है, किंतु आचार्यता का होने से वह भाषा की उन्नति का माना जा सकता है। बिहारी का यह भी संदेश नहीं है, क्योकि वह आचार्य न थे। गौण रूप से इन

दोनो कविरत्नो का भी भक्ति का संदेश कहा जाता है, और उसका कुछ आभास मिलता भी है। हमारा स्वभाव सदा से आम को आम और इमली को इमली कहने का रहा है। किसी स्थान पर खींच-तान से कोई भाव स्थापित करना हम मिथ्यावाद समझते है। भक्ति-हीन शृंगारी वर्णनो में केवल राधा-कृष्ण का नाम जोड देने से हम उसे भक्ति-पूर्ण कविता नही कह सकते। भक्ति के लिये भाव मे भी तत्संबंधी विचारों का आना आवश्यक है, जैसा कि तुलसी और कबीर की रचना मे प्रत्यक्ष देख पड़ता है। अतएव देव और बिहारी की रचनाओ मे हम भक्ति का संदेश नही पाते। यदि कुछ हो भी, तो, गौणातिगौण रूप मे होने से, वह नहीं के बराबर है। साहित्योन्नति का संदेश देव और बिहारी, दोनो की रचना मे माना जा सकता है।

भूषण ने जातीयता का संदेश दिया, और उसे कहा भी अच्छा। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है, हिंदूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उस समय हिंदूपन का ही संदेश एक प्रकार से भारतीयता का संदेश था, क्योकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे। केशवदास के कथन अच्छे हैं, और उनकी रचना मे भक्ति का संदेश माना गया है, किंतु हमारी समझ मे वह पुष्ट नही होता। रामचंद्रिका मे भक्ति गौण रूप से है। उसमे कथा-प्रसंग तथा वर्णनोत्कर्ष की मुख्यता है, न कि भक्ति की। विज्ञान गीता मे परमोच्च विचार कम है। उसमे चलतू अथवा काम-काजू धर्म कहा गया है। रसिकप्रिया शृंगार-प्रधान ग्रंथ है, और कविप्रिया आचार्यता-पूर्ण। इनके शेष ग्रंथ साधारण है। कुल मिलाकर केशवदास का आचार्यता एवं साहित्योन्नति का संदेश कहा जा सकता है, इतर कोई नहीं। कबीरदास का संदेश ऐक्य का है। उनके मता-नुसार ईश्वर एक, धर्म एक, मनुष्य की प्रतिष्ठा एक, सत्य एक और सभी संसार एक है। सभी बातो मे उनका अद्वैत-विचार हैं। हिंदू और मुसलमानी धर्मों को वह एक मानते, सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा को समान समझते और सभी प्रकार से दाक्षिण्य-पूर्ण उपदेश देते हैं। उनका संदेश परमोच्च है, किंतु कथन उत्कृष्ट होने पर भी वैसे नहीं है। विचारो की अपेक्षा उनकी भाषा कुछ लचर हुई है। मतिराम का संदेश साहित्योन्नति है, और उनकी भाषा बहुत ललित है। चंद बरदाई ने कथा अच्छी कही है, और उनके वर्णन भी ठीक है। भारतेंदु का संदेश जातीयता है, और वह सफलता-पूर्वक व्यक्त हुआ है।

लखनऊ
सं० १९९७ } मिश्रबंधु

हिंदी-नवरत्न के कवियों का आनुमानिक समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर*	कितने वर्ष कौन कवि औरों का समकालीन रहा
१	चंदबरदाई	११८३	१२५०	६७	ब्रह्मभट्ट	×	× × × ×
२	कबीरदास	१४५५	१५७५	१२०	जुलाहा	२७२	नं० २ व ३ = ३५
३	सूरदास	१५३५	१६४२	१०७	सारस्वत ब्राह्मण	८०	नं० २ व ३ = ४०, नं० ३ व ४ = ५३, नं० ३ व ५ = ३०
४	तुलसीदास	१५८९	१६८०	९१	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	५४	नं० ३ व ४ = ५३, नं० ४ व ५ = ६२, नं० ४ व ६ = २०
५	केशवदास	१६१२	१६७४	६२	सनाढ्य ब्राह्मण	२३	नं० ५ व ४ = ६२, नं० ५ व ३ = ३०, नं० ५ व ६ = १४
६	बिहारीलाल	१६६०	१७२०	६०	माथुर ब्राह्मण	४८	नं० ६ व ४ = २०, नं० ६ व ५ = १४, नं० ६ व ७ (क = २८, नं० ६ व ७ (ख) = २४

* अर्थात् वह कवि अपने पूर्ववर्ती कवि के जन्म से कितने वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ।

हिंदी-नवरत्न के कवियों का आनुमानिक समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर	कितने वर्ष कौन कवि औरों का समकालीन रहा
७	(क) भूषण	१६९२	१७९७	१०५	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३२	नं० ७ (क) व ६ = २८, नं० ७ (क) व ७ (ख) = ७७, नं० ७ (क) व ८ = ६७
	(ख) मतिराम	१६९६	१७७३	७७	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	४	नं० ७ (ख) व ६ = २४, नं० ७ (ख) व ७ (क) = ७७, नं० ७ (ख) व ८ = ४३
८	देवदत्त	१७३०	१८२४	९४	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३४	नं० ८ व ७ (क) = ६७, नं० ८ व ७ (ख) = ४३
९	हरिश्चंद्र	१९०७	१९४१	३४	अग्रवाल वैश्य	१७७	× × × ×

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

(१)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

—ः०ः—

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जङ्गमस्तरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ।।*१ ।।"

"एक लहै तप पुंजन के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ।। २ ।।"

"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो ।। ३ ।।"

"कबिता-करता तीन है—तुलसी, केसव, सूर ।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर ।। ४ ।।"

"तुलसी, गंग, दुवौ भए सुकबिन के सरदार ।। ५ ।।"

"राम-चरित जे सुनत अघाहीं, रस बिसेष पावा तिन नाहीं ।। ६ ।।"

ऐसा कौन हिंदी-अक्षरो का ज्ञान एव 'हिंदी, हिंदू, हिंद' से कुछ भी संबंध रखनेवाला हत-भाग्य पुरुष होगा, जो महात्मा श्रीतुलसीदासजी महाराज के नाम, यश एवं पीयूष-वर्षिणी कविता से थोडा-बहुत भी परिचित न हो ? आज हम इन्ही महर्षि के पवित्र चरित्र से अपनी जड लेखनी को पुनीत करने बैठे है । हिंदी के अनेकानेक सुलेखको ने, समय-समय पर, इन महात्मा के विषय की

---

* जंगम तुलसी-तरु लसै आनँद-कानन-खेत,
जाकी कविता-मंजरी, राम-भँवर रस लेत ।

गवेषणा मे जितना श्रम किया है, उतना शायद ही हिंदी अथवा संस्कृत के किसी भी कवि के संबंध में किया गया हो। हमारी समझ मे तो वेद-भगवान् और श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर और किसी भी हिंदी-ग्रंथ पर इतना समय लोगो ने न व्यय किया होगा, जितना गोस्वामीजी की रामायण पर किया है।

खोज से दृढ अनुमान किया गया है कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर, तहसील और परगना मऊ, ज़िला बाँदा में, संवत् १५८९ मे, हुआ था। गोस्वामीजी का जन्म-काल प्रसिद्ध रामायण-रसिक रामगुलाम द्विवेदी के कथन पर निर्धारित किया गया है, और उसे बडे-बड़े लेखको ने ठीक माना है। हाथरस के तुलसी साहब सं० १८२० से १९०० सं० तक रहे। यह अपने को हमारे गोस्वामीजी का अवतार कहते थे। वह सं० १५८९ का जन्म राजापुर मे मानकर सोरो का नाम भी नही लेते तथा गोस्वामीजी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाते है। आप निर्गुणी संत थे। उधर सं० १९३१ से ३३ तक मे संकलित बाँदा-गजेटियर कहता है कि सोरों से आकर गोसाईंजी राजापुर मे रहे। जन्म-स्थान के विषय मे वह कुछ नही कहता, किंतु राजापुर को यह मान देने मे मौन है। कथाओ का कथन है कि राजापुर में जन्म ग्रहण करके आप सोरों गए तथा वहाँ से फिर राजापुर आए। राजापुर एक अच्छा क़स्बा है। यह यमुनाजी के किनारे, करवी रेलवे-स्टेशन (जी० आई० पी०) से १९ मील पर, बसा है। यहाँ तुलसीदास की कुटी अब तक वर्तमान है, जिसमें उनकी पाषाण-मूर्ति एक मंदिर मे है। वह गोस्वामीजी के शिष्य गणपतिजी के उत्तराधिकारी ब्रजलाल चौधरी के आधिपत्य में है, और वहाँ अँगरेजो ने महात्माजी के स्मारक-स्वरूप संगमरमर की एक तख़्ती लगा दी है। राजापुर मे डाकघर भी है, और करवी से वहाँ तक अच्छी कच्ची सड़क गई है। बाबू शिवनंदनसहाय का विचार है कि तारी-नामक स्थान वास्तव में गोस्वामीजी का जन्म-स्थान है, पर अभी तक लोग राजापुर ही को ठीक मानते है। आजकल सोरों-क्षेत्र से दो ग्रंथ प्रकट किए गए है, जिनमे से एक इनकी स्त्री-कृत कहा जाता है। उनमे सोरो इनका जन्म-स्थान कहा गया है, और नंददास चचेरे भाई। अभी हिंदी-संसार ने इन पर कोई पूरा निश्चय नही किया है, किंतु कुछ लोगो को ये ग्रंथ जाली समझ पड़ते हैं।

इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का हुलसी था। इनका असल नाम रामबोला था, परंतु बैरागी होने पर तुलसीदास हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवन-चरित्र लिखने के लिये हम पहले विविध शीर्षक स्थापित करके उनका समर्थन उन्ही के छंदों से करेंगे, जिनसे जीवन-चरित्र का बृहदंश आप-से-आप पुष्ट हो जायगा। अनंतर दूसरे लोगों के कथन उद्धृत करके शेष

जीवनी पर प्रकाश डालेंगे। आगे से इन्हीं शीर्षकों के अनुसार विवरण चलता है—

(अ) जन्म और दरिद्रता के विषय में—

(१) जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी-जनक को ;
बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

(क० नं० ७३, उत्तरकांड)

(२) मातु-पिता जग जाय तज्यो, विधिहू न लिखी कछु भाग भलाई;
नीच, निरादर-भाजन, कायर, कूकर, टूकन लागि ललाई।

(क० नं० ५७, उत्तरकांड)

(आ) अब केवल दरिद्रता के संबंध मे देखिए, उन्ही मे कहीं-कहीं महत्ता भी कही गई है—

(३) कै न आयो, करौं, न करौंगो करतूति भली,
लिखी न बिरंचि हूँ भलाई भूलि भाल है।

(क० नं० ६५, उत्तरकांड)

(४) जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि-बस
खाए टूक सबके बिदित बात दूनी सो,
राम-नाम को प्रभाउ पाउ महिमाप्रताप,
तुलसी हू जग मानियत महामुनी सो।

(क० नं० ७२, उत्तरकांड)

नाभादास ने इन्हे वाल्मीकि का अवतार कहा। वह इनके समसामयिक थे ही, सो इनका इन्हीं के समय मे महामुनि-सा माना जाना प्रमाणित भी होता है।

(इ) महत्ता के साथ में भी दरिद्रता कहीं-कहीं मिली हुई है—

(५) नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान-निवास ;
जो सुमिरत भे भाग तें तुलसी तुलसीदास।

(दोहावली नं० ११)

इस छंद से यह भी ध्वनि समझ पड़ती है कि शायद पहले भी इनका नाम तुलसी हो, और संत होने पर वही तुलसीदास हो गया हो। यह ठीक मानने से रामबोलावाला नाम कहने-भर का मानना पड़ेगा। कहते हैं, महाराज मानसिह जयपुर-नरेश ने इनका बड़ा मान किया था।

(६) घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय,
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय।
(दोहावली नं० १०६)

(७) राय दसरत्थ के समत्थ, तेरे नाम लिए,
तुलसी-से कूर को कहत जग राम को।
(क० नं० १४, उत्तरकांड)

(८) केवट पषान जातुधान कपि भालु तारे,
अपनायो तुलसी जो धींग धमधूसरो।
(क० नं० १६, उत्तरकांड)

(६) हौं तौ सदा खर को असवार, तिहारेई नाम गयंद चढ़ायो।
(क० न० ६०, उत्तरकांड)

(१०) तेहू तुलसी को लोग भलो-भलो कहै,
ताको दूसरो न हेतु एक नीके कै निदानु है;
लोक-रीति बिदित बिलोकियत जहाँ-तहाँ,
स्वामी के सनेह स्वानहू को सनमानु है।
(क० नं० ६४, उत्तरकांड)

(११) तुलसी बनी है राम! रावरे बनाए, न तो
धोबी कैसो कूकर न घर को, न घाट को।
(क० नं० ६६, उत्तरकांड)

(ई) जीवन और महत्ता के विषय मे गोस्वामीजी ने लिखा है—

(१२) बालपने सूधे मन राम सनमुख भयों,
राम-नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‍यो लोक रीति मैं पुनीत प्रीति राम राय,
मोह-बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।
खोंटे-खोंटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम-पानि-पाक हौं।

तुलसो गोसाइँ भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।
(क० नं० ६०, उत्तरकांड)

गोस्वामीजी के विषय मे यह प्रसिद्ध है कि पहले लड़कपन मे आप नरहरिदास (या नरसिंहदास) के साथ शूकरक्षेत्र मे रहे, जहाँ आपने राम-कथा सुनी, तथा पांडित्य प्राप्त किया। अनंतर गृहस्थ हो 'पत्नी की फटकार से क्षुब्ध होकर' विराग धारण किया। इस कथा का कुछ अंशो मे इस छंद द्वारा समर्थन होता है। गुरु और उनकी कृपा-विषयक छंद आगे आवेगे। गोसाईं होना लोलार्क-मठ से संबद्ध समझ पड़ता है, जहाँ के आप गोसाईं वृद्धावस्था मे हो गए थे।

(उ) अब आपके पुराने नाम, संबंधियो का अभाव और बुढापे से संबध रखनेवाले छंद देखिए—

(१३) सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल ! तुम,
जाहि घालो चाहिए, कहौ धौं राखै ताहि को ?
हौं तौ दीन-दूबरो, बिगारो ढारो रावरो न,
मैं हूँ तै हूँ ताहि को, सकल जग जाहि को।
काम-कोह लाइ कै देखाइयत आँखि मोहि,
एते मान अकस कीबे को आपु आहि को ?
साहेब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो,
रामबोला नाम हौं गुलाम राम राय को।
(क० नं० १००, उत्तरकांड)

इस तथा छंद नं० १५ मे गोस्वामीजी साफ-साफ़ अपना नाम रामबोला कहते हैं। शायद गुरु ने तुलसीदास नाम रक्खा हो, किंतु लोग तुलसी-तुलसी पहले कहते हों, और माहात्म्य बढने पर तुलसीदास कहने लगे हों, जिसका कथन छंद नं० ५ में है।

(१४) जाप की न तप खप कियो न तमाइ जोग,
जाग न बिराग त्याग तीरथ न तन को;
भाई को भरोसो न खरो-सो बैर बैरिहू सों,
बल अपनो न हितू जननी न जनको।
लोक को न डर, परलोक को न सोच, देव-
सेवा न सहाय मद धाम को न जन को।

राम ही के नाम ते जो होय सोई नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछू तुलसी के मन को।
(क० नं० ७७ उत्तरकांड)

इस छंद मे आप माता-पिता दोनो को अहितू कहकर उनसे शिकायत करते है, जिससे छंद नं० २ का त्याग असली त्याग समझ पड़ता है, न कि माता-पिता की जल्दी मृत्यु-मात्र का।

(१५) राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो, राम !
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं,
लोग कहै पोच सो न सोच न सकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
बूझयो ज्यो ही कह्यो हौं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरोजू,
मेरो कोऊ कहूँ नाही चरन गहत हौं,
मींजो गुरु पीठि अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं।
(विनय-पत्रिका नं० ७६)

इस छंद से संबंधियो तथा वरवालो का पूर्ण अभाव या असद् व्यवहार समझ पड़ता है।

(१६) जोर जरा जरि गात गयो, मनमानी गलानि कुबानिन मूकी।
(क० नं० ८८, उत्तरकांड)

(ऊ) समय तथा काशी में गंगा-तट-निवास का वर्णन इस प्रकार है—

(१७) संबत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरि-पद धरि सीसा ;
नवमी भौमबार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
(रामचरितमानस)

(१८) अपनी बीसी आप ही पुरिहि लगाए हाथ,
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ।
(दोहावली न० २४०)

(१९) बीसी बिस्वनाथ की, बिषाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की ;
कहै तुलसी, बृषासुर के बरदानि !
बानि जानि सुधा तजि पियनि जहर की।
(क० नं० १७०, उत्तरकांड)

(२०) लोक-बेदहू बिदित बारानसी की बड़ाई,
बासी नर-नारि ईस अंबिका सरूप है;
कालनाथ कोतवाल, दंडकारि दंडपानि,
सभासद गनप-से अमल अनूप हैं।
तहाँऊ कुचालि कलिकाल की कुरीति, कैधौं
जानत न मूढ़ इहाँ भूतनाथ भूप है
फलैं फूलैं फैले खल, सीदैं साधु पल-पल,
खाती दीपमालिका उठाइयत सूप है।
(क० नं० १७१, उत्तरकांड)

यहाँ शैवों से शिकायत की-सी ध्वनि मिलती है।

(२१) संकर सहर सर नारि-नर बारिचर,
बिकल सकल महामारी माया भई है,
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचुमई है।
देव न दयाल, महिपाल न कृपालु-चित,
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है,
पाहि रघुराज! पाहि कपिराज रामदूत!
रामहूँ की बिगरी तुहीं सुधारि लई है।
(क० नं० १७६, उत्तरकांड)

(२२) एक तौ कराल कलिकाल सूल-मूल, तामैं
कोढ़ मे की खाज-सी सनीचरी है मीन की;
बेद-धर्म दूरि गए, भूमि-चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।
(क० न० १७७, उत्तरकांड)

हिंदू-शास्त्रो मे साठ सालो की एक कक्षा होती है। उनमे से हरएक का एक-एक नाम है। प्रति इकसठवें साल से वे ही नाम फिर आदि से चलने लगते है। इन साठ सालो मे बीस-बीस की तीन बीसियाँ कहलाती है, जो रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के नामो से चलती है। शनैश्चर प्रत्येक राशि पर ढाई साल रहता है। उस काल सं० १६६५ से १६८४ तक रुद्र-बीसी थी। मीन-राशि पर शनैश्चर सं० १६६९ से १६७१ तक ढाई साल रहा था। इसी समय काशी मे महामारी का प्रकोप हुआ, जिसका उपर्युक्त वर्णन गोस्वामीजी ने आँखो-देखा किया है। मुसलमान-काल में वह समय बहुत ही अच्छा और शांति-पूर्ण माना जाता है,

किंतु उसमे भी गोस्वामीजी भूप को 'न कृपालु-चित' तथा 'भूमि-चोर' कहते है, जिससे समझ पड़ता है कि हिंदू-प्रजा को उस समय भी सुख न था। आप प्रत्यक्ष ही साधुओ को सीद्यमान बतलाते है।

(ए) अब गंगा-तट पर गोस्वामीजी के वास-संबंधी छंद उपस्थित किए जाते है—

(२३) देवसरि सेवौं बामदेव द्वार रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जाग तुलसी न लेत काहू को कछूक,
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं।
एते पर हूँ जो काऊ रावरो है जोर करे,
ताको जोर देबे दीन द्वारे गुदरत हौं।
(क० नं० १६५, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि महादेव के किसी पुजारी आदि ने इन्हे शायद तंग किया था।

(२४) भागीरथी जल-पान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं;
मोको न लेनो न देनो कछू कलि! भूलि न रावरी ओर चितैहौं।
जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्है पछितैहौ पै हौं न भितैहौं,
ब्राह्मन ज्यो उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं।
(क० नं० १०२, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि कलि के नाम पर गोस्वामीजी किसी ऐसे को संबोधन कर रहे है, जो इनको इंद्रिय-सुखादि का लालच देकर लुभा रहा था। इसमे इनके जप का कथन है तथा ब्राह्मण होने का भी।

(२५) चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर!
पायँ तर आनि बस्यो सुरसरि-तीर हौं,
बामदेव, राम को सुभाव सील जानि जिय,
नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।
अबिभूत बेदन बिषम होति भूतनाथ!
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं,
मारिए तौ कासी-बास अनायास खास फल,
ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं।
(क० नं० १६६, उत्तरकांड)

यहाँ मृत्यु का सामीप्य आपको जान-सा पड़ने लगा था।

(ऐ) स्वतंत्रता—

(२६) धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ;
काहू कि बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू कि जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ,
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।
(क० नं० १०६, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि जाति के कल्पित नियमो को सर्वस्व माननेवाले बहुतेरे मूर्ख लोग इस महर्षि के स्वच्छंद आचरणो पर भी दंश देने का साहस करते थे। उपर्युक्त छद मे गोस्वामीजी उन्ही नीचो को फटकार रहे है।

(२७) कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है;
साधु जानै महासाधु, खल जानै महाखल,
बानी झूठी-साँची कोटि उठत हबूब है।
चहत न काहू सों न कहत काहू की कछू,
सबकी सहत उर-अंतर न ऊब है,
तुलसी को भला पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है।
(क० नं० १०८, उत्तरकांड)

इस छंद से प्रकट है कि संसार मे भलों-से-भले के भी निदक काफी संख्या में रहते है।

(ओ) भक्ति और धार्मिक विचार—

(२८) हिय फाटहु, फूटहु नयन, जरहु सो तन केहि काम,
द्रवहि, स्रवहि, पुलकहि नही, तुलसी सुमिरत राम।
(दाहावली ४१)

(२९) रहैं न जल भरिपूरि, राम-सुजस सुनि रावरो,
तिन ऑखिन मै धूरि, भरि-भरि मूठी मेलिए।
(दोहावली ४५)

(३०) हम लखि लखहि हमार लखि, हम हमार के बीच,
तलसी अलखहि का लखै, राम-नाम जपु नीच।
(दोहावली १९)

यहाँ निर्गुण-मत की निंदा की गई है, सो भी कड़े शब्दों में।

(३१) तुलसी परिहरि हरि-हरहि पामर पूजत भूत,
अंत फजीहति होहिंगे गनिका के-से पूत।
(दोहावली ६५)

(३२) लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय,
कब कोढ़ी काया लही ? जग बहराइच जाय।
(दोहावली ४९६)

इस स्थान पर मुसलमान पीरों के पूजनेवाले मूर्ख हिंदुओं को समझाया जा रहा है।

(औ) गोस्वामीजी की स्त्री के वचन और उत्तर सुनिए—

(३३) खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय ! तिय-त्याग,
कै खरिया मोहि मेलि, कै बिमल बिबेक बिराग।
(दोहावली २५५)

हम तौ चाखा प्रेम-रस पतिनी के उपदेस।

यह दोहा स्मरण है, किंतु कहाँ का है, सो अभी पता नहीं, है इन्हीं का।

(अं) रोग तथा क्लेश।

इन अवतरणों में जहाँ पता न लिखा हो, वहाँ उन्हें हनुमानबाहुक से प्राप्त जानना चाहिए—

(३४) रोग-निकर, तनु जरठपनु, तुलसी संग कुलोग,
राम कृपा करि पालिए, दीन पालिबे जोग।
(दोहावली १७८)

(३५) तुलसी तनु सर, सुख जलज, भुज-रुज गज बरजोर ;
दलत दयानिधि देखिए, कपि - केसरी - किसोर !
(दोहावली २३४)

(३६) भुज-तरु कोटर रोग-अहि बरबस कियो प्रबेस ;
बिहँगराज-बाहन ! तुरत काढ़िय, मिटै कलेस।
(दोहावली २३५)

(३७) बाहु-बिटप सुख-बिहँग-थलु, लगी कुपीर-कुआगि ;
राम कृपा-जल सींचिए बेगि दीन-हित लागि।
(दोहावली २३६)

(३८) ढारो बिगारो मैं काको कहा ?
केहि कारण सीदत ? हौं तौ तिहारो। (१९)
(३९) साहसी समीर के, दुलारे रघुबीरजू के,
बाँह - पीर महाबीर बेगि ही निवारिए। (२०)
(४०) बालक बिलोकि बलि बारे ते आपनो कियो,
दीनबंधु दया कीन्ही निरुपाधि न्यारियै;
केसरी - किसोर, रनरोर, बरजोर बीर,
बाहु-पीर राहु - मातु ज्यों पछारि मारियै। (२१)
(४१) पोषरी बिसाल बाहु, बलि, बारिचर पीर,
मकरी ज्यों पकरि कै बदन बिदारिए। (२२)
(४२) महाबीर बाँकुरे बराकी बाहु - पीर क्यों न,
लंकिनी ज्यों लात घात ही मरोरि मारिए। (२३)
(४३) बात तरुमूल, बाहु-सूल कपि - कच्छु - बेलि,
उपजी, सकेलि कपि खेल ही उपारिए। (२४)
(४४) पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की
बाहु-पीर महाबीर तेरे मारे मरैगी। (२५)
(४५) भाल की कि काल की कि रोष की त्रिदोष की है,
बेदन बिषम पाप ताप छल छाँह की,
करमन कूट की कि जंत्र - मंत्र बूट की,
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माँह की,
पैहहि सजाय, नतु कहत बजाय तोहि,
बावरी न होहि बानि जानि कपिनाँह की,
आन हनुमान की, दोहाई बलवान की,
समत्थ महाबीर की जो रहै पीर बाँह की। (२६)
(४६) भीर बाँह - पीर की निपट राखी महाबीर,
कौन के सकोच, तुलसी के सोच भारी है। (२७)
(४७) साम - दाम - भेद - बिधि बेदहु लबेद सिद्धि,
हाथ कपिनाथ ही के चोटी चोर - साहु की;
आलस, अनख, परिहास की सिखावन है ?
एते दिन रही पीर तुलसी के बाहु की ? (२८)
(४८) टूकन को घर-घर डोलत कँगाल बोलि,
बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि - पोसो है;

साँसति सहत दास, कीजै पेख परिहास,
चीटी को मरन, खेल बालकनि को-सो है। (२९)

(४९) आपने ही पाप ते त्रिताप ते कि साप ते,
बढ़ी है बाहु-बेदन न नेकु सहि जाति है;
औषध अनेक जन्त्र-मंत्र टोटकादि किए,
बादि भए, देवता मनाए अधिकाति है।
करतार भरतार हरतार कर्म काल,
को है जग जाल जो न मानत इताति है,
चेरो तेरो तुलसी, तु मेरो कह्यो, रामदूत,
ढील तेरी बार मोहि पीर ते पिराति है। (३०)

(५०) एते बड़े साहेब समर्थ को निवाजो आजु,
सीदत सुसेवक बचन-मन-काय को,
थोरि बाहु-पीर की, बड़ी गलानि तुलसी की,
कौन पाप कोप लोप प्रगट प्रभाय को? (३१)

(५१) तुलसी के माथे पर हाथ फेरौ कीसनाथ,
देखिए न दास दुखी तो-से कनिगर को, (३३)

(५२) भोरानाथ भोरे हौ, सरोष होत थोरे दोष,
पोषि-तोषि थापि आपने न अवडेरिए;
बालक बिकल जानि, पाहि प्रेम पहचानि,
तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिए। (३४)

(५३) घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुजोगनि ज्यों,
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है;
बरषत बारि पीर जारिए जवासे जस,
रोप बिन दोष, धूल मूल मलिनाई है।
करुनानिधान हनुमान महा बलवान,
हेरि-हँसि हाँकि फूँकि फौजें तैं उड़ाई है;
खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड़ राकसनि,
केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है। (३५)

(५४) श्रीरघुबीर निवारिए पीर,
रहौं दरबार परो लटि लूलो। (३६)

(५५) काल की करालता, करम-कठिनाई कैधौं,
पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे;

बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति-दिन,
सोई बाँह गही जो गही समीर डाबरे।
लायो तरु तुलसी तिहारो, सो निहारि बारि,
सींचिए, मलीन भो, तयो है तिहुँ ताव रे;
भूतनि की, आपनी, पराई के कृपानिधान,
जानियत सब ही की रीति राम रावरे। (३७)

(५६) मानस - बचन - काय सरन तिहारे पाय,
रावरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै;
कपिनाथ, रघुनाथ, भोलानाथ, भूतनाथ,
रोग - सिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै। (४३)

(५७) कहौं हनूमान सों, सुजान राम रायसों,
कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनियै,
हरष - बिषाद - रोग - राग - गुन - दोषमई,
बिरची बिरंचि सब देखियतु दुनियै।
माया जीव काल के, करम के, सुभाय के।
करैया राम, बेद कहैं, साँची मन गुनियै,
तुमते कहा न होय हाहा सो बुझैए मोहि,
हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनियै। (४४)

छंद-नंबर ५३ मे एक बार रोग-मुक्त हो गए, किंतु जान पड़ता है, फिर रोग ने घेरा, सो फिर से बिनती की गई है।

(ञः) रोग के संबंध मे मरण श्रेष्ठतर—

(५८) जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहि,
मालुम है तोहि मरिबेई को रहतु हौं,
कामरिपु राम के गुलामनि को कल्पतरु,
अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं।
रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पद-पंकज गहतु हौं,
ज्याइए तौ जानकी-रमन जन जानि जिय,
मारियै तौ माँगी मीचु सूधियै चहतु हौं।
(क० नं० १६७, उत्तरकांड)

(५९) जीवौं जग जानकी - जीवन को कहाय जन,
मरिबे को बारानसी, बारि सुरसरि को,

तुलसी के दुहू हाथ मोदक हैं ऐसे ठाऊँ,
जाके जिए-मुए सोच करिहै न लरिको।
मोको झूठो-साँचो लोग राम को कहत सब,
मेरे मन मान है न हर को न हरि को,
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को। (२४)

(६०) असन-बसन-हीन, बिषम बिषाद-लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को,
तुलसी अनाथ, सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सील सिंधु आपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाय भरुआयगो,
बिहाय प्रभु-भजन बचन-मन-काय को;
तातें तनु पेखियत घोर बरतोर मिस,
फूटि-फूटि निकसत लोन राम राय को। (४१)

गोस्वामीजी अपने रोग को बरतोर समझते थे।

(क) गुरु के विषय में—

(६१) बंदौं गुरु-पद-कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि। (नरहरि)
महा-मोह-तम-पुंज, जासु बचन रबिकर निकर।
बंदौं गुरु-पद-पदुम-परागा, सरस सुबास सहित अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू, समन सकल भव-रुज परिवारू।
सुकृत संभु तन बिमल बिभूती; मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती।
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी, किए तिलक गुन-गन बस करनी।
श्रीगुरु-पद-नख मनि गन जोती; सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह-तम सो सुप्रकासू, बड़े-भाग उर आवहि जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के; मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के।
सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक; गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक।
जथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान,
कौतुक देखहि सैल बन, भूतल भूरि निधान।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन; नैन-अमिय दृग-दोष-बिभंजन।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन, बरनउँ रामचरित भवमोचन।
(रामच० मा०, बालकांड)

(६२) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सुसूकर खेत,
समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रह्यो अचेत।
तदपि कही गुरु बारहि बारा; समुझ परी कछु मति अनुसारा।
भाषा-बद्ध करब मै सोई; मोरे मन प्रतीति असि होई।
(रामच० मा०, बालकांड)

उपर्युक्त छद नंबर १५ भी देखिए। गोस्वामीजी के जीवन-चरित्रकारों ने इनके गुरु का नाम बाबा नरहरिदास लिखा है, और कहा है कि पाँच वर्ष की अवस्था मे अपनी पालिका मुनिया के मरने पर गोस्वामीजी अनाथ होकर इधर-उधर भटकने लगे; तब बाबा नरहरिदास ही ने पालन करके इनको विद्वान् भी बनाया। सोरो में लोग यह नाम नरसिहदास बतलाते है। नरहर्यानंद भी कहा गया है। कुछ लोगो का यह भी कथन है कि तुलसीदास द्वारा कथित शूकर-क्षेत्र वास्तव मे सोरो न होकर जिला गोडा का शूकर खेत-नामक स्थान है, किंतु इस कथन का ऐतिहासिक समर्थन नहीं है। कुछ काल मे विवाह के पीछे अपनी स्त्री रत्नावली की फटकार से क्षुब्ध हो गोस्वामीजी बैरागी होकर इन्ही बाबाजी के मंत्र-शिष्य भी हो गए। जान पडता है, इन बाबाजी ने गोस्वामीजी पर बालपन से ही भारी कृपा की थी, क्योकि उन्हे (गोस्वामीजी को) इनके ऊपर अगाध श्रद्धा थी। यह बाबाजी ऐसे बडे राम-भक्त थे कि एक अबोध बालक को भी बार-बार राम-चरित्र समझाने मे नहीं उकताते थे। समझ पड़ता है, इनकी भारी राम-भक्ति का प्रभाव गोस्वामीजी के कोमल चित्त पर बहुत अधिक पडा, जिससे छोटी ही सी गृह-कलह से आप सदा के लिये गृह त्यागी हो गए, और स्त्री के बहुत कुछ बिनती करने तथा गिड़गिडाने पर भी फिर घर न लौटे। बाबा नरहरिदास रामानद महाराज के शिष्यसंप्रदायवाले कहे जाते है।

(ख) अब गोस्वामीजी से संबंध रखनेवाले इन्ही के तथा अन्य लोगो के कुछ और छद दिए जाते है।

हुलसी माता के संबंध मे—

(६३) शंभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी; रामचरित मानस कवि तुलसी।
(रामच० मा०, बालकांड)

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी-सो सुत होय।
(खानेखानान)

लोगो ने इनकी माता का नाम हुलसी बतलाया है। गोस्वामीजी ने राम-चरित-मानस मे इस शब्द का प्रयोग बहुत किया है। पिता का नाम आत्माराम द्विवेदी कहा गया है। इनके विषय मे गोस्वामीजी ने केवल इतना कहा है कि माता-पिता ने जन्म देकर त्याग दिया, और इन्हे न तो भाई का भरोसा था, न जननी-जनक तक इनके हितू थे। ऐसे स्थान पर भी आपने केवल गुरु की कृपा का यश गाया है। आत्माराम का कथन हमने गोस्वामीजी के ग्रंथों मे नहीं पाया।

स्त्री के संबंध मे—

(६४) लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ,
धिक-धिक ऐसी प्रीति को कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि-चाममय देह मम, तामैं जैसी प्रीति,
जो होती रघुनाथ सों, तौ न होति भव-भीति।
जितना चित्त हराम में, तितना हरि में होय,
चला जाय बैकुंठ को, पल्ला गहे न कोय

(दूसरों के छंद)

उपर्युक्त छंद नंबर ३३ भी देखिए। इन छंदो मे कितनी तीव्रता है? जान पड़ता है, स्त्री ने इतना उग्र भाषण न किया होगा। इसमे अत्युक्ति होगी। फिर भी यदि बहुत ही कटु भाषण न होता, तो उससे खिन्न होकर गोस्वामीजी गृहस्थी छोड़ते क्यो? माता पिता ने जन्मते ही छोड़ दिया तथा स्त्री ने भी अपने से प्रीति-त्याग का उपदेश देकर छोड़ दिया। इन्हे सबने छोड़ा, किंतु राम ने न छोड़ा। इनके पिता की अकथनीय क्रूरता एवं स्त्री की प्रचंड मूर्खता भारतवर्ष के काम आ गई। स्त्री ने सहधर्मिणी होकर भी गोस्वामीजी को न पहचाना। उसका विचार था कि गोस्वामीजी की उत्कृष्ट एवं अमोघ प्रीति केवल ऐंद्रिय सुख-जन्य थी। इसी भाव से प्रेरित हो, मायके मे पहली ही रात को पति को अनुचित प्रकार से पास आते देख मिथ्या लोक-लाज के कारण वह गड़ गई, और आपे से बाहर होकर इन्हे पत्नी-प्रीति-परित्याग का कटु उपदेश परम तीव्र शब्दो मे दे बैठी। इधर गोस्वामीजी के परिवार मे तो कोई था ही नही, और आपमे तल्लीनता की शक्ति परम अमोघ थी। अतएव स्वभावश: आप पूरा प्रेम स्त्री मे लगा बैठे। सशक्त थे ही, सो उसने इस प्रीति को न पहचानकर इसे केवल इंद्रिय-सुख-जन्य मान लिया। बाबा नरहरिदास के पौर्वकालीन संयोग से राम-भक्ति का बीज इनमे था प्रचुर प्राबल्य से, किंतु कौटुंबिक जीवन में दबा हुआ था। कुटुंब की मूलाधार स्त्री के अनुचित तथा उद्दंड भाषण से वह उमड़ पड़ा,

और यह ब्रह्मर्षि सदा के लिये गृह-त्यागी हो गया, अथच संसार को एक परमोत्कृष्ट कविरत्न और अमूल्य धर्मोपदेशक प्राप्त हो गया। कहते है, गोस्वामीजी के श्वशुर दीनबंधु पाठक ने इनके पांडित्य पर ही रीझकर अपनी कन्या रत्नावली इन्हे ब्याही थी, किंतु वह सौंदर्य के अहंकार मे इस पांडित्य से नितांत अनभिज्ञ रही। इन दोनो का एकमात्र पुत्र तारक बच्चा ही था, जब संसार से उठ गया।

(ग) मृत्यु—

६५) राम-नाम-जस बरनि कै भयो चहत अब मौन,
तुलसी के मुख दीजिए अबहीं तुलसी-सोन।
संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर,
सावन सुकला सत्तिमी तुलसी तज्यो सरीर।
(या "सावन कृष्णा तीज दिन"........ ....)

(दूसरो के छंद)

पहले श्रावण-शुक्ला सप्तमी मानी जाती थी, किंतु अब श्रावण-कृष्णा तीज अधिक मानी जाती है, क्योंकि गोस्वामीजी के प्रगाढ मित्र टोडरमल खत्री के वंशधर अब भी इस तिथि को इनके नाम पर सीधा निकालते है।

(घ) गोस्वामीजी के संबंध मे दूसरो के कथन—

कहते है, बाबा बेनीमाधवदास तथा बाबा रघुवरदास दोनो स्वयं गोस्वामीजी के शिष्य थे। इन दोनो महात्माओ ने छंदो मे गोस्वामीजी के दो बृहत् जीवन-चरित्र लिखे है, जो संपूर्ण रूप मे अभी तक देखने मे नही आए, किंतु गोसाईं-चरित्र का एक अध्याय प्रकाशित हो चुका है। इसमे ग्रंथ का साराश छंदो मे दिया है। इन दोनो महात्माओं को गोस्वामीजी का शुद्ध जीवन-वृत्तात ज्ञात अवश्य होगा, और यदि चाहते, तो जैसे-का-तैसा उसे लिख सकते थे, किंतु माहात्म्य-वर्द्धन या अन्य किसी कारण से इन दोनो के कथनो मे पुराणादि के समान असंभव कथन आ गए है, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो गई है। एक स्थान पर लिखा है कि पत्थर की नदीगणवाली भारी मूर्ति घास चरने लगी। इसी भाँति यह कहा गया है कि गोस्वामीजी द्वारा 'प्राकृत कवि' कहे जाने से प्रसिद्ध महाकवि केशवदास ने एक ही रात मे प्राय: चालीस अध्यायो की भारी पुस्तक रामचंद्रिका रच डाली। इसी प्रकार कई ऐसे महापुरुषों का गोस्वामीजी से मिलना मुख्य-मुख्य संवतो मे लिखा है, जिन्हे पंडितो ने इतिहास द्वारा असिद्ध प्रमाणित कर दिया है। महात्मा सूरदास शिष्यों की-सी नम्रता से गोस्वामीजी को मिलते हैं, यद्यपि वह इनसे बहुत वयोवृद्ध थे, और माहात्म्य मे भी कम नही थे।

इसी प्रकार उधर २५२ वैष्णवो की वार्ता नामक तत्कालीन ग्रंथ मे लिख दिया गया है कि जब महात्मा विट्ठलनाथ के पुत्र ने कृष्ण का रूप तजकर धनुष-बाण लिया, और राम का रूप धारण किया, तब तुलसीदास ने शिष्यों की भाँति उनको प्रणामादि किए। "तुलसी मस्तक जब नवै धनुष-बाण ल्यो हाथ"-वाला दोहा इसी संबंध मे यारो ने बनाकर गोस्वामीजी के मुख मे रख दिया, यद्यपि इनके ग्रंथो मे यह हमे नही देख पडा। इस प्रकार के अनर्गल कथन, मूर्खों मे विश्वास-वृद्धि के लिये, करके जाने हुए प्रामाणिक कथनो मे भी लोग संदेह डाल देते है। २५२ वैष्णवो की वार्ता मे उस काल से पीछे के भी कथन है, जिससे उसमे पीछे भी बाते जोडी जाना सिद्ध है। गोस्वामीजी का नंददास का भाई होना उसी मे कथित है, किंतु गोसाईं-चरित्र मे गुरुभाई-मात्र होना लिखा है। नाभादास नंददास को एक बहुत ही साधारण पुरुष चंद्रहास का अग्रज कहते है। यदि वह तुलसीदास-से महात्मा के भाई होते, तो नाभादास इस बात को अवश्य कहते, चाहे उन्हे चंद्रहासवाला कथन स्थानाभाव मे छोडना भी पड़ता। सं० १७६६वाली प्रियादास-कृत भक्तमाल की टीका मे भी नंददास का भ्रातृत्व अकथित है, यद्यपि उसमे गोस्वामीजी पर ११ छंद है।

जन-श्रुति गोस्वामीजी का एक ही विवाह मानती है, किंतु गोसाईं-चरित्रकार तीन विवाह बतलाकर एक मे इनके पिता को ६०००) का दायज भी दिलाते है। गोस्वामीजी अपना पुराना नाम रामबोला लिखकर कहते है कि मेरे कोई कही भी नही है, किंतु चरित्रकार उनका पुराना नाम तुलाराम कहकर उनके कई भाई-बहन भी बतलाते और घराने को संपन्न-सा कहते है। ऐसे विवरण स्वयं गोस्वामीजी के कथनो के प्रतिकूल पडकर अग्राह्य समझ पडते है। चरित्रकारों का भी यह कथन है कि गोस्वामीजी सदंत उत्पन्न हुए थे, और इन्होंने जन्मते ही राम-नाम लिया। कुछ लोगो का विचार है कि किसी नव-जात शिशु के दाँत होना डॉक्टरो की राय मे भी असंभव नही है। हमको यह कथन संदिग्ध जान पड़ता है, और राम-नाम लिया जाना असंभव ही प्रतीत होता है। हमारे यहाँ बहुतेरे ऐसे लोग हैं कि महात्माओं के विषय मे जब तक असंभव घटनाएँ न कही जायँ, तब तक उनको स्वाद ही नही आता। बेनीमाधवदास के ग्रंथ का नाम 'गोसाईं-चरित्र' है और रघुवरदासवाले का 'तुलसी-चरित्र'।

सरोजकार का निराधार कथन यह है कि गोस्वामीजी का जन्म सं० ११८३ में हुआ। मृत्यु-काल सभी १६८० मानते है। प्रसिद्ध रामायणी रामगुलाम द्विवेदी का समय सं० १६०१ माना जाता है। आपने गोस्वामीजी पर प्रचुर परिश्रम और खोज करके उनके विषय मे बहुतेरे कथन किए हैं। आपके भजन

'रागसागरोद्भव' मे है, तथा और ग्रंथ भी खोज मे मिले है। आप जन्म-काल सं० १५८६ मानते है। हाथरसवाले उपर्युक्त तुलसी साहब भी यही जन्म-संवत् बतलाते है। इसी को डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी माना है, किंतु उपर्युक्त चरित्रकार गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ लिखते है। ऐसा मानने से मृत्यु के समय आपकी अवस्था १२६ वर्षों की बैठती है, जो असंभव तो नही, किंतु संदिग्ध अवश्य है। जब उन महात्माओ के बहुतेरे अन्य कथन भी अग्राह्य और इतिहास-विरुद्ध सिद्ध हो चुके है, तब इस पर भी विश्वास नही बैठता। कहते है—'वेश्या बरस घटावई, जोगी बरस बढाव," सो जान पडता है, इन दोनो महाशयो ने माहात्म्य-वर्द्धन के लिये ही गोस्वामीजी का जन्म-सवत् बहुत पीछे फेंका है। द्विवेदीजीवाला संवत् १५८६ मानने से भी इनकी अवस्था ९१ वर्षों की आती है। इससे अधिक बढाने का प्रमाण असंदिग्ध प्रकार से नहीं मिलता। संवत् १६३१ मे रामचरित-मानस प्रारंभ करके गोस्वामीजी ने थोडे ही दिनो मे उसे समाप्त कर दिया। इस ग्रंथ-रत्न का लेखक संसार मे पूरा मन लगाता तथा उचित स्थानो पर क्रोधादि के अच्छे विवरण देता है। यह समझ मे नही आता कि कोई ७७ वर्ष का जप्पल ऐसा अमूल्य ग्रंथ बना सकेगा। गोस्वामीजी ने अपना "गात जोर जरा" से जला हुआ अवश्य लिखा है, किंतु प्राय. ९० वर्ष का वृद्ध ऐसा कह सकता है। यह कथन कवितावली मे है, जो इनके स्फुट कवित्तो का संग्रह है। इसमे इनके सभी समयो के छंद है।

गोस्वामीजी सरयूपारीण द्विवेदी ब्राह्मण कहे जाते है। एक समय हमारा इनके कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का विचार राजा प्रतापसिंह-कृत 'भक्त-कल्पद्रुम' के आधार पर था, किंतु कुछ अन्य प्रमाण इन्हे सरयूपारीण भी सिद्ध करते है, और सरयूपारीण है कान्यकुब्ज ही। अतएव उपर्युक्त दोनो आधारो मे वास्तविक भेद भी अधिक नही रह जाता। आप स्वयं अपने को मंगन-कुल मे उत्पन्न कहते है, जो बात वंश के विषय मे असंदिग्ध तो नही, किंतु कान्यकुब्ज के मुक़ाबिले मे सरयूपारीण की ओर झुकती है। उधर तुलसी साहब आपको कान्यकुब्ज कहते है, और यह सबसे पुराना निश्चित प्रमाण है भी। अतएव यह मामला अब इसी ओर झुकता है।

भक्तमालकार महात्मा नाभादासजी गोस्वामीजी को अपने भक्तमाल का सुमेरु मानते थे। उन्होने लिखा है—

"कलि-कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो।"

नाभादास गोस्वामीजी के समकालीन थे। सं० १७६९-वाले उनके शिष्य प्रियादास ने गोस्वामीजी के संबंध में ११ छंद कहे हैं। उनमें इनके द्वारा स्त्री-त्याग

का भी कथन है। ये छंद भक्तमाल की टीका में है। इनके द्वारा एक हत्यारा ब्राह्मण पवित्र माना जाने से लोगों ने मान लिया कि उसकी हत्या छूट गई। उसके द्वारा राम-राम सुनने से ही गोस्वामीजी को उस पर दया आ गई थी। बाबा बेनीमाधवदास और रामगुलाम द्विवेदी गोसाईंजी को सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। हमारी राजापुरवाली स्थानीय जाँच भी यही कहती है। महाराज रघुराजसिंह रीवाँ-नरेश ने 'राम-रसिकावली' में गोसाईंजी का जीवन-चरित्र लिखा है, तथा पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने 'भक्त-विलास' में। रामगुलाम द्विवेदी और बदन पाठक ने भी गोसाईंजी की जीवनी दी है। बाबा रघुवरदास गोसाईंजी को गाना का मिश्र कहते हैं। पंडित लोग इन्हें स्मार्त वैष्णव मानते हैं, और कुछ लोगों का विचार है कि इनके अभुक्त मूल में जन्म-ग्रहण करने से ही पिता ने इन्हें छोड़ा होगा।

गृह-त्याग के पीछे गोस्वामीजी प्रायः तीर्थ-स्थानों में घूमते रहे। महाशय मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, जगन्नाथपुरी, शूकर-क्षेत्र (सोरों) आदि स्थानों में आया-जाया करते थे, और अयोध्या में अधिकतर रहते थे, पर इनका मुख्य वास-स्थान काशी थी। यह लोलार्क-मठ के गोसाईं भी हो गए थे। लोलार्क काशी का एक मुहल्ला है। यह मठ पीछे से 'स्थान' कहलाने लगा। मठ और स्थान में भेद यह है कि स्थान केवल वैष्णवों का होता है, और मठ किसी भी सम्प्रदाय का हो सकता है। वहाँ बहुत सी जगहों पर अब तक इनके स्मारक वर्तमान हैं। उनमें निम्न-लिखित चार प्रसिद्ध हैं—

(१) असी पर गोस्वामीजी का घाट। यहाँ इनके स्थापित हनुमान्‌जी और इनकी गुफा है। यहाँ यह विशेषकर रहते थे, और इसी स्थान पर इनका शरीर-पात भी हुआ।

(२) गोपाल-मंदिर। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग़ में इनकी एक कोठरी है, जिसमें इनकी बैठक थी। यह स्थान बिंदुमाधवजी के समीप है।

(३) प्रह्लाद-घाट।

(४) संकटमोचन हनुमान्। इन्हीं महाशय की स्थापित की हुई यह मूर्ति, नगवे के समीप, असी के नाले पर, अब तक वर्तमान है। संभवतः इसी हनुमन्मूर्ति की प्रशंसा में 'संकटमोचन' बना।

गोस्वामीजी पहले हनुमान-फाटक पर रहते थे, फिर मुसलमानों के उपद्रव के कारण गोपाल-मंदिर में आए, और वहाँ वल्लभ-संप्रदायवाले गुसाइयों से विरोध हो जाने के कारण असी-घाट पर रहने लगे। असी पर गोस्वामीजी ने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ कर दी थी, जो वहाँ अब तक

होती है। यह लीला काशी की सब लीलाओं से पुरानी है । गोस्वामीजी कृष्ण-लीला भी कराते थे, और इनके घाट पर कार्त्तिक-कृष्णा ५ को अब तक कालिय-दमन-लीला होती है। अत मे गोस्वामी होकर लोलार्कमठ मे भी रहे।

बनारस के खत्री टोडरमल (प्रसिद्ध मंत्री टोडरमल नही), ख़ानख़ाना, महाराजा मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती और नाभादासजी से इनकी मित्रता थी। ख़ानेख़ानान रहीम कवि सं० १६४६ से ४८ तक काशी के गवर्नर थे। उसी समय इनका प्रेम गोस्वामीजी से हुआ होगा। इन्हे बरवै-छंद बहुत पसंद था। सोचा जाता है कि शायद इन्ही के कहने स आपने बरवै-रामायण लिखी हो। टोडरमल के कुटुंबियो मे कुछ झगडा हुआ था, जिसमे गोस्वामीजी पंच नियत हुए। इसका फैसलनामा, स्वयं इनके हाथ का लिखा, महाराजा बनारस के यहाँ अब तक सुरक्षित है। इनके छ और लेख कहे जाते है, किंतु जॉच करके प्रसिद्ध विद्वान् बाबू माताप्रसाद ने उन्हे असत्य ठहराया है। केवल यही फैसलनामा उनका असली लेख है। गोस्वामीजी से एक बार मलूकदास भी मिले। अवध-देश के सुकामणिदास की कविता को गोस्वामीजी ने बहुत पसंद किया। वह छंद बाबू शिवनदनसहाय ने अपने ग्रंथ 'गोसामी तुलसीदास' के पृष्ठ १०१ पर लिखा है। तुलसी साहब का कथन है कि गोस्वामीजी सं० १६१५ मे काशी पधारे। यह महाशय एक बार लखनऊ भी आए, और वहा से चलकर कुछ दिन मलिहाबाद मे रहे। कहते है, वहा एक भाट को इन्होने अपने हाथ से एक रामायण लिख दी, जो वहाँ के महंत जनार्दनदास के पास अब तक विद्यमान है। इस पुस्तक को एक बार लगभग आध घंटे तक हमने भी देखा, परंतु हमको इसके गोस्वामीजी के हाथ की लिखी होने मे संदेह है। इनका लिखा अयोध्याकाड (रामायण) अब तक राजापुर की कुटी मे विद्यमान है। उसके अक्षरो का फोटो हमने देखा है। उन अक्षरो से मलिहाबादवाली पुस्तक के अक्षर नही मिलते, और केवल आधा ही घटा तक ढूॅढने पर हमे उसमे गंगा-उत्पत्ति की कथावाला क्षेपक भी मिला। पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने अपने 'भक्त-विलास' मे गोस्वामीजी का जो वर्णन किया है, उसमे यह लिखा है कि इनकी सूरदासजी से भेंट हुई थी।

सबसे पहले खड्गविलास-प्रेस के स्वामी बाबू रामदीनसिंह ने एक भव्य भूमिका-सहित रामायण की शुद्ध प्रति निकाली। फिर इंडियन-प्रेस, प्रयाग के स्वामी बाबू चितामणि घोष ने बडे श्रम और व्यय से रामायण की एक अतीव शुद्ध, सचित्र प्रति, संवत् १९५६ मे, प्रकाशित की। इसमे बहुत-सी प्राचीन प्रतियों से मिलाकर शुद्ध पाठ लिखा गया। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी,

बाबू राधाकृष्णदास, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू कार्त्तिकप्रसाद और बाबू अमीरसिंह ने इसका संपादन किया। इसमे ६३ पृष्ठों की बढ़िया भूमिका दी गई है। संपादको ने इसमे रामायण के कठिन शब्दो की टिप्पणी दी है, और जो कथाएँ रामायण मे उदाहरण-स्वरूप लिखी गई हैं, उनका भी संक्षेप मे वर्णन कर दिया है। रामायण की ये दोनो प्रतियाँ परम प्रशंसनीय हैं।

गोस्वामीजी स्मार्त-वैष्णव माने गए हैं। इन्होंने रामायण में लिखा है, संवत् १६३१ के—

नवमी, भौमवार, मधु-मासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।

इस मंगलवार को उदय-काल मे राम-नवमी न थी। मध्याह्न-व्यापिनी होने के कारण स्मार्त-वैष्णवों के मतानुसार ही उस दिन नवमी माननीय थी। शेष वैष्णवो के मत मे राम-नवमी बुध को थी। स्मार्त-वैष्णव किसी मत का विरोध न करके भक्ति की प्रधानता रखते हैं। स्मार्त-मतवाले बहुधा शैव होते हैं। उनकी यह भी विशेषता है कि वे सब देवतो को बिलकुल समान मानते हैं। आपने शिव की महत्ता गाई है, जो उस काल के वैष्णव नहीं करते थे। इसी से विरोधा-भाव के कारण किसी-किसी ने आपको स्मार्त कहा है। वास्तव मे आपने राम का परत्व रक्खा ही है, अत. पूर्णतया स्मार्त न मानकर हम इन्हें भागवत-मत का मान सकते हैं। भागवतो का भी विरोध किसी से नहीं होता, यद्यपि किसी की मुख्यता वे मान सकते हैं। आपकी भक्ति दास-भाव की थी।

गोस्वामी तुलसीदास की मुख्य महत्ताएँ दो हैं। आप परमोत्कृष्ट कवि तथा धर्मोपदेशक थे। जब आपका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतीय धार्मिक विश्वासों की दशा कुछ अवांछनीय थी। मुसलमानो ने एकेश्वर-वाद पर पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके भारतीय धार्मिक विचारो मे कुछ नवीनता सी उपस्थित की थी। प्राचीन काल में हमारे यहाँ एकेश्वर-वाद पूर्ण रूप से दृढ था, किंतु पीछे से बौद्ध त्रिरत्न के जोड़ पर हमारे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विचारो ने इसमें कुछ गड़बड़ कर दी थी। यह त्रिमूर्ति-संबंधी विचार वास्तव मे एकेश्वर-वाद के अणु-मात्र प्रतिकूल नहीं है। वही ईश्वर उत्पादक होकर ब्रह्मा, पालक होकर विष्णु और विनाशक होकर रुद्र है। वास्तव मे ये तीन व्यक्ति नहीं हैं; वरन् एक ही ईश्वर के तीन भाव हैं। पंडित लोग अब भी इस बात को मानते हैं, तथा सदैव मानते रहे हैं, किंतु साधारण जनता चिर काल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को तीन पृथक् - पृथक् देवता मानती आई है। पुराणो मे भी ये देवता भाव-मात्र न माने जाकर तीन पृथक्-पृथक् व्यक्ति हो गए, यहाँ तक कि इनमे परस्पर युद्धादि भी होने लगे।

इन्ही बातों से राह भूलकर जनता इन्हे तीन देवता मानने लगी, और आदि-शक्ति को भी पृथक् देवी समझ बैठी। फल यह हुआ कि शैव, वैष्णव और शाक्त एक दूसरे को बुरा कहने लगे, यहाँ तक कि विना एक दूसरे के मतो को गाली दिए बहुत-से शैवो, शाक्तों एवं वैष्णवो का चित्त ही प्रसन्न नही होता था। उधर हिदुओं और मुसलमानो के धार्मिक विचारों मे भी अच्छा-ख़ासा झगडा उपस्थित था। इस प्रकार हिदू-मुसलमानों का एक धार्मिक विभ्राट् था, और हिदुओ में शैवो, शाक्तो तथा वैष्णवो का दूसरा। इसे मिटाने को पहले महात्मा कबीरदास का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने एकेश्वर-वाद का सच्चा उपदेश दिया, और हिदू मुसलमानो की एकता दिखलाई। आपने सगुणोपासना को हेय ठहराकर मुख्यतया निर्गुणोपासना का उपदेश दिया, वरन् उससे भी ऊँचे भाव प्रकट किए।

शुद्ध निर्गुणोपासना का प्रयोजन स्थूल रूप से इस भाँति है कि परमेश्वर शक्ति-स्वरूप है। उसके नियम दयामय है, किंतु नियमातिरिक्त दया वह नहीं कर सकता, या नही करता। यदि एक गेहूँ बोइए और उसे युक्ति मे पालिए, तो समय पर ईश्वरीय नियम आपको उसके बदले पचास गेहूँ देंगे, किंतु यदि उचित उपाय न कीजिए, तो वह एक गेहूँ भी सूख जायगा। अतएव ईश्वरीय नियम दयामय है, किंतु उस दया से लाभ उठाने के लिये यत्न की भी आवश्यकता है, और कोरी प्रार्थना से काम नही चलता। बीमारी से बचने के लिये बुद्धि से काम लेकर उचित दवा करनी होगी, केवल उपासना से रोग-शाति न होगी। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते है।

ये विचार तार्किक रीति से शुद्ध होने पर भी मनुष्य की मानसिक निर्बलता के कारण उसे पसंद कम आते है। इनको पसंद करनेवाले थोडे ही से पंडित निकलेंगे, अथच साधारण जनता इनसे लाभ उठाने मे नितात असमर्थ रहेगी, क्योंकि उसे केवल तार्किक शुद्धता को ही नहीं, वरन् प्रेम करनेवाले और गज-ग्राह की-सी पुकार सुननेवाले ईश्वर की भी आवश्यकता पडती है। यद्यपि महात्मा कबीरदास ने पूरे तौर से निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम-भाजन तथा पुकार सुननेवाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर मे निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोडा या कुछ भी नही। सुतराम् उनका उपदेश साधारण जनता के लिये इतना ऊँचा था कि वह उसे प्राय. अलभ्य था। इसी प्रकार हिदू-मुसलमानी मतो को एक मानने को भी जनता तैयार न थी। अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिये वैसी लाभदायक नहीं हुई। संसार को एक ऐसे उपदेशक की आवश्यकता थी, जो अधिक लोक-मान्य उपदेशो का प्रचार करे।

महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्राय: ५० वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदू-मुसलमानों के मतों में ऐक्य उत्पन्न करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया। हिंदुओं में एकेश्वर-वाद की जो कमी हो गई थी, उसे इन महात्मा ने पूरा किया। आपने सब देवों पर रामचंद्र का परत्व सिखलाया, और अद्वैतवाद को पूर्णतया दृढ़ करके ईश्वरीय महत्ता को भली भाँति स्थापित किया। आपने राम को "बिधि हरि बिष्णु नचावनहारे" बतलाया, और साधारण इंद्रादि देवनों को ऋषियों, मुनियों तक से कम कहकर उनकी अनीश्वरता प्रकट की (देवतों के विषय का वर्णन देखिए)। फिर भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि मतों की निंदा न करके आपने शक्ति, शिव, विष्णु आदि का उचित मान स्थिर रक्खा।

इस प्रकार हिंदुओं के ईश्वरत्रयवाद को ध्वस्त करते हुए भी आपने त्रिमूर्ति की निंदा नहीं की, और शैवों, वैष्णवों आदि की एक दूसरे को गाली देनेवाली प्रकृति को यह सिखलाकर दूर किया कि जो भक्त इनमें से एक को बुरा कहकर अपने को दूसरे का दास मानता है, वह वास्तव में भक्त न होकर पापी है, और नरक में पड़ता है। निर्गुणोपासना को मानते हुए भी आपने सगुण ईश्वर तथा अवतार भी माने। तथापि इन्हें तर्क-हीन बतलाकर प्राचीन तर्क-वाद को प्रकट रूप में बिना काटे हुए ही नवीन भक्तिवाद दृढ़ किया, क्योंकि इनके समय में शंकर तथा रामानुज का तर्क-वाद अपना काम पूरा कर चुकने से अनावश्यक-सा हो गया था। इस प्रकार गोस्वामीजी ने हिंदुओं के मतवादों का वैमनस्य दूर करके उनमें ऐक्य स्थापित किया! जैसे गौतम बुद्ध, नानक आदि महात्माओं ने जनता तक उपदेश पहुँचाने के विचार से देश-भाषा ही में शिक्षा दी थी, उसी प्रकार हमारे गोस्वामीजी ने सर्व-साधारण के समझने योग्य सरल हिंदी में उपदेश दिए। महात्मा सूरदास आदि कवियों ने भी अच्छी भक्ति दिखलाई थी, किंतु कठिन भाषा और शृंगार-पूर्ण वर्णन होने के कारण उनके उपदेशों ने वैसा लाभ नहीं पहुँचाया। इधर गोस्वामीजी ने भगवान् रामचंद्र का वर्णन बहुत सजीव तथा मर्यादा-पूर्ण किया, जिससे आपके उपदेशों का प्रभाव बहुत भारी पड़ा, और सरल भाषा के कवि होने से आप उत्तर-भारत के सबसे बड़े उपदेशक और चरित्र-संशोधक हुए। शंकराचार्य के पीछे आप ही हमारे सर्वोत्कृष्ट उपदेशक थे। हिंदू-धर्म को जैसा आपने बनाया, वैसा ही वह आज है। उस काल उसका वह रूप उचित भी था। आजकल, समय के फेर से, उसकी कई बातें अनुचित हो गई हैं, और धीरे धीरे दूर होकर समाज की वर्तमान दशा के अनुसार हमारे आचरण बन रहे हैं।

गोस्वामीजी के नाम से निम्न-लिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—

(१) रामचरित-मानस (रामायण दोहे-चौपाई में)	(१३) रामलला-नहछू
	(१४) जानकी-मंगल
(२) कवितावली-रामायण	(१५) पार्वती-मंगल
(३) गीतावली-रामायण	(१६) कृष्ण-गीतावली
(४) छंदावली-रामायण	(१७) हनुमान्-बाहुक
(५) बरवै-रामायण	(१८) संकट-मोचन
(६) पदावली-रामायण	(१९) हनुमान्-चालीसा
(७) कुंडलिया-रामायण	(२०) राम-शलाका
(८) छप्पै-रामायण	(२१) राम-सतसई
(९) कड़खा-रामायण	(२२) वैराग्य संदीपिनी
(१०) रोला-रामायण	(२३) विनय पत्रिका
(११) झूलना-रामायण	(२४) कलि-धर्माधर्म-निरूपण
(१२) रामाज्ञा	(२५) दोहावली

रामचरित-मानस में पीछे के कवियों ने स्थान-स्थान पर नई कथाएँ लगा दी है, जिन्हें अब क्षेपक कहते हैं। ये कविगण ऐसे परोपकारी थे कि इन्होंने अपना नाम तक नहीं लिखा, और केवल यही इच्छा की कि इनकी कविता गोस्वामीजी के साहित्य में मिल जाय। कुछ क्षेपककारों ने रामायण में किसी कथा की कमी समझकर वह त्रुटि पूरी करने को अपनी ओर से उतनी कथा मिलाकर लगा दी, और कुछ महाशयों ने यह दिखलाने को कि वे भी गोस्वामीजी के समान काव्य कर सकते हैं, बहसा-बहसी में नई कथा बनाकर रामायण में चिपका दी होगी। केवल बाल और लंका-कांडों पर क्षेपककारों ने विशेष अनुग्रह किया है। अयोध्या-कांड में प्राय. किसी को क्षेपक लगाने का साहस नहीं हुआ। क्षेपकों में राम-सेना-वर्णन तथा महिरावण-वध सर्वोत्कृष्ट है। गंगोत्पत्ति एवं सुलोचना के सती होने का वर्णन भी अच्छा है। ये क्षेपक गोस्वामीजी की रामायण में ऐसे लग गए हैं कि प्राय: राम-लीलाओं में भी खेल जाते हैं। फिर भी कहना ही पड़ता है कि ये मूल-कथा के बीच में वैसे ही अखर जाते हैं, जैसे हलुआ खाने में कंकड़ का टुकड़ा जान पड़े। गोस्वामीजी ने अपनी रामायण कबड़िए का गल्ला तो बनाया नहीं है कि उसमें जो रख दो, वही खप जाय। उन्होंने पूरा ग्रंथ बनाने में उसके अंग-प्रत्यंगों को अपने ग्रंथ की गुरुता के अनुसार यथा-योग्य छोटा या बड़ा बनाया है। अत: जिस किसी स्थान पर कोई अंग बढ़ या घट जायगा, उसी जगह ग्रंथ का रूप बिगड़ जायगा। लोग यह समझ बैठे कि

जब किसी कथा का वाल्मीकि अथवा व्यास ने उल्लेख किया, तो गोस्वामीजी ने उसे न लिखने में ग़लती की। कम-से-कम उसे उस स्थान पर लिख देने में कोई दोष नहीं। पर जिस प्रकार और प्रकार का ग्रंथ वे महात्मा बनाते थे, उसमें वे कथाएँ लिखी जा सकती थीं, किंतु गोस्वामीजी की रचना में नहीं स्थान पा सकतीं। कुछ क्षेपकों का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

बाल कांड

(१) रावण-दुर्दशा तीन पृष्ठों की है। इसमें जहाँ गोस्वामीजी ने रावण की विजयों का वर्णन किया है, वहाँ क्षेपककार ने उसमें त्रुटि समझकर कई युद्धों में उनकी पूरी दुर्दशा करा डाली है, यहाँ तक कि एक वृद्धा ने रावण का पैर पकड़कर "गई दूरि चार-चारि झकझोरा ; परेसि सिंधु-मध्य अति ओरा।" गोस्वामीजी का यह प्रयोजन था कि रावण का महत्त्व और उसकी ज़बरदस्ती दिखाकर रामावतार का कारण प्रस्तुत करते, पर इस कवि ने उसकी पूर्ण प्रतिकूलता करके अपनी समझदारी तथा कवित्व शक्ति दिखा दी। यदि रावण ऐसा निर्बल था, तो उसके लिये रामावतार की क्या आवश्यकता थी ? यों इसकी कविता बुरी नहीं है।

(२) गंगावतरण आठ पृष्ठों का है। बुरा नहीं है। गोस्वामीजी राम को जल्दी से जनकपुर पहुँचानेवाले थे, इसी से विस्तृत अहल्या-कथा आदि को छोड़ते गए हैं, पर इस कवि ने उस जल्दी पर ध्यान न देकर बीच में यह अलाप दिए।

लंका कांड

(३) राम-सेना का वर्णन चार पृष्ठों का है। यह उत्कृष्ट भाषा में लिखा गया है। इसमें अच्छी रचना है, अच्छा ज़ोर देख पड़ता है, और कविता की बहुत-सी बातें वर्तमान हैं। इस महाकवि ने क्या ही अच्छी-अच्छी उपमाएँ दी हैं। वाल्मीकीय रामायण पर बहुत कुछ अवलंबित होने पर भी इस क्षेपक में कोई विशेष दोष नहीं है। केवल इसका रावण से कहा जाना भर अयोग्य है। यदि यह रामायण में मिला दिया जाय, तो उसकी शोभा बढ़ा दे। गोस्वामीजी ने भारी सेना-वर्णन कहीं नहीं किया, अतः इसके बढ़ा देने से प्रायः कोई भी दोष नहीं आता। उदाहरण—

"यह जो आवत अचल-समाना ;
चौदह ताड़ ऊँच परमाना।
रक्त-कमल-दल-सम सब देहा ;
जनु बिकस्यो संध्या कर मेहा।

हनै मेदिनी पूछ भवाँई;
लंका सौंह चितव जनु खाई।
हृदय-गगन यहि के प्रभु भानू;
पंच पदुम कपि निकर पयानू।
करै बज्र बासव कर भंगा;
उदयाचल कहँ लेइ उछंगा।
पाँव धरा धरि चापै, पन्नग होय अकाज;
रैन अग्रसर देखहु, यह अंगद युवराज।"

(४) सुलोचना सती बारह पृष्ठों का है। भाषा अच्छी है, परंतु रावण इतना अपमान कभी न सहता कि उसकी पुत्र-वधू राम से मेघनाद का सिर माँगने जाती, इसलिये खटकती है। कथा की द्रुत गति को यह क्षेपक रोकता है। गोस्वामीजी ने केवल मेघनाद और कुंभकर्ण का स्वल्प युद्ध लिखकर रावण के युद्ध का विस्तार-पूर्वक सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है। अतएव मेघनाद की स्त्री को स्वयं मेघनाद से अधिक स्थान नहीं मिल सकता।

(५) महिरावण-वध आठ पृष्ठों का है। कुछ-कुछ रुचिर भाषा मे लिखा गया है। कवि ने तुलसीदास की रचना-शैली का अनुकरण करने में सफलता भी पाई है, पर हनुमान् के लंगूर-कोट का पता न तुलसीदास की रामायण में है, और न वाल्मीकीय में। फिर जब महिरावण राम और लक्ष्मण को ले जाते समय लंगूर को कूदकर निकल जा सकता था, तो कोट के अंदर जाने में उसको विभीषण का वेश बनाने की क्या आवश्यकता थी? इसका कारण नही जान पड़ता कि राम और लक्ष्मण इतने शक्ति-हीन क्यों हो गए थे कि उनसे हाथ-पाँव भी नही डुलाए जाते थे, और विना हनुमान् की सहायता के उनका उद्धार ही असभव था। गोस्वामीजी प्रतिदिन युद्ध की भीषणता को बढ़ाते गए हैं, यहाँ तक कि रावण-वध का वर्णन अति घोर सर्वोच्च कक्षा की ओर है। महिरावण-युद्ध के शिथिल होने से इसका क्रम-भग हो जाता है। इन बातों को छोड़कर यह वर्णन मनोहर है।

(६) नरातक-वध ३५ पृष्ठो का है। इससे भी उपर्युक्त युद्ध का क्रम बिगड़ता है। यह कथा मनोहर है, पर इसको इस रामायण में स्थान मिलना अनुचित है।

गोस्वामीजी के उपर्युक्त पच्चीस ग्रंथो मे बहुत-से दूसरे लोगो के बनाए हुए हैं। उन्होंने भी, क्षेपककारों की भाँति, अपने ग्रंथ का प्रचार होने के लिये या गोस्वामी-जी के समान कवित्व-शक्ति का परिचय देने ही के अर्थ तुलसीदास के नाम से

उनकी रचना नहीं होगी। कुछ ग्रंथ किन्हीं अन्य तुलसीदासों के हो सकते हैं। मिश्रबंधु-विनोद में कई तुलसीदास हैं भी। बहुतों का विचार है कि गोस्वामीजी के जितने ग्रंथ हैं, उतनी ही महत्ता-वृद्धि होगी। समझदार लोग ऐसा न सोचेंगे। ठाकुर शिवसिंह ने लिखा है कि गोस्वामीजी ने सब मिलाकर ४६ प्रकार रामायणें बनाई हैं, और यही बात जन-समुदाय में भी प्रसिद्ध है। पर उपर्युक्त सूची में ११ रामायणों के नाम दिए गए हैं, और उनके सब काण्ड ७७ हो जाते हैं। अतः इनमें से चार अवश्य अन्य लोगों की रचनाएँ हैं। इनमें कुछ अन्य रामायणों के भी क्षेपक होने का पूरा संदेह है। यदि केवल चार ही को कल्पित मानें, तो कड़खा, कुंडलिया, छप्पय और पद्मावली-रामायण को भी ऐसा ही मानना चाहिए, क्योंकि इनमें गोस्वामीजी के काव्य के प्रायः कोई भी गुण नहीं पाए जाते, और रचना भी बड़ी शिथिल है। कड़खा-रामायण का तो थोड़े ही दिनों से नाम सुन पड़ा है। रामचरित-मानस इनका है ही। उतने ग्रंथों की जाँच मानसकार के ही विचारों से होगी। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में प्रसंग-वश बहुत बार राम-कथा संक्षेप में वर्णन की है। इन संक्षिप्त वर्णनों से विदित हो जाता है कि वह किस विषय को कितना ज़रूरी समझते थे। उन्होंने इतने बड़े मानस में भी लव-कुश-चरित्र या सीता-त्याग का वर्णन कहीं भी नहीं किया, और भरत तथा अन्य लोगों की भक्ति के वर्णन को प्रधानता दी है। इस दृष्टि से देखने पर बहुत-सी रामायणें कल्पित जान पड़ेंगी। गोस्वामी-कृत दोहावली में रामायण की कथा का वर्णन नहीं है। उसमें भक्ति, नीति आदि के स्फुट दोहे कहे गए हैं। यदि इनका कोई ग्रंथ दोहा-वली-रामायण कहा जा सकता है, तो वह रामाज्ञा है, क्योंकि उसके दोहों में क्रम-बद्ध रामायण कही गई है, परंतु यह काव्य अत्यंत शिथिल है। इसमें परशुराम के आगमन की कथा बरात के लौटते समय कही गई है। यह तुलसीदास की रामायण में वर्णित मत के विरुद्ध है। इस ग्रंथ को भी हम कल्पित ही समझते, परंतु मिरज़ापुर-निवासी मुंशी छक्कनलाल को खुद गोस्वामीजी के हाथों की (सं० १६५५, ज्येष्ठ-सुदी दशमी, रविवार की) लिखी हुई रामाज्ञा की एक प्रति मिली थी, जिसका गोस्वामि-कृत होना असंदिग्ध-सा हो गया है। फिर भी रामाज्ञा के विषय में कुछ संदेह बाक़ी है। कुछ लोगों के कथनानुसार छक्कनलाल को रामाज्ञा नहीं, रामशलाका मिली थी। जो हो, रामायणों में मानस के अति-रिक्त हम केवल कवितावली और गीतावली को गोस्वामीजी-कृत समझते हैं।

'रामलला-नहछू' में यद्यपि जनकपुर का वर्णन है, तथापि उसमें नाइन, भाटिन इत्यादि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण कथन है कि वह गोस्वामीजी की रचना नहीं हो सकती। 'उनरत जोवन देखि नृपति मन भावइ हो' में बेचारे

दशरथ ३५० रानियों के होते हुए भी नाइन, मालिन आदि पर भी मुग्ध होते हैं। फिर इसमें परिहास की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है। राम-लक्ष्मण के विषय में यहाँ तक लिख डाला गया है कि वह दशरथ के पुत्र ही नहीं है—

"काहे राम जिउ साँवर लछिमन गौर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो।
राम कहहि दशरथ के लछिमन आनक हो।"

इसके कल्पित होने में कोई संदेह ही नहीं होना चाहिए। ऐसे छंद गोसाईं-जी-से संत को छोड़ साधारण कवियो को भी शोभा न देंगे।

'पार्वती-मंगल' मे १० पृष्ठ एवं १६४ छंद हैं। इसकी रचना संवत् १६४३ की कही जाती है। इसमें कालिदास के वर्णानुसार पार्वतीजी की तपस्या के पीछे उनकी प्रेम-परीक्षा के लिये स्वयं महादेवजी वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर गए है, और जिस प्रकार की बातचीत 'कुमारसंभव' मे है, उसी भाँति की बातें की हैं। इसमे महादेवजी की बरात एवं विवाह के समय का हास्य-योग्य वर्णन रामायण का-जैसा नही है। यह ऐसी रचना है, जिसे शिव-भक्त भी बना सकता था। यही कथा मानस मे देखने और इन दोनो को मिलाने से जान पडता है, ये दोनो कथाएँ एक ही व्यक्ति की रचना होने में संदेह है। हम इस ग्रंथ को भी कल्पित समझते है। इसकी कविता न तो शिथिल है, न श्रेष्ठ। इतना तो भी कह देना चाहिए कि हमारा संदेह बहुत दृढ़ नही है, क्योंकि ग्रंथ जानकी-मंगल के समान है, किंतु इन दोनो से मानसकार को गौरव नहीं मिलता।

'वैराग्य-संदीपिनी' मे ४ पृष्ठ एवं ६२ दोहे हैं। इसकी कविता शिथिल है। इसमे कवि ने ज्ञान को भक्ति का भूषण मानकर कहा है कि अंतिम सुख शाति मे मिलता है, न कि भक्ति मे (दास को भूषण भक्ति है, भक्ति को भूषण ज्ञान)। यह मत यथार्थ हो या नहीं, पर तुलसीदासजी के प्रतिकूल है। इस कारण यह रचना उनकी नही समझ पड़ती।

'बरवै-रामायण' में ४ पृष्ठ एवं ६९ छंद हैं। यहाँ सीता का शृंगार-रसमय वर्णन विशेष रूप से किया गया है, पर उसके पीछे, तुलसीदास की आदत के माफ़िक़, जगज्जननी इत्यादि विशेषणों से उसका दोष शात नहीं किया गया। अयोध्या-कांड मे भरत का और उत्तर-कांड में भक्ति का वर्णन नहीं है। यह भी रचना उनकी नही जान पड़ती। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि बरवै-रामायण की रचना उत्कृष्ट है। यह ग्रंथ किसी अन्य तुलसीदास-कृत हो सकता है। इसका रचयिता सुकवि था, और इससे मानसकार को हेयता न मिलेगी। कहा जाता है,

बरवै-रामायण कोई पूर्ण ग्रंथ न होकर स्फुट छंदों का संग्रह-मात्र है। इसका निम्न-लिखित छंद मानसकार का-सा नहीं है—

सिय-वियोग-दुख केहि बिधि कहउँ बखानि ;
फूल-बानते मनसिज बेधत आनि।

कवितावली

इसमें ५४ पृष्ठ एवं ३१८ छंद हैं। इसमें सवैया, झूलना और घनाक्षरी के सिवा और छंद नहीं लिखे गए। उत्तर-कांड समस्त ग्रंथ का प्रायः अर्धांश है। शेषार्द्ध में बाक़ी छहो कांड आ गए हैं। यह ग्रंथ वास्तव में परमोत्कृष्ट है। इसमें अनेक सवैए एवं दंडक बड़े ही सुपाठ्य बन पड़े हैं। कई एक सवैयों का माधुर्य तो कुछ कहते ही नहीं बनता। इसके बहुत-से पद्य ख़ूब ज़ोरदार हैं। प्राकृतिक वर्णनों की भी इसमें कमी नहीं है। जगह-जगह हास्य की झलक भी अच्छी आ गई है। इसकी भाषा ब्रज-भाषा है। लंका-कांड तक इसमें हनुमान् की प्रधानता है, पर उत्तर-कांड में श्रीरामचंद्रजी की ही भक्ति सर्वोपरि कर दी गई है। बाल-कांड में भी श्रीरामचंद्र ही की मुख्यता है। इसके कुछ कवित्तों में अपना नाम देने में कवि ने दो अक्षर बढा दिए हैं, जिससे उन पदों में छंदोभंग की झलक आ जाती है। इस ग्रंथ में गोस्वामीजी ने अपने विषय की बहुत-सी बातें लिखी हैं, जिनसे उनका हाल लिखने में अच्छी सहायता मिलती है। ग्रंथ आत्मीयता-पूर्ण है।

शिष्य-परंपरा का मत है कि हनुमान्-बाहुक इसी ग्रंथ का अंग है। इन दोनो ग्रंथों की कविता अवश्य ही मिलती-जुलती है, पर इनके विषयों में बड़ा अंतर है, और ये एक ही ग्रंथ नहीं हो सकते। कवितावली में श्रीरामचंद्र की बाल-लीला, लंका-दहन, हनुमान् का युद्ध और काशी में महामारी की बीमारी के बड़े ही विशद वर्णन हुए हैं। उत्तर-कांड में, कोई २० पृष्ठों में, रामचंद्र की स्तुति है। उसमें कहीं भी रामायण में उल्लिखित सिद्धांतों और सम्मतियों से विरोध नहीं पाया जाता, और बार-बार मानस की-सी बातों का प्रतिपादन हुआ है। हमको पहले संदेह होता था कि शायद यह ग्रंथ गोस्वामीजी का नहीं, बल्कि किसी अन्य 'तुलसी' नाम के सुकवि का है, क्योंकि—

(१) इसमें उनकी भाषा से पार्थक्य है।

(२) सुंदर और लंका-कांड में हनुमान् का उत्कर्ष राम से भी अधिक बढ़ा-सा दिया गया है, यहाँ तक कि कवि ने राक्षसों से राम-लक्ष्मण के युद्ध को केवल तीन-चार छंदों में भुगता दिया, और हनुमान् के संग्राम का बड़े ही विस्तार एवं समारोह के साथ वर्णन किया है।

(३) इसकी रचना कविता-प्रणालीवाले लेखकों से अधिक मिलती है, और गोस्वामीजी-जैसे कथा-प्रणालीवाले कवियों की रीति से बिलकुल पृथक् है।

(४) इसमें भरतजी की महिमा बहुत कम कही गई है। उधर गोस्वामीजी उनके बड़े ही भक्त थे।

ध्यान देकर सब बातों पर विचार करने से हमारा उपर्युक्त संदेह जाता रहा, और हमे निश्चय हो गया कि यह ग्रंथ वास्तव मे गोस्वामीजी का ही बनाया हुआ है। इसके कारण भी नीचे दिए जाते है—

(१) सबसे बड़ी बात तो यह है कि विनय-पत्रिका से, जो निस्संदेह इन्हीं की रचना है, इस ग्रंथ की कई बातें पूर्ण रूप से मिल जाती हैं। उसमें इन्होंने लड़कपन मे अपना अत्यंत निर्धन होना लिखा है। यह बात कवितावली में भी पाई जाती है। दूसरे, इन दोनो ग्रंथों मे इन्होने स्पष्ट रूप से अपना नाम 'रामबोला' लिखा है, जिससे संदेह बहुत कुछ दूर हो जाता है। तीसरे, इन दोनो ही ग्रंथों में कवि ने लिखा है कि उसका ऋषि के समान मान होता था। अतः यदि कवितावली किसी अन्य कवि की रची हुई मानी जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि (क) इस ग्रंथ का रचयिता भी लड़कपन में वैसा ही धन-हीन था, जैसे गोस्वामीजी। (ख) पहले उसका नाम भी गोस्वामीजी की भाँति ही 'रामबोला' था, (ग) उसका भी गोस्वामीजी के समान ऋषि-सदृश सम्मान अंत को होने लगा था, और (घ) वह भी इन्ही की भाँति काशी मे रहता था। हमे किसी दूसरे ऐसे तुलसीदास का हाल अब तक नहीं ज्ञात है, जिसके विषय में ये सब बातें ठीक बैठ जायँ। निस्संदेह विनय-पत्रिका और कवितावली एक ही कवि की रचनाएँ हैं, और वह कवि गोस्वामीजी के सिवा और कोई न था। विनय-पत्रिका को कोई मनुष्य तुलसी-कृत मानने में नही हिचकता। उसके विषय में हम आगे चलकर अपने विचार लिखेंगे।

भाषा-पार्थक्य के विषय में हमे यही ज्ञात होता है कि सवैए और दंडक प्रायः व्रज-भाषा मे ही लिखे जाते हैं। फिर तुलसीदास-जैसे प्रवीण कवि के लिये दूसरे प्रकार की भाषा मे भी उत्कृष्ट कविता कर सकना कोई बड़ी बात नहीं थी।

(२) हनुमान् के प्रकांड उत्कर्ष के विषय मे भी यही कहा जा सकता है कि 'राम ते अधिक राम कर दासा' के सिद्धांतानुसार यह भी कोई वैसी बात नहीं है। फिर हनुमान्जी को श्रीरामचंद्र का दास तो गोस्वामीजी बराबर कहते ही गए है।

(३) इसके विषय में १ नंबर के अंत में ऊपर जो हम लिख आए हैं, वही इस कविता और कथा-प्रणालीवाली बात पर भी ठीक उतरता है।

(४) इसमें सब बातें सांगोपांग नहीं लिखी गईं, और इसी से शायद भरत के विषय की अधिक बातें नहीं आईं। ग्रंथ पूरा न होकर स्फुट छंदों का संग्रह-मात्र है ही।

यदि कहा जाय कि किसी कवि ने जान-बूझकर बेईमानी से तुलसीदास के नाम से ढूँढ-ढूँढकर ऐसी ही बातें लिख दी हैं, जिनसे यह ग्रंथ उन्हीं महानुभाव का माना जाय, तो इसका उत्तर यह है कि एक तो ऐसा सोचने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे, हनुमान्-बाहुक की कविता इससे इतनी मिलती-जुलती है कि इन दोनो ग्रंथों को कोई भी भिन्न-भिन्न कवियों की रचना नहीं कह सकता। तीसरे, हनुमान्-बाहुक के रचयिता की कविताएँ और प्रार्थनाएँ इतनी सच्ची तबियत से कही गई हैं कि उसे कोई कदापि जालिया और धोकेबाज नहीं कह सकता। चौथे, बाहु के दर्द का हाल गोस्वामीजी ने हनुमान्-बाहुक एवं दोहावली में बार-बार बड़े ही करुणोत्पादक शब्दो मे कहा है, और वही बात कवितावली के भी दो छंदों मे वर्णित है। इसे देखकर कोई भी नहीं कह सकता कि यह विषय बेईमानी से वर्णित है, अतः कवितावली अवश्य गोस्वामीजी-कृत है।

पंडितों ने इसका रचना-काल संवत् १६६६ से १६७१ के बीच में स्थिर किया है। उनका यह भी मत है—और हम भी ऐसा ही मानते हैं—कि यह पुस्तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि इसमें तुलसी-कृत रामायण-विषयक छंदों का एक जगह संग्रह-मात्र कर दिया गया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसमें ठीक क्रम और प्रबंध से कथा नहीं वर्णित है। यथा—रामचंद्र का जन्म, कैकेयी का वरदान, शूर्पणखा का वृत्तांत, सीता-हरण, सुग्रीव-मैत्री, बालि-वध, मेघनाद-वध और राम राजगद्दी का इसमें कुछ भी हाल नहीं है। ग्रंथ बहुत ही रोचक, गंभीर, महत्त्व-पूर्ण तथा पूज्य है। उदाहरण—

"पग नूपुर औ' पहुँची कर-कंजन, मंजु बनी मनि-माल हिए;
नव नील कलेवर, पीत झँगा झलकै पुलकै नृप गोद लिए।
अरबिंद-सो आनन रूप-मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए;
मन में न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए।"

हनुमान्-बाहुक

में छप्पय, घनाक्षरी और सवैया-छंदों में रचना की गई है। इसमें ७ पृष्ठ एवं ४४ छंद हैं, तथा विशेष रूप से हनुमान्जी की स्तुति है। इसके कल्पित न होने के प्रमाण कवितावली में दिए गए हैं। यह एक बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें प्रत्येक स्थान पर कवि की सच्ची और आप-बीती घटनाएँ लिखी हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। गोस्वामीजी ऐसे धर्मात्मा थे कि अपनी

बाहु-पीडा का कारण नहीं समझ सकते थे । इसमें इन्होंने लिखा है कि मैंने पातक नहीं किए, तो फिर यह पीडा क्यों पाता हूँ ? वह औषधादि से स्तुति को श्रेष्ठतर समझते थे, परंतु ऐसे प्रगाढ़ भक्त को भी दो-एक जगह साधारण देवतों पर अश्रद्धा-सी होती जान पड़ती है । इस ग्रंथ के उदाहरण गोस्वामीजी की जीवनी मे मिलेंगे। भाषा आदि में यह कवितावली से मिलता है, परंतु साहित्य-प्रौढ़ता मे उससे कुछ विशेष है ।

संकट मोचन

में केवल ८ घनाक्षरियों द्वारा हनुमान्जी की साधारणतः अच्छी स्तुति की गई है। इसमे महिरावण का भी हाल दिया हुआ है। यह एक छोटा-सा बढ़िया स्तोत्र है, और जान पडता है कि हनुमान्-बाहुक से पहले बना । कारण, इसमें यह माँगा गया है कि मेरे जो कुछ संकट हों, उन्हे हनुमान्जी दूर करें। बाहु-पीड़ा उठने के पहले यह बना था, ऐसा अनुमान होता है । इसके किसी छंद में गोस्वामीजी का नाम नहीं आया; केवल अंत मे यह दोहा दिया है—

यह अष्टक हनुमान को विरचित तुलसीदास;
गंगादास जु प्रेम सों पढ़ै होय दुख नास।

गंगादास ने किसी समय इसका संपादन किया होगा ।

हनुमान्-चालीसा

में दो-दो पदों की एक-एक चौपाई गिनने से चालीस चौपाइयाँ होती हैं। इसमे हनुमान्जी की अच्छी स्तुति है, और प्रायः नित्य-प्रति बहुत लोग इसे स्तोत्र की भाँति पढते है। रामशलाका में मानस की कुछ चौपाइयाँ ही शकुन विचारने को हैं। यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है।

गीतावली-रामायण

११२ पृष्ठ एवं ३३० पदो की एक बहुत ही अपूर्व रामायण है । इसकी रचना क्रम-बद्ध की गई है। हिंडोले, होली आदि का वर्णन इसमे अच्छा किया गया है। विशेषता यह है कि भाषा की आधुनिक प्रणाली की भाँति इन महाकवि ने किसी स्थान पर शृंगार-वर्णन में भी कोई अश्लील या अनुचित उक्ति नहीं कही है। इसकी कथा रामायण की भाँति है, भेद इतना ही है कि गुह ने अयोध्या को एक पत्र भेजा कि रामचंद्रजी विराध को मारकर नर्मदा और विंध्याचल के बीच में बसे है, और उत्तर-कांड में रामचंद्र की दिनचर्या, जानकी-त्याग और लव-कुश-जन्म का भी वर्णन किया गया है, पर उनके कल्पित युद्ध को इन्होंने नहीं लिखा । किष्किंधा-कांड मे बालि-मरण या सुग्रीव के राजतिलक का वर्णन कवि ने नहीं किया, उन्हे केवल राजा की तरह माना है। सुंदर-कांड में हनुमान्जी के समक्ष

सीता और रावण की बातचीत नहीं कराई गई है। इसके वर्णन बड़े ही अच्छे और ज़ोरदार हैं। भाषा बड़ी ही मधुर, गंभीर और प्रशंसनीय है। इसमें युद्ध का वर्णन कम किया गया है। दो पद्य उदाहरणार्थ दिए जाते हैं—

जब रघुबीर पयानो कीन्हों।
छुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारँग कर लीन्हो।
सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि;
जटा-पटल ते चली सुरसरी, सकत न संभु सँभारि।
भए बिकल दिगपाल सकल, भय-भारे भुवन दसचारि;
खरभर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिँ अरि-नारि।
पवन पंगु, पावक, पतंग, ससि दुरि गए, थके बिमान :
गए पूरि सर धूरि, भूरि भय, अग, थल, जलधि समान।
चली चमू, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न बरनत भीर;
किलकिलात, कसमसत, कुलाहल होत नीर-निधि तीर।

जब रघुपति सँग सीय चली।
बिकल बियोग लोग, पुर-तिय कहैं अति अनियाव अली।
कोउ कह, मनिगन तजत काँच लगि, करत न भूप भली;
कोउ कह, कटु कुबेलि कैकेयी दुख बिष-फलनि फली।
एक कहै, बन-जोग जानकी! बिधि बड़ बिषम बली;
तुलसी कुलिसहु की कठोरता तेहि दिन दलकि दली।

गीतावली की रचना बहुत अच्छी है। इसमें लालित्य एवं माधुर्य भरा हुआ है।

छंदावली रामायण

१७ पृष्ठों का एक छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें विविध छंदों में कथा कही गई है। इसकी कविता साधारण है। हमने इसकी कोई मुद्रित प्रति नहीं देखी। इसकी एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है।

उदाहरण—

सुभ सगुन अवध जनाय तेहि छिन होन मुद-मंगल महा;
सीतल सुगंध सुमंद मारुत, अमल जल सरजू बहा।
सुभ अंग फरकत, भरत के हिय हुलसि सुभ आनँद लहा;
तेहि काल श्रीहनुमान प्रभु को आय संदेसा कहा।

पदावली-रामायण

पचास पृष्ठों का एक बृहत् ग्रंथ है, और इसकी रचना विशेषकर पदों में

की गई है। राम-जन्म इसमे कुछ विस्तार से कहा गया है, और कुछ अच्छा भी है, पर कुल मिलाकर यह ग्रंथ शिथिल है। इसकी कोई मुद्रित प्रति हमारे देखने में नहीं आई। हाँ, एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है।

उदाहरण—

भरतजू, कपि ते उरिन हम नाहीं।
सौ जोजन मरजाद सिंधु की, कूदि गयो छिन माहीं;
बन बिध्वंसि, जारि गढ़, खल हति, सिय-सुधि दिय हम काहीं।
लाय सजीवनि लखन जिआए, जे मम दाहिन बाहीं;
तुलसिदास बलि बल हनुमत को श्रीमुख जाहि सिहाहीं।

जानकी-मंगल

मे १३ पृष्ठ एवं २१६ छंद है। परशुराम का संवाद इसमे बरात लौटते समय कराया गया है। मानस तथा इसकी रचना मे इतना ही अंतर है। इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन बढ़िया रीति और छंदों मे किया गया है। इसकी रचना प्रशंसनीय और मानस से मिलती हुई है।

उदाहरण देखिए—

मंगल-बिटप, मंजुल बिपुल दधि, दूब, अच्छत, रोचना;
भरि थार आरति सजहिं सब सारंग-सावक लोचना।
देत पाँवड़े अरघ चली लै सादर;
उमगि चलेउ आनंद भवन, भुँइ, बादर।

यद्यपि पार्वती-मंगल की रचना भी इससे मिलती है, तथापि हम उसे कल्पित समझते है। मानस मे गोस्वामीजी ने ये दोनो विवाह कहे हैं, परंतु पार्वती-विवाह की दुरवस्था और जानकी-विवाह की उत्तमता तथा लोक-प्रियता दिखाकर अपने मुख्य उपास्य देव रामचंद्र की प्रच्छन्न रूप से महिमा एवं प्रभाव प्रदर्शित किया है। यदि गोस्वामीजी ने पार्वती-मंगल भी बनाया होता, तो वही बात यहाँ भी होती। जानकी-मंगल की रचना ऐसी अच्छी नही है कि कोई दूसरा कवि वैसी न कर सके। अत: इन दोनो की रचनाओं की समता हमारे इस मत मे बाधक नहीं समझ पड़ती। दोनो ही पुस्तकें कल्पित अथवा तुलसी-कृत हो सकती है।

कृष्ण-गीतावली

मे १४ पृष्ठ एवं ६१ पद हैं, जिनमें श्रीकृष्णचंद्र की बहुत-सी लीलाओं का वर्णन किया गया है। इसकी रचना ख़ास व्रज-भाषा मे की गई है। इसमें दो

छंदों में बाल-लीला, फिर कई पदों द्वारा उराहना, ऊखल-बंधन (जिसमें लकुटादि का वर्णन खूब है), गोवर्धन-धारण (बहुत ही मनोहर), कृष्ण-रूप-वर्णन (इसमें खंडिता के वर्णन में भी घृणित शृंगारी रचना [illegible]), कृष्ण का मथुरा-गमन और गोपी-विरह-वर्णन (उत्कृष्ट है), उद्धव-संवाद ([illegible] पदों में विस्तार-पूर्वक और बड़ा ही मनोहर एवं हृदयग्राही है) एवं [illegible] पदों द्वारा द्रौपदी-चीर हरण कहा गया है ।

गोस्वामीजी ने यह ग्रंथ ठेठ व्रज-भाषा में लिखा है, और वर्णन-शैली भी कृष्ण-गुण-गान करनेवालों ही के समान है । फिर भी इन्होंने दिखला दिया है कि सुकवि शृंगार-विषय को भी अनुचित प्रेम-वर्णन से अलग रखकर बढ़िया ढंग से कह सकता है । यह ग्रंथ बड़ा ही सुंदर है, और गोस्वामीजी की सब विषयों के उत्तम रीति से वर्णन करने की शक्ति को प्रमाणित करता है । इस छोटे-से ग्रंथ में अच्छे वर्णनों और रुचिर छंदों की संख्या बहुत अधिक है । इसमें प्रेम-वर्णन भी बहुत अच्छे ढंग से किया गया है । इन्होंने साधारण नायक-नायिकाओं के घृणित प्रेम को छोड़कर ऊँचे दर्जे के प्रेम का वर्णन किया है ।

उदाहरण—

वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारों ;
जोग, जुगुति अरु मुकुति बिबिध बिधि वा मुरली पर वारों ।
नहिँ तुम व्रज बसि नंदलाल को बाल-बिनोद निहारो ;
नाहिन रास-रसिक-रस चाख्यो तातें डेल सो मारो ।
व्रज पर घन घमंड करि आए ।
अति अपमान बिचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए ।
दमकति दुसह दसो दिसि दामिनि, भयो तम सघन गंभीर ;
गरजत घोर बारिधर धावत, प्रेरित प्रबल समीर ।
बार-बार पबिपात, उपल घन बरखत बूँद बिसाल ;
सीत सभीत पुकारत आरत गोसुत गोपी ग्वाल ।

सतसई या राम-सतसई

में ७४० दोहे हैं । अधिकतर दोहों में राम-भक्ति अथवा भक्ति करने के उपदेश का वर्णन है । इसमें सात सर्ग हैं । इसकी कविता अधिकतर बढ़िया नहीं है, परंतु कुछ दोहे अच्छे भी हैं । कुछ पंडितों का विचार है कि इन सात सर्गों में क्रमशः प्रेमाभक्ति, परा-भक्ति उपासना, आत्मज्ञान, कर्म-सिद्धांत, ज्ञान सिद्धांत तथा राजनीति का दार्शनिक मतानुसार उपदेश है ।

उदाहरण—

का भाषा, का संसकृत, बिभव चाहिए साँच;
काम तौ आवै कामरी, का लै करै कमाँच ॥ १ ॥
तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर;
बसीकरन यक मंत्र है, परिहरु बचन कठोर ॥ २ ॥
है अधीन जाँचत नहीं, सीस नवाय न लेइ;
ऐसे मानी माँगनहिँ को बारिद बिन देइ ॥ ३ ॥
तुलसी सब छल छाँड़ि कै कीजै राम-सनेह;
अंतर पति सों है कहा, जिन देखी सब देह ॥ ४ ॥
राम काम-तरु परिहरत, सेवत कलि-तरु ठूँठ;
स्वारथ परमारथ चहत, सकल मनोरथ झूँठ ॥ ५ ॥

दोहावली

में ५७३ दोहे है, परंतु उनमे से अधिकतर रामचरित-मानस एवं अन्य तुलसी-कृत ग्रंथो के है। कितने ही सतसई के भी है। विशेषकर यह ग्रंथ एक संग्रह-मात्र है, और इसके दोहो का संग्रह गोस्वामीजी ही के ग्रंथो से हुआ है। संभव है, इसमे कुछ दोहे नवीन भी हो। कहते है, यह संग्रह टोडरमल के अनुरोध से गोस्वामीजी ने किया। यह टोडरमल महाराजा नहीं समझ पड़ते, वरन् गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल होगे। इस ग्रंथ की रचना प्रशंसनीय है, और रामचरित-मानस के जो दोहे इसमे है, वे अधिकतर अच्छे हैं। इसमें भी सतसई की भाँति भक्ति का ही वर्णन हुआ है। भक्ति-पक्ष के प्रतिपादन में ऐसे-ऐसे छंद इन महात्मा ने लिखे है, और उसे पुष्ट करने में ऐसे-ऐसे प्रमाण दिए हैं कि कुछ कहते नही बनता।

उदाहरण—

मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल, मोर, चकोर;
सुजस-धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर ॥ १ ॥
तुलसी जो पै राम सों नाहिन सहज सनेह;
मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥ २ ॥
राम-नाम मनि-दीप धरु जीह-देहरी द्वार;
तुलसी भीतर-बाहिरहु जो चाहसि उजियार ॥ ३ ॥

विनय-पत्रिका

में ९६ पृष्ठ एवं २८० पद हैं। कवि ने गणेशजी की वंदना से इसका आरंभ किया है, और फिर शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, हनुमान्, अन्नपूर्णा आदि

की स्तुति में बहुत-से उत्कृष्ट, मनोहर तथा गंभीर पद लिखे हैं। बिंदुमाधवजी का नख-शिख तथा काशी-कामधेनु के रूपक पढ़ने ही योग्य हैं। इसके पश्चात् आनंद-कंद श्रीरामचंद्र की स्तुति के पद कहे गए हैं। स्तुतियों में बहुधा बड़े-बड़े विशेषणों से काम लिया गया है। इस ग्रंथ में रूपकों का बाहुल्य है। जप, भक्ति तथा नाम-माहात्म्य का इसमें विशेष वर्णन है, और अंत में सब प्रकार से नाम पर भरोसा रक्खा गया है। अपने कुकर्मों पर भी आपने बड़ा ज़ोर दिया है, और उद्धार के लिये इतनी विनती और किसी ग्रंथ में नहीं की है।

इसमें गोस्वामीजी ने अपने विषय में भी इधर-उधर कुछ बातें लिखी हैं। अपना ब्राह्मण होना एवं लड़कपन से माता-पिता का वियोग वर्णित है। आपने इसमें अपना पहला नाम और शिष्य होने के समय का भी हाल लिखा है। गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ को एक प्रकार से अर्ज़ी की भाँति लिखा है, और अंत में कहा है कि लक्ष्मण ने रामचंद्र से इसको मंजूर करा दिया। इसमें गोस्वामीजी ने व्रज-भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है; परंतु संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्राधान्य है। कई स्थानों पर संस्कृत की संधियाँ आ गई हैं, और मिलित वर्णों का भी प्रयोग हुआ है। फिर भी भाषा में माधुर्य का अभाव नहीं। विनय में बढ़िया पदों का बाहुल्य अवश्य है, परंतु फिर भी यह सब स्थानों पर रोचक नहीं। प्रायः एक ही प्रकार के भाव बार-बार आ जाने से एकदम पढ़ने से इसमें वैसा मनोविनोद नहीं होता। फिर भी यह गोस्वामीजी के उत्तम ग्रंथों में से एक है। इसमें इनकी आत्मीयता प्रायः सब स्थानों पर वर्तमान है।

उदाहरण—

सेइय सहित सनेह देह धरि कामधेनु कलि कासी ;
समनि सोक, संताप, पाप, रुज, सकल सुमंगल-रासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर-बासी ;
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवालग अमित अविनासी ॥१॥

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मग, बिलसत बढ़त मोह - माया - मलु ;
भूमि बिलोकि राम-पद-अंकित, बन बिलोकि रघुबर - बिहार-थलु।
सैल - शृंग भव - भंग - हेतु लखु, दलन कपट, पाखंड, दंभ - दलु ;
न करु बिलंब, बिचारु चारु मति, बरष पाछिले सम अगिलेहु पलु ॥ २ ॥

विद्वानों ने विनय-पत्रिका के विषय को इन सात भागों में विभक्त किया है— दीनता, मानमर्षणा, भय-दर्शन, भर्त्सन, आश्वासन, मनोराज्य और विचार।

इसमें बहुतेरे देवतों की स्तुति की गई है, और भाव सच्चे तथा मनोहर हैं।

बहुत-से पंडितों का मत है कि यह गोस्वामीजी के ग्रंथो मे श्रेष्ठ है। हम भी इस ग्रंथ को प्रशंसनीय समझते हैं। विनय-संबंधी ऐसा अद्भुत और भाव-पूर्ण ग्रंथ हमने अब तक किसी भी भाषा मे नही देखा। वेद भगवान् के पीछे सर्वोत्कृष्ट विनय-ग्रंथ यही जँचता है।

कलि-धर्माधर्म-निरूपण

में १० पृष्ठो द्वारा दोहे-चौपाइयो मे कलि-धर्म कहा गया है। इसकी रचना और भाषा रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मनोहर और प्रशंसनीय ग्रंथ है। इसके तुलसी-कृत होने मे कोई संदेह नही।

शिष्य-परंपरा आदि

शिष्य-परंपरा मे रामगुलाम द्विवेदी और पं० शेषदत्त स्वयं गोस्वामीजी से संबंध रखते थे। कोदोराम शेषदत्तात्मज के शिष्य थे। इन महाशयों ने गोस्वामीजी के ग्रंथो पर विचार किया है, तथा भक्तमाल, हरिभक्ति-प्रकाशिका एवं भक्त-कल्पद्रुम मे भी ऐसा ही हुआ है। बाबू शिवनंदनसहाय ने इन तथा अन्य आधारों पर विचार करके तथा हमारे हिंदी-नवरत्न पर भी ध्यान देकर गोस्वामीजी के असली ग्रंथो का निर्णय किया है। उनके निर्णय हमारे इस विषय के उपर्युक्त विचारों से प्राय: पूरे-पूरे मिल जाते है। खोज मे गोस्वामीजी-कृत ज्ञानकोपरिकरण, मंगल-रामायण, गीता-भाष्य, राम-मुक्तावली, ज्ञानदीपिका, अंकावली, ध्रुव-प्रश्नावली, बानी, सूर्य-पुराण, नामगीता-स्वयंवर और कृष्ण-चरित्र, ये ग्रंथ और मिले हैं; पर हमने इन्हे देखा नही। तुलसी-त्रिशतजयंती (श्रावण-शुक्ला ७, संवत् १९८०) के अवसर पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने गोस्वामीजी के १२ ग्रंथों को प्रकाशित किया।

रामचरित-मानस को छोड़कर गोस्वामीजी के ३५ ग्रंथ और कहे जाते है, जिनमें से कतिपय इसी नामवाले अन्य कवियों के हो सकते है। जैसा कि ग्रंथ मे लिखा जा चुका है, आपकी शिष्य-परंपरा मे कई महाशय स्वयं आप ही से संबंध रखते थे। इस परंपरा ने गोस्वामीजी-कृत ग्रंथो पर विचार करके मानस के अतिरिक्त रामलला-नहछू, वैराग्य-संदीपिनी, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा, दोहावली, गीतावली-रामायण, कवितावली-रामायण, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका को तुलसी-कृत माना है। परंपरा के विचारो को दृढ मानना ठीक ही था; किंतु उनके असली माने हुए कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमे कथित विचार रामचरित-मानस के कुछ दृढ विचारों के प्रतिकूल पड़ते है। जैसे वैराग्य-संदीपिनी मे लिखा है कि ज्ञान भक्ति का भूषण है, और अंतिम सुख शांति से मिलता है, न कि भक्ति से। ये विचार शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, किंतु मानसकार

के विचारो से पूर्णतया अनमिल है। हमारी धारणा है कि ये विचार महात्मा तुलसीदास के नहीं हो सकते। इसी प्रकार रामलला-नहछू मे नाइन, भाटिन आदि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण वर्णन है, जो गोस्वामीजी की लेखनी से नहीं निकल सकता था। इसमे परिहास की मात्रा इतनी बढी हुई है कि राम-लक्ष्मण महाराजा दशरथ के पुत्र ही नहीं हैं, ऐसा भी कह डाला गया है। हमे इन दोनो शिथिल ग्रंथो को तुलसी-कृत मानने मे पूर्ण संकोच है। यदि शिष्य-परंपरा द्वारा असली मानी हुई ग्रंथावली मे एक बार कुछ भी घटाव-बढ़ाव हो जाय, तो शेष ग्रंथो पर भी स्वतंत्र विचार करना ही पड़ता है।

शिष्य-परंपरा द्वारा माने हुए ग्रंथों में से हमें उपर्युक्त दो के अतिरिक्त बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल तथा रामाज्ञा-प्रश्न भी कल्पित जँचते हैं। बरवै-रामायण के कई छंद ऐसे उत्कृष्ट हैं, जो किसी भी कवि के यश का वर्द्धन कर सकते हैं। फिर भी उपर्युक्तानुसार इस ग्रंथ की रचना-प्रणाली कई स्थानों में गोस्वामीजी की प्रणाली से प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है। यह ग्रंथ किसी सत्कवि द्वारा रचित अवश्य है, किंतु वह कवि कोई दूसरा तुलसीदास होगा। मानस में गोस्वामीजी ने पार्वती के विवाह की दुरवस्था तथा सीताजी के विवाह की उत्तमता दिखलाकर एक प्रकार से अपने इष्ट देव की महत्ता प्रकट की है। यह बात पार्वती-मंगल में नहीं है, केवल इतनी ही कमी इस ग्रंथ में शैथिल्य के अतिरिक्त है भी। हम इसे कल्पित अवश्य मानते हैं, किंतु बहुत दृढ़ता-पूर्वक नहीं। इसकी रचना-शैली जानकी-मंगल से बहुत मिलती है, किंतु दोनों ग्रंथ शिथिल हैं, और इनसे गोस्वामी-जी की महत्ता नहीं बढ़ सकती। रामाज्ञा-प्रश्न में गोस्वामीजी के से विचार अवश्य हैं, किंतु इसकी रचना ऐसी शिथिल है कि इसे गोस्वामीजी-कृत कहने को जी नहीं चाहता। उपर्युक्त छ ग्रंथ मानसकार की दीप्ति भी नहीं देते।

शिष्य-परंपरा द्वारा असली माने हुए शेष ग्रंथों में दोहावली और कृष्ण-गीतावली अच्छे हैं। गीतावली इनसे भी श्रेष्ठ है, और विनय-पत्रिका तथा कवितावली परमोत्कृष्ट हैं। हनुमान्-बाहुक शिष्य-परंपरा में कवितावली का अंग माना गया है, किंतु हमें यह पृथक् ग्रंथ समझ पड़ता है। साहित्यिक प्रौढ़ता में यह उससे भी बढ़ा-चढ़ा जान पड़ता है। विनय-पत्रिका में हमें प्राय: ५० पद परमोत्कृष्ट देख पड़ते हैं, गीतावली में प्राय: ७५ और कवितावली में प्राय: ५०। इनमें उत्कृष्ट छंद कुछ और भी हैं, किंतु परमोत्कृष्ट इतने ही समझ पड़ते हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी श्रीराम के पीछे हनुमान् को ही मुख्य मानते थे। यह बात मानस में तो अति प्रकट नहीं है, किंतु इतर ग्रंथों में स्पष्ट है। आपका रामशलाका-नामक एक और ग्रंथ है, जो स्वतंत्र न होकर मानस से चुने

गए चौपाई-छंदो का संग्रह है, जिनसे प्रश्न उठाए जाते हैं। संकट-मोचन ग्रंथ को आपके मित्र गंगादास ने आप ही के छंदों से संकलित किया। हनुमान्-चालीसा एक प्रकार का सुंदर स्तोत्र है।

मानस को छोड़कर गोस्वामीजी-कृत शेष ग्रंथो से उत्कृष्ट छंद छाँटकर यदि तुलसी-सुधा अथवा अन्य नाम से कोई संग्रह बनाया जाय, तो सौ-सवा सौ पृष्ठो का एक परमोत्कृष्ट ग्रंथ बन सकता है। अभी मानस के अतिरिक्त आपके ग्रंथो का विस्तार प्राय: ७०० पृष्ठो का है, जिनमे हर स्थान पर राम-भक्ति का आनंद तो मिलता है, किंतु तादृश साहित्य-गौरव प्रत्येक पृष्ठ पर नही है। मानस को पढ़कर गोस्वामीजी-कृत साहित्य-विषयक जो उच्च विचार उठते हैं, वे इनके अन्य ग्रंथो से पूर्णरूपेण दृढ़ नही होते। यदि उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथ बनाया जाय, तो वह मानसकार को भी गौरव प्रदान कर सकता है। फिर भी आपकी साहित्यिक महत्ता मानस पर ही निर्भर है, और इनके शेष ग्रंथ निकाल डालने से भी इनका नंबर साहित्य-गौरव मे अटल रहेगा, किंतु मानस के निकल जाने से अन्य सब ग्रंथ मिलकर भी शायद इन्हे हिंदी-नवरत्न मे स्थान न दिला सकें। ऐसे कथन मे मतभेद संभव है, किंतु हमारे अपने विचार इसी प्रकार के है।

रामचरित-मानस (तुलसी-कृत रामायण)

राम-कथा कलि कामद गाई; सुजन सजीवन - मूरि सुहाई।
सोइ वसुधा - तल सुधा - तरंगिनि; भय-भंजनि भ्रम - भेक-भुअंगिनि।
बुध - बिसराम, सकल जन-रंजनि; राम-कथा कलि - कलुष-बिभंजनि।
असुर-सेन - सम नरक-निकंदिनि; साधु बिबुध-कुल हित गिरिनंदिनि।
संत - समाज - पयोधि रमा - सी; विश्व - भार-धर अचल छमा-सी।
राम - कथा सुंदर करतारी, संसय - बिहँग उड़ावनहारी।
राम - चरित चिंतामनि चारू; संत - सुमति - तिय सुभग सिंगारू।
राम-चरित जे सुनत अघाहीं; रस बिसेख पावा तिन नाहीं।

इस संसार-साहित्य के मुकुट की रचना का श्रीगणेश संवत् १६३१ विक्रमीय, राम-नवमी, भौमवार को हुआ। गोस्वामीजी ने इसके आदि में संस्कृत के छ श्लोको द्वारा वाणी, विनायक, भवानी, शंकर, गुरु, कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और मायाधीश राम-नामधारी ईश्वर हरि (रामाख्यमीशं हरिम्) की वंदना की है, और फिर सप्तम श्लोक मे अपने ग्रंथ के आधार और रचना का कारण लिखा है। यह महाशय वाल्मीकीय रामायण मे कथित, नाना-पुराण - निगमागम - सम्मत तथा अन्यत्र की बातों को अपना आधार मानते और अपने अंत:करण की प्रसन्नता के अर्थ राम-कथा कहते हैं। हिंदी में गोस्वामीजी ने पाँच सोरठों

द्वारा गणेश, परमेश्वर (राम), विष्णु, शिव और गुरु नरहरिदास की वंदना की है। फिर २८ पृष्ठों तक यह वंदनाएँ ही लिखते चले गए हैं। यही रामायणांतर्गत बाल-कांड की जगद्विख्यात वंदना है। इसमें कवि ने क्रम से गुरु, संत-समाज, सत्संगति, खलगण और जीव-मात्र की स्तुति करके रामायण और कविता का कुछ हाल कहा है। इन्होंने स्वयं अपनी प्रचंड बुराइयाँ कहकर औरों की निंदा न करने का अनुरोध किया। फिर व्यास आदि पुराने तथा कलि के कविगण, नारद, सुर-सरिता, महेश, भवानी, वाल्मीकिजी इत्यादि एवं प्राय: सभी देवता, दैत्य आदि की स्तुति की है। उसमें स्थान-स्थान पर दुर्जनों और कुपात्रों की व्यंग्य द्वारा खूब ही निंदा की है। उसके बाद यह लिख दिया है—

सियाराम-मय सब जग जानी, करौं प्रणाम सप्रेम सुबानी।

गोस्वामीजी ने राम, नाम, कथा आदि का भी अच्छा माहात्म्य कहा है। अंत मे रामायण का बहुत बड़ा रूपक—मान-सरोवर के रूप में—बाँधा गया, और उसमें रामचरित-मानस की मानस से प्राय: सभी बातों में समता दिखाई गई है।

गोस्वामीजी ने अपनी कथा, पुराणों की भाँति, अन्य महाशयों के वार्तालाप के रूप में कही है। ऐसा करने से तुकांत रखने और छंदों के ख़ाली भागों के भरने का सुबीता रहता है। यह रामायण याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, शिव और पार्वती तथा काकभुशुंड और गरुड़ के संवाद-रूप में है। कुछ पंडितों ने शिव-पार्वती-संवाद को ज्ञान-घाट, याज्ञवल्क्य-संवाद को कर्म-कांड-घाट, काकभुशुंड-गरुड़-संवाद को उपासना-घाट तथा गोस्वामीजी और मनु के संवाद को दैन्य-घाट माना है। ये संवाद मिलाने को गोस्वामीजी ने सती-मोह, दक्ष-यज्ञ और पार्वती-विवाह के वर्णन कुछ विस्तार के साथ किए हैं। अंतिम वर्णन में मदन-दहन भी आ जाता है। याज्ञवल्क्य प्राय: आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के थे, जिनका विशेष माहात्म्य बृहदारण्यकोपनिषत् में है। उधर भरद्वाज प्राय: तेरहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के वेदर्षि थे, जिन्होंने ऋग्वेद का छठवाँ मंडल गाया। आप याज्ञवल्क्य से विशेष महत्ता-युक्त थे। फिर भी गोस्वामीजी ने इन्हें याज्ञवल्क्य के साथ शिष्य की भाँति दिखलाया है, जो बात कुछ अनुचित-सी है।

बाबू सुखदेवलाल ने दोहा, चौपाई, छंद आदि के विषय में रामायण-महामाला दिखाने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया है, और यह दिखाया है कि प्रत्येक स्थान पर आठ-आठ अर्द्ध-चौपाइयों के पीछे दोहे और इसी प्रकार

गणनानुसार अन्य छंद है। यह मत २१वें तथा २२वें पृष्ठ की चौपाइयाँ देखने एवं अन्य कितने ही स्थानो पर इस गणना के टूटने से खंडित हो जाता है। उन्होने अपना मत पुष्ट करने को जहाँ कही चौपाइयाँ अधिक हो गई है, वहाँ उन्हे छोड दिया है, और जहाँ कम हो गई है, वहाँ दोहो में हेर-फेर कर दिया है। उनका मत समर्थनीय नही है। मानस के संबंध मे लोग प्राय: अर्द्ध-चौपाई को ही चौपाई मानते हैं। यद्यपि दोहा, सोरठा और चौपाई भी छंद ही है, तथापि गोस्वामीजी ने इनसे भिन्न छंदों को ही छंद करके लिखा है। अत: हम भी इस प्रबंध में ऐसा ही कहते हैं। पृष्ठों की संख्या जहाँ लिखी हो, वहाँ इंडियन-प्रेस मे छपी हुई रामायण की बड़ी साँची के पृष्ठ समझने चाहिए। ६८ पृष्ठों तक गोस्वामीजी ने एक प्रकार से रामायण की भूमिका लिखी है। उसके बाल-कांड का अंश होने पर भी हम वास्तविक बाल-काड का प्रारंभ ६८वे पृष्ठ से समझते है, जहाँ से राम-जन्म के कारणों का वर्णन शुरू हुआ है।

गोस्वामीजी ने अपने ग्रंथ का नाम रामचरित-मानस रक्खा, और उसके विभागो को सोपान लिखा है, परंतु लोगो मे रामायण और कांड के नाम से उनका अधिक प्रचार हुआ। अत: इस लेख मे जहाँ मानस अथवा रामायण नाम आए हो या आवें, वहाँ यदि प्रसंग से दूसरा ग्रंथ न निकले, तो इसी ग्रंथ से प्रयोजन समझना चाहिए।

इस स्थान पर रामायण के आधारो का भी कुछ कथन कर देना अनुचित न होगा। गोस्वामीजी के पूर्व रामायण की कथा महाभारत, पुराणों आदि के अतिरिक्त विशेषता के साथ वाल्मीकीय रामायण, ब्रह्माड-पुराणांतर्गत अध्यात्म-रामायण, प्रसन्न-राघव, महावीर-चरित्र, उत्तर राम-चरित्र (दोनो भवभूति-कृत) तथा हनुमन्नाटक में कथित है। ईसा-पूर्व पाँचवी शताब्दी के पूर्व चारो वेदो में तो भगवान् का सूक्ष्म वर्णन है। किंतु पीछे उपनिषदो में निर्गुण ब्रह्म की विशेषता रही, जिसका प्रचार भारतीय जनता के विशेषतया अपठित होने से लोकायत-मत (चार्वाक-सिद्धांत) के आगे कट गया, और देश में अनीश्वरता चलने लगी। इसी के अनुसार जैन और बौद्ध-मत चले। अनंतर ईश्वरवाद की रक्षा के विचार से अधिक लोक-ग्राह्य सगुणवाद के साथ परम शुद्ध परब्रह्म के स्थान पर अपरब्रह्म के प्रचार का समय आया, तब खीष्ट-पूर्व छठी या पाँचवीं शताब्दी मे पहले तो वासुदेव-मत चला, जो एक प्रकार से अवतार-गर्भित था, क्योंकि स्वयं वासुदेव अवतार-से थे। अनंतर श्रीभगवद्गीता में सगुणवाद के साथ कृष्ण-अवतार का विचार चला, तथा समय के साथ इनका वासुदेव से एकीकरण हो गया। गीता में विष्णु सगुण ब्रह्म थे। उन्हीं के अवतार कृष्ण थे।

गीता ने ईश्वरवाद को जनता में चलाने के विचार से थोड़ी-से-थोड़ी स्थूलता हिंदू-मत में आने दी। किंतु जनता स्थूलता में ही प्रसन्न थी। अतएव पुराणों द्वारा वह समय के साथ बढ़ती गई।

जब अपने धर्म में शंकर स्वामी ने आठवीं शताब्दी में स्थूलता की महती वृद्धि देखी, तब तर्कवाद चलाकर रत्नत्रय द्वारा इसका निराकरण करना चाहा। अनंतर मुसलमानों के आने और उनके द्वारा एकेश्वरवाद पर विशेष हठ होने से ग्यारहवीं शताब्दी में महर्षि रामानुजाचार्य को तर्कवाद के साथ भक्तिवाद जोड़ना पड़ा। फिर भी उन्होंने अपने संप्रदाय में शूद्रों को स्थान न दिया था, जिससे इनकी उदासीनता से समाज में संगठन की कमी थी, तथा मुसलमानों के धार्मिक प्रसार के प्रतिकूल हिंदुओं का समुचित प्रभाव नहीं पड़ता था। अतएव चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में महर्षि रामानंद ने शूद्रों का भी मान अपने संप्रदाय में किया तथा कबीर (जोलाहे), रैदास (चमार), सेन (नाई), धना कसाई आदि का भी शिष्यत्व में लिया। मुस्लिम कट्टरता के कारण अब तर्कवाद की आवश्यकता न रह गई थी, जिससे तुलसीदास ने उसका त्याग करके केवल भक्तिवाद को रामायण में चलाया। आपने कहा—

> चरित राम के सगुन भवानी, तर्कि न जायँ बुद्धि-बल-बानी।
> यह बिचारि जे चतुर बिरागी, रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी।
> "जाति-पाँति पूछै ना कोय, हरि का भजै, सो हरि का होय।"

यह वाक्य रामानंद के समय से ही चल गया था। आपका मानस चलता तो मुख्यतया वाल्मीकीय रामायण पर है, तो भी अध्यात्म-रामायण की ओर बहुत कुछ झुकता है। आपने राम की महत्ता बढ़ी हुई दिखलाई है। इसी से केवल धनुष-कर्षणवाले जनक के प्रण का धनुष-भंग का ही प्रण बतलाया है, जिसमें राम का कोई दोष न निकले। सीता की पृथ्वी से उत्पत्ति की कथा छोड़ दी है, तथा धनुष-भंग भरी सभा में दिखलाया है, न कि वाल्मीकि की भाँति निराले में। इसीलिये परशुराम का आगमन भी सभा ही में कहा गया है, न कि बारात के पलटने पर। अयोध्या-कांड इनका बहुत कुछ स्वतंत्र है। लंका में वाल्मीकि के विभीषण से हनुमान् से भैंट नहीं हुई, और न उन्होंने सीता का पता बतलाया। उनके रावण ने लात भी न मारी, केवल राजभक्ति पर व्यंग्य द्वारा आक्षेप किया। गोस्वामीजी ने रावण का अपराध बढ़ाकर लिखा है। वन-विध्वंस के विषय में वाल्मीकि के हनुमान् ने सीता से आज्ञा नहीं ली। अयोध्या-कांड के महर्षिवाली सीता-लक्ष्मण आदि के विचार कुछ उग्र हैं, जिन्हें गोस्वामीजी ने सौम्य कर दिया है। वाल्मीकि ने रामेश्वर की स्थापना का कथन

नही किया है। गोस्वामीजी पर महारामायण का कुछ प्रभाव है, तथा अध्यात्म का विशेष। वाल्मीकि ने पहले केवल पंचकाडात्मिका रामायण पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसा-पूर्व मे रची, जो दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व पर्यंत बाल-कांड तथा उत्तरकांड के बढ़ने से सप्तकाडात्मिका हो गई। गोस्वामीजी ने अपना उत्तर-कांड एक अनोखे ढंग से लिखा है, जिसमें लव-कुश-चरित्र नही है, क्योंकि उसका राम-सीतावाला वियोग इन्हे असह्य था। अहल्या के विषय में वाल्मीकि ने उसे ऐंद्रिय सुख शून्य पाषाणवत् रहने को लिखा है। किंतु गोस्वामीजी ने पाषाण ही करके राम का माहात्म्य बढ़ाया है।

अध्यात्म रामायण मे केवल उमा-महेश्वर-संवाद है, किंतु गोस्वामीजी ने गरुड़-भुशुंडि तथा याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद भी जोड़े है। सती-चरित्र, काम-दहन, पार्वती-मंगल, भानुप्रताप आदि की कथाएँ अध्यात्म मे नही है। जनकपुर की फुलवारी भी नही है, न लक्ष्मण-कोप। अंगद-रावण के अनुचित संवाद भी उसमें नही है। वाल्मीकि के मूल-भाग मे राम केवल राजपुत्र है, तथा नवीन भागों मे अवतार भी, जहाँ व्यूह-पूजन का भी कथन है। वाल्मीकि लक्ष्मण को चार आने कहते है तथा भरत को दो आने। गोस्वामीजी का कथन इसके प्रतिकूल है। अध्यात्म-रामायण मे राम विष्णु के अवतार हैं। इधर तुलसी-कृत मे वह "विधि हर विष्णु नचावनहारे" परब्रह्म है। अध्यात्म म सीता लक्ष्मी है, किंतु तुलसी-कृत मे आदि-शक्ति। प्रसन्न-राघव का लक्ष्मण-परशुराम-संवाद गोस्वामीजीवाले से मिलता है। उत्तर-राम-चरित्र की कुछ उक्तियाँ-मात्र गोस्वामीजी ने ली है। यही दशा हनुमन्नाटक की है।

गोस्वामीजी पर योरपियनो मे H. H. Wilson ने १८३१ म विचार किया तथा गार्साद तासी ने १८३९ मे। ग्राउस साहब ने रामायण का उल्था अँगरेज़ी मे किया। लाला सीताराम ने १९०८ मे कुछ लिखा, तथा १९१० मे हमारा हिंदी-नवरत्न पहलेपहल निकला।

अब गोस्वामीजी के काडो के वर्णन उठाने के पूर्व हम उनके विषय में दो-चार बाते लिखना चाहते हैं।

गोस्वामीजी राजा को ईश्वर का अंश समझते थे—

साधु, सुजान, सुसील नृपाला, ईस-अंस-भव, परम कृपाला।

यद्यपि कथा की रचना 'स्वान्त:सुखाय' करते थे, फिर भी इनकी राय थी कि जिस कविता का आदर बुधजन न करें, वह वृथा है—

जो प्रबंध बुध नहिँ आदरहीं, सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।

इन्होंने पुरानी कथाओ की प्रतिकूल घटनाओ और पौराणिक अन्य विरोधों

का इस प्रकार समर्थन किया है कि हर कल्प में प्रभु का अवतार होता है, और वह विविध प्रकार की लीलाएँ करते हैं। इसलिये विरोधों को कल्प-भेद के कारण यथार्थ मानना चाहिए। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से अग्राह्य है ही, किंतु पंडित लोग ऐसा कहा अवश्य करते हैं। इन्होंने ऐसा निरभिमान-भाव या नम्रता दिखाई कि कोरे काग़ज़ पर लिख दिया कि मुझको भाव-भेदादि नहीं ज्ञात हैं। आप सरयू-नदी को मानस-नंदिनी कहते हैं। जान पड़ता है, इन्होंने सरयू के उद्गम-स्थान को देखा था। सरयूजी पहले कौड़ियाली नाम धारण कर मानस से निकलती हैं।

निर्जीव पदार्थों की सजीवतावाली चरम सीमा उस स्थान पर पहुँच गई है, जहाँ हिमाचल ने सब वन, सागर, नदी और तालाबों को न्योता भेजा, और वे सब काम-रूप सुंदर शरीर रखकर वहाँ जा पहुँचे। गोस्वामीजी 'रोदति, बदति' बहुत लिखते हैं—

रोदति, बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहँ गई।

विवाह के अवसर की गालियाँ केशवदास ने अच्छी लिखी हैं। गोस्वामीजी अपनी कथाओं के सुनने का फल बहुधा कह देते हैं, और कथाएँ कहकर प्रायः उनका प्रभाव श्रोताओं के प्रति वर्णन करते हैं। यथा—

संभु-चरित सुनि सहज सुहावा ; भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी ; नैन - नीर, रोमावलि ठाढ़ी।
प्रेम-बिवस मुख आव न बानी ; दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी।

जब भुशुंडि ने कथा समाप्त की, तब गरुड़ की भी यही दशा हुई—

सादर खगपति पंख फुला

अवतार का कारण इन्होंने यह कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है, ब्राह्मणों आदि को दुःख होता है, तभी ईश्वर अवतार लेते हैं। यही गीता का भी मत है। अन्य कवियों की भाँति यह भी नाम कहने में मुख्य नाम न कहकर उनका कभी-कभी अर्थ-मात्र कह देते हैं। यथा—हिरण्यकशिपु के स्थान पर कनककशिपु, हिरण्याक्ष के स्थान पर हाटकलोचन। यदि कोई महाशय भूमिका को 'कुका' अथवा 'सागरांबराका' कहें, तो पता लगना कठिन हो जाय, परंतु नामों के विषय में यह रीति भाषा और संस्कृत, दोनो में प्रचलित है। क्षत्रियों और राजों को यह कुटिल तथा अविश्वास-पात्र समझते थे—

बैरी, पुनि छत्री, पुनि राजा ; छल-बल कीन्ह चहै निज काजा।

इन्होंने ब्राह्मणों को मांसाहारी कहा, और यह भी लिखा कि वे क्षत्रियों का परोसा खाते थे—

बिबिध मृगन कर आमिष राँधा ;

× × ×

परसन लाग जबै महिपाला ;

गोस्वामीजी इतने बड़े भक्त थे कि श्रेष्ठ मनुष्यों की कौन कहे, राक्षसों तक को रामचंद्रजी के सम्मुख लाकर दर्शन के आनंद में मग्न कर देते थे। मारीच, विभीषण और कुंभकर्ण की राम से भेंट करने के समय की दशा देखिए। यह प्राय: सगुन-असगुन का ध्यान रखते थे। इसमें केवल राम-सीता का वनवास होने के प्रथम सगुन दिखाने मे, देखने-भर को, विरोध देख पड़ता है, परंतु शायद यह उनकी वन-यात्रा मागलिक समझते थे, अत: सगुन दिखाना अनुचित न था।

संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर - बाहु - बल ;

बूड़े सकल समाज चढ़े जु प्रथमहि मोह - बस।

इस सोरठे के विषय मे कुछ लोग यह कहते है कि जब गोस्वामीजी 'बूडे सकल समाज' यह लिख गए, तो उनकी लेखनी रुक गई—वह आगे कुछ न लिख सके ; क्योंकि सब समाज मे तो जनक, विश्वामित्र और स्वयं राम भी थे। इस पर महावीरजी ने 'चढे जु प्रथमहि मोह-बस' बनाकर सोरठा ठीक कर दिया। परंतु यह बात बिलकुल उपहासास्पद है, क्योंकि यह पद लिखने के लिये गोस्वामीजी पहले ही से चार चौपाइयों में, 'डूबनेवालो का समाज' बना चुके थे, जो 'सबकर संसय अरु अज्ञानू' से 'चहत पार नहिं कोउ कनहारा' तक लिखा है। तब उनकी लेखनी क्यो रुकती, और 'चढे जु प्रथमहि मोह-बस' लिखने के लिये हनुमान् को क्यों कष्ट उठाना पड़ता? आपने रावण और बाण को धनुष-यज्ञ में इस कारण नही उपस्थित किया कि उन्हे परशुराम द्वारा सब राजो को भय-विह्वल बनाना इष्ट था, और उन्होने संभवत: रावण और बाण की ऐसी दुर्दशा करानी उचित नही समझा होगा। गोस्वामीजी की चौपाइयाँ प्राय: दीर्घांत होती है, इसी कारण हज़ारो स्थानों पर इनको ह्रस्वात शब्द दीर्घांत करने पड़े हैं।

बाल-कांड

इन्होंने रामावतार होने के कुछ कारण दिए हैं, जिनको हमने बाल-कांड का आदिम भाग माना है। यथा—सबसे प्रथम जय और विजय का शाप ; द्वितीय, जलंधर-युद्ध-संबंधी उसकी स्त्री का शाप ; तृतीय, नारद-मोह और उनका विष्णु को शाप ; चतुर्थ, स्वायंभुव मनु और शतरूपा रानी का तप करना; पंचम, राजा भानुप्रताप को विप्र-शाप होना। इसमें नारद-मोह, मनु-तपस्या और भानुप्रताप की कथाएँ बहुत ही ललित रीति से कही गई हैं। आपने लिखा है

कि उपर्युक्त भानुप्रताप, उसका भाई अरिमर्दन और सचिव धर्मरुचि क्रम से रावण, कुंभकर्ण और विभीषण हुए। रावण और उसके कुटुंबियों के प्रभाव एवं दिग्विजय आदि का वर्णन गोस्वामीजी ने बहुत ही ज़ोरदार और प्रशंसनीय किया है। आपने उसको यहाँ तक कहा कि—

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु-धारी ; दसमुख-बसवर्ती नर-नारी।

तत्पश्चात् निशाचर लोग बहुत ही अनीति करने और ऋषियों को सताने लगे, यहाँ तक कि—

अतिसय देखि धरम कै हानी , परम सभीत धरा अकुलानी।

तब तो उसकी विनती सुन परब्रह्म परमेश्वर ने रामचंद्र के रूप में अवतार लेने की प्रतिज्ञा की। इधर अयोध्याधिपति महाराज दशरथ का चौथापन आ चुका था ; तथापि अपने कोई पुत्र न होने से चिंता उत्पन्न हुई। अंत को वशिष्ठजी के परामर्श से उन्होंने शृंगी ऋषि द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इस यज्ञ का चरु रानियों को इस प्रकार बाँटा गया कि कौशल्या को आधा भाग और कैकेयी को चतुर्थांश दिया गया, शेष के दो भाग करके कौशल्या और कैकेयी द्वारा सुमित्रा को दिए गए। यथासमय रानियों के पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकिजी ने १/२ में लक्ष्मण को तथा १/४ में भरत और शत्रुघ्न को रक्खा है ; परंतु आप तो शूरता के सामने भक्ति को प्रधान मानते थे, अतः इन्होंने भक्त-शिरोमणि भरतजी को मुख्य रक्खा। इन्होंने बाल-लीला का अच्छा कथन किया है, पर यह कहना ही पड़ता है कि सूरदास का यह वर्णन इनसे कहीं अच्छा है। तुलसीदास ने श्रीरामचंद्र का यश कहा है, और सूरदास ने श्रीकृष्णचंद्र का। गोस्वामीजी को ईश्वरत्व प्रदर्शित करने का बड़ा शौक़ था, परंतु दुर्भाग्य-वश उनके नायक श्रीरामचंद्रजी ने स्वयं ईश्वरत्व का दावा बहुत ही कम किया। उधर सूरदास को इसका वर्णन बहुत नहीं रुचता था ; पर श्रीकृष्णचंद्र का यह शौक़ बढ़ा-चढ़ा हुआ था—वह प्रायः अपना ईश्वरत्व दिखलाया ही करते थे। इस प्रकार नायक का कवि और कवि को नायक अच्छे मिल गए थे, और लेखा-ड्योढ़ा मिलाने से ईश्वरत्व की मात्रा किसी में कहीं अणु-मात्र भी कम नहीं पड़ने पाई है। इतने ही में विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को माँगने आए; पहले दशरथ ने उनके साथ राजकुमारों को भेजना अस्वीकार कर दिया। ऋषिवर इससे अप्रसन्न नहीं हुए। वह तो क्रोध न करने की प्रतिज्ञा ही कर चुके थे। केशवदास का इस अवसर पर यह लिखना कि "जान्यो विश्वामित्र के क्रोध बढ़्यो उर आय।" अनुचित है। ताड़का और सुबाहु को मार, विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण कर और अहल्या (वैदिक अहल्या) को तारकर श्रीरामचंद्रजी सीता-स्वयंवर देखने को मिथिलापुरी में जा पहुँचे।

जनकपुरी मे कुछ रामचंद्र ही प्रधान न थे, तो भी गोस्वामीजी ने उन्हीं का मुख्यता सभी बातो मे सभी जगह रक्खी है, यहाँ तक कि कथन तो जनकपुरी का करने चले, पर वहाँ भी राम ही का वर्णन होता रहा। जनकपुर कैसा था, और उसके निवासी कैसे थे, इस वर्णन को प्रधानता नही दी गई, वरन् यह लिखा गया कि मिथिलापुरी के लोग रामचंद्र को यों देखते और उनके विषय मे यों बाते करते थे—इत्यादि। बस, जहाँ देखिए, वहाँ राम-ही-राम है। क्या विश्वामित्र और जनक का संवाद, क्या धनुष-यज्ञ का वर्णन, क्या राम की वन-यात्रा और ऋषियो के आश्रमो का वर्णन, सर्वत्र राम ही की बात प्रधान है। मुख्य विषय की मुख्यता बहुत कम है। राम जहाँ-जहाँ जाते थे, उन स्थानो का वर्णन गोस्वामीजी को अन्य कवियों की भाँति अभीष्ट नहीं। वह हमारी समझ मे तो सदैव सर्वत्र उन स्थानो और पदार्थों के सहारे राम ही का वर्णन करेंगे। यदि कोई ग्रंथ पूर्ण रूप से 'रामायण' कहाने के योग्य है, तो यही है।

'फुलवारी-वर्णन' से शृंगार-रस के कथन मे भी इन महाराज की अनुपम कवित्व-शक्ति और प्रौढता प्रकट होती है। रामचंद्र जब से धनुष तोड़ने उठे, और जब तक उन्होंने उसे तोड़ा, इस बीच मे इन कविवर ने अपनी सारी कवित्व-शक्ति खर्च कर दी है। अन्य कवियो ने सभा-भंग होने के पश्चात् श्रीराम से धनुष तुड़वाया है, मगर आपने ऐसा करना उचित नहीं समझा, और भरी सभा मे राम का यश बढाना ठीक माना। रामचंद्र का नख-शिख भी इन महाकवि ने कई जगह लिखा, जो प्राय: सभी कही सुंदर बन पड़ा है। कई स्थानो पर तो इन वर्णनो की छटा अनिर्वचनीय है। रामचंद्र का यश बढ़ाने तथा अन्य राजो का झगड़ा मिटाने के विचार से ही आपने परशुराम को भी भरी सभा मे ही बुलाया, और उनसे बाते कराने मे रामचंद्र का गांभीर्य एवं गौरव भी ख़ूब ही निबाहा। हाँ, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद अवश्य ही अच्छा नही जान पड़ता। इस पर आगे लिखा जायगा। विवाह की रीतियाँ इन्होंने खूब ही सागोपाग लिखी है।

बाल-कांड में १८६ पृष्ठ है। उनमें से ६८ पृष्ठों मे भूमिका एवं शेष मे कथा वर्णित है। यों तो समस्त बाल-काड की रचना परमोत्कृष्ट है, तथापि उसमे भी वंदना, मदन-दहन, नारद-मोह, प्रतापभानु का उपाख्यान, पृथ्वी तथा अहल्या को स्तुति, राम-जन्म के छंद, फुलवारी-वर्णन और धनुष-यज्ञ, ये स्थल बहुत ही सुंदर है। इस काड के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

बंदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा, सुरुचि - सुबास, सरस अनुरागा।
अमिय - मूरि मय चूरनु चारू; समन सकल भव - रुज - परिवारू।

सुकृत-संभु-तन बिमल बिभूती ; मंजुल मंगल मोद - प्रसूती ।
जन-मन मंजु मुकुर मल-हरनी, किए तिलक गुन-गन बस-करनी ।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन अमिय दृग - दोष - बिभंजन ।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन, बरनउँ राम-चरित भव - मोचन ।

* * *

जनम सिंधु, पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलंक ;
सिय - मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ?
घटइ, बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई ; ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई ।
कोक-सोक-प्रद पंकज - द्रोही , अवगुन बहुत चंद्रमा, तोही ।

* * *

नृप सब नखत करहिं उजियारी ; टारि न सकहिं चाप-तम भारी ।
उयउ भानु बिनु स्रम तम नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा ।
रबि निज उदय ब्याज रघुराया ; प्रभु-प्रताप सब नृपन दिखाया ।
तव भुज-बल महिमा उदघाटी ; प्रगटी धनु - बिघटन परिपाटी ।

* * *

मुनि कहा निज बिपति सब , सुनि मन कीन्ह बिचार ;
सम्भु-बिरोध न कुसल मोहिं , बिहँसि कहेउ अस मार ।
तदपि करब मैं काज तुम्हारा ; स्रुति कह परम धरम उपकारा ।
पर - हित लागि तजइ जो देही ; संतत संत प्रसंसहिं तेही ।
अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई ; सुमन-धनुष कर सहित सहाई ।
तब आपन प्रभाव बिस्तारा , निज बस कीन्ह सकल संसारा ।

अयोध्या-कांड

की रचना अन्यों से इतनी अच्छी है कि इसकी प्रशंसा करने के लिये कोष में शब्द नहीं मिलते। जिस प्रकार की कथा जितनी उत्तमता से इस ग्रंथ-रत्न के इस अंश में पाई जाती है, उसकी आधी भी अन्यत्र नहीं मिलती। अयोध्या-कांड की रचना केवल भाषा-साहित्य में ही नहीं, संसार-भर के साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। इस कांड के पृष्ठ उलटते ही पाठक आनंद-सागर में निमग्न-सा हो जाता है। अलौकिक आनंद देनेवाली और सुंदर काव्य की इतनी बढ़िया और प्रचुर सामग्री दो-चार को छोड़कर शेष ग्रंथों में नहीं मिलती। इसकी कथा यों है—विवाह के बाद रामचंद्र बहुत दिनों तक अवध में रहे। तदनंतर राजा दशरथ ने उन्हें युवराज बनाना चाहा। इस समय भरत अपने ननिहाल में थे। राजा की तीसरी पटरानी कैकेयी ने, मंथरा की सलाह से, राजा से वर

माँगकर, भरत को युवराज और रामचंद्र को चौदह वर्ष के लिये वनवासी बना दिया। रामचंद्र के साथ लक्ष्मण और सीता भी चली गईं। इस स्थान पर कैकेयी-मंथरा-संवाद तथा कैकेयी-दशरथ-संवाद मे कवित्व-शक्ति परा काष्ठा को पहुँचा दी गई है। राम-लक्ष्मण और राम-सीता की बातचीत भी वैसी ही है। कौशल्या के व्याख्यान से जान पड़ता है कि पुत्र-वधू का वैसा सम्मान होना चाहिए। रामचंद्र निषादपति गुह से मिलकर चित्रकूट चले गए। इधर उनके विरह मे दशरथ ने शरीर त्याग दिया।

भरत के आने पर सबने उनसे राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया, परंतु वह राज़ी न हुए, और सपरिवार, सेना-सहित, मुख्य पुरवासियो के साथ रामचंद्र को बुला लाने के लिये वन गए। यहाँ पर भरत के व्याख्यान देखने ही योग्य है। मार्ग मे उनके प्रेम के वर्णन मे कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति ख़र्च कर डाली है। भरत को ससैन्य आते देखकर गंगा के समीप केवट-राज को तथा चित्रकूट पर लक्ष्मण को उनके युद्धोन्मुख होने का संदेह हुआ। इन अवसरों पर गोस्वामी-जी-कृत वीर-रस का वर्णन दर्शनीय है। ग्रंथ से विदित होता है कि यह महाशय सब प्रकार के वर्णनो को बहुत ही सफलता के साथ कर सकते थे। राम और भरत के वार्तालाप मे काव्य-प्रौढ़ता की परा काष्ठा हो गई है। अयोध्या-कांड के वार्तालापो की यह ख़ास बात है कि किसी ने कभी किसी दूसरे की बात नहीं मानी, परंतु इस ख़ूबी से बातचीत हुई कि कोई किसी मनुष्य को अनुचित-भाषी अथवा बुरा भी नहीं कह सकता, वह चाहे जितना उत्कट समालोचक क्यो न हो। भरत रामचंद्र की पादुका लेकर चित्रकूट के सब स्थानों को देखते हुए अयोध्या लौट आए। अयोध्या-कांड मे पूर्वार्द्ध के नायक रामचंद्र और उत्तरार्द्ध के भरत है। कहते है, गोस्वामीजी ने पहले सीता-स्वयंवर और अयोध्या-कांड की कथा ही लिखी थी। इतना बन जाने पर उन्हे समग्र रामायण बनाने की इच्छा हुई, और तब उन्होने शेष ग्रंथ भी बनाया। इस बात की पुष्टि इस उत्तरार्द्ध मे भरत के नायक हो जाने से होती है।

इस कांड में इन्होंने लिखा है कि गुरु रामचंद्र से अधिक है—

तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी; सकल भाव सेवहिं सनमानी।

बाल-कांड में इन्होंने गुरु को शंकर-रूप बताया है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

गोस्वामीजी ने सत्कर्मों की नामावली वाल्मीकि और रामचंद्र के वार्तालाप मे गिनाई है। उससे जान पड़ता है कि यह किस काम को कितना अच्छा समझते थे। इस कांड मे १५३ पृष्ठ हैं। इसके वर्णनो में किसी स्थान को श्रेष्ठ और किसी

को साधारण कहना गोस्वामीजी के साथ अन्याय करना है । इसका एक प्रकार भी साधारण या विशेषता से खाली नहीं है । यह सब स्थानों पर प्रकरण, परम मनोहर और औवल दर्जे का है । गोस्वामीजी दर्शकों का भी परस्पर वार्तालाप बड़ा ही विशद करवाते थे । इसके उदाहरण जनकपुर के लोगों और राम तथा भरत की वन-यात्रा-संबंधी मार्गस्थ जनों के कथनों में देख पड़ेंगे । उदाहरण—

मैं पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई ; रूप-रासि, गुन-सील सुहाई ।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई ; राखेउँ प्रान जानकिहि लाई ।
कलप-बेलि जिमि बहु बिधि लाली ; सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ।
फूलत फलत भयउ बिधि बामा ; जानि न जाइ काह परिनामा ।
पलँग-पीठ, तजि गोद, हिँडोरा ; सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा ।
जिवन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ ; दीप-बाति नहिँ टारन कहऊँ ।
सोइ सिय चलन चहति बन साथा ; आयसु काह होइ रघुनाथा ?
चंद-किरनि-रस-रसिक चकोरी ; रबि-रुख नैन सकइ किमि जोरी ?
मानस सलिल-सुधा-प्रतिपाली ; जिअइ कि लवन-पयोधि मराली ?
सुर-सर सुभग बनज बनचारी ; डाबर-जोग कि हंसकुमारी ?

* * *

कानन कठिन, भयंकरु भारी ; घोर घाम, हिम, बारि, बयारी ।
कुस, कंटक, मग कंकर नाना ; चलब पयादेहि बिनु पद-त्राना ।
कंदर, खोह, नदी, नद, नारे ; अगम अगाध न जाहिँ निहारे ।
भालु, बाघ, बृक, केहरि, नागा ; करहिँ नाद, सुनि धीरज भागा ।
डरपहिँ धीर गहन सुधि आए ; मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाए ।
नव-रसाल-बन-बिहरन-सीला ; सोह कि कोकिल बिपिन करीला ।

* * *

जे पुर गाउँ बसहिँ मग माहीं ; तिनहिँ नाग-सुर-नगर सिहाहीं ।
केहि सुकृती, केहि घरी बसाए ; धन्य पुन्यमय, परम सुहाए ।
जहँ-जहँ राम-चरन चलि जाहीं ; तेहि समान अमरावति नाहीं ।
परसि राम-पद-पदुम-परागा ; मानति भूरि भूमि निज भागा ।

* * *

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ ; जियत न सुरसरि उतरन देऊँ ।
समर-मरन, पुनि सुरसरि-तीरा ; राम-काजु, छन-भंगु सरीरा ।

भरत भाय नृप, मैं जन नीचू; बड़े भाग अस पाइय मीचू।
स्वामिकाज करिहौं रन रारी; जस धवलिहौं भुवन दस-चारी।

❀ ❀ ❀

कुटिल कुबंधु कुअौसर ताकी; जानि राम बनबासु यकाकी।
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू, आए करन अकंटक राजू।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई; आए दल बटोरि दोउ भाई।
जो जिय होति न कपट कुचाली, केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली?
उठि कर जोरि रजायसु माँगा; मनहुँ बीर-रस सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर, कसि कटि भाथा, साजि सरासन, सायक हाथा।
आजु राम-सेवक जसु लेऊँ, भरतहिँ समर सिखावन देऊँ।
राम-निरादर कर फल पाई, सोवहु समर-सेज दोउ भाई।
जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेइ भरतहिँ सेन - समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।

❀ ❀ ❀

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई, गगन मगन मकु मेघहि मिलई।
गोपद - जल बूडहि घटजोनी; सहज छमा बरु छाँड़इ छोनी।
मसक फूँक सकु मेरु उड़ाई, होइ न नृप-मद भरतहिँ भाई।
लखन तुम्हारि सपथ पितु आना, सुचि, सुबंधु नहिँ भरत-समाना।

❀ ❀ ❀

तुम तौ देउ सरल सिख सोई, जो आचरत मोर हित होई।
जद्दपि यह समुझत हौं नीके; तदपि होत परितोष न जी के।
बादि बसन बिनु भूषन-भारू, बादि बिरति बिनु बरम्ह-बिचारू।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा; बिनु हरि-भगति जाइ जप, जोगा।
जाइ जीव बिनु देह सुहाई, बादि मोर सब बिनु रघुराई।
मोहिँ समान को पाप-निवासी, जेहि लगि राम-सीय बन-बासी?
केकइ-सुवन जोगि जग जोई, चतुर बिरंचि रचा मोहिँ सोई।
दसरथ-तनै, राम लघु भाई; दीन्हि मोहिँ बिधि बादि बड़ाई।
डरु न मोहिँ जगु कहइ कि पोचू; परलोकहु कर नाहिन सोचू।
एकइ उर बस दुसह दवारी, मोहिँ लगि भे सिय-राम दुखारी।

'जे पुर गाँउँ' आदि जो दो चौपाइयाँ उद्धृत की गई हैं, उनमें साहित्य का सार कूट-कूटकर भरा है। इनके गुणों का वर्णन हमने मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में किया है; वहीं देखा जाय। अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर-कृत

जूलियस-सीजर नाम के नाटक में ऐंटोनी का एक व्याख्यान दिया हुआ है। उसके सम न समस्त ऑंगरेजी-साहित्य में दूसरा व्याख्यान नहीं माना जाता, अयोध्या-कांड के व्याख्यानों के सामने उसका भी मान मर्दन हो जाता है।

आरण्य-कांड

में शूर्पणखा को कुरूप करने की, खर, दूषण और त्रिशिरा के मारे जाने की और सीता-हरण की कथाएँ ४२ पृष्ठों में वर्णित हैं। जान पड़ता है, बद-चलन स्त्रियों की नाक काटने की रीति रामचंद्र ही की चलाई हुई है। शूर्पणखा-विरूपकरण भगवान् का असमर्थनीय कार्य था। शूर्पणखा तथा मंथरा की निंदा रामायण में कुछ अनुचित भी है। शूर्पणखा विवाह चाहती थी, बदचलनी नहीं। इसमें खर-दूषण-युद्ध और सीता-हरण की कथाएँ अच्छी हैं। अंत में नारद और रामचंद्र क   में संतों के लक्षण कहे गए हैं। उदाहरण—

तब चले बान कराल; फुंकरत जनु बहु ब्याल।
कोपेउ समर श्रीराम; चले बिसिख निसित निकाम।
अवलोकि खरतर तीर; मुरि चले निसिचर बीर।
भे क्रुद्ध तीनिउ भाय; जो भागि रन तें जाय।
तेहि बधब हम निज पानि; फिरे मरन मन महँ ठानि।
आयुध अनेक प्रकार; सनमुख ते करहिं प्रहार।
रिपु परम कोपे जानि; प्रभु धनुष सर संधानि।
छाँड़े बिपुल नाराच; लगे कटन बिकट पिसाच।

चिक्करत लागत बान; धर परत कुधर - समान।
नभ उड़त बहु भुज, मुंड, बिनु मौलि धावत रुंड।

❀ ❀ ❀

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा, नाइ माथ स्वारथ - रत, नीचा।
नवनि नीच कै अति दुखदाई जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई।

खर वास्तव में रावण का विमात्र भाई था, दूषण तथा त्रिशिरा का न॥।

किष्किंधा-कांड

में हनुमान् द्वारा राम-सुग्रीव की मित्रता हुई, और राम ने वानरराज बालि का वध करके सुग्रीव को किष्किंधा का राजा बना दिया। उधर सुग्रीव राज्य करने लगे, और इधर रामचंद्र वर्षा-भर प्रवर्षण-पर्वत पर रहे। इस स्थान पर वर्षा तथा शरद्-ऋतु का बड़ा ही अच्छा और शिक्षा-प्रद वर्णन है, परंतु उसका अधि-कांश मसाला श्रीमद्भागवत से लिया गया है। शरद्-ऋतु में सुग्रीव ने सीता के खोजने को कपिगण   कांड में केवल १८ पृष्ठ हैं, तथापि इसकी कविता परम प्रशंसनीय है। प्रायः लोग 'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी' का अर्थ एक महीना नहीं मानते, अतः हम बाल-कांड से एक प्रमाण दिए देते हैं—

कौतुक देखि पतंग भुलाना ; एक मास तेहि जात न जाना ।
मास दिवस का दिवस भा, मरमु न जानै कोय ।

गोस्वामीजी इस बात पर प्रायः ज़ोर दिया करते है कि राम बड़े ही कृपालु है, और फिर भी यदि लोग उन्हे न भजे, तो वे क्यो दुखारी न हो ? इसमे मित्रता के विषय में पूज्य विचार कहे गए हैं। पंडितों का सिद्धांत है कि इस कांड से गोस्वामीजी ने काशीजी मे रचना आरंभ की, क्योंकि इसकी वंदना में काशी की स्तुति पहले की गई है। इसके आगे के भी सब कांड काशी ही में बने, ऐसा ख़याल है। बालि-वध आड़ से क्यों हुआ, इसका कोई समुचित उत्तर प्राचीन ग्रंथो मे नही है। शायद वानर बालि के भाग जाने का भय हो। परम प्राचीन घटना होने एवं पूर्ण वर्णन के अभाव में इसके औचित्य पर युक्ति-पूर्ण कथन नही हो सकता।

उदाहरण—

जे न मीत-दुख होहिँ दुखारी , तिनहिँ बिलोकत पातक भारी ।
निज दुख गिरि-सम रज करि जाना ; मीत के दुख रज मेरु-समाना ।
जिनके असि मति सहज न आई ; ते सठ हठि कत करत मिताई ।
बिपति-काल कर सतगुन नेहा , स्रुति कह संत मीत-गुन एहा ।

*　　*　　*

घन घमंड नभ गरजत घोरा ; प्रिया-हीन डरपइ मन मोरा ।
दामिनि दमकि रह न घन माहीं ; खल कइ प्रीति जथा थिर नाहीं ।
बरषहिँ जलद भूमि निअराए ; जथा नवहिं बुध बिद्या पाए ।
सिमिटि-सिमिटि जल भरइ तलावा; जिमि सतगुन सज्जन पहँ आवा ।
खोजत कतहुँ मिलइ नहिँ धूरी ; करइ क्रोध जिमि धरमहिँ दूरी ।
ऊसर बरषइ तिनु नहिँ जामा ; जिमि हरिजन-हिय उपज न कामा ।

*　　*　　*

पंक न रेनु सोह असि धरनी ; नीति - निपुन नृप कइ जसि करनी ।
जल-संकोच बिकल भइ मीना ; अबुध कुटुंबी जिमि धन - हीना ।
सुखी मीन जहँ नीर अगाधा ; जिमि हरि - सरन न एकउ बाधा ।
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा ; सुंदर खगरव नाना - रूपा ।

*　　*　　*

राम - काज लगि तव अवतारा ; सुनि कपि भयउ परबताकारा ।
सिंह - नाद करि बारहिँ बारा ; लीलहि नाँघौं जलधि अपारा ।

सुंदर-कांड

मे हनुमान् समुद्र फाँदकर लंका गए, और वहाँ सीता से मिल, अक्षयकुमार आदि को मारकर मेघनाद द्वारा पकड़े गए। फिर लंका-दहन करके उन्होंने रामचंद्र से सब हाल कहा। भगवान् सब सेना; लेकर समुद्र के किनारे आए। यहीं विभीषण राम से मिले। गोस्वामीजी खास हनुमान् के भक्त न थे, नहीं तो उनके समुद्र लाँघने पर यह लिखकर कि—

उमा न कछु कपि की अधिकाई; प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई।

उनके समस्त यश पर पानी क्यों फेर देते? इनका तो यह सिद्धांत था—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते; मानिय सकल राम के नाते।

सो जिसका राम से जितना अधिक संबंध होता है, उसको यह उतना ही पूजनीय मानते हैं। गोस्वामीजी ने मंदोदरी के सम्मुख सीता से रावण की बात-चीत कराई है, फिर भी सीता के प्रति रावण से यह कहला दिया कि "अगर तू एक बार मेरी ओर देख ले, तो मंदोदरी आदि रानियों को तेरी दासी बना दूँ।" ये बातें हमें अनुचित जान पड़ती हैं। इस कांड में लंका-वर्णन कुछ-कुछ श्रेष्ठ है। इसमें ३२ पृष्ठ हैं। उदाहरण—

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना; जातुधान भट अति बलवाना।
मोरे हृदय परम संदेहा; सुनि कपि प्रकट कीन्ह निज देहा।
कनकभूधराकार सरीरा; समर-भयंकर, अतिबल बीरा।
सीता-मन भरोस तब भयऊ; पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ।
सुनु माता, साखामृगहि नहिं बल, बुद्धि बिसाल;
प्रभु-प्रताप ते गरुड़ हि खाय परम लघु ब्याल।

* * *

देह बिसाल परम हरुआई; मंदिर ते मंदिर चढ़ि आई।
जरइ नगर, भे लोग बिहाला; लपट-झपट बहु कोटि कराला।

लंका-कांड

में सेतु-रचना, अंगद की बसीठी, मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण के युद्ध तथा पतन, सीता के अग्नि-प्रवेश और विभीषण के सिंहासनारूढ़ होने के वर्णन हैं। इसकी वंदना उत्कृष्ट है, और एक स्थान पर रामचंद्र का ध्यान भी अच्छा लिखा गया है। चंद्रमा पर उक्तियाँ और उनमें आप-बीती के वर्णन भी अच्छे हैं। अंगद-पैज में राजसभा के गांभीर्य का ध्यान नहीं रक्खा गया। गोस्वामीजी का युद्ध-वर्णन प्रतिदिन घोर से भी घोरतर होता गया है। अंत में रावण ने लक्ष्मण

तक को पराजित कर दिया है। गोस्वामीजी ने उत्तरोत्तर युद्धोत्कर्ष बढ़ाने के विचार से मेघनाद के युद्ध में उतनी उद्दंडता नही दिखाई, जितनी रावण के रण मे। वाल्मीकीय रामायण देखने से जान पडता है कि मेघनाद ने दो बार राम-लक्ष्मण-समेत सारी सेना को जीत लिया था, और जब सब प्रधान पुरुष अचेत हो गए थे, तब वह विजयी हो लंका को चला गया। गोस्वामीजी ने नाग-पाश के वर्णन मे केवल इतना ही कह दिया है कि "नागपास-बस भए खरारी", परंतु वाल्मीकिजी ने कहा है कि उसने सब पुरुष-प्रधानों के अंग-प्रत्यंग बाणों से इस तरह छेद डाले थे कि किसी मे हिलने की भी शक्ति नहीं रही थी। किंतु वाल्मीकीय रामायण मे युद्ध का दिनोदिन वह उत्कर्ष नही दिखाया गया, जो गोस्वामीजी को अभीष्ट था। यही गुण ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर मे पाया जाता है, जिसके कारण योरप के साहित्य मे उसकी बड़ी प्रशंसा है। गोस्वामीजी ने रावण द्वारा एक ही समय मे क्रमशः रामचंद्र को मूर्च्छित और विभीषण, हनुमान् तथा वानर-सेना को पराजित करा दिया है। इसी प्रकार एक बार रामचंद्र के सिवा शेष सेना को पराजित और मूर्च्छित करा दिया है। इतना करने पर भी गोस्वामीजी ने लंका के किसी भी वीर को पूर्ण रूप से विजयी होकर कभी नहीं जाने दिया; या तो किसी से उसे हरा दिया, या दुर्दशा करा डाली। एक बार मेघनाद और दूसरी बार रावण ने जब रामसमेत समस्त सेना को पराजित किया, तब भी वे प्रसन्नता-पूर्वक लंका नही जाने पाए, बल्कि दोनो ही को जाबवान् के प्रहार से मूर्च्छित होना पड़ा। इसी भाँति जब कुंभकर्ण कपि-सेना को पराजित कर लंका जा रहा था, और अपने भाई के अपमान का बदला चुकाने को बालि के भाइ को कॉख मे दाबे था, तब निर्बल सुग्रीव द्वारा उसके नाक-कान कटवा लिए गए। गोस्वामीजी ने कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध बड़े ही भयंकर और प्रभाव डालनेवाले लिखे है, तथा रावण का युद्ध भी बडी ही उत्तमता से कहा है।

यह महाशय राम-भक्त होने के कारण रावण तथा अन्य निशाचरों को दुष्ट, खल इत्यादि की उपाधियो से सदैव भूषित किया करते थ। इन महाकवि ने लंका और उत्तर-कांड मे विविध व्यक्तियो द्वारा श्रीरामचंद्र की स्तुति या बहुत ही प्रशंसा कराई है। प्रत्येक स्तुति में निराला ही आनंद प्राप्त होता है। समस्त रामायण मे इस प्रकार की स्तुतियाँ बहुतेरी होगी। इसी प्रकार रामचंद्र के नख-शिख-वर्णनो का बाहुल्य है। इन दोनो विषयों की रचना मे इन महाकवि ने अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति और पांडित्य का चमत्कार दिखलाया है।

लका-कांड मे बहुत लोगो ने कई स्थानो पर कई बार रावण को युद्ध न

करने के वास्ते समझाया, और मंदोदरी ने तो अनेक बार ऐसा किया, परंतु क्या मारीच, क्या विभीषण, क्या माल्यवान्, क्या मंदोदरी और क्या कुंभकर्ण, सभी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उसे उपदेश दिया है। इसमें काल-विरुद्ध दूषण है, क्योंकि उस काल तक अवतार का विचार भारत में उठा ही न था। मंत्र-दाताओं में केवल प्रहस्त ने रामचंद्र की ईश्वरता नहीं दिखलाई। उसका उपदेश भी बहुत ही प्रभाव-पूर्ण और गंभीर है। उससे प्रहस्त के पांडित्य और नीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। यथा—

प्रथम बसीठि पठाइय नीती ; सीतहिं देइ करिय पुनि प्रीती।
नारि पाइ फिरि जाहिं जो, तौ न बढ़ाइय रारि ;
नाहिं त सनमुख समर महँ तात करिय हठि मारि।
यह मत जो प्रभु मानहु मोरा ; उभय प्रकार सुजसु जग तोरा।

केवल मेघनाद ने रावण को कभी शिक्षा नहीं दी। उसे गोस्वामीजी ने बड़ा ही पितृभक्त, आज्ञाकारी, कार्य-कुशल तथा शूर माना है। जब माल्यवान् के शांति-उपदेश से रावण क्रोधित हो रहा था, तब मेघनाद ने केवल इतना कहा कि—

कौतुक प्रात देखियहु मोरा ; करिहौं बहुत, कहत हौं थोरा।

और, उसके इतने ही कथन पर रावण को पूर्ण विश्वास आ गया। मंत्र-दाताओं से बहसों में अथवा अन्यत्र भी रावण का पक्ष पूर्ण योग्यता से नहीं कहा गया। उसका राम ने भगिनी विरूप-करण द्वारा पहले अपमान किया, और तब सीता-हरण द्वारा उसने भी अपमान का बदला अपमान से लिया। तो भी सीता को विरूप न किया, न कोई जबरदस्ती की। वह चक्रवर्ती भूपाल था। यदि राम से दब जाता, तो मांडलिक नरेश-मात्र रह जाता। कहाँ भारतवर्ष-भर पर प्रभाव, और कहाँ लंका-भर का छोटा-सा राज्य! रावण के लड़कर मरने में शौर्य था और दबने में कादरपन। ऐसे विचारों पर गोस्वामीजी ने भक्ति के कारण ज़ोर नहीं दिया है। रामचंद्र ने अयोध्या लौटते समय पहले प्रयाग और अयोध्या का दर्शन करके फिर त्रिवेणी में स्नान किया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि विमान ऊँचा उठने के कारण प्रयाग से अयोध्या देख पड़ना असंभव नहीं।

उदाहरण—

इहाँ सुबेल-सैल रघुबीरा ; उतरे सेन-सहित अति भीरा।
सैल-सृंग यक सुंदर देखी ; अति उतंग, सम, सुभ्र बिसेखी।
तहँ तरु-किसलय, सुमन सुहाए ; लछिमन रचि निज हाथ डसाए।
तापर रुचिर, मृदुल मृगछाला ; तेहि आसन आसीन कृपाला।

प्रभु कृत सीस कपीस-उछंगा ; बाम, दहिन दिसि चाप-निखंगा ।
दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना ; कह लंकेस मंत्र लगि काना ।
बड़भागी अंगद, हनुमाना ; चरन-कमल चापत बिधि नाना ।
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन ; कटि निखंग, कर बान-सरासन ।
यहि बिधि करुना-सीव; गुन-धाम राम आसीन ;
ते नर धन्य, जु ध्यान यहि रहत सदा लवलीन ।

❀ ❀ ❀

पूरब दिसि गिरि-गुहा-निवासी ; परम प्रताप - तेज - बल - रासी ।
मत्त - नाग - तम - कुंभ बिदारी ; ससि - केसरी गगन - बनचारी ।
बिथुरे नभ मुकुताहल - तारा ; निसि - सुंदरी केर सिंगारा ।
बिष - संजुत कर - निकर पसारी ; जारत बिरहवंत नर - नारी ।

❀ ❀ ❀

देखु बिभीषन, दच्छिन आसा ; घन - घमंड, दामिनी - प्रकासा ।
मधुर - मधुर गरजइ घन घोरा ; होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा ।
कहइ बिभीषनु सुनहु कृपाला ; होइ न तड़ित, न बारिद - माला ।
लंका - सिखर रुचिर आगारा , तहँ दसकंधर केर अखारा ।
छत्र मेघ - डंबर सिर धारी ; सोइ जनु जलद - घटा अति कारी ।
मंदोदरी - स्रवन - ताटंका ; सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका ।

❀ ❀ ❀

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला ; बिधि के लिखे अंक निज भाला ।
नर के कर आपन बध बाँची ; हँसेउँ जानि बिधि-गिरा असाँची ।
सो मन समुझि त्रास नहिं मोरे , लिखा बिरंचि जरठ मति - भोरे ।

❀ ❀ ❀

मेघनाद सुनि स्रवन अस गढ़ पुनि छेका आइ ;
उतरि दुर्ग ते बीरबर सनमुख चलेउ बजाइ ।
कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता ; धन्वी, सकल लोक - बिख्याता ।
कहँ नल, नील, दुबिद, सुग्रीवा ; कहँ अंगद, हनुमत बल-सींवाँ ?
कहाँ बिभीषनु भ्राता - द्रोही ; आजु सठहि हठि मारउँ ओही ।
अस कहि कठिन बान संधाने ; अतिसय क्रोध स्रवन लगि ताने ।
सर - समूह सो छाँड़इ लागा ; जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा ।
जहँ - तहँ परत देखियहि बानर ; सनमुख होइ न सके तेहि अवसर ।

भागे भय व्याकुल कपि, रिच्छा ; बिसरी सबहि जुद्ध की इच्छा।
सो कपि-भालु न रन महि देखा ; कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेखा।
मारेसि दस-दस बिसिख, सब परे धरनि कपि बीर,
सिंह-नाद गरजत भयउ मेघनाद रन-धीर।

* * *

नभ चढ़ि बरखइ बिपुल अँगारा ; महि ते प्रगट होहिं जल-धारा।
नाना भाँति पिसाच, पिसाची ; मारु-काटु धुनि बोलहिं नाची।
बरखि धूरि कीन्हेसि अँधियारा ; सूझ न आपन हाथ पसारा।

* * *

भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे,
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद-भय-मारुत ग्रसे।
मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ, भू, भूधर त्रसे,
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे।

इस कांड में ८० पृष्ठ हैं, और कविता श्रेष्ठ है।

उत्तर कांड

में रामचंद्र का अयोध्या-गमन, रामाभिषेक, राम-राज्य, देवतों की की हुई राम-स्तुति, संत-महिमा, राम का अपना प्रजा को उपदेश, काकभुशुंडि के पूर्व-जन्म का वृत्तांत और मोह, ज्ञान-भक्ति-भेद और राम-कथा-माहात्म्य के वर्णन हैं। काकभुशुंडि के पूर्व-जन्म में गुरु-माहात्म्य पर ज़ोर दिया गया है। कलि-वर्णन भी है। भुशुंडि-मोह में राम-बाल-लीला का अच्छा कथन हुआ है। ज्ञान-भक्ति-भेद में ज्ञान दीपक के परम परिश्रम से जलाए जाने और परम सुगमता से बुझ जाने का कथन कुछ उपहासास्पद-सा हो गया है। गोस्वामीजी ने भक्ति को प्रधान रक्खा है। इन्होंने निम्न-लिखित दोहे में नानक, कबीर, दादू आदि के पंथों की निंदा की है—

कलि-मल ग्रसेउ धरम सब; गुपुत भए सदग्रंथ ;
दंभिन निज मत कल्प करि प्रगट कीन्ह बहु पंथ।

जिस प्रकार गोस्वामीजी ने कलि-धर्म के विषय में भविष्यद्वाणी-सी कही है, उसी प्रकार भारतेंदुजी ने भी किया है। इन वर्णनों से इन कवि-रत्नों की पैनी दृष्टि तथा संसार-चक्र की गति परखने की शक्ति प्रकट होती है। कुछ महाशयों का मत है कि उत्तर रामायण के कांडों में सर्वोत्कृष्ट है। हमारे मत में, इस कांड में गोस्वामीजी ने अपने सिद्धांतों का वर्णन अवश्य किया है, परंतु काव्य की दृष्टि से हम इसे ऐसा नहीं मान सकते। इसमें बिनती, कलि-धर्म, भुशुंडि-कथा और

ज्ञान-दीपक के वर्णन अच्छे हैं। रामचंद्र के आते समय भरत की उत्कंठा भी खूब दिखाई गई है।

काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से हम सातों कांडों को इस तरह क्रम-बद्ध करेंगे—अयोध्या, बाल, उत्तर, लंका, किष्किंधा, सुंदर और आरण्य।

रावण के विषय मे इन महाकवि ने लिखा है—

बीस पयोधि अगाध, अपारा ; को अस बीर, जु पावै पारा ?

इसी प्रकार गोस्वामीजी के सातो कांडों के विषय मे कहा जा सकता है—

सात पयोधि अगाध, अपारा ; को अस सुकवि, जु पावै पारा ?

उत्तर-कांड मे ८२ पृष्ठ हैं। इसकी कविता सर्वथा प्रशंसनीय है। उदाहरण—

जय सगुन निरगुन रूप राम अनूप भूप-सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने।
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल, दयालु, प्रभु, संजुक्त सक्ति नमामहे।
जे चरन सिव-अज पूज्य रज सुभ परसि मुनि पतिनी तरी ;
नख-निर्गता, सुर-बंदिता, त्रैलोक्य-पावनि सुरसरी।
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत, बन फिरत कंटक जिन लहे;
पद-कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।

❀ ❀ ❀

जो कछु झूठ, मसखरी जाना ; कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।
निराचार जो स्रुति-पथ-त्यागी ; कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला ; सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।
मारग सोइ, जाकहँ जोइ भावा ; पंडित सोइ, जोइ गाल बजावा।
नारि बिबस नर सकल गोसाईं ; नाचहिँ नट-मरकट की नाईं।
गुन-मंदिर, सुंदर पति त्यागी ; भजहिँ नारि पर-पुरुष अभागी।
पर-तिय-लपट, कपट-सयाने ; लोभ-मोह-ममता-लपटाने।
नारि मुई, घर संपति नासी ; मूड़ मुड़ाय भए संयासी।

❀ ❀ ❀

बहु दाम सँवारहिँ धाम जती ; बिषया हरि लीन्ह गई बिरती।
तपसी धनवंत, दरिद्र गृही ; कलि-कौतुक तात न जात कही।
धनवंत कुलीन मलीन अपी ; दुज-चिह्न जनेउ उघार तपी।
कलि बारहिबार दुकाल परै ; बिन अन्न दुखी सब लोक मरै।

अबला कच-भूषन, भूरि छुधा ; धनहीन, दुखी, ममता बहुधा।
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता, मति थोरि, कठोरि, न कोमलता।
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं ; अभिमान, बिरोध अकारनहीं।
लघु जीवन संबत पंचदसा, कलपांत न नास, गुमान असा।

* * *

जय राम रमा रमनं समनम् ; भव-ताप-भयाकुल पाहि जनम्।
मद, मोह, महाममता रजनी ; तम-पुंज दिवाकर तेज अनी।
बहु रोग बियोगनि लोग हए ; भवदंघ्रि निरादर के फल ए।
भव-सिंधु अगाध परे नर ते ; पद-पंकज प्रेम न जे करते।
अति दीन, मलीन, दुखी नितहीं ; जिनके पद-पंकज प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिनके ; भव-भीति कदापि नहीं तिनके।
नहिं राग, न रोष, न मान-मदा; तिनके सम बैभव वा बिपदा।
सम मान, निरादर, आदर ही; सोइ संत सुखी बिचरंत मही।

* * *

जोबन-जुर केहि नहिं बलकावा ; ममता केहि कर जस न नसावा ?
चिंता-साँपिनि काहि न खाया ; को अस, जाहि न ब्यापी माया ?
कीट मनोरथ, दारु सरीरा ; जेहि न लाग घुन, को अस धीरा ?
यह सब माया कर परिवारा ; प्रबल, अमित को बरनइ पारा ?
सो प्रभु-भ्रू-बिलास खगराजा ; नाच नटी इव सहित समाजा।
सोइ सरबग्य, गुनी, बर ग्याता ; सोइ महि-मंडन पंडित, दाता।
धरम-परायन, सोइ कुल-त्राता ; राम-चरन जाकर मन राता।
नीति-निपुन सोइ परम सयाना; स्रुति-सिद्धांत नीक सोइ जाना।
सोइ कबि-कोबिद, सोइ रनधीरा; जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।
साधक, सिद्ध, बिमुक्त उदासी ; कबि, कोबिद, बिरक्त, संन्यासी।
जोगी, सुर अरु तापस, ग्यानी ; धरम निरत, पंडित, बिग्यानी।
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी ; राम नमामि नमामि नमामी।

वह न-जाने कौन पवित्र घड़ी थी, जब महात्मा तुलसीदासजी ने राम-चरित-मानस का निर्माण करने के लिये अपनी लेखनी संचालित की। हिंदुओं को ऐसा शुभ मुहूर्त बहुत बार नहीं मिला। इस ग्रंथ-रत्न की २१ कोटि हिंदुओं में जो महिमा है, उसका उल्लेख करना हमारी निर्बल लेखनी की शक्ति से बाहर है। आज यह पुस्तक संख्या में समस्त भूमंडल के सप्तांश मानव-जाति का वेद, बाइबिल, ज़ेंदावस्ता, क़ुरान, या जो कुछ कहिए, हो रही है। इसका आधिपत्य हम

लोगों पर जितना प्रबल है, उतना बाइबिल का ईसाइयो पर भी न होगा। जिस समय यह कवि-कुल-चूड़ामणि लेखनी हाथ मे ले अपनी पीयूष-वर्षिणी कविता द्वारा संसार को आप्यायित करने लगते होगे, उस समय अवश्य ही स्वर्गीय कवि-वरों की आत्माएँ आनंद-सागर की तरंगो मे हिलोरें लेने लगती होगी ! यह ग्रंथ-रत्न जितना सर्वप्रिय है, उतना अन्य कोई भी ग्रंथ नही हो सका है। केवल अक्षर-ज्ञान रखनेवालो से लेकर वेदाती तक समान रूप से इसका आदर करते हैं, और "निज पौरुष परमान ज्यो मसक उड़ाहिँ अकास" के अनुसार इसकी प्रशंसा करते हैं। इसकी कविता मे ऐसी कुछ मोहिनी शक्ति है, और इसमे भिन्न-भिन्न रुचिवाले मनुष्यो के लिये उपयागी इतनी बातें मिलती है कि सभी श्रेणियो के मनुष्यों को इससे आनंद मिलता है।

दुर्भाग्य-वश हमारे यहाँ अभी पठन-पाठन की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित नही होने पाई है। फिर अच्छे-से-अच्छे ग्रथो को भी मुद्रण का सौभाग्य ही बहुधा नही प्राप्त होता; यदि हुआ भी, तो दो-तीन संस्करणो के आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। ऐसी दशा मे भी इस ग्रंथ-रत्न के हजारो ही संस्करण हो गए और होते जाते हैं। अधिकाश संस्करणो मे हज़ारो से कम प्रतियाँ नही होती। प्रेस-वालो के वास्ते तो वास्तव मे महात्मा तुलसीदास कल्पवृक्ष हो गए है। जब उनके पास कोई काम न हुआ, तब झट रामायण की दस-पाँच हज़ार प्रतियाँ छाप डालीं, और उसस लाभ उठाने लगे। रोचकता मे भी यह ग्रंथ अद्वितीय है। ग्राउस साहब ने अँगरेज़ी-गद्य मे और मुंशी द्वारकाप्रसाद उफ़ुक़ ने उर्दू-पद्य मे इसका अनुवाद किया। कोई भी सुकवि इतना बड़ा भक्त नहीं हुआ, और इसी कारण इतना भक्ति-भाव-पूर्ण काव्य करने में कोई भी नही समर्थ हुआ। हजारों मनुष्य नित्य इसकी पूजा और पाठ करते हैं। इसका आद्योपात पाठ करने की प्रथा बहुत प्रचलित है। एक बार एक मुंशीजी से हमने कहा कि हम तो रामायण का सदैव इस क्रम स पाठ करते है कि श्रीगणेश से इतिश्री तक करके फिर प्रारंभ से ही लग्गा लगा दिया। इस पर मुंशीजी गद्‌गद होकर तुरंत ही बोल उठे—"जनाब, यह तो क़ायदा ही है। यह क्या कि आज यहाँ, कल वहाँ, मेढक की तरह उछलता फिरे।"

अनेक स्थानो पर रामायण-समाज स्थापित हैं, और जगह-जगह बाजे के साथ इसका गान किया जाता है। पुराणो की भाँति इसका पाठ भी होता है, जिसे सुनने को सहस्रो नर-नारी एकत्र होती हैं। यह सौभाग्य आज तक हिंदी के किसी भी अन्य ग्रंथ को नहीं प्राप्त हुआ। इसकी पुस्तकें देवालयो मे रक्खी रहती हैं, और उनकी देवतों की भाँति पूजा होती है। लोग यंत्र मे मढ़कर इसके

गुटके गले और बाहु में बाँधते हैं। कहाँ तक कहा जाय, गीता की भाँति यह ग्रंथ-रत्न भी हिंदू-धर्म में इतना मिल गया है कि उसका एक अंग हो गया है। इस ६०० पृष्ठों के बृहद् ग्रंथ में अनेकानेक विषय आ गए हैं। गोस्वामीजी ने प्रत्येक कांड के प्रारंभ में संस्कृत के श्लोकों और भाषा के छंदों द्वारा देवतों की स्तुतियाँ की हैं। उत्तर-कांड में आठ श्लोकों का एक रुद्राष्टक बना है। बहुत-से कवियों ने इस ग्रंथ की स्तुति, आरती, श्लोक आदि बनाए हैं।

कविता का परिचय

राम-बाम दिशि जानकी, लखन दाहिनी ओर;
ध्यान सकल कल्यान-कर, सुर-तरु तुलसी तोर।

गोस्वामीजी के ग्रंथों के विषय में जो कुछ हमें कहना था, ऊपर कह चुके। अब उन ग्रंथों—विशेषकर रामायण—के आधार पर उनके गुण-दोषों का कुछ भाग, यथाशक्ति, यहाँ दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। शेष वर्णन आगे यथास्थान मिलेगा।

गुण-कथन

(१) गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकबारगी नहीं कह देते, बल्कि आनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की पहले से सूचना दे देते हैं, जिससे पाठक को उनका दिग्दर्शन प्रथम से हो रहे। इसी प्रकार औचित्य और अनौचित्य के विषय में भी जगह-जगह पर कुछ लिखते रहते हैं, जिसमें पाठक उनसे सहमत हो जाय।

दच्छ न कछु पूछी कुसलाता; सतिहि बिलोकि जरे सब गाता।

यहाँ कवि दक्ष के प्रतिकूल पाठकों का क्रोध भड़का रहा है।

तुलसी जस भवितव्यता, तइसिय मिलइ सहाइ;
आपु न आवइ ताहि पैं, ताहि तहाँ लइ जाइ।

यहाँ भानुप्रताप पर आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, यद्यपि अभी उसका कहीं पता भी नहीं है।

देखि राम-छबि कोउ अस कहई; जोगि जानकी यह बरु अहई।
अस प्रतीति तिनके मन माहीं; राम चाप तोरब, सक नाहीं।

बाल-कांड से ही राम के विषय में—

प्रीति पुनीत भरत कइ देखी; सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी।
पुर-नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं;
ब्याहिय सु चारिउ भाइ यहि पुर, हम सुमंगल गावहीं।
(बाल-कांड)

सबके उर अभिलाष असि, कहहिं मनाइ महेस ;
आपु अछत जुवराज - पद रामहिं देइँ नरेस।

सुबस बसिहि पुनि अवध सुहाई ; सब गुन - धाम राम - प्रभुताई।
तोर कलंक, मोर पछिताऊ ; मुयहु मेटि जाइहि नहिं काऊ।

सीय कि पिय-सँग परिहरिहिं, लखन कि रहिहहिं धाम ;
भरत कि भोगब राज-पद, नृप कि जियहिं बिनु राम ?

❁ ❁ ❁

भोरेहु भरत न पेलिहहिं मन महँ राम रजाइ ;
करिय न सोच सनेह - बस कहेउ राउ बिलखाइ।

(अयोध्या-कांड)

जब भरत राम को मनाने गए थे, तब ये वाक्य जनक ने अपनी रानी से कहे।

निसिचर-हीन करौं महि, भुज उठाय पन कीन।

यह रामचंद्र ने सीता-हरण के प्रथम किया था।

यहि लागि तुलसीदास इनकी कथा संछेपहि कही ;
रघुबीर - सर - तीरथ - सरित तन त्यागि गति पैहैं सही।

(सुंदर-कांड)

त्रिजटा का स्वप्न भी इसका प्रमाण है।

जो तेहि आजु बधे बिनु आवौं ; तौ रघुपति-सेवक न कहावौं।

❁ ❁ ❁

कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी ; उर सर लागत मरिहि सुरारी।

(लंका-कांड)

(२) यह महाशय अपने को तुरंत मुख्य कथा पर पहुँचा देते हैं, और रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं कराते।

तापस नृपहिं बहुत परितोखी ; चला महाकपटी, अति रोखी।

नृप हरखे पहिंचानि गुरु, भ्रमबस रहा न चेत ;
बरे तुरत सत - सहस बर, बिप्र कुटुंब - समेत।

(बाल-कांड)

इनको रावण का कथन शीघ्रता से करना था, अतः केवल तीन चौपाइयों में उस राजा भानुप्रताप का नाश कह दिया, जिसकी कथा आठ पृष्ठों से कहते चले आते थे।

खर-दूषन पहँ गइ बिलखाता ; धिक - धिक तव पौरुष, बल भ्राता।
तेहि पूछा, सब कहेसि बुझाई ; जातुधान सुनि सेन सजाई।
(आरण्य-कांड)

(३) गोस्वामीजी अमुक उवाच कहे बिना बात कहा देते हैं, परंतु यह विदित हो जाता है कि किसने यह बात कही। इसका उदाहरण उपर्युक्त छंद भी है!

अतिसय देखि धरम कइ हानी , परम सभीत धरा अकुलानी।
गिरि-सरि-सिंधु-भार नहिं मोही , जस मोहि गरुअ एक परद्रोही।
भगति-सहित मुनि आहुति दीन्हे ; प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे।
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा ; सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा।
(बाल-कांड)
तब सुग्रीव बिकल होइ भागा ; मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।
मैं जु कहा रघुबीर कृपाला ; बंधु न होइ मोर यह काला।
(किष्किंधा-कांड)
निसिचर मारि तुम्हें लै जैहैं ; तिहु पुर नारदादि जस गैहैं।
है सुत, सब कपि तुमहिं समाना ; जातुधान भट अति बलवाना।
(सुंदर-कांड)

(४) बड़ी-बड़ी घटनाओं में गोस्वामीजी आकाश - वाणी करवा दिया करते थे।

महादेव मन में जब सती-त्याग का निश्चय करके चले, तब—
चलत गगन भइ गिरा सुहाई ; जय महेस, भलि भगति दृढ़ाई।

पार्वती की तपस्या समाप्त होने पर जो 'गगन-गिरा' हुई, वह कुछ आवश्यकता से अधिक लंबी है।

मनु और शतरूपा जब तपस्या करती थीं, तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनके पास आए, और बोले कि वर माँगो, परंतु वे नहीं बोले; इस पर ईश्वर ने उन्हें अनन्य भक्त समझा, और—

माँगु - माँगु वर, भइ नभ बानी ; परम गँभीर कृपामृत-सानी।

तब उन्होंने परमेश्वर के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की, और इन्होंने दर्शन देकर उनके यहाँ अवतार लेना भी स्वीकार किया। इससे विदित होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का गगन-गिरा से कोई संबंध नहीं था। राजा भानुप्रताप के यहाँ गगन-गिरा बहुत छोटी होकर भ्रामक हो गई, और राजा को शाप दिया जा चुकने पर निर्दोष होने के बारे में उसे फिर सफ़ाई देनी पड़ी। राम-जन्म-संबंधी

गिरा कुछ भ्रामक है। उसमें कहा गया है कि मैं कश्यप और अदिति को वरदान दे चुका हूँ। वे ही इस जन्म में दशरथ और कौशल्या हैं। उनके यहाँ अवतार लेकर मैं नारद के वचन सत्य करूँगा। मेरा अवतार परमशक्ति-समेत होगा। यह वाणी ब्रह्माजी-सहित सब देवतों ने सुनी। इसके विषय में लिखा है—

गगन ब्रह्म-बानी सुनि काना; तुरत फिरे सुर, हृदय जुड़ाना।

अतः यह वाणी स्वयं परमात्मा की थी। गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उन्हें "बिधि, हर, बिष्णु नचावनहारे" कहा भी है। फिर नारद-वचन सत्य कैसे हुआ? उन्होंने तो विष्णु को शाप दिया था। बात यह है कि यद्यपि गोस्वामीजी परब्रह्म को विष्णु से पृथक् और बड़ा समझते तथा राम को उन्हीं का अवतार मानते थे, तथापि कभी-कभी उनको परब्रह्म और विष्णु के बारे में भ्रम हो जाता था। इस गिरा में मनु और शतरूपा के स्थान पर कश्यप और अदिति का नाम भ्रम-वश ही आ गया है, क्योंकि मनु और शतरूपा की तपस्या के कथा-प्रसंग में कह दिया गया है कि वे ही दशरथ और कौशल्या होंगे। एक बार भरत के विषय में लक्ष्मण का संदेह निवृत्त करने को और दूसरी बार भुशुंडि-विषयक लोमश का आशीर्वाद सत्य करने को गगन-गिरा हुई। रामायण में कुल आठ बार गगन-गिरा है।

(५) गोस्वामीजी निंद्य मनुष्यों पर, कथा-वर्णन में, प्रायः क्रोध प्रकट करते हैं।

देखा सु-बस करम-मन-बानी; तब बोला तापस बक-ध्यानी।

एवमस्तु कहि कपट-मुनि बोला कुटिल बहोरि।

तापस नृपहि बहुत परितोषी; चला महाकपटी अतिरोषी।

बड़ कुघात करि पातकिनि कहेसि कोप-गृह जाहु।

यह सुनि, मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद।

यहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ, छाइ भवन पर पावक धरेऊ।

कुटिल, कठोर, कुबुद्धि अभागी; भइ रघुबंस-बेनु-बन-आगी।

सुरपति-सुत धरि बायस-भेखा, सठ चाहत रघुपति-बल देखा।

अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह;

ता सन आइ कीन्ह छल मूरुख अवगुन-गेह।

इसी भाँति निशाचरों को बात-बात पर गालियाँ दी गई हैं।

(६) गोस्वामीजी ने रामायण की कथा में अपनी ओर से कुछ बढ़ा-घटा देने के विषय में स्वयं लिख दिया है—

—नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

इसी से इनकी कथा कहीं-कहीं वाल्मीकिवाली से पृथक् हो जाती है। इन्होंने स्वयंवर के समय सीता को छोटी कन्या की भाँति नहीं दिखलाया। रामचंद्र ने धनुष सभा में ही तुड़वाया, सभा-विसर्जन हो जाने के पीछे एकांत में नहीं। जनक का प्रण केवल धनुष उठाने और चढ़ाने का था, न कि उसे तोड़ने का, परंतु रामचंद्र ने उसे चढ़ाया, और वह टूट भी गया। अतः राम के ऊपर स्वल्प-मात्र भी लांछन न लगने देने के अभिप्राय से इन्होंने जनक से धनुष तोड़ने ही का प्रण कराया। इन्होंने रामचंद्र का प्रभाव बढ़ाने के अभिप्राय से परशुराम को सभा में बुलाया; किंतु अन्य रामायणों में बरात लौटती समय रास्ते में उनका आना कहा गया है। गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि परशुराम का तेज भी रामचंद्र ने ग्रहण किया। इसका कारण यह है कि यह रामचंद्र को परमेश्वर और परशुराम को शायद विष्णु का अवतार मानते थे। अतः परमेश्वर में वैष्णव तेज का होना कैसे लिखते? जयंत ने सीता के चरण में चोंच नहीं लगाई थी, वरन् कामोन्माद-वश उन्हें वस्त्र हीन करने का प्रयत्न किया था। गोस्वामीजी ने अपनी भक्ति के कारण उसकी प्रेमासक्ति न लिखकर चरण में चोंच मारना-भर लिख दिया है।

(७) इन्होंने समय और स्थान का परिमाण कहीं-कहीं बहुत बढ़ाकर लिखा है—

बीते संबत सहस सतासी; तजी समाधि संभु अबिनासी।
कह मुनि तात भयउ अँधियारा; जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा।

यह भी संभव है कि कपटी मुनि ने ७० योजन दूर नगर का होना झूठ कहा, ऐसा प्रकट करना कवि को अभीष्ट हो*।

मास दिवस का दिवस भा, मरमु न जानइ कोइ।

(८) युद्ध-वर्णन में इन महाशय ने प्रथम दिन हनुमान् और अंगद की प्रधानता रक्खी है, और एक ही दिन के युद्ध में "आधा कटक कपिन संहारा।" द्वितीय दिन मेघनाद की प्रधानता रही, परंतु यह विजयी निशाचरों को भी किसी-न-किसी प्रकार नीचा दिखा दिया करते थे। मेघनाद ने जब लक्ष्मण को मूर्च्छित कर दिया, तब वह उन्हें उठा ही न सका। इसी प्रकार उन्हें मूर्च्छित करके रावण भी नहीं उठा सका, और हनुमान् का मूका लगने से आप ही गिर पड़ा। ऐसी ही कई और घटनाएँ कही गई हैं, जिनका उल्लेख हम लंका-कांड की समालोचना में कर चुके हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी की भक्ति उन्हें निशाचरों की प्रसन्नता में कुछ-न-कुछ दुःख मिला देने के लिये विवश करती थी।

* यह सत्तर योजन भानुप्रताप एक ही दिन के शिकार में चले गए थे।

तीसरे दिन कुंभ-कर्ण ने समस्त वानर-सेना को परास्त कर दिया, और रामचंद्र को घोर युद्ध करके उसका वध करना पड़ा। रामचंद्रवाली दूसरे दिन की लड़ाई बहुत थोड़ी है। चौथे दिन मेघनाद ने समस्त सेना को बहुत व्याकुल किया, और लक्ष्मण को मोहित करके रामचंद्र को भी नाग-पाश से बाँध दिया। मेघनाद-वध के पश्चात् पाँचवें दिन स्वयं रावण युद्ध के लिये आया। इस अवसर पर उसके पराक्रम को कुंभकर्ण और मेघनाद से अधिक दिखलाने के अभिप्राय से इन्होंने पहले विभीषण से यह विचार कराया कि रथी रावण से राम पैदल न लड़ सकेंगे, और फिर इंद्र से भी यही सोच-विचार कराकर रथ भिजवा दिया। कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध में कभी इसका विचार भी किसी को नहीं हुआ था। केशवदास ने भी कुछ यही समझकर लिखा है—

चढ़ि हनूमंत पर रामचंद्र तब रावण रोक्यो जाई।

वाल्मीकि ने रावण की चलाई शक्ति लक्ष्मण के लगने पर द्रोणाचल मँगवाया है। गोस्वामीजी ने यह महत्त्व इस कारण मेघनाद को दिया कि रावण का गुरुत्व वह भली भाँति स्थापित करनेवाले थे ही, अतः मेघनाद को कुछ भी बड़ाई न मिलने पर उसका वीरत्व बिलकुल फीका पड़ जाता। छठे दिन रावण के यज्ञ का विध्वंस किया गया, और वह बड़े क्रोध से युद्ध करने को आया। इसी दिन पहलेपहल राम-रावण-युद्ध हुआ। इस दिन रावण ने एक बार राम के सारथी और दूसरी बार घोड़ों को गिरा दिया, और दोनो बार उन्हें स्वयं राम ही ने उठाया। इससे जान पड़ता है कि युद्ध इतना विकराल हो रहा था कि किसी दूसरे को बीच मे आने का साहस नहीं हुआ। प्रथम तीन दिन की लड़ाइयो मे वानरो ने राम की ओर से युद्ध आरंभ किया, परंतु अंतिम दिनों में निशाचरो ही की तरफ़ से लड़ाई शुरू हुई। सातवें दिन रावण ने बड़ा प्रचंड युद्ध करके रामचंद्र के अतिरिक्त समस्त सेना को पराजित और मूर्च्छित कर दिया। फिर बड़े ही क्रोध और उद्दंडता के साथ राम-रावण का लोमहर्षण युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध को गोस्वामीजी ने बड़ी उत्कृष्ट और प्रभावशाली भाषा में बड़ी अच्छी रीति से वर्णन किया है। यही दशा रावण के पहले दो दिनों के युद्धों की भी रही थी। अंत को बहुत-से अपशकुन होने के बाद रावण का वध हुआ। सात दिन के युद्ध में एक दिन स्फुट, एक दिन कुंभकर्ण से, दो दिन मेघनाद से और तीन दिन रावण से युद्ध हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि गोसाईंजी का युद्ध-वर्णन शिथिल है, परंतु हमारी समझ में उसमें शैथिल्य का नाम तक नहीं है; हाँ, उन्होंने युद्ध का बहुत विस्तार नहीं किया।

भवभूति ने अपने महावीर-चरित्र में लिखा है कि रावण ने धनुष-भंग होने

पर परशुराम को राम के विरुद्ध भेजा, जिसमें कुछ करना न पड़े, और शत्रु-नाश हो जाय। इसी तरह ताड़का, सुबाहु, मारीच, खर, दूषण, त्रिशिरा, विराध, कबंध आदि सब रावण के ही भेजे हुए गए थे, परंतु तुलसीदास ने ये बातें नहीं लिखी हैं।

एक प्राचीन तामिल रामायण में बालि, सुग्रीव तथा हनुमान् रावण के वैवाहिक संबंधी कहे गए हैं, और कई अन्य भी विचित्र कथन उसमें हैं। अध्यात्म रामायण की कुछ घटनाएँ आपने ली हैं।

(ध) गोस्वामीजी ने अपने नायक तथा उपनायकों का शील-गुण आद्योपांत एकरस निबाह दिया है। शील का कथन करने में इन महाकवि ने पूरा ध्यान दिया है, और उसमें इन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

(क) रामचंद्र को गोस्वामीजी ने सब गुणों का आकर माना है। जो कोई देखता था, वह इनके रूप का देखते ही मोह जाता था। विश्वामित्र, परशुराम, जनक, जनकपुर-वासी, गुह, मार्ग के ग्राम-वासी, शूर्पणखा और खर-दूषण तक इनका रूप देखकर मोहित हो गए। निरभिमान इतने थे कि विश्वामित्र के पैर तक दबाते, और सरल-स्वभाव इतने कि इन्होंने सीता को देखने और उन पर एक प्रकार से मोहित होने तक का हाल विश्वामित्र से कह दिया। गंभीरता इतनी थी कि विश्वामित्र की आज्ञा पाते ही बेधड़क धनुष-भंग के वास्ते खड़े हो गए। इसी प्रकार, परशुराम को देखकर सब लोग डर गए थे, परंतु इनको कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं हुआ। ब्राह्मणों को इतना मानते थे कि परशुराम के बहुतेरे दुर्वाक्य सुनाने पर भी इनको क्रोध न आया। इनकी सर्वप्रियता अभिषेक का विचार सुनते ही दशरथ के प्रधान कृपा-पात्र सुमंत्र के हर्ष-गद्गद हो जाने से विदित होती है। भरत को सदा बढ़कर प्यार करते थे। लक्ष्मण को भी इतना चाहते थे कि उनके पीछे नारी-हानि तक सहना स्वीकार था। गुरु-महिमा तो इनसे कोई सीख सकता है। आत्मत्याग इतना अधिक था कि इन्हें जान पड़ा—

बिमल बंस यह अनुचित एकू; अनुज बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।

प्रजाओं का इतना प्यार था कि इनके वियोग में उनको जीना भी भारू था। जो कोई देखता था, वही सेवा करने को उद्यत हो जाता था। सच्चे प्रेम के इतने वश थे कि अनार्य-जाति की शबरी के जूठे बेर तक खाए। भक्तवत्सल बहुत बड़े थे—

सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ; निज अपराध रिसाहिँ न काऊ।
जो अपराध भगत कर करई; राम-रोष पावक सो जरई।

भरत के आगमन पर इतने प्रेम-गद्गद हो गए—

उठे राम अति प्रेम अधारा ; कहुँ धनु, कहुँ निखंग कहुँ तीरा।

गोस्वामीजी ने इनके शील, संकोच और दयालुता की बार-बार प्रशंसा की है। मुनियों का कष्ट देखकर निशिचर-हीन मही करने की प्रतिज्ञा की। सुग्रीव की विपत्ति देखकर भुजाएँ फड़क उठीं। यह महाराज बड़े ही दृढ़-प्रतिज्ञ थे, यहाँ तक कि जब कभी लंका-विजय में संदेह होता था, तो सीता के न मिलने का या अपनी बदनामी का उतना शोक नहीं करते थे, जितना विभीषण को लंका न दे सकने का। आज्ञा-पालक इतने थे कि स्वयं दशरथ की अनिच्छा होने पर भी उनकी आज्ञा का पालन किया। शूर्पणखा का विरूप-करण-मात्र इनका एक ऐसा कार्य है, जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता। शूद्रमुनि का वध गोस्वामीजी ने नहीं लिखा है, और न किसी मान्य ग्रंथ में उसका कथन है। बालि को ओट से मारने का कारण यह जान पड़ता है कि बड़े शत्रु को छल से भी मारने में दोष नहीं है, यह प्रमाणित करना इन्हें अभीष्ट था। शायद उस वानर के भागने का भी भय हो। इस घटना के पूरे कारण प्राचीन ग्रंथों में अकथित हैं। राम का सामर्थ्य मानते हुए यह छल-कार्य पूर्णतया समझ में नहीं आता। बालि के अनुचित आचरण के कारण उससे क्रुद्ध थे, परंतु उसने ज्यों ही दीन वाक्य कहे कि इनका सब क्रोध तुरंत शांत हो गया। इतने दयालु होने पर भी इन्हें उचित क्रोध आता था—

सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी ; पावा राज, कोष, पुर, नारी।
जेहि सायक मैं मारा बाली ; तेहि सर हतउँ मूढ कहँ काली।

चित्त में कृतज्ञता इतनी अधिक थी कि इन्होंने हनुमान् से कहा—

प्रतिउपकार करउँ का तोरा, सनमुख होइ न सकत मुख मोरा।

इनका यह प्रण था—

कोटि बिप्र अघ लागइ जेही, आए सरन न त्यागउँ तेही।

इनकी शूरता, पांडित्य आदि के उदाहरण रामायण-भर में भरे पड़े हैं। गोस्वामीजी रामचंद्र को परब्रह्म का अवतार मानते थे।

(ख) श्रीसीताजी को गोस्वामीजी ने आदिशक्ति का अवतार माना है। इनके शील-गुण में कवि ने पति-प्रेम और सभय-प्रकृति को प्रधान रक्खा है। रामचंद्र के वन जाने पर वियोग सहा नहीं गया, और यह उनके साथ ही चली गईं। स्वयंवर में राजों का उपद्रव और परशुराम का आगमन होने पर बहुत डर गईं। मारीच की पुकार को रामचंद्र की आवाज़ समझ, भय-विह्वल होकर इन्होंने मर्म-भेदी वचन तक कह डाले, और लक्ष्मण को राम के पास भेज ही दिया।

रावण ने एक महीने में वध करने की धमकी-भर दी थी, परंतु इनको सचमुच डर मालूम हुआ—

मास दिवस बीते मोहिं मारिहि निसिचर पोच ।

इतनी भीरु होने पर भी इन्होंने रावण की अनुचित बातचीत पर उसे खूब फटकारा। अति रूपवती होने के कारण ही बहुधा इन्हें क्लेश सहना पड़ा। इनकी प्रकृति का सार निम्न-लिखित छंदों द्वारा विदित होता है—

तब रावन निज रूप दिखावा ; भइ सभीत जब नाम सुनावा ।
कह सीता धरि धीरज गाढ़ा ; आइ गए प्रभु, खलु रहु ठाढ़ा ।
जेहि बिधि कपट-कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम ;
सोइ छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि-नाम ।

(ग) भरत मे रामचंद्र का अलौकिक प्रेम बहुत ही विशेष था, और यह बात सब लोगों को भले प्रकार विदित भी थी, जैसा स्वयं दशरथ ने कैकेयी से कहा—

चहत न भरत भूप-पद भोरे ; बिधि-बस कुमति बसी जिय तोरे ।

प्रजा-वर्ग में भी यदि कहीं कोई भ्रम-वश कह देता था कि भरत भी माता के कुमंत्र में शरीक हैं, तो दूसरे तुरंत ही उसकी बात का खंडन कर देते थे। भरत का प्रेम गोस्वामीजी ने उस चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, जिससे विशेष वर्णन करना प्राय: असंभव है। उसको कवि ने यहाँ तक कहा है—

अगम सनेह भरत, रघुबर को ; जहँ न जाइ मन बिधि, हरि, हर को ।

बड़े गंभीर होने पर भी अपनी माता की कुटिलता देखकर उन्हें बुरा-भला कहा, जो कुछ अनुचित भी है। मंथरा को जब शत्रुघ्न मारने लगे, तो इन्होंने छुड़ा दिया। गोस्वामीजी ने इनकी बुद्धिमत्ता और वक्तृत्व-शक्ति के भी अच्छे उदाहरण दिखलाए हैं। स्वार्थ-त्याग की मात्रा बहुत अधिक थी। जिस राज्य के लिये राजों में प्रतिदिन झगड़े-बखेड़े होते हैं, और जिसके कारण भाई-भाई और बाप-बेटों तक में युद्ध हुआ करते हैं, उसी राज्य को पाकर भी छोड़ देना इन्हीं के समान महानुभाव का काम था। स्वार्थ-त्याग के इससे बढ़कर उदाहरण इस स्वार्थी संसार में कम मिलेंगे। जब अपने पुरुषार्थ से भी इन्होंने तक्षशिला और पुष्कर-क्षेत्र जीते, तब भी स्वयं न राज्य करके उन स्थानों पर अपने तक्ष और पुष्कर-नामक पुत्रों को स्थापित करके आप अयोध्या लौट गए। लक्ष्मण के पुत्र को भी इसी प्रकार एक राज्य जीत दिया। इन अन्यत्र कथित बातों से इनका भ्रातृप्रेम भी प्रकट है। अपने उत्तरदायित्व को इतना समझते थे कि अंत में जब रामचंद्र ने वनवास या अयोध्या के लौटने का निर्णय इन्हीं पर छोड़ दिया, तब

इन्होंने लौटने के लिये हठ नहीं किया, क्योंकि पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना घोर पाप था। पराक्रम भी असीम था। इनके एक ही बिना फल (गाँसी) के बाण से हनुमान्-जैसे वीर भी गिर पड़े, जिस पर इन्होंने उनसे कहा—

चढ़ु मम सायक सैल-समेता ; पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता।

गोस्वामीजी को इनके पराक्रम-वर्णन का अवसर कभी नहीं मिला, अतः उन्होंने इस स्थान पर इन्हीं दो-चार छंदों द्वारा बल भली भाँति दिखला दिया। रूप रामचंद्र से इतना मिलता-जुलता था कि इन्हें तथा रामचंद्र के पहचानने में लोग धोखा खा जाया करते थे। यद्यपि समस्त अयोध्या कांड में भी रामचंद्र की प्रधानता वर्तमान है, तथापि इसके उत्तरार्द्ध के वास्तविक नायक महात्मा भरत ही हैं। हम इन्हीं के साथ अयोध्या में जाते, फिर जाकर रामचंद्र से मिलते और वन का परिभ्रमण करके ससैन्य अयोध्या को लौट आते हैं। अयोध्या-कांड के द्वितीयार्द्ध में यही कथन है। उसमें राम का वर्णन उतना ही है, जितना वह भरत से संबंध रखता है। अंत में गोस्वामीजी कहते हैं—

भरत-चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं ;
सीय राम-पद - प्रेम अवसि होइ भवरस - बिरति।

पूरन भरत - प्रीति मैं गाई ; मति - अनुरूप अनूप सुहाई।
अब प्रभु-चरित सुनहु अति पावन ; करत जो बन सुर-नर-मुनि-भावन।

गोस्वामीजी ने भरत को ईश्वर का चतुर्थांश माना। सरस्वती ने इंद्र से भरत के विषय में कहा—

मोसन कहहु भरत - मति फेरू ; लोचन सहस न सूझ सुमेरू।

इस वाक्य से कवि ने यह भी स्पष्टता-पूर्वक कह दिया कि बुराई का प्रभाव दुर्बल-चित्त मनुष्यों पर ही पड़ता है, न कि दृढ़-चित्त महानुभावों पर। वास्तव में रामायण ने सब बातों में भरत को राम का प्रतिबिंब माना है। भरत के विषय में श्रीराम स्वयं लक्ष्मण से कहते हैं —

बात तुम्हारि सपथ, पितु-आना ; सुचि सुबंधु नहिं भरत-समाना।

(घ) लक्ष्मण में रामचंद्र की आज्ञा - पालन और स्नेह के भाव खूब ही मिल गए थे। इन्होंने राम के लिये माता - पिता, भाई, स्त्री, राज्य-सुख आदि सभी कुछ छोड़ दिया। जिस समय राम के साथ वन को जानेवाले थे, और इन्हें भय था कि वह ले जायँ या न ले जायँ, वहाँ यह—

कहि न सकत कछु, चितवत ठाढ़े ; दीन मीन जनु जल ते काढ़े।

इनको अधिक बातचीत करना पसंद न था। यह वाक्य-शूर न होकर कर्म-शूर थे। जब राम ने समुद्र से रास्ता माँगा, तब इन्हें बुरा लगा, और जब उसे

धमकाने को धनुष-बाण उठाया, तब यह प्रसन्न हुए। कर्म-शूरता और युद्ध-शूरता के साथ-ही-साथ इनमें क्रोध की मात्रा भी अधिक थी, यहाँ तक कि यह दासियों तक को पीटा करते थे—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे; दीन्हि लखन सिख अस मन मोरे।

जब स्वयंवर में जनक ने पृथ्वी को वीर-विहीन कह दिया, तब इन्हें अमर्ष हो आया। इसी प्रकार राजों की युद्ध-चेष्टा को देखकर भी इन्हें क्रोध आया। राम के वनवास से इन्हें दशरथ, कैकेयी और भरत पर अत्यंत क्रोध था, यहाँ तक कि स्वयं सुमंत्र के सम्मुख इन्होंने दशरथ के प्रतिकूल कटु वाक्य कह दिया। और भी—

कहँ लगि सहिय, रहिय मन मारे; नाथ साथ, धनु हाथ हमारे।
आइ बना भल सकल समाजू; प्रगट करौं रिस पाछिलि आजू।
केकय कहँ पुनि-पुनि मिले, जिय कर छोभ न जाय।

इनमें चपलता की मात्रा भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। परशुराम से राम के सामने ही लड़े पड़ते थे। इसी प्रकार राम को थोड़ा-सा भी क्रोधित देखकर यह सुग्रीव को मार डालने के लिये उद्यत हो गए। साहसी इतने थे कि कोई कैसा भी बली क्यों न हो, उससे लड़ने को प्रस्तुत हो जाते थे। इन्होंने यहाँ तक कह डाला कि यदि शंकर भी सहाय करें, तो भरत को और वैसे ही मेघनाद को मार डालूँगा। मेघनाद को इन्हीं ने मारा।

(ङ) हनुमान् अनुपम भक्त, बली और साहसी थे। इनको राम-काज जितना प्रिय था, उतना जीवन भी नहीं। इन्होंने सुरसा से कहा कि मैं सीता की सुधि राम को सुनाकर तेरा आहार बनने का तुझे वचन देता हूँ, परंतु तू मुझे अभी जाने दे। जानकी से अजर, अमर और बल-निधि होने का वर पाकर उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने यह सुनकर कि राम तुम पर कृपा करेंगे। सुग्रीव के राम-काज भुला देने पर इन्हीं ने उन्हें सचेत किया। जामवंत से अपने बल की प्रशंसा सुनकर इतना साहस बढ़ा कि यह पर्वताकार हो गए। रामचंद्र को इन्हीं पर अधिक भरोसा था, अतः जब सब वानर, भालु जानकी को खोजने जा रहे थे, तब उन्होंने इन्हीं को मुद्रिका दी। कठिन कार्य के करने को सदा इन्हीं की नियुक्ति होती थी—यथा, समुद्र-पार जाना, लंका से सुषेण वैद्य को लाना, लक्ष्मण के वास्ते रात-भर में ही द्रोणाचल से औषध लानी आदि। बलवान् इतने थे कि द्रोणाचल को उठा लिया, और एक-ही-एक मुष्टिक मारकर मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण आदि वीर भटों तक को गिरा दिया। जहाँ कठिन कार्यों के लिये भेजे जाते थे, वहीं आनंद के कार्यों पर भी जाने का इन्हीं का एक

समझा जाता था। लंका में विजय-वार्ता सुनाने को जानकी के पास और नंदिग्राम मे रामागमन की खबर सुनाने को भरत के पास यही भेजे गए। यह सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त हुआ कि भरत, लक्ष्मण आदि के होते हुए भी अयोध्या मे यही विशेष पूजित हुए, और वहाँ हनुमानगढ़ी आज तक वर्तमान है। गोस्वामीजी ने लिखा है कि हनुमान् का नाम लेते ही भूत प्रेत निकट नहीं आते। बाहु-पीड़ा-निवारणार्थ उन्होंने इन्हीं की स्तुति की।

(च) अंगद भी रामचंद्र के सच्चे भक्त थे। बालि मरते समय रामचंद्र को इनकी बाँह पकड़ा गया था। इनके चातुर्य और बल पर सबको भरोसा था। जिस समय संपाति से डरकर सब वानरो के प्राण सूखे जाते थे, और किसी को कोई उपाय नहीं सूझता था, उस काल इन्हीं ने जटायु का हाल कहकर सबके प्राण बचाए। रावण के यहाँ राम-दूत होकर जाने का सम्मान सर्व-सम्मति से इन्हीं को प्राप्त हुआ, और राम ने इनकी बुद्धि पर भरोसा करके कहा—

बहुत बुझाय तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।
काज हमार, तासु हित होई; रिपु सन किहेहु बतकही सोई।

अत: रामचंद्र ने इनके विचारो की कोई भी सीमा नहीं रक्खी थी, और पूरा अधिकार देकर इन्हे लंका भेजा। रावण की बातो का बरजस्ता उत्तर देना इनकी चतुरता को प्रकट करता है। जब इन्होंने पाँव रोपा, और वह किसी से न उठा, तब स्वयं रावण उसे उठाने को चला। उस समय इन्होंने बड़ी ही चतुरता से पैर हटाकर उसको यह मुँह-तोड़ उत्तर दिया—

मम पद गहे न तोर उबारा।
गहसि न राम-चरन सठ जाई।

गोस्वामीजी ने इनको हनुमान् के समान दिखाने के अभिप्राय से इनके हाथ से भी लंका मे रावण के एक पुत्र का वध कराया है। एक बार इन्होंने रावण को भी गिरा दिया। गोस्वामीजी ने इनका युद्ध हनुमान् के समान ही वर्णन किया है, केवल समुद्र के उल्लंघन में कहला दिया—

अंगद कहा, जाउँ मैं पारा, जिय संसय कछु फिरती बारा।

इनको राम ने किष्किंधा का युवराज नियत किया। इनका शील-गुण भी हनुमान्जी की छाया-सा था।

(छ) राम ने बालि-वध करके सुग्रीव को राजा बना दिया था। यद्यपि स्वभाव से यह साधु थे, तथापि राज्य पाने पर कुछ विषय-वश हो गए। पीछे हनुमान् के समझाने से तुरंत सँभल गए, और इन्होंने जानकीजी की खोज करने को चारो ओर वानर भेजे। यहाँ तक कहा —

बिषय मोर हरि लीन्हेसि ज्ञाना।

राम के भक्तों में सुग्रीव ही ऐसे थे, जिन्होंने उनसे लाभ उतना नहीं पाया, जितनी सहायता की। राम ने इनके लिये केवल एक बाण चलाया, और इन्होंने कई मास-पर्यंत अपनी सारी सेना राम-काज में नियोजित की। अंत में इन्हीं के साथ गुप्तार घाट में गुप्त हो गए।

(ज) विभीषण को गोस्वामीजी ने राम का बड़ा भारी भक्त माना है। इन्होंने रावण से बिगड़कर राम का आश्रय ग्रहण किया, और फिर निशाचरों का संहार कराने में पूरा योग दिया। इनका भाई-भतीजों के मारे जाने की युक्तियाँ बताना हमको अच्छा नहीं लगा। इनको भाई-जाति की जातीयता का बिलकुल ध्यान न था। रावण से बिगड़कर जब रामचंद्र के पास चले गए, उसके बाद तो चाहे इनके बचाव में कुछ कहा भी जा सके, पर सुंदर-कांड में जो हनुमान् को इन्होंने सीता का पता दे दिया, और फिर उन्हें मारे जाने से बचाकर उनकी पूँछ जलाने-भर की सलाह दी, उससे यह अवश्य राजद्रोह और विश्वासघात के दोषी हुए। इनका चरित्र भक्ति के अतिरिक्त बड़ा निंद्य है। हमने केशवदास की समालोचना में इनके चरित्र की आलोचना की है। विशेष वहीं देखिए। रावण के शत्रु और विमात्र भाई कुबेर के विभीषण सेनापति भी थे। इससे समझ पड़ता है कि रावण से इनका पहले भी बिगाड़ होगा। यह बात मानस के बाहर की है।

(झ) जामवंत ऋक्षराज थे। वृद्धावस्था और बुद्धि की प्रखरता के कारण राम ने इन्हें मंत्री बनाया। सब कामों में इनका मत माना जाता था। परमवृद्ध होने पर भी पराक्रम ऐसा था कि इन्होंने मेघनाद को मूर्च्छित कर दिया, और इनकी लात खाकर रावण भी अर्द्ध-रात्रि-पर्यंत अचेत पड़ा रहा। इन्हीं ने प्रोत्साहित करके हनुमान् को लंका भेजा, और अंगद को यह कहकर रोक लिया—

किमि पठवउँ सबही कर नायक।

(ञ) रावण लंका का राजा और रामचंद्र का प्रधान शत्रु था। इसने सीता-हरण करके उन्हें अपार दुःख दिया। यह ब्राह्मणों का नहीं, बल्कि देवतों का ही शत्रु था। ब्राह्मणों को केवल इसी कारण सताता था कि उनके यज्ञादि न कर सकने से देवगण दीन, हीन होकर आप ही पस्त हो जायँगे। रामचंद्र से यह इसी विचार से लड़ा था कि यदि वह परमेश्वर हों, तो उनके हाथ से मरकर समर में अमर-गति प्राप्त करे, और यदि कोई मनुष्य ही हों, तो दोनो भाइयों को जीतकर उनकी स्त्री हर ले। इस पुरुष-रत्न में शौर्य, पराक्रम, आत्मनिर्भरता, अभिमान और राजनीतिज्ञता कूट-कूटकर भरी थी। इसका साहस अतुलनीय था। सूझ भी प्रथम श्रेणी की थी, यहाँ तक कि बात का समुचित उत्तर तत्काल ही दे देता

था। विवाद में इसकी बुद्धि बड़ी ही पैनी थी। राजनीतिज्ञता तो यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने मतलब के लिये मारीच-जैसे छोटे आदमी से भी प्रणाम करके मिला, और उसके गड़बड़ करते ही साम-दाम की बात एकदम किनारे रखकर उस भयंकर अस्त्र का प्रयोग कर बैठा, जिससे मारीच को फिर ज़बान हिलाने की भी हिम्मत नहीं हुई। रामचंद्र का पत्र इसने बाएँ हाथ से लिया, और चारो वेदों तक का पूर्ण पंडित होने पर भी उसे स्वयं न पढ मंत्री से ही बँचवाया। राजनीति के मामले मे अनुचित-उचित का वैसा अधिक विचार नहीं करता था, और राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति मे ही इसने सीता-हरण कर डाला। संभव है, रावण ने यह सोचकर ऐसा किया हो कि उसकी मान-हानि तो शूर्पणखा के नाक-कान कटने से हो ही चुकी थी, अत. वह भी अवश्य शत्रु का अपमान कर ले; कारण, यदि शत्रु प्रबल हुआ, तो खुले तौर पर ऐसा हो सकना असंभव था।

शूरता इतनी अधिक थी कि रामचंद्र से युद्ध करते हुए भी इसने उनकी समस्त सेना को कई बार पराजित कर दिया। बाण-विद्या मे श्रीराम से और मल्ल-युद्ध मे हनुमान् से सरबरि करता था, यहाँ तक कि इससे मल्ल-युद्ध करने में, अंजनीकुमार का भी दम उखड़ गया और उनके लिये 'संकट' आ पड़ा। आत्मनिर्भरता का यह हाल था कि यो भी 'सहज अशंक' कहलाता था। श्रीराम की चढ़ाई का हाल जानकर भी नृत्य देखता रहा, और सबके मर जाने पर बोला—

निज भुज-बल मैं बैर बढ़ावा, देहौं उतर, जो रिपु चढ़ि आवा।

मरते-मरते भी कहता रहा—

कहाँ राम, रन हतौं प्रचारी।

मंदोदरी के रोने-गाने और समझाने बुझाने को इतना तुच्छ समझता था कि उसे सिवा हँसकर टाल देने के इसने कभी ध्यान देने लायक ही न समझा। मेघनाद और कुंभकर्ण के मरने पर अवश्य रोया, पर स्त्रियों को रोते देखते ही रोना बंद कर उन्हे समझाने लगा। अभिमान की मात्रा इतनी अधिक थी कि अपने मस्तक मे ब्रह्मा का यह लेख बाँचकर कि 'मैं मनुष्य के हाथ से मारा जाऊँगा,' यह हँस पड़ा, और ब्रह्मा को इसने सठिया गया समझ लिया। जटायु को देखकर सोचा—

मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा।

वैसे ही विभीषण के विषय मे यही कहता था—

"करत राज लंका सठ त्यागा; होइहि जव कर कीट अभागा।"

रामचंद्र को सिवा 'तपसी', 'तापस' आदि के कभी और कुछ नहीं कहा। शौर्य, आत्मनिर्भरता और अभिमान के कारण कभी किसी की सलाह या उपदेश

नहीं मानता था, यहाँ तक कि इसने मारीच, विभीषण, प्रहस्त, शुक, मंदोदरी, कुंभकर्ण, माल्यवान् एवं कालनेमि-जैसे हितुओं की सलाह पर भी कभी ध्यान नहीं दिया। इसने एक काम बहुत ही बेजा किया कि विभीषण को लात मार दी। वाल्मीकि का वर्णन पढ़ने से विभीषण का और भी अधिक दोष सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ लात इत्यादि का कोई कथन नहीं है, और केवल साधारण बातचीत में वह बिगड़ पड़े। हनुमान् की सुंदर-कांडवाली भारी वक्तृता के उत्तर में रावण ने क्या ही चतुरता से कहा—

मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।

राजमुकुट गिर पड़ने पर जब सभासद्गण घबराए, तब यह चतुरता में बोला—

सिरहु गिरे संतत सुभ जाही; मुकुट गिरे कस असगुन ताही?

इसने रामचंद्र की बहुत-सी बातें सुन यही कहा—

बैर करत तब नहिं डर, अब लागत प्रिय प्रान।

निदान तुलसीदास रावण को, राम का वैरी होने के कारण, भला-बुरा तो सदा ही कहा करते थे, पर इसका शील गुण उन्होंने बहुत ही अच्छा निबाहा है।

(ट) मंदोदरी के चरित्र में भय और अहिवात की रक्षा ही प्रधान है। भय और स्नेह के मारे यह रावण को बहुत कड़ी-कड़ी बातें तक, समझाते-समझाते, कह बैठती थी; पर उसने इसकी बातों पर कभी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। न क्रोध किया।

(ठ) शूर्पणखा का चरित्र ऐसा बुरा न था, जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह रामचंद्र से व्यभिचार करने नहीं गई थी, वरन् नियमपूर्वक विवाह चाहती थी। अपना विधवा होना प्रकट न करना उसका आदिम अपराध था। लक्ष्मण से भी विवाह करने पर झट से राज़ी हो जाना कुछ अनुचित कहा जा सकता है, किंतु वह भी एक शूर और सुपात्र थे, और जब उनके बड़े भाई ने इसका विचार मानकर इसे उनके पास भेजा, तब इसका मान जाना अनुचित भी न था। इसके साथ भगवान् का व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता। कुल मिलाकर इसी का अपमान हुआ, सो भी अनुचित। वैवाहिक संबंध में स्त्री-पुरुष दोनों की ओर से अनुचित हठ हुआ ही करता है। सीता को खाने दौड़ना इसकी बदनियत थी, किंतु नाक-कान काटे बिना ही यदि भगा दी जाती, तो उचित होता। भारी अपमान बेजा था, विशेषतया ऐसी कुलवती का, जो शास्त्रोक्त विवाह चाहती थी। विधवापन में कभी इसका अनुचित व्यवहार नहीं लिखा हुआ है।

(ड) कुंभकर्ण रावण का छोटा भाई था। रावण इसकी बहुत इज़्ज़त करता था, यहाँ तक कि इसके 'शठ' कह देने पर भी वह कुछ न बोला। यह बड़ा ही प्रबल वीर था। रावण को इसका बड़ा भरोसा था। इसमें अकेले ही एक सेना के बराबर शक्ति थी। तभी तो रामचंद्र और उनकी समस्त सेना से लड़ने को निहत्था और अकेला ही चल खड़ा हुआ।

(ढ) मेघनाद में अद्वितीय पितृभक्ति और शूरता, ये प्रधान गुण थे। रावण ने इससे जब जो कुछ भला-बुरा करने को कहा, इसने विना आगा-पीछा सोचे वैसा ही किया। और सबने तो रावण को रामचंद्र से न लड़ने के लिये समझाया, पर इसने ऐसा कभी विचारा तक नहीं। तभी तो रावण इसके मरने पर यही कहकर विलाप करने लगा—

हा सुत ! सतत आज्ञाकारी।

यह इंद्र तक को जीत चुका था, जिससे रावण को इसका बड़ा भरोसा था। सुंदर-कांड में हनुमान् की बड़ी बहादुरी की बातें सुनकर भी रावण जानता था कि मेघनाद को जो आज्ञा दी जायगी, उसे वह पूरी ही करेगा। इसी से उसने कह दिया—

मारेसि जनि सुत, बाँधेसि ताही।

कुंभकर्ण के मरने पर जब रावण विकल हुआ, तब भी पितृभक्त मेघनाद ने यही कहकर समझाया—

देखेहु काल्हि मोरि मनुसाई।

इसका चरित्र-चित्रण बहुत ही निर्दोष किया गया है।

(ण) दशरथ के विषय मे कहा जा सकता है कि उत्कट पुत्र-स्नेह एवं सत्य-प्रियता मानो इनके हिस्से मे पड़ी थी। वृद्धावस्था तक कामी बने रहे। इन्होंने यहाँ तक कहा कि मै चाहे नरक जाऊँ, पर राम मेरी निगाह की ओट न हों। वचन फेर लेने का इन्हें इतने पर भी ध्यान न आया। अंत को इन्होने इसीलिये प्राण ही दे दिए। अन्य ग्रंथों से प्रकट है कि राम के पिता होने के अतिरिक्त आप भारी विजयी भी थे। राम के तिलकोत्सव के समय भरत को ननिहाल से न बुलाने का ही इनका कार्य संदिग्ध था, जो सारी विपत्ति का कारण हुआ। भरत को युवराज बनाने के वादे को आप राम पर विशेष प्रेम अथच् उनके शौर्य के कारण सुख से पूरा न कर सके। इनकी इतनी कमी खटक अवश्य जाती है, यद्यपि प्रजा के हित मे वह योग्य थी। कैकेयी के विवाह के पूर्व उसके पुत्र को युवराज बनाने की बात भूल जाना इनके कष्टों का कारण हुआ।

(त) कौशल्या तथा देवियों के शील-गुण में गोस्वामीजी ने रत्ती-भर भी भेद नहीं रक्खा है। यद्यपि कैकेयी ने राम को वनवास दिया, तथापि उसको भी इन्होंने राम की माता ही कहा—

जो पितु-मातु कहैं बन जाना ; तौ कानन सत अवध समाना।

दशरथ का स्वर्गवास हो जाने पर भी जब भरत आए, तो यह उनसे मिलने के वास्ते उठकर दौड़ी। दशरथ के साथ सती हो जाना चाहती थीं, पर भरत के कहने तथा राम के दर्शन की अभिलाषा से रह गईं। इन्होंने भरत से राज्य स्वीकार करने के लिये बहुत हठ किया। इससे इनका महत्त्व प्रकट होता है। निम्न-लिखित दोहे से यह जान पड़ता है कि इन्हें भरत के आत्महत्या कर लेने का भय था—

लखन, राम, सिय जाहिं बन, भल परिनाम न पोच ;
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहिं भरत कर सोच।

पुत्र-वधू से इनका व्यवहार अनुकरणीय था। इन्होंने कभी किसी को कोई अनुचित बात नहीं कही। धैर्य की मात्रा इनमें बहुत अधिक थी।

(थ) कैकेयी पहले राम को बहुत चाहती और उनका प्यार पुत्रवत् करती थीं। पर शायद उनके चित्त में कुछ संदेह भी कभी था, क्योंकि यह उनकी 'प्रीति-परिच्छा' ले चुकी थी। चित्त ऐसा अभिमानी था कि यह कहती थी—

नहर जन्म भरब बरु जाई ; जियत न करब सवति-सेवकाई।

यह हृदय की बुरी न थी, क्योंकि इन्होंने—

अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन।

सौतिया-डाह तो इन्हें बिलकुल न था, यहाँ तक कि रामचंद्र के युवराज होने के विषय में दशरथ ने इनकी सम्मति लेने की कुछ भी आवश्यकता न समझी। इन्होंने पहले यह खबर सुनकर आनंद मनाया, और कहा—

रामहि तिलक कालि जो काली ; माँगु, देहुँ मनभावत आली।

अंत में इनके द्वारा रामचंद्र को कष्ट उठाना पड़ा। इस कारण गोस्वामीजी से इन्हें गाली दिए बिना नहीं रहा जाता ; साथ ही, भरत की माता होने के कारण, बचाव भी करना ही पड़ता है, और इसके लिये शारदा द्वारा मति पलटने की एवं भावी इत्यादि की बातें लानी पड़ती हैं। तो भी कहना ही पड़ता है कि गोस्वामीजी से, राम-भक्ति के मारे, इनका शील-गुण ठीक-ठीक नहीं दिखलाते बना। उन्होंने इन्हें पहले देवी-सी कहकर अंत को पूरी पिशाची बना दिया, और महा अनुचित बातें इनके मुँह से कहलाईं। वाल्मीकीय रामायण में आया है कि कैकेयी का

दशरथ से विवाह इसी नियम से हुआ था कि उन्ही का पुत्र राजा हो। यह बात गोस्वामीजी ने नहीं कही है। पति-विरोध का पातक कैकेयी पर था ही।

(द) सुमंत का इतना सम्मान था कि रामचंद्र इनको पिता के समान मानते थे। यह महाशय जाति के सूत थे। शायद इसी कारण गोस्वामीजी ने इनके कुल का परिचय नहीं दिया। राम से इतना सच्चा स्नेह रखते थे कि इनके वनवास पर उनको वास्तव मे बड़ा ही क्लेश हुआ। घर के बड़े-बूढ़ों के समान इनका मान होता था।

(ध) निषाद-पति गुह को रामचंद्र से ऐसा सच्चा स्नेह था कि उनके वास्ते यह भरत से लड़कर मरने को तैयार हो गया था, और भरत के साथ मार्ग में चलने में इतना प्रेम-मग्न हो गया था कि चलने-चलते रास्ता भूल गया।

(न) शिव रामचंद्र के अनन्य दृढ़ भक्त थे, यहाँ तक कि इन्होंने सती-सी स्त्री को इसी अपराध पर त्याग दिया कि उन्होने सीता का रूप धारण करके राम की परीक्षा ली थी। इस परीक्षा मे कामासक्ति की भी दुर्गंध आ सकती थी। इसी से महादेव को सती का त्याग करना पडा। यह रामचंद्र के बाल-रूप के भक्त थे। प्रभाव मे आप राम से कम, परंतु और सबसे बडे थे। रामचद्र का ध्यान करते ही शिव प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। यह अपना अपमान सह लेते थे, परंतु और किसी माननीय को न मानने का अपराध क्षमा नहो कर सकते थे।

(प) काकभुशुंडि भी राम के बाल-रूप के अनन्य भक्त थे। जब गरुड़ का भ्रम किसी से दूर न हो सका, तब महादेव ने उनको इनके पास भेजा। वहाँ जाने पर उनका संदेह पूर्णतया निवृत्त हो गया।

शिव, काकभुशुंडि और गोस्वामीजी की भक्ति में कोई भेद नहीं था। इन तीनो की उपासना सब तरह समान थी।

(फ) मंथरा का शील-गुण हिंदू-समाज ने विना उचित कारणों के ही बुरा समझा है। वह दशरथ की नौकरानी न होकर कैकेयी की थी, और शायद मायके से साथ आई थी। जब दशरथ कैकेयी के प्रतिकूल हुए, तभी वह उनके ख़िलाफ़ गई, पहले नहीं। फिर निष्कपट भाव से केवल स्वामिनी का भला चाहा, अथच अपने लिये कुछ न माँगा। उसके कठिन कोप की भी परवा न करके उसी का हित-साधन किया। इसकी सलाह के परिणाम अवश्य बुरे हुए; किंतु इसका विचार नीचा या स्वार्थी न था। हम इसे कदापि विशेष निंद्य नहो समझते।

(१०) गोस्वामीजी ने विप्रगण की महिमा का सदा गान किया, और यह कहा कि गुणी अथवा गुण-हीन, सब प्रकार के ब्राह्मण पूज्य हैं। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति द्विज-शब्द से ब्राह्मण का बोध कराया है, यद्यपि वास्तव में

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनो द्विज हैं। यह कहते है कि विप्र-कोप से कोई भी नहीं बचा सकता, और कुल-भर का नाश हो जाता है। अंतिम बात पर इन्होंने बड़ा जोर दिया है। विवाह के समय महादेव और राम ने पहले ब्राह्मणों को प्रणाम करके तब कुछ किया। युद्ध करने के प्रथम राम ने—

विप्र - चरन - पंकज सिर नावा।

यह कहते हैं—

मंगल - मूल विप्र - परितोषू ; दहै कोटि कुल भूसुर - रोषू।
सापत, ताड़त, परुष कहंता ; विप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिय विप्र सील - गुन - हीना ; नहिं न सूद्र गुन - ज्ञान - प्रबीना।
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन ; रामचंद्र बैठहिं सिंहासन।
पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा ; मन क्रम-बचन विप्र पद पूजा।
सानुकूल तेहि पर सब देवा ; जो तजि कपट करइ दुज सेवा।
सुनु मम बचन सत्य अब भाई ; हरि तोषक ब्रत दुज - सेवकाई।
अब जनि करसि विप्र अपमाना ; जान स ब्रम्ह अनंत समाना।
इंद्र - कुलिस, मम सूल बिसाला, काल दंड, हरि - चक्र कराला।
जो इन कर मारा नहिं मरई ; विप्र रोष- पावक सो ज़रई।
दुज-निंदक बहु नरक भोग करि ; जग जनमइ बायस-सरीर धरि।

ब्राह्मणों की ऐसी प्रशंसा अनुचित है ही।

(२१) गोस्वामीजी ने इंद्र तक देवतों को मनुष्यों से कुछ ही बड़ा और ऋषि मुनियों से बहुत कम माना है। नारद ने जब काम को जीतने का हाल इंद्र की सभा में कहा, तब उनके इस महत्त्व पर सब देवतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। देवता बड़े स्वार्थी और कभी-कभी कपटी भी हो जाते थे। इनको राक्षसों से इतना भय था कि यद्यपि यह राम को परमेश्वर जानते थे, तथापि निशाचरों के युद्ध में इन्हें राम-पराजय का भय उपस्थित हो जाता था, यहाँ तक कि दो एक बार मारे भय के ये भागे, और ऋषि-मुनि ऐसे अवसरों पर भी स्थिर रहे। यथा—

देव, दनुज, नर, किन्नर, ब्याला ; प्रेत, पिसाच, भूत, बैताला।
तिनकी दसा न कहौं बखानी ; सदा काम के चेरे जानी।
सिद्ध, बिरक्त, महामुनि, जोगी ; तेऽपि काम-बस भए बियोगी।

❀ ❀ ❀

सकल कहहिँ, कब होइहि काली ; बिघन मनावहिँ देव कुचाली।
ऊँच निवास, नीचि करतूती, सकहिँ न देखि पराइ बिभूती।
बार-बार गहि चरन सकोची ; चली बिचारि बिबुध-मति पोची।

❀ ❀ ❀

कपट - कुचालि - सीवँ सुर-राजू ; पर अकाज प्रिय आपन काजू।
काक - समान पाकरिपु - रीती ; छली, मलीन, न कतहुँ प्रतीती।
लखि, हँसि हिय, कह कृपानिधानू ; सरिस स्वान मघवा निज बानू।

इन वर्णनो को वेद की वंदनाओ से मिलाने पर कैसा आश्चर्य होता है ! वास्तव में हिंदू-समाज भगवान् वेद को भूल चुका है, नहीं तो गोस्वामीजी-सा प्रतिनिधि कवि ऐसे कथन कैसे करता ?

(१२) गोस्वामीजी अन्य सभी देवतों का पूजन केवल इसी मतलब से करते थे कि उनके सहारे श्रीराम की भक्ति प्राप्त और दृढ हो, यहाँ तक कि शिव की भी वंदना इन्होंने कभी किसी अन्य कारण से नहीं की। यथा—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ;
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।

❀ ❀ ❀

सिव - सेवा कर फल सुत सोई ; अबिचल भक्ति राम - पद होई।

विनय-पत्रिका में गणेश, सूर्य, शिव और अन्य सभी देवतों की स्तुति करने में गोस्वामीजी केवल राम - भक्ति का वर माँगते थे, और कुछ नहीं। राम-भक्त का आप यह एक लक्षण मानते थे—

बिन छल बिस्वनाथ - पद नेहू।

इसके अनेक उदाहरण हैं।

बाल-कांड के प्रारंभ मे कवि ने महादेव की इतनी बडी कथा इस कारण से लिखी कि श्रोता की राम-कथा सुनने की पात्रता विदित हो जाय। यथा—

प्रथम कह्यौं मैं सिव - चरित, बूझा मरम तुम्हार ;
सुचि सेवक तुम राम के रहित समस्त बिकार।

इनका यह विचार था कि—

पूजनीय, प्रिय परम जहाँ ते ; मानिय सकल राम के नाते।

इसी कारण यह शिव, भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान् आदि को इतना मानते थे; और, क्या कहे, सीता भी इसके परे न जा सकीं—

सुमिरत रामहिँ तजहिँ जन तिनु-सम बिषय-बिलासु ;
राम - प्रिया, जग - जननि सिय कछु न आचरज तासु।

देवतों में यह शिव को राम का सबसे बड़ा भक्त मानते थे, और इसी से उन्हें सबसे बड़ा देवता कहते हैं, यहाँ तक कि विष्णु से भी बढ़ा दिया है। जिस समय सब देवता विष्णु के साथ शिव से ब्याह करने की प्रार्थना करने आए, तब शिव ने उनको अन्य देवतों से पृथक् भी न माना। वह यही बोले—

कहहु अमर, आयहु केहि हेतू?

फिर विष्णु को उनसे बात करने तक की हिम्मत न हुई, और सबकी ओर से ब्रह्मा ने कहा कि देवगण शिव का विवाह देखने को उत्सुक थे। इस स्थान पर विष्णु शिव से बहुत ही छोटे दिखलाए गए हैं। इसके पहले परब्रह्म श्रीराम शिव को विवाह करने का आदेश कर गए थे, और उनसे शिव ने कहा था—

नाथ-बचन पुनि मेटि न जाहीं।

और—

सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा; परम धरम यह नाथ हमारा।

इसी से तो ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवनो की बिनती सुनकर महादेव ने—

××× समुझि प्रभु बानी; ऐसोइ होउ कहा सुख मानी।

तुलसीदास राम और विष्णु में इतना बड़ा अंतर समझते थे कि शिव राम के दास थे, और विष्णुजी शिव के वैसे ही दास थे। विष्णु अर्थात् हरि और शिववाला अंतर विनय-पत्रिका मे यों दिखलाया गया है—

जोग कोटि करि जो गति हरि सो मुनि माँगत सकुचाहीं;
बेद-बिदित तेहि पद पुरारि-पुर कीट, पतंग समाहीं।

एवं—

सिद्ध-सनकादि-योगेंद्र बृंदारका बिष्णु-बिधि-बंद्य-चरणारबिंदम्।

यह शिव हैं। इधर राम का यह हाल है कि—

जो संपति सिव रावनहिँ दीन्हि दिए दस माथ;
सो संपदा बिभीषनहिँ सकुचि दीन्हि रघुनाथ।

शिव, काकभुशुंडि एवं गोस्वामीजी के प्रभु और कोई नहीं, 'दशरथ-अजिर-बिहारी' राम ही थे। यथा—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ;
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ।

१२) निर्गुण और सगुण ब्रह्म। गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे। इनका मत था कि निर्गुण ब्रह्म ध्यान-गम्य नहीं है, और सगुण ब्रह्म का ध्यान करना सहज है। जितने भक्त महानुभावों का वर्णन इन्होंने किया है, उन सभी को सगुणोपासक ही रक्खा है। यथा—शिव, काकभुशुंडि, शरभंग, सुतीक्ष्ण,

अगस्त्य आदि। भगवान् वेद को भी इन्होंने सगुणवादी माना है। निर्गुण-सगुण का कुछ सविस्तर वर्णन इस ग्रंथ में कबीरदासवाले लेख में आवेगा। वेदों में अवतार का कथन तो है नहीं, किंतु परमेश्वर का है। इनके मत से सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते, और न ईश्वर में लीन होते हैं—

ताते मुनि हरि - लीन न भयऊ ; प्रथमहिँ राम-भगति बर लयऊ।

वेदा ऊचुः —

जे ब्रह्म, अज, अद्वैत, अनुभव-गम्य मन पर ध्यावहीं ;
ते कहहु जानहु नाथ, हम तव सगुन जस नित गावहीं।
सगुन - उपासक परम हित निरत नीति दृढ़ नेम ;
ते नर प्रान-समान मोहिँ, जिनके द्विज - पद प्रेम।

(१४) गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परब्रह्म ज्योति:स्वरूप माना है। उनको ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का स्रष्टा और शासन-कर्ता कहा है, तथा सर्वव्यापी, अनीह, अनाम, अरूप परब्रह्म का अवतार वर्णन किया है। इन्होने सती तथा काकभुशुंडि के मोह मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अनेक रूप वर्णन किए हैं, परतु राम का रूप कही भी दूसरा नही कहा। इन्होने जगत् को प्रकाश्य और राम को उसका प्रकाशक, अनीह, अनंत, अज और अद्वैत माना है, परंतु परंब्रह्म के रूप का वही वर्णन किया है, जो विष्णु का है। मनु और शतरूपा रानी की कथा देखिए। इसी प्रकार सीताजी को इन्होंने आदि-शक्ति का अवतार माना है। राम और सीता के इन सब गुणों को सैकड़ों स्थानो पर कहा है, परंतु फिर भी इस बात पर ज़ोर देते गए हैं कि वह दशरथ-अजिर-विहारी राम का वर्णन कर रहे हैं। इन सब बातों के होते हुए भी इन्होने कहीं - कहीं राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार भी कह दिया है—

अति हरष मन, तन पुलक, लोचन सजल पुनि-पुनि कह रमा।
नख - निर्गता, सुरबंदिता, त्रयलोक - पावनि सुर-सरी।

इन स्थानों पर कवि ने सीता - राम को लक्ष्मी नारायण माना है। नारद-मोह के संबंध में भी इन्हें ऐसा ही भ्रम हो गया था। शेष स्थानों पर राम तथा सीता को परब्रह्म और आदि शक्ति माना है—

आदि सकति, जेहि जग उपजाया ; सो अवतरिहि मोरि यह माया।
उमा, रमा, ब्रह्मानि - बंदिता ; जगदंबा, संतत अनिंदिता।
एक, अनीह, अरूप, अनामा ; अज, सच्चिदानंद, परधामा।
ब्यापक, बिश्व - रूप भगवाना ; तेहि धरि देह चरित कृत नाना।

आदि, अंत कोउ जासु न पावा ; मति-अनुमान निगम अस गावा ।
बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना ; कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।
आनन-रहित सकल रस-भोगी ; बिनु बानी बकता, बड़ जोगी ।
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा ; गहइ घ्रान बिनु बास असेखा ।
जेहि इमि गावहिँ बेद बुध, जाहि धरहिँ मुनि ध्यान ;
सोइ दसरथ - सुत भगत - हित कोसल - पति भगवान ।
जगत प्रकास्य, प्रकासक रामू ; मायाधीस, ज्ञान - गुन - धामू ।
संभु, बिरंचि, बिष्णु भगवाना ; उपजहिँ जासु अंस ते नाना ।
ऐसो प्रभु सेवक - बस अहई ; भगत-हेतु लीला - तनु गहई ।
सुनि सेवक सुर - तरु सुर-धेनू ; बिधि - हरि - हर - बंदित पद-रेनू ।
सारद कोटि अमित चतुराई ; बिधि सत कोटि अमित निपुनाई ।
बिष्णु कोटि सम पालन-करता ; रुद्र कोटि सत - सम संहरता ।
निरवधि, निरूपम राम-सम नहिँ आन निगमागम कह ;
जिमि कोटि सत खद्योत रवि कहँ कहत अति लघुता लहै ।

(१५) रामचंद्र के विषय मे इनके बहुत ऊँचे विचार थे ही, सो जब उनके विषय में यह कोई साधारण मनुष्यो के समान घटना का वर्णन करते थे, तब दो-एक सिफ़ारिशी बातें अवश्य लिख देते थे । ऐसे छंद रामायण में स्थान-स्थान पर भरे पड़े हैं—

जाकी सहज स्वास स्रुति चारी ; सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।
लव-निमेख महँ भुवन निकाया ; रचइ जासु अनुसासन माया ।
भगत - हेतु सोइ दीनदयाला ; चितवत चकित धनुष-मख-साला ।
जासु त्रास डर कहँ डर होई ; भजन - प्रभाव देखावत सोई ।
सुमिरत जाहि मिटइ भव-भारू ; तेहि स्रम यह लौकिक व्यवहारू ।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा ; माया - मृग पीछे सोइ धावा ।

अपने यहाँ अवतार का विचार बहुत पीछे उठा है । ऋग्वेद में शक्ति केवल ईश्वर में है, अन्य देवतों में नहीं । यजुर्वेद तथा अथर्ववेद मे शिव ईश्वर हैं । उपनिषदों में भी है ऐसा ही, किंतु कहीं-कहीं विष्णु के रूप नारायण ईश्वर के पुत्र या ईश्वर हैं । उपनिषत् निर्गुण ब्रह्म को ठीक तथा सगुण को अशुद्ध मानते हैं । अनंतर बृहस्पतिवाले चार्वाक मत के भारी प्रचार के प्रभाव-वश कपिल, जैमिनि, कणाद, महावीर और गौतम बुद्ध की शिक्षा से निर्गुण के साथ ही ईश्वरवाद भी लुप्त होने लगा । बौद्ध और जैन-मतों से निर्गुणेश्वरवाद को और भी आघात पहुँचा । तब भगवान् बादरायण व्यास ने भगवद्गीता द्वारा प्रतीकोपासना के सहारे पहले-

पहल सगुणवाद तथा वैष्णव अवतार का प्रतिपादन किया। गीता के पूर्व शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति मत्स्य, कच्छ और वराह थे। यही कथन विष्णुपुराण का है। तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति वराह थे। शतपथ ब्राह्मण और मनु मे ब्रह्मा नारायण हैं। वाल्मीकीय रामायण और लिंगपुराण मे ब्रह्मा वराह हैं। विष्णु ऋग्वेद मे इंद्र से कम हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव की उन्नति हुई, किंतु विष्णु की वैसी नहीं। उपनिषदो मे विष्णु देवतों में तो सर्वोच्च हुए, किंतु ईश्वर नहीं। शतपथ ब्राह्मण मे वामन लेटे-लेटे सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे जीतते है, डगों से नहीं। मैत्रेय उपनिषत् में भोजन विष्णु का रूप है। कठोपनिषत् म मानुष उन्नति का चरमोत्कर्ष विष्णु का परमपद पाना है। परमपद विष्णु का ऋग्वेद म भी है। शतपथ मे नारायण परमात्मा से उत्पन्न हैं। तैत्तिरीय आरण्यक मे नारायण परमात्मा है। महाभारत मे वह पंचरात्र का मत निकालते है, जिसमे वासुदेव की महिमा ह। बौद्ध-मत-प्रसार के पीछे हमारे यहाँ गीता म पहलेपहल श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार कहे गए। यह पाँचवी शताब्दी संवत् पूर्व की बात है। इससे प्राय: सौ वर्ष पूर्व पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते है। गीताकार बादरायण व्यास उत्तर मीमासा मे वासुदेव-मत को वेद-विरुद्ध कहकर उसकी समालोचना करते हैं। किंतु वर्तमान रूप मे गीता नारायण को विष्णु ही मानती है। अनंतर पौराणिक ग्रंथों मे राम, कृष्ण आदि अवतार हुए। अवतार का विचार सबसे पहले कृष्ण मे चला, और उन्हीं का पूजन हुआ। वाल्मीकीय रामायण के प्राचीन भाग में रामचंद्र अवतारी नहीं हे, किंतु नवीन में हैं, जहाँ लक्ष्मणादि भी अवतार हैं। यह व्यूह-पूजन है, जिसका सबसे पुराना कथन चौथी शताब्दी संवत् पूर्व के बौद्ध-ग्रंथ निर्देश मे है। इसके पीछे श्रीकृष्ण-पूजन के तो अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते है, किंतु पुराणों के अनिश्चित कालवाले कथनों के इतर राम के नहीं मिलते। अमरकोष तथा पतंजलि मे भी राम नाम नहीं है। इधर आकर सं० १०७० का जैन-ग्रंथ धर्म-परीक्षा राम तथा गौतम बुद्ध को अवतार कहता है। आगे चलकर माधवाचार्य ने सीताराम की मूर्ति का पूजन किया, ऐसा लिखा है। यह सं० १३२८ की घटना है। कालिदास चौथी-पाँचवीं शताब्दी के समझे जाते है। आपने राम को अवतार माना है। तरहवीं शताब्दी के दाक्षिणात्य मंत्री हेमाद्रि ने व्रतखंड मे रामनवमी का व्रत लिखा है। हरिवंश, महाभारत, श्रीभागवत, वायुपुराण आदि म राम अवतार हैं, किंतु पौराणिक ग्रंथ गुप्त काल मे नव-संपादन के साथ पूर्ण किए गए, जिससे उनका कोई विशेष कथन गुप्त-काल से पुराना नहीं माना जाता है। इलोरा की मूर्तियाँ तीसरी से नवीं शताब्दी तक की हैं। उनमें रावण के चित्र हैं। खजराहो और जगन्नाथजी

के मंदिरों में भी राम तथा दशावतार की पाषाण-मूर्तियाँ हैं। इनका समय दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक का है। वाल्मीकीय रामायण पाँचवी शताब्दी संवत् पूर्व का ग्रंथ सबसे पुराना अवतार शून्य राम का कथन करता है। बौद्ध जातकों में तीन राम का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में एक यज्ञकर्ता राम लिखे हैं, किंतु रावणारि नहीं। अतः प्रकट है कि श्रीकृष्ण पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व से अवतार माने गए तथा रामसंवत् की चौथी-पाँचवी शताब्दी से।

(१६) ज्ञान, भक्ति। गोस्वामीजी ने भक्ति का दर्जा सबसे ऊँचा रक्खा है। इस विषय पर रामायण-भर मे आपने जगह-जगह पर बहुत कुछ लिखा है। अरण्य और उत्तर-काडो मे तो अपना मत साफ़-साफ़ प्रकट रूप से कहा है। यह महापुरुष अनन्य भक्त थे। भगवान् व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता मे ज्ञान-भक्ति के विषय मे बहुत कुछ कहा है। गीता मे राम शस्त्रभृत् का कथन भी है। यह वर्णन परशुराम, रामचद्र या बलराम मे से किसी एक का होने से निश्चय-पूर्वक राम से सबद्ध नही माना जा सकता। व्यासदेव एवं हिंदू-दर्शन-शास्त्रों का मत है कि मोक्ष-पद विना ज्ञान के नही मिल सकता, और भक्ति ज्ञान दृढ़ करने का एक भारी साधन है। गोस्वामीजी ने इस मत को पूर्ण रूप से खुले खुज नहीं ग्रहण किया, यद्यपि वास्तव मे इसे माना अवश्य है।

यह कहते है, ज्ञान से केवल मोक्ष-पदवी प्राप्त हो सकती है, पर ज्ञान का होना इतना कठिन है कि उसका मिलना वस्तुतः असंभव है।। वह केवल घुणाक्षर-न्याय से मिल सकता है, अथच यदि कहीं मिल भी गया, तो विना भक्ति के स्थिर नहा रह सकता। केवल भक्ति से भी मोक्ष मिलती है, परंतु भक्ति मोक्ष का साधन-मात्र नहीं है, वरन्—

राम-भगति सोइ मुकुति गोसाईं; अनइच्छित आवैं बरिआईं।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा; संसृति - मूल अबिद्या नासा।
भोजन करिय तृप्ति हित लागी; जिमि सुअसन पचवइ जठरागी।
अस हरि-भगति सुगम सुखदाई; को अस मूढ़, न जाहि सुहाई?

कुछ लोग गोस्वामीजी को अद्वैतवादी समझते हैं। यही हमें भी समझ पड़ता है। कुछ महाशय रामानंदी होने से इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी भी मानते हैं। इस विषय पर बहुत-से विद्वानो ने अन्य ग्रंथो में प्रचुर परिश्रम करके गोस्वामीजी का अद्वैतवादी होना सिद्ध कर दिया है *। यहाँ इस पर विशेष विस्तार करने

* इसका विशेष विवरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के गोस्वामीजीवाले ग्रंथों के भूमिका-भाग में है।

से ग्रंथ का आकार बढ़ जाना संभव है, अतः सूक्ष्मतया गोस्वामीजी का मत लिखा जाता है।

इनका मत है कि क्रोध विना द्वैतभाव के हो नहीं सकता, क्योंकि यदि जीव-मात्र ईश्वरमय अर्थात् एक हैं, तो क्रोध किस पर करे? और, द्वैत-मत होने से अज्ञान आ ही गया। मनुष्य की द्वैत-बुद्धि छूट जाने पर वह परमेश्वर के बराबर हो जाता है। ऐसा होना वस्तुतः असंभव है, अतः ज्ञानी होना भी असंभव है।

क्रोध कि द्वैतक बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान;
माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।

ज्ञान पुरुष रूपी है, और भक्ति एवं माया स्त्री-रूपिणी। स्त्री और पुरुष में जल्दी प्रेम हो जाता है, परंतु स्त्री के रूप पर स्त्री नहीं रीझती। अतः ज्ञान पर माया का प्रभाव शीघ्र हो जाता है, और भक्ति पर उसका असर नहीं होता। फिर ईश्वर भक्ति के अनुकूल है, अतः भक्ति से माया डरती है, और उसके पास नहीं आती। इधर दैववशात् पूरा परिश्रम सध जाने और ज्ञान दीपक के जल जाने पर भी स्त्री-रूपिणी माया अंचल वायु से उस दीपक को बुझा देती है। जब मनुष्य पूरा विरक्त हो जाय, तभी उसे भक्त समझना चाहिए। गोस्वामीजी का यह मत समझ पड़ता है कि पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाने पर अविद्या-जनित अंधकार दूर हो जाता है, भक्त को बिना चाहे हुए पूर्ण ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, और भक्ति द्वारा इतनी दृढ़ता हो जाती है कि माया उसके पास नहीं फटक सकती है। उधर भक्ति हीन ज्ञान एक तो हो ही नहीं सकता, और यदि होता भी है, तो इतना अस्थिर रहता है कि वह थोड़े ही में माया के फंदे में पड़ जाता है। अतः ज्ञान बड़ा ही कठिन और दुष्प्राप्य है, एवं भक्ति बहुत ही सुगमता से प्राप्त हो सकती है। रामचंद्र कहते हैं, भक्त और ज्ञानी, दोनो मेरे पुत्र के समान हैं, परंतु मैं ज्ञानी को प्रौढ़ और भक्त को बालक के समान समझता हूँ। अतः जिस प्रकार माता छोटे बालक की सँभाल रखती है, वैसे ही मैं भक्त की हर समय रक्षा किया करता हूँ। आपके पूर्ववर्ती शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने तर्कवाद द्वारा बौद्ध और जैन पंडितो का पराभव करके लोक मे पौराणिक मत की महत्ता स्थापित की। समय पर जब इस मत का कोई तर्क से सामना करनेवाला न रहा, तब परमेश्वर और नारायण के उच्च भावों का कथन-बाहुल्य छोड़कर गोस्वामीजी ने अधिक लोक-प्रिय भक्तिवाद चलाया, अथच तर्कवाद एवं ज्ञानवाद को कठिन बतलाकर भक्तिवाद के आगे उसकी हेयता दिखलाई। इतना सब होते हुए भी आपने यह भी कह दिया है कि सगुण-अवतारवाद तर्कवाद से पूर्णतया समर्थित नहीं होता, क्योंकि इसके लिये विश्वासात्मिका भक्ति की भी आवश्यकता है। आपने

मुसलमानी धार्मिक दबाव से आक्रांत हिंदू-समाज का दृढ संगठन भक्ति के पुष्ट उपदेश से किया। भक्ति सगुणोपासना से प्राप्त होती है। नाम-जप और चरित्र-गान—ये दो उसके मुख्य साधन है, जो सत्संग से मिल सकते है। इसी कारण नामोपासना और ईश्वर-गुण-गान से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करना ही भक्त की अंतिम इच्छा है, यद्यपि ऐसा करने में उसे ज्ञान और मोक्ष विना चाहे ही प्राप्त हो जाते है। गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति कही है। यथा—(१) संतों का संग, (२) राम-कथा-श्रवण, (३) गुरु-पद-सेवा, (४) निष्कपट होकर राम-गुण-गान, (५) राम पर दृढ विश्वास रखकर नाम का जप, (६) दम, शील, विरति, सज्जनानुमोदित धर्म इत्यादि, (७) जगत् को राममय देखना, और राम से संतों को अधिक मानना (इसका प्रथमार्द्ध अनन्य भक्ति है। यथा—"सो अनन्य असि जाहि की मति न टरै हनुमंत; मै सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत।"), (८) संतोष करना, पर-दोष न देखना और (९) छल-हीन होकर, हर्ष-विषाद छोड राम का भरोसा रखना। इनमें से जिसके एक भी हो; वह ईश्वर का प्रिय है। गोस्वामीजी के हृदय मे नवधा भक्ति थी।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि राम-भक्त चार प्रकार के होते है, और चारो को नाम का आधार है। इनमे ज्ञानी परमेश्वर को विशेष प्यारा है। गोस्वामीजी ने भक्ति-हीन ज्ञान का पद भक्त से बहुत नीचा रक्खा है, और यह भी लिखा है कि भक्ति बहुत कम मनुष्यो मे है। अत. इनको रुचिवाले मनुष्यों ने और स्वयं इन्होने जहाँ कही वरदान माँगा, वहाँ भक्ति ही माँगी है। इन्होने श्रेष्ठ मनुष्यों की इस प्रकार श्रेणियाँ बाँधी है, जिनका माहात्म्य उत्तरोत्तर बढता जाता है—धर्म-व्रत-धारी, विषय विरक्त, सम्यक् ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्म-निरत, विज्ञानी और भक्त।

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरा;
ते पाय सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा; बिनु हरि-भजन बादि जप-जोगा।
सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञाना; करनधार बिनु जिमि जलजाना।
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान;
ज्ञानवंत अपि सोपि नर पसु बिनु पूँछ, बिषान।
भगति-हीन गुन सुख सब ऐसे, लवन बिना बहु बिंजन जैसे।

उपर्युक्त कारणों से यह महाशय राम-नाम को रामचंद्र से भी अधिक मानते हैं। यथा—

करहुँ कहाँ लगि नाम-बड़ाई; राम न सकहिं नाम-गुन गाई।

गोस्वामीजी की भक्ति उनके रचित ग्रंथों मे प्रत्येक स्थान पर झलकती है।

भले मनुष्यों का तो कहना ही क्या, वह दुष्ट राक्षसों तक को भी भक्त ही कहते हैं, और यह बात प्राय: हरएक के मरते समय कह देते है कि—"मरती बार कपट सब त्यागा।" यही दशा मारीच, कालनेमि, मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण इत्यादि सभी के विषय में देख पड़ती है, यद्यपि मारीच ने मरते समय भी जोर से लक्ष्मण का नाम लेकर धोखा ही दिया, और उसी के धोखे मे आकर सीता ने लक्ष्मण को जबरदस्ती राम के पास भेजा, और वह स्वयं रावण के फंदे में पड़ी।

सत्संग के विना भक्ति, विवेक और मोह-हानि नही हो सकती। नव प्रकार की भक्तियों में एक सत्संग भी है, परंतु राम-कृपा के विना वह भी नहीं प्राप्त हो सकता। सत्संग से कौन बड़ा नही होता, और कुसंग से कौन नहीं बिगड़ता?—

को न कुसंगति पाइ नसावा? केहि न सुसग बड़प्पन पावा?
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी; बिनु सतसग न पावहिँ प्रानी।
बरु भल बास नरक कर ताता; दुष्ट-संग जनि देइ बिधाता।
राम-कथा के ते अधिकारी; जिनके सतसंगति अति प्यारी।

तात सरग-अपबरग-सुख धरहु तुला यक अंग;
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जा सुख लव-सतसंग।
बिनु सतसंग न हरि-कृपा, तेहि बिनु मोह न भाग;
मोह गए बिनु राम-पद होइ न दृढ़ अनुराग।

(१७) माया गोस्वामीजी ने दो प्रकार की कही है—एक राक्षसों की, दूसरी परमेश्वर की। राक्षसों की माया केवल युद्धादि मे काम आती थी। उससे युद्ध करनेवालों को मोहित एवं विस्मित किया जाता था—उन पर अस्त्र, जल, अग्नि, पवन इत्यादि का उत्पात किया जा सकता था, और वह प्रभावशाली अस्त्रों से निवृत्त भी हो सकती थी। परमेश्वर की माया जगत् को नचाती है, यहाँ तक कि "नारद, सिव, बिरंचि, सनकादी" भी उसके फंदे मे फँस जाते हैं। जीव उस माया के वश मे रहता है, परंतु माया स्वयं राम के वश में है, और इसी कारण भक्ति करनेवाले को नही व्यापती। वह दो प्रकार की है—विद्या और अविद्या—

मैं अरु मोर-तोर यह माया; जेहि बस कीन्हें देव-निकाया।
गो-गोचर जहँ लगि मनु जाई; सो सब माया जानेउ भाई।
तेहि कर भेद सुनउ तुम सोऊ; बिद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक रचै जग गुन बस जाके; प्रभु-प्रेरित, नहिँ निज बल ताके।
एक दुष्ट अतिशय दुख-रूपा, जा बस जीवपरा भव-कूपा।
सो प्रभु-भ्रुव-विलास खगराजा; नाच नटी इव सहित समाजा।

उत्तर-कांड की समालोचना के उदाहरण मे भी माया का वर्णन है। यह शांकर माया के समान है। वर्तमान तार्किक सिद्धातो से प्रकृति के शक्ति-मात्र होने, अज्ञेयवाद एवं अन्य विचारों से मायावाद अनावश्यक हो गया है। इसका कुछ विस्तृत विवरण हमने अपने ग्रंथ 'धर्म-तत्त्व पर आर्ष विचार' मे किया है।

इन दोनो मायाओ के अतिरिक्त एक देवतो की भी माया है, जो साधारणत: मनुष्यों को मोहित कर सकती है। उसी ने मंथरा और कैकेयी को मोह-वश किया। अवधवासी जब भरत के साथ राम को बुलाने बन गए, तब वे भी उसी से मोहित किए गए, पर वह स्वयं भरत को नही मोहित कर सकी। कुंभकर्ण की मति वर माँगने के समय भी उसी से फेरी गई। उसका प्रयोग प्राय: शारदा को प्रेरित करके किया जाता था।

(१८) तपस्या को भी तुलसीदास ने बड़ा पद दिया है—

तप-बल रचइ प्रपंच बिधाता, तप-बल बिष्णु सकल जग - त्राता।
तप-बल संभु करइँ संहारा; तप-बल सेष धरइँ महि-भारा।
तप-अधार सब सृष्टि भवानी, करहु जाइ तप अस जिय जानी।

छांदोग्य उपनिषत् में ईश्वरीय तप से जगदुत्पत्ति कथित है। यह तप शायद शक्ति का स्फुरण हो।

(१९) गोस्वामीजी ने स्त्रियो की प्राय: निंदा की है। यद्यपि उन्होंने सीता, कौशल्या आदि की स्तुति भी की है, तथापि वह स्तुति रामचंद्र से संबंध रहने के कारण की गई है। आप समष्टि रूप से नारियों के निंदक थे, तथा केवल व्यष्टि रूप से किसी-किसी की प्रशंसा करते थे। गोस्वामीजी ने स्त्रियों को सहज जड़, सहज अपावन, अनधिकारिणी, अज्ञ आदि कहकर नारी-चरित्र को गंभीर समुद्र कहा और लिखा कि स्वतंत्र होकर ये बिगड़ जाती हैं।

उत्तम के अस बस मन माहीं; सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम पर-पति देखहिँ कैसे; भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।
धरम बिचारि समुझि कुल रहहीं; ते निकृष्ट तिय, स्रुति अस कहहीं।
बिनु अवसर भय ते रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई।

इन्होंने स्त्री-संबंधी जाँच की कसौटी बड़ी कड़ी रक्खी है। इसी से विदित होता है कि यह उनसे असंतुष्ट रहते थे।

भ्राता पिता, पुत्र उरगारी; पुरुष मनोहर निरखति नारी।
राखिय नारि जदपि उर माहीं, शास्त्र, नृपति, जुवती बस नाहीं।
पाप - उलूक - निकर - सुखकारी; नारि निबिड़ रजनी अँधियारी।

अवगुन-मूल, सूल-प्रद प्रमदा सब दुख-खानि।
ढोल, गवाँर, सूद, पसु, नारी; इन्हें ताड़ना की अधिकारी।
नारि-सुभाव साँच कवि कहहीं; अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस, अनृत, चपलता, माया; भय, अबिबेक, असौच, अदाया।
साँचु कहइँ कवि नारि सुभाऊ; सब बिधि अगम, अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब मुकुर गहि जाई; जानि न जाइ नारि-गति भाई।
का नहिँ पावक जरि सकइ, का न समुद्र समाइ;
का न करइ अबला-प्रबल, केहि जग काल न खाइ?

गोस्वामीजी की माता इनकी बाल्यावस्था में मर गई थी, और अपनी स्त्री से यह अप्रसन्न हो गए थे। इनके बैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इनसे नहीं मिलती थी, और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को यह इधर उधर देखते होंगे, अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव अच्छा न था। शायद यही कारण है कि इन्होंने उनकी निंदा की है। फिर भी हम तो यही कहेंगे कि ऐसे महात्मा और महाकवि को विना सोचे इतनी प्रचंड निंदा न करनी चाहिए थी। उस काल के अन्य कविगण भी बहुधा इस महादोष के दोषी है। कबीरदास तक ने भी ऐसा ही लिखा है। स्त्री के पद पर ऐतिहासिक विचार करने से विदित होता है कि भारत में यह उच्च था, किंतु मुसलमानों के आगमन से बिगड़ गया। योरप मे यह सोलहवीं शताब्दी से बढ़ा है।

(२०) गोस्वामीजी भाग्य पर विश्वास रखते थे, क्योंकि उन्होंने यह कहलवाया है—

होइहि सोइ, जु राम रचि राखा।
जोगी, जटिल, अकाम तनु, नगन, अमंगल-बेख;
अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख।
सिय, रघुबीर कि कानन-जोगू; करम प्रधान साँच कह लोगू।
कोउ न काहु दुख-सुख कर दाता; निज कृत करम भोग सब भ्राता।
करम प्रधान बिस्व रचि राखा; जो जस करइ, सो तस फल चाखा।

परंतु यह महाशय प्रायः विपत्ति-पीड़ित आदमियों को समझाने के लिये धार्मिक सिद्धांतों द्वारा उन्हे आश्वासन देते थे। कार्य-कुशलता को यह कर्मों के आसरे नही रोकना चाहते थे। यथा—

कादर मन कर एक अधारा; दैव-दैव आलसी पुकारा।
सो परंतु दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछिताइ;
कालहि, कर्महि, ईसुरहि मिथ्या दोष लगाइ।

इन्होंने यह भी लिखा है कि राम और शिव की कृपा से कर्म के लेख मिट भी सकते हैं। यथा—

रामचरित चिंतामनि चारू; संत सुमति-तिय सुभग सिँगारू।
मंत्र महामनि बिषय-ब्याल के; मेटत कठिन कुअंक भाल के।
जो तप करइ कुमारि तुम्हारी; भाविहु मेटि सकै त्रिपुरारी।
बावरो रावरो नाह भवानी।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी;
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी।

(२१) यद्यपि गोस्वामीजी ने हर तरह से दीनता प्रकट की, और निरभिमान भाव भी ख़ूब ही दिखाया है, तथापि उनको यह अवश्य विश्वास था कि उनकी रचना परमोत्तम है, और सिवा खलों के और कोई उनका उपहास न करेगा। तुलसीदास को समालोचकों से बड़ा भय था, और उन्होंने होनहार तथा वर्तमान समालोचकों से बड़ी बिनती करते हुए, तर्क छोड़कर, कथा सुनने का अनुरोध किया है। ऐसा कहने से बेचारे गोस्वामीजी अपने कुछ कथनों को तर्क-हीन मान-कर मानो उनके प्रतिकूल शिक्षा दे गए। फिर भी उनका प्रयोजन ऐसा न था।

चरित राम के सगुन भवानी; तर्कि न जाइँ बुद्धि-बल-बानी।
अस बिचारि जे परम बिरागी; रामहि भजइँ तरक सब त्यागी।
पुनि सबही बिनवौं कर जोरी; करत कथा जेहि लागु न खोरी।
छमिहहिँ सज्जन मोरि ढिठाई; सुनिहहिँ बाल बचन चितु लाई।
समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी; कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिँ जे संका; मोहिँ ते अधम ते जड़मति रंका।
हँसिहहिँ कूर, कुटिल, कुबिचारी; जे पर-दूषन-भूषन-धारी।
खल-परिहास होइ हित मोरा; काक कहहिँ कलकंठ कठोरा।
हँसिहहिँ बक दादुर चातकही; हँसहिँ मलिन खल बिमल-बतकही।

यहाँ पर तर्कवाद तजकर केवल अमिश्र भक्ति का उपदेश है। गोस्वामीजी की क़विता का उपहास तो किसी ने नहीं किया, परंतु बहुत लोग इनके छंदों के इतने अधिक अर्थ करते हैं कि वे उपहासास्पद हो जाते हैं। बहुत महाशयों ने ऐसे भी अर्थ निकाले हैं, जो प्रशंसनीय हैं; परंतु कहना ही पड़ता है कि शब्दों को तोड़-मरोड़कर अर्थ निकालना कवि की आत्मा को क्लेश देना है। हम इस स्थान पर एक प्रशंसनीय और एक उपहास-योग्य अर्थों का नमूना नीचे लिखते हैं—

मुक्ति - जनममहि जानि, ज्ञान - खानि अघ-हानि-कर ;
जहँ बस संभु - भवानि, सो कासी सेइय कस न ?
जरत सकल सुर - बृंद, बिखम गरल जेहि पान किय ;
तेहि न भजसि मतिमंद, को कृपालु संकर - सरिस ?

महि=म अक्षर को। अघहानिकर=अघ-हानिक र=र अक्षर अघ-हानि करनेवाला है। जहँ=र और म अक्षरों मे। सो कासी=सोक असी=शोक के लिये तलवार। ज रत=जिसमे रत है। शंकर=कल्याण करनेवाला।

इस प्रकार अर्थ लगाने से उपर्युक्त दोहे काशी और शिव की स्तुति के वाचक न रहकर राम-नाम की स्तुति के वाचक हो जाते हैं। म को मुक्ति का जन्म जानो, और र को ज्ञान-खानि तथा पाप - हानि करनेवाला जानो, जिस र और म मे शंभु-भवानी वास करते हैं, उस शोक की तलवार को क्यो न सेवे! जिस राम मे विषम गरल पान करनेवाला (शिव) एवं सब सुर-वृंद रत हैं, हे मतिमंद, उसको क्यों नहीं भजता ? उस कल्याणकर के समान कृपालु कौन है ?

बिनय-प्रेम-बस भई भवानी ; खसी माल, मूरति मुसकानी।

बिनय-प्रेम-बस, भई भवानी! (लाना तो) खसी-माल। मूरति मुसकानी।

सीता ने कहा—विनय-प्रेम हो चुका, भई भवानी हो। लाना तो बकरों का समूह। इस पर तो मूर्ति भी मुस्किराई कि अब अच्छा बलिदान मिलेगा।

दोष-कथन

(१) गोस्वामीजी पात्रों से बातचीत कराने मे कभी-कभी उसको उचित से अधिक बढ़ा देते थे।

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनउ तुम्हार ;
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृषा हमार।
कुपथ माँगु रुज - ब्याकुल रोगी ; बैद न देइ, सुनहु मुनि जोगी।

यह भगवान् ने उस समय, जब नारद ने राज-कन्या को ब्याहने के वास्ते उनसे रूप माँगा था, नारद से कहा। इसमे दोहा-भर कह देना उचित था, परंतु चौपाई कह देने से उनकी भविष्य की कुटिलता ऐसी प्रकट हो गई कि उसे कोई पागल भी समझ जाता।

धुआँ देखि खर, दूषन केरा ; सूपनखाँ तब रावन प्रेरा।
बोली बचन क्रोध करि भारी ; देस-कोस कइ सुरति बिसारी।
करसि पान, सोवसि दिन-राती ; सुधि न तोहिँ सिर पर आराती।
राज नीति बिनु-धन बिनु धरमा ; हरिहिँ समरपे बिनु सतकरमा।

बिद्या बिनु बिबेक उपजाए ; स्रम फल किए पढ़े अरु पाए ।
संग ते जती, कुमंत्र ते राजा ; मन ते ज्ञान, ज्ञान ते लाजा ।
प्रीति प्रनय बिनु, मद ते गुनी ; नासहिं बेगि, नीति अस सुनी ।
रिपु, रुज, पावक, पाप प्रभु इन गनिय न छोट करि ;
अस कहि त्रिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन ।

यहाँ नाक-कान कटने पर शूर्पणखा को नीति और धर्म-शास्त्र के सिद्धांतों का उपदेश देने की कोई इतनी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, जितनी अपने दुःख एवं अपमान की बात कहने की । समझ पड़ता है, महर्षि वाल्मीकि का अनुकरण करके ही गोस्वामीजी इस भूल में पड़े ।

बाल-कांड

(२) रामचंद्र की महिमा बढ़ाने को गोस्वामीजी ने अन्य देवतों की प्रायः निंदा कर दी है । सती-मोह इस कथन का प्रमाण है । सती-मोह में उनके कामोद्दीपन का भी भ्रम हो जाता है, नहीं तो वह राम के पास सीता का रूप धरकर क्यों जाती ? यह कथन बहुत ही अनुचित है, यद्यपि कई पुराणों में भी आया है । तुलसीदास को उन व्यासों से विशेष ज्ञान दिखाना चाहिए था । सती-मोह में विधि, हरि, हर इत्यादि के अनेक रूप देख पड़े, परंतु रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता के दूसरे रूप नहीं देख पड़े । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लक्ष्मण भी विधि, हरि और हर से बड़े थे । यह विचार व्यूह-पूजन के अनुकूल भी है । सती-मोह की दार्ष्टांतिक कथा शायद हिंदू - मत-प्रस्फुटन का इतिहास कहती है । उमा मदरासी देवी थीं, जिन्हें अन्य हिंदू पहले नहीं मानते थे, न शिव का ही यजुर्वेद से पूर्व विशेष मान था । राम के समय तक शायद यही हाल था, सो आपने सती का विशेष मान नहीं किया, और शैव-मान के अभाव से सत्याग्रह करके वह दक्ष के यज्ञ में जल मरीं, जिसके पीछे ही शैव-मान स्थापित हुआ, अथच विष्णु उनसे हार गए । अनंतर केनोपनिषत् (प्रायः आठवीं शताब्दी बी० सी०) में उमा का भी मान हुआ, और उन्होंने देव-समाज को ऐश्वर ज्ञान सिखाया, जो शैव ईश्वरत्व का होगा । राम - कथा १३वीं शताब्दी बी० सी० के निकट की समझी जाती है ।

जाना राम सती दुख पावा ; निज प्रभाव कछु प्रगट देखावा ।

यह तो वही मसल हुई कि "मरे पर सौ दुर्रे ।" रामचंद्र से ऐसा कराना बहुत ही अनुचित हुआ । जब कोई दुःखित हो, तो उस समय उसे और दुःखित करना कौन-सी महानुभावता है ? सती से झूठ बुलाना भी अनुचित हुआ ।

गोस्वामीजी ने सती की दुर्दशा का तो सविस्तर वर्णन किया है, परंतु दक्ष-यज्ञ-विध्वंस तीन ही चौपाइयों मे कह डाला।

सती मरत हरि सन बर माँगा ; जनम - जनम सिव-पद-अनुरागा।

यहाँ पर हरि से वर मँगवाना भी बेजा है। महादेव के विवाह में इन्होंने परछन तक न होने दी, और महादेव का रूप देखते ही मैना मारे डर के भागकर घर में घुस गई, तथा पार्वती को लेकर रोने लगी—

जेहि विधि तुम्हें रूप अस दीन्हा , तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा ?

सारे रनिवास मे हाहाकार मच गया। इसका कोई कारण नही जान पड़ता। मैना तो प्रथम से ही जानती थी कि पार्वती को कैसा वर मिलेगा, और उसी के वास्ते पार्वती ने तप ही किया था, तब फिर यह हाहाकार क्यों कराया गया? साधारण स्त्रियो की भाँति मैना अत्यंत अस्थिर मति की कैसे हो सकती थी? संभवत: महादेव का विवाह इस कारण बिगाड़ा गया, जिसमें रामचंद्र के विवाह की शोभा बढ जाय। इन महाकवि की रामायण ही के आधार पर जहाँ कही बड़ी गड़ बड़ी या ख़राबी होती है, तो लोग प्राय: यह कहते है कि "महादेव की बरात है।" कुमारसंभव और शिवपुराण में महादेव के विवाह का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है। यह भी साहित्यिक विचार माना जा सकता है कि शिव का सब हाल पहले ही से जानकर भी उनका पूर्णतया अभद्रिक रूप प्रत्यक्ष देखकर मैना से विना शोक मनाए न रहा गया।

(३) गोस्वामीजी ने महादेवजी से कहलाया है—

अनुज - जानकी - सहित निरंतर , बसहु राम प्रभु, मम उर अंतर।

सो क्या महादेव लक्ष्मण का भी ध्यान करते थे? अस्तु। गोस्वामीजी ने ध्यान की मूर्ति के साथ वानरो और रीछों को नही रक्खा, यही उनकी बडी कृपा हुई। यह विचार भी बढे हुए व्यूह-पूजन से साम्य रखता है।

(४) इसी प्रकार परशुराम से यह कहला दिया कि—

छमहु छमा - मंदिर दोउ भ्राता।

लक्ष्मण-संबंधी ऐसे कथन व्यूह-पूजन से संबद्ध होने से एक प्रकार से क्षम्य कहे जा सकते हैं, यद्यपि अशोभित अवश्य जान पड़ते है।

(५) उत्तर-कांड मे गोस्वामीजी ने माया का वर्णन करते हुए "नारद, सिव, बिरंचि, सनकादी" को लोभ, मोह, काम आदि सभी दुर्वासनाओं का शिकार बना दिया है। यहाँ पर शिव-विरंचि आदि मे ईश्वरीय भाव का निराकरण करके आपने एक ईश्वरवाद पर बल दिया है। फिर भी यह कथन अच्छा नहीं लगता।

(६)

जो संपति सिव रावनहिँ दीन्हि दिए दस माथ ;
जो संपदा बिभीषनहिँ सकुचि दीन्हि रघुनाथ ।

इससे भी इनकी निंदा की प्रवृत्ति कुछ-कुछ प्रकट होती है । कहाँ रावण का महत्त्व, कहाँ विभीषण का छोटे-से लंका का राज्य ! और वह भी दूसरे का दिया हुआ तथा उसके आश्रित । ऐसे ओछे कथन गोस्वामीजी के सहज गांभीर्य को शोभा नहीं देते ।

(७) दो-चार स्थानों पर गोस्वामीजी ने वाक्य-रचना अशुद्ध की है—

देखि उमहिँ तप-खिन्न सरीरा ; ब्रह्म-गिरा भइ गगन गँभीरा ।
प्रभु सरबग्य दास निज जानी ; माँगु-माँगु बर भइ नभ बानी ।

इन दोनो स्थानों पर 'भइ' के स्थान पर 'किय' कर देने से दुष्प्रबंध ठीक हो सकता था ।

जो कछु आयसु ब्रह्मै दीन्हा ; हरखे देव, बिलँब न कीन्हा ।

इसमे जो के पीछे 'सो किया गया' यह नहीं लिखा, इतनी कमी है । परंतु इन दो-एक व्याकरण-संबंधी क्षुद्र त्रुटियो को कोई भी दोष नहीं कह सकता । इन्हे आर्ष प्रयोग समझना चाहिए । साधारणतया आजकल के भी लेखक ऐसे प्रयोग करते है ।

इन महाकवि ने परशुराम और लक्ष्मण का संवाद ऐसा उपहास-योग्य लिखा है कि वैसी रचना करने मे शायद क्षुद्र कवि को भी लज्जा आती । इन्होंने परशुराम और लक्ष्मण को ऐसा दिखलाया है, जैसे एक ओर महाक्रोधी, निर्बल, अभिमानी और चिढ़नेवाला बुड्ढा खड़ा हो, और दूसरी ओर एक बड़ा ही नटखट, बिगड़ा हुआ, ठठोल छोकरा, जिसको बड़े-छोटे का कुछ भी लिहाज़ न हो । यह वर्णन गोस्वामीजी के सहज गांभीर्य के बिलकुल ही विरुद्ध है । परशु-राम के ये वाक्य—

उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे ; केवल कौसिक सील तुम्हारे ।
बोले रामहिँ देइ निहोरा ; बचइ बिचारि बंधु लघु तोरा ।

साफ़ ज़ाहिर करते हैं कि वह अपने मन में जानते थे कि युद्ध में उनसे कुछ भी किया न होगा, अतः लक्ष्मण को क्षमा करने के बहाने ढूँढ़ते थे; यहाँ तक कि राम को भी मन में विचारना पड़ा—

गुनहु लखन कर हम पर रोखू ; कतहुँ सुधाइउ ते बड़ दोखू ।
टेढ़ जानि संका सब काहू ; बक्र चंद्रमहिँ गसइ न राहू ।

यदि कहिए कि वह "बहै न हाथ, दहै रिस छाती" के कारण विवश थे, तो उन्होंने राम और लक्ष्मण को इस प्रकार क्यों ललकारा—

देखु जनक, हठि बालक एहू ; कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ।
छल तजि करउ समर सिव-द्रोही ; बंधु-सहित नतु मारउँ तोही ।

परशुराम के मुख से रामचंद्र के प्रति नीचे लिखे दो वाक्य कहलाने मे गोस्वामीजी ने परशुराम की पूरी नीचता दिखा दी है—

संभु - सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध ।
बंधु कहै कटु सम्मत तोरे ; तू छल - बिनय करसि कर जोरे ।
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े ; दुज - देउता घरहि के बाढ़े ।

लक्ष्मण से ये वाक्य कहलाकर स्वयं गोस्वामीजी को सब लोगों से यह कहलाना पड़ा कि—

अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।

नीचे के वाक्यों से जान पड़ता है, मानो परशुराम बेवक़ूफ़ बनाए जा रहे थे—

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया ; परिहरि कोप, करिय अब दाया ।
टूट चाप नहिं जुरइ रिसाने ; बैठिय, होइहैं पाँय पिराने ।
जौ अति प्रिय, तौ करिय उपाई , जोरिय कोउ बड़ गुनिय बुलाई ।

किसी शूर से निम्न-लिखित बात कहलाकर भी युद्ध न कराना गोस्वामीजी का ही काम था—

बिहँसे लषन, कहा मुनि पाहीं ; मूँदिय आँखि, कतहुँ कोउ नाहीं ।

द्वापर के अंत मे भगवान् वेदव्यास ने भीष्म और परशुराम के युद्ध-समय जो बातचीत कराई है, उससे परशुराम का गाभीर्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है । जिस समय भीष्म ने बहुत ही अहंकार-पूर्ण बातचीत की, और कहा कि जब आपने पृथ्वी क्षत्रिय-हीन की थी, तब भीष्म नही था, अब मै आपको मारकर क्षत्रियों का बदला लूँगा, उस समय इन्होंने केवल यही कहा—

कहा भयो बोलत इबिधि, काल-बिबस ह्वै बीर ।

अयोध्या-कांड

(६) भरत के चित्रकूट जाने में गोस्वामीजी ने कहा है कि राम से मिलने के बाद वशिष्ठ तथा अयोध्यावासी लोगो ने गुह निषाद से भेंट की । यह भेंट व्यर्थ थी । जब वह श्रृंगवेरपुर से भरत के साथ आ रहा था, तो फिर इस दुबारा भेंट की क्यों आवश्यकता पड़ी ?

अरण्य-कांड

(१०) दो-चार स्थानों पर १५ मात्राओं की चौपाई लिखकर छंद-परिवर्तन या छंद के नियम का उल्लंघन किया गया है। यथा—

तब खिसियानि राम पहिँ गई।
सस्त्री, मरमी, प्रभु, सठ, धनी।

परंतु ऐसी चौपाइयाँ बहुत कम हैं।

(११) जटायु ने रामचंद्र से कह दिया था कि—

नाथ, दसानन यह गति कीन्ही ; तेहि सठ जनकसुता हरि लीन्ही।
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं ; बिलपति अति कुररी की नाईं।

इतना जानने पर भी राम ने न-जाने क्यों बंदरों को सीता के खोजने के लिये सब ओर भेजा, और उनसे यह न कह दिया कि सीता लंका में है। इसी प्रकार किष्किंधा-कांड में एक दफ़े कहा—

एक बार कैसेहु सुधि पाओं , कालहु जीति निमिख महँ लाओं।

(१२) गोस्वामीजी कभी-कभी अकारण भी रामचंद्र की दयालुता के गीत गाया करते थे। जब जटायु ने रामचंद्र के वास्ते जान तक दे दी, तो इस विषय में यदि कुछ प्रशंसा हो सकती थी, तो उसी की, परंतु यह महाशय उस जगह भी राम ही की बड़ाई का डंका पीटते हैं—

कोमल-चित अति दीनदयाला ; कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।
गीध अधम, खग, आमिखभोगी ; गति तेहि दीन्ह, जो जाचत जोगी।

शबरी में नवधा भक्ति वर्तमान थी, तब भी यह कहते हैं।

जाति-हीन अघ जनममय, मुकुत कीन्हि असि नारि;
महामंद मन, सुख चहसि ऐसे प्रभुहिँ बिसारि।

किष्किंधा-कांड

बालि-त्रास ब्याकुल दिन-राती ; तन बिवरन, चिंता जरु छाती।
सो सुगरीव कीन्ह कपिराऊ ; अति कोमल रघुबीर-सुभाऊ।

इसमें कोमलता और दयालुता की कोई बात नहीं देख पड़ती, रामचंद्र और सुग्रीव में यही शर्त हुई थी। राम ने बालि को मारा, और सुग्रीव ने लंका में ससैन्य जाकर उनके लिये लड़ाई की। इस स्थान पर हमारे किसी समालोचक महाशय ने एक बार इस शर्त के होने में संदेह प्रकट किया था। उन्हें ये चौपाइयाँ देखनी चाहिएं—

तेहि सन नाथ मइत्री कीजै ; दीन जानि तेहि अभय करीजै।
सो सीता कर खोज कराइहि ; जहँ-तहँ मरकट कोटि पठाइहि।

इनके पीछे की भी चौपाइयाँ यही भाव पुष्ट करती है।

लंका-कांड

(१३) रावण और अंगद की बातचीत जो गोसाईंजी ने कराई है, वह स्वाभाविक नही है। यद्यपि रचना वहाँ की अच्छी है, तथापि यह कहना ही पड़ता है कि महाराजों की सभा मे कोई दूत इस तरह अयोग्य एवं उद्धत बातचीत नही कर सकता। इस संवाद में बहुत-सी चित्ताकर्षक और मज़ाक़ की बातें हैं, जिससे पढ़ने में आनंद आता है, किंतु यदि ये ही बातें किसी अन्य रीति से लिखी जाती, तो ऊपर लिखा हुआ दोष भी न आने पाता। इन्हें कितने ही हिंदी-कवियों ने हनुमन्नाटक के आधार पर लिख दिया है।

(१४) मंदोदरी का रावण को समझाना भी कहीं-कहीं अनौचित्य की सीमा तक पहुँच गया है। यथा—

बान - प्रतापु जानु मारीचा ; तासु कहा नहिँ मान्यो नीचा।
निकट काल जेहि आवत साईं ; तेहि भ्रम होय तुम्हारिहिँ नाईं।

ऐसे वाक्य कदाचित् कोई भी अच्छी स्त्री अपने पति से नही कह सकती।

फिर मंदोदरी का रावण के मरने पर विलाप भी इन्होंने बिगाड़ दिया है—

राम - बिमुख अस हाल तुम्हारा ; रहा न कुल कोउ रावनहारा।
अब तव सिर - भुज जंबुक खाहीं ; राम - बिमुख यह अनुचित नाहीं।

अहह नाथ ! रघुनाथ-सम कृपा-सिंधु को आन ;
मुनि दुरलभ जो परम गति तुम्ह दीन्हि भगवान।

ऐसे-ऐसे वाक्य मंदोदरी के मुख से कदापि नहीं निकल सकते थे। हमे आश्चर्य होता है कि गोस्वामीजी सरीखे सत्कवि की लेखनी से ये वाक्य इस तरह कैसे निकले! अवश्य ही उनकी अपार भक्ति ने ही कहीं-कहीं ऐसी त्रुटियाँ करा दी हैं, और प्रायः रचना को सर्वोत्कृष्ट भी कर दिया है। गोस्वामीजी की अलौकिक भक्ति के कारण जैसे उनकी लेखनी से ऐसे-ऐसे उत्तम वर्णन निकले हैं, जिनके सामने संसार की किसी भी भाषा के ऐसे परमोत्कृष्ट वर्णन तक शायद फीके जँचने लगेंगे, वैसे ही वही अनन्य भक्ति, इनसे बेमौक़े भी सभी जगह, रामचंद्र की प्रशंसा कराए विना नहीं छोड़ती। जो बातें इन्होंने मंदोदरी के मुख से कहाईं, उन्हें यदि यह स्वयं कह देते, तो कोई बात न थी।

उत्तर-कांड

(१५) इसमें राजगद्दी के पश्चात् और काकभुशुंड की कथा के पूर्व जो कथांश है, वह रुचिकर नहीं जँचता। भुशुंडि की कथा आरंभ होने के पीछे का भाग नायक-हीन न समझना चाहिए। यद्यपि उसमें स्वयं राम की कथा नहीं कही -

गई, तथापि प्रधानता प्रत्येक छंद में राम ही की है। यह भाग रामायण का परिशिष्ट समझना चाहिए। जैसे आरंभ मे वंदनामयी भूमिका है, वैसे ही अंत में यह भाग जानना चाहिए। ज्ञान - दीपकवाला वर्णन पहले कुछ बुरा-सा प्रतीत होता है, पर अंत में इस झगड़े का दोषोद्धार कर दिया गया है, और गोस्वामीजी के मत का गीता से कोई वास्तविक विरोध नहीं रह गया है।

(१६) गोस्वामीजी को वेद का प्रमाण प्राय: सभी जगह दे देना अच्छा लगता है, चाहे वह बात वेद मे हो, या न हो। यथा—

त्रिबिध समीर, सुसीतल छाया ; सिव-बिसराम-बिटप स्त्रुति गाया।
उपरोहित जेवनार बनाई ; छ रस चारि बिधि जस स्त्रुति गाई।
अवधपुरी रघुकुल - मनि राऊ ; बेद - बिदित तेहि दसरथ नाऊ।
तात तुम्हार बिमल जस गाई ; पाइहि लोकहु बेद बड़ाई।

यहाँ सारे वैदिक साहित्य को वेद मान लेने से दोष-शांति शायद हो सकती हो।

गोस्वामीजी के मत

(१) तुलसीदास का मत था कि कविता टेढ़ी एवं निद्य है, पर यदि उसमें राम-कथा गाई जाय, तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है। इसी कारण यह नर-काव्य के विरोधी थे। यथा—

भगत हेतु बिधि - भवन बिहाई ; सुमिरत सारद आवात धाई।
रामचरित - सर बिनु अन्हवाए ; सो स्त्रम जाय न कोटि उपाए।
कीन्हे प्राकृतजन - गुन - गाना ; सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी ; गावहिँ हरि - गुन कलि-मलहारी।
भनित बिचित्र, सुकबि-कृत जोऊ ; राम - नाम बिन सोह न सोऊ।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी ; राम - कथा मुद - मंगल - करनी।

इन्हीं कारणों से गोस्वामीजी ने कभी नर - काव्य नहीं किया, यदि कभी दो पंक्तियाँ लिख दी, तो वह केवल मित्रता-वश टोडर-नामक एक भाग्यशाली व्यक्ति के विषय मे ही, किंतु टोडर भी राम-भक्त था, और उसके विषय के केवल चार दोहों में भी महात्माजी ने दो बार राम - नाम लाकर रख ही तो दिया—

चारि गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप ;
तुलसी या संसार में अथयो टोडर - दीप ॥ १ ॥
तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भारु ;
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतारु ॥ २ ॥

तुलसी-उर थाला बिमल, टोडर-गुन-गन बाग ;
ये दोउ नैननि सींचिहौं समुझि-समुझि अनुराग ॥ ३ ॥
राम-धाम टोडर गए, तुलसी भए असोच,
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच ॥ ४ ॥

धन्य टोडर ! तुम्हारे लिये हिंदी के सूर्य स्वयं महात्मा तुलसीदास ने अपना दृढ़ सिद्धांत छोड़कर नर-काव्य किया ! धन्य !

(२) इनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात इनके देखने और मनन करने से नहीं छूटती थी। सास का महादेव के पैरों पर पड़ जाना, पार्वती का बिदा के समय अपनी माता को दुबारा लिपटकर रोना, कौशल्या के दौड़ने पर बालक रामचंद्र का 'ठुमुकि-ठुमुकि' भागना और दूध-भात मुँह में लगाए दशरथ के चौके से 'किलकात' भाग चलना, 'टिट्टिभ खग' का 'उताने' सोना, जुर्रा की 'कुलह' छूटनी, 'पय-फेनु' से 'पवि टाँकी' फूटना, रावण द्वारा विभीषण को "होहि जव कर कीट अभागा" कहा जाना, 'नौकारूढ' मनुष्य को संसार चलता हुआ दिखाई देना, गरुड़ का प्रसन्नता में 'पंख फुलाना' और स्त्रियों का दीपक को 'अंचल' से बुझाना इत्यादि इसके उदाहरण है।

(३) यह महानुभाव लोगों का वार्तालाप बड़ी ही उत्तमता से वर्णन करते हैं। भरद्वाज और याज्ञवल्क्य, सप्तर्षि और गौरी (यह वार्ता ऐसी है, जो पुरुषों और स्त्रियों के बीच ही हो सकती है), ब्रह्मा और शिव (विवाह-विषयक), दशरथ और वशिष्ठ (रामाभिषेक-विषयक), कैकेयी और मंथरा, दशरथ और कैकेयी, राम और सुमंत, राम और सीता (वन-गमन-विषयक), भरत और वशिष्ठ, भरत और राम (वन में) इत्यादि के संवाद बहुत ही अच्छे ढंग से लिखे गए है। अन्य लोगों की आपस में बातचीत एवं ऊपर लिखी हुई वार्ताएँ ऐसी अच्छी है कि उनकी जोड़ी हिंदी-साहित्य में तो है ही नहीं, शायद और किसी भाषा में भी नहीं मिलेगी।

(४) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिये उपनायकों की त्रुटियाँ ख़ूब ही दिखला देते है। सती मोह में लक्ष्मण की अज्ञता, राम-विवाह की श्रेष्ठता के लिये शिव-विवाह की त्रुटियाँ, रामचंद्र की योग्यता और शूरता दिखाने को लक्ष्मण एवं सब सेना का रावणादि की माया को न समझ सकना आदि इस बात के उदाहरण हैं।

(५) तुलसीदास बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुंदर रूपक कह सकते थे। इन्होंने बहुत-से परमोत्कृष्ट साग रूपक भी कहे हैं। यथा—वंदना में मानस का रूपक, धनुष-यज्ञ में चाप-जहाज़ एवं राम-सूर्यवाले रूपक (बाल-कांड), कैकेयी

का नदीवाला रूपक (अयोध्या-काड), भरत का नदीवाला रूपक (चित्रकूट पर श्रीराम से मिलने मे), वसंत-ऋतु का फ़ौज की चढ़ाईवाला रूपक (अरण्य-काड), रामचंद्र के गुणों का रथवाला रूपक (लंका-कांड), रावण के युद्ध में सेना का वर्षा ऋतुवाला रूपक (लंका-कांड), राम-प्रताप का सूर्यवाला रूपक (उत्तर काड), ज्ञान-दीपकवाला प्रसिद्ध रूपक एवं विनय-पत्रिका के बहुतेरे रूपक। और भी बहुतेरे रूपक है।

(६) इन्होंने श्रीरामचंद्र के न-जाने कितने 'नख शिख' कहे हैं, और वे एक-से-एक बढ़िया हैं।

(७) गोस्वामीजी की उमंग (Enthusiasm) बड़ी ही प्रबल थी। रामचद्र के विषय मे जो कोई भूलकर भी कभी अनुचित बात का संदेह तक कर दे, उसको पूर्ण रूप से फटकारे विना यह नहीं मानते।

पार्वती ने कही पूछ दिया कि रामचंद्र परब्रह्म ज्योति:स्वरूप ही थे, या कोई और ? इतने ही पर शिव ने उन्हे इतना फटकारा कि बस, हद कर दी ! "एक बात नहिँ मोहिँ सोहानी" इत्यादि देखिए।

केवट द्वारा श्रीराम के चरण धोए जाने मे यह क्या ही विमल पड़े—

अति आनंद उमँग अनुरागा, चरन-सरोज पखारन लागा।

यदि कोई अन्य व्यक्ति—मित्र हो या शत्रु—श्रीराम से मिलने चलता था, तो भी यह अपनी उमंग में आकर उसे राम-दरश-लालसा-उछाह में उन्मत्त-सा कर देते थे। यथा—सुतीक्ष्ण, विश्वामित्र, मारीच, विभीषण एवं कुंभकर्ण के उत्साह। इसी कारण इनका जो मत था, उसे यह बार-बार लिखते थे। जिसकी प्रशंसा करते, उसे सातवे आसमान पर चढ़ा देते थे, और जिसकी निंदा करने लगते, उसे पाताल तक पहुँचा दिए विना न मानते थे। योगी, यती, तपी, विज्ञानी आदि के विषय मे इन्होने क्या ही ज़ोरों पर लिखा है कि ये सब—

तरैं न बिनु सेए मम स्वामी; राम, नमामि नमामि नमामी।

मानो श्रीराम "बिला शिरकत ग़ैरे व बिला मुज़ाहिमत दीगरे" केवल इन्हीं के स्वामी थे। ये सब बातें इनकी प्रबल उमंग के प्रमाण हैं।

(८) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी पसंद न थी, तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को इन्होंने जगह दे ही दी है। नारद-मोह-वर्णन मे गुप्त हँसी की मात्रा विशेष पाई जाती है। यथा—

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद, सुनहु तुम्हार;
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृखा हमार।

नारद से हर के गणों ने कहा—

रीझिहि राजकुँवरि छबि देखी ; इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी।

रामचंद्र का वचन केवट से—

सोइ करउ, जेहि नाव न जाई।

लक्ष्मण का शूर्पणखा से कहना—

प्रभु समरथ कोसलपुर-राजा ; जो कछु करइँ उनहिँ सब छाजा।
जो जेहि मत भावै, सो लेहीं ; मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।

सप्तर्षियों ने पार्वती से कहा—

गिरि-संभव तव देह—

महादेव की बरात में विष्णु ने कहा—

बिलग-बिलग ह्वै चलहु सब निज-निज सहित समाज।

(९) इन महात्मा के सैकड़ों ही पद कहावत के रूप में भी प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण देना व्यर्थ है, क्योंकि थोड़ी भी रामायण पढ़ने से सभी जगह इसके दस-पाँच प्रमाण मिल सकते है।

(१०) गोस्वामीजी ने कई प्रकार की भाषाओं में सफलता-पूर्वक कविता की है। प्रथम तो इन्होंने संस्कृत मे भी श्लोक बनाए। इनके श्लोक बड़े ही रुचिर हैं, और हिंदी जाननेवाले भी उन्हें अधिकांश समझ सकते हैं। इन श्लोकों में गोस्वामीजी ने विशेषणों का अच्छा प्रयोग किया है। विद्वानों का मत है कि ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे। यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं कई स्थानों पर व्याकरण की अशुद्धियाँ आ जाने से ठीक प्रतीत होती है—

सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।

इस पद को थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाला भी बना सकता था। गोस्वामीजी के अधिकांश श्लोक ऐसे ही हैं।

रामचरित-मानस में इन्होंने थोड़े-से छंदों को छोड़कर बैसवाड़ी और अवधी-भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा कथा-प्रासंगिक ग्रंथों की भाषा हो गई है। इसी का प्रयोग अपने छोटे छंदोंवाले अन्य ग्रंथों मे इन्होंने किया है, परंतु कविता-वली, हनुमान् बाहुक एवं संकटमोचन में इसके साथ ब्रजभाषा का भी मेल कर दिया है। गीतावली-रामायण और कृष्ण-गीतावली मे शुद्ध ब्रजभाषा ही काम में लाई गई है। विनय-पत्रिका में उपर्युक्त सभी को लेकर उनमें संस्कृतवत् भाषा का भी मिश्रण कर दिया गया है। इतनी भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं में ऐसी उत्कृष्ट रचना करनी इन्हीं महाराज का काम था। तभी तो दासजी ने कहा है—

तुलसी, गंग दुवौ भए सुकबिन के सरदार;
इनके काव्यन मैं मिली भाषा बिबिध प्रकार।

हिंदी-साहित्य में विविध भाषाओं का सफल प्रयोग करनेवाला ऐसा भारी आचार्य दूसरा नहीं हुआ।

(११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई इन महाकवि से सीख ले। यथा—

सिवहिँ बिलोकि ससंक्यो मारू।
रुद्रहिँ देखि मदन भय माना; दुराधर्ष, दुर्गम, भगवाना।
बिकसे सरनि बहु कंज, गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।

इसमे भौंरो की गुंजार शब्दो ही में सुन लीजिए।

सीता-स्वयंवर मे—

सिमिटे सुभट एक-ते-एका।

इसी प्रकार 'पतियानि', 'दलकि उठी', 'धुआँ देखि खर-दूषन केरा' आदि हैं।

(१२) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नही देते थे, उसका स्वल्प प्रयोग ही करते थे। इन्होने यमक का बहुत कम प्रयोग किया है। इनकी भाषा मे बाह्याडंबर नही होता था। फिर भी वह बहुत ही सराहनीय है।

(१३) इन्होंने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और ठेठ ग्राम्य भाषाओं तक के शब्द इनकी रचना में बहुत-से पाए जाते है, परंतु ग्राम्य शब्दों का व्यवहार इन्होंने ऐसी योग्यता से किया है कि उन प्रयोगों से इनकी भाषा की रोचकता और भी बढ़ गई है। हम इनके ग्रंथों से कुछ असाधारण शब्द नीचे देते हैं। विस्तार-भय से वे छंद या पद नहीं दिए जा सकते, जिनमें इनका प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के सामने कोष्ठक में नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में जून, सन् १८६१ ई०, की मुद्रित पुस्तक की पृष्ठ-संख्या दी हुई है—

भुइँ (१६६), कोहाब (१७२), माहुर (४), गनी (१५), गरीब (१५), गरीबनेवाजू (गयउ बहोरि गरीबनेवाजू), साहेब (सरल सबल साहेब रघुराजू), गाई (१६), बाउ (बाउ कृपा-मूरति अनुकूला), अवडेरि (२६), मरायल (३६), खटाहिँ (३६), दुइ, भीतर, अयं (३८), सुनखत (४१), जिनिसि, सुअर, सयाने (४२), जहिया-तहिया (६०), चौपट (७६), झँगुलिया, हलरावैं (८७), जानबी (१४५), बाट परै (१९८), कठौता (१९९), देवा,

लेबा (१६६), कतहुँ, ठाहर, ठाढ़ (२१०), साउजु (२११), मुठभेरी (२१०), बेहड़ (२१२), बिढ़ाइ (२२१), थन (२२४), डोरिआए (२३७), बारहबाट (२२४), बियानी (न तरु बाँझ भलि बादि बियानो), ढरके, खँभारू (२४६), पनही (२४६), गुदरत, गाँड़र (२५१), नेवाजा, बेहू (२५६), कुटीर (२८२), अक्सर (३०५), डाबर (३२७), निरावहिं (३२८), उबरिहसि (३५६), ठकुरसोहाती (३६६), घायल (४६६), फराक (४६७), हरहाई (५०१), पन्हाई (५३८), भटभेरे (५४१), गरिसा, डहरुआ, नहरुआ (५४२) इत्यादि।

(१४) गोस्वामीजी उमंग या हर्ष के समय अक्सर छंद लिखते थे, परंतु इनके छंद प्रायः दोहे-चौपाइयो से शिथिल है। कुछ छंद मनोहर भी हैं। जब यह उमंग में आकर छंद लिखते है, तो बहुधा उस दोहे या चौपाई का अंतिम शब्द, जिसके बाद छंद होता है, छंद के आदि मे लिख देते है। यह बिनती, युद्ध, विवाह, उत्सव आदि की कथा मे प्राय. छंद लिखते थे। अयोध्या-काड में इन बातो का अभाव-सा है, अतः उसमे छंद भी बहुत ही कम है। लंका-काड और बाल-कांड मे छंद बहुत है। उत्तर-काड और अरण्य-काड मे भी स्तुति-विषयक छंद विशेषता से है। इनसे प्रयोजन दोहा-चौपाई से इतर छदों का है।

(१५) महात्मा तुलसीदास सरीखे महाकवि के गुणो का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है। इनकी रचनाओ के प्रतिपृष्ठ, प्रतिपंक्ति, बल्कि प्रतिशब्द मे अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है। हम इनकी कविता मे ऊपर जो दो-चार त्रुटियाँ दिखला आए हैं, उन्हे पाठक केवल त्रुटि न समझ बैठें। वे वास्तव मे ऐसी नहीं है। यदि मान भी लिया जाय कि वे वास्तविक त्रुटियाँ हैं, तो भी हम बेखटके कह सकते है कि उनमे से अधिकांश एक प्रकार का गुण भी समझी जा सकती हैं। यदि वे गोस्वामीजी की रचना से अलग कर दी जायँ, तो कदाचित् उनकी ख्याति इतनी विस्तृत न रहे, जितनी इस समय है। हमने लक्ष्मण और परशुराम का एवं रावण तथा अंगद का संवाद दूषित बतलाया है, पर गोस्वामीजी के बहुतेरे पाठक इन्हीं संवादों को उत्कृष्ट समझते और प्रेम से पढ़ते हैं।

इन महानुभाव की कविता से यदि प्रशंसनीय अवतरण यहाँ दिए जाने लगे, तो इस ग्रंथ का आकार रामायण से शायद कुछ ही कम हो। अत. उनमे से थोड़े ही उदाहरण यहाँ पर दे देना हम उचित और यथेष्ट समझते हैं। हम इस पुस्तक में रामायण के प्रत्येक कांड एवं गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों पर अपनी सम्मति प्रथम लिख चुके हैं। उसमे उन सभो के अनेक गुण प्रदर्शित किए गए हैं। ऐसे

ही इनके पात्रों के शील - स्वभाव - वर्णन तथा कुछ अन्य प्रकरणों में भी इनकी कविता के गुण दिखाए जा चुके हैं । कुछ स्फुट गुण इस स्थान पर भी लिखे जाते हैं—

(१) मदन-दहन में—

तब सिव तीसर नैन उघारा ; चितवत काम भयो जरि छारा ।

में कितनी जल्दी जलना दिखलाया गया है ?

(२) जब यह पार्वती या सीता की सुंदरता का वर्णन करते हैं, तब साधारण स्त्रियों से उनका पार्थक्य दिखलाने को उनके विषय में 'जगदंबा', 'जगत-मातु' आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य कर देते है।

(३) स्वायंभुव मनु और शतरूपा रानी से यद्यपि भगवान् ने यहाँ तक कह दिया था कि—

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं ; मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं ।

तथापि मनुजी से किस संकोच के साथ वरदान मँगवाया गया है कि देखते ही बनता है।

(४) राजा भानुप्रताप ने जब कपटी मुनि की परीक्षा के लिये उससे अपना नाम पूछा, तब वह उनका और उनके पिता का नाम, जो उसे भली भाँति विदित थे, किस शीघ्रता से बताकर आगे बढ़ा, और—

गुरुप्रसाद सब जानिय राजा ; कहिय न आनहि जानि अकाजा ।

इत्यादि कहने लगा, जिसमें राजा को किसी अन्य अज्ञात विषय का प्रश्न करने को अवसर ही न मिले । इसी विचार से वह राजा को तुरंत वरदान देने को तैयार हो गया ।

(५) इसी कथा मे कपटी मुनि को भानुप्रताप की राजधानी में जाना अवश्य अभीष्ट था, और उधर एकांतवासी योगी बने रहने की भी प्रबल इच्छा वह प्रकट करना चाहता था, अतः राजा को, ख़ुशामद करके उसे अपने यहाँ बुला ले जाने को, बाध्य-सा करने के लिये उसने क्या ही युक्ति से कहा कि—

आजु लगे अरु जब ते भयऊँ ; काहू के गृह - ग्राम न गयऊँ
जो न जाउँ, तव होइ अकाजू ; बना आइ असमंजस आजू ।

(६) भानुप्रताप के सो जाने पर कालकेतु का आना एवं उसका कपटी मुनि से वार्तालाप बड़े ही मनोहर प्रकार से वर्णन किया गया है । उसमें नाटक का-सा आनंद (Dramatic effect) आता है । यह पूरा उपाख्यान वंदना एवं मदन-दहन की भाँति बड़ा ही उत्कृष्ट है ।

(७) जनकपुरी में विश्वामित्र और जनक की बातचीत हो चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी रामचंद्र को उस स्थान पर लाए । यदि श्रीराम पहले ही से वहाँ उपस्थित होते, तो गोस्वामीजी के हिसाब से इसमें उनकी कुछ हेठी अवश्य होती, कारण, जनक अवश्य ही पहले विश्वामित्र से वार्तालाप करते, और उनके सम्मानार्थ राम को उठना भी पड़ता ।

(८)—

स्याम - गौर किमि कहउँ बखानी ; गिरा अनैन, नैन बिनु बानी ।

इस छंद मे क्या ही बढिया भाव, कितने कम शब्दों में, व्यक्त किया गया है ! नंददास ने भी यही भाव कहा है ।

यथा—

नैनन के नहिँ बैन, बैन के नैन नहीं हैं ।

(९)—

लोचन-मगु रामहिँ उर आनी ; दीन्हेउ पलक - कपाट सयानी ।

इसमे क्या ही उत्कृष्ट भाव है ! फुलवारी के वर्णन मे इन महाकवि ने बहुत-से श्लाध्य भाव कहे है ; परंतु यहाँ हम स्थानाभाव से उन सबको नहीं दिखा सकते ।

(१०) मथरा और कैकेयी की वार्ता में दासी ने रानी की एक-एक बात का पूर्ण उत्तर प्राय: रानी के ही शब्दों मे दे दिया है ।

यथा—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे ।

का उत्तर—

गाल करब केहि कर बल पाई ।

दीन लखन सिख अस मन मोरे ।

का उत्तर—

कत सिख देइ हमहि कोउ माई ।

सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल ?

का उत्तर—

रामहिँ छाँड़ि कुसल को आजू ?

पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी ; तो गहि जीह कढ़ावहुँ तोरी ।

का उत्तर—

एकहि बार आस सब पूजी ; अब कछु कहब जीह करि दूजी ।

पुनः—

धरेउ मोर घर-फोरी नाऊँ।

काने, खोरे, कूबरे, कुटिल, कुचाली जानि,

तिय, बिसेख पुनि चेरि, कहि भरत-मातु मुसुकानि।

का उत्तर—

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा।

चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी?

(११)—

केकयसुता सुनत कटु बानी;

कहि न सकी कछु, सहमि सकानी।

तन पसेउ, कदलि जिमि काँपी।

इन थोड़े ही शब्दों मे बड़ा रोमाच-जनक भाव दिखलाया गया है।

(१२) गोस्वामीजी के वर्णन ऐसे पूर्ण होते है कि उनसे कथित विषय का चित्र ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है। यथा—

भूमि सयन, पट मोट, पुराना; दिए डारि तन भूषन नाना।

माथे हाथ, मूँदि दोउ लोचन; तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।

(१३)—

बहुरि बच्छ कहि, लाल कहि, रघुपति, रघुबर, तात;

कबहुँ बोलाइ, लगाइ उर, हरखि निरखिहौं गात।

इस दोहे मे कितना वात्सल्य-भाव भरा हुआ है?

(१४) भरत जब कौशल्या के पास गए, तो अपना दुख रोते हुए कौशल्या ने क्या ही अच्छा कहा है कि—

पितु आयसु भूषन-बसन तात तजेउ रघुबीर;

बिसमय, हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल-चीर।

इस दोहे की प्रशंसा हम कहाँ तक करें। इसकी छटा पूरा प्रसंग पढ़ने से जान पड़ती है।

(१५) भरत के वन जाते समय निषादपति की बातों में गँवारू शब्द क्या ही उत्तमता से रक्खे गए हैं। जैसी बातचीत उस श्रेणी के लोग करते हैं, उसका चित्र अंकित कर दिया गया है।

हथबासहु, बोरहु तरनि, कीज घाटारोहु।

बेगिहिँ भाय सजहु संजोऊ।

सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं ; माथा बाँधि चढ़ावहिँ धनुहीं।
अँगुरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं।

अयोध्या-कांड के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जाय। यदि इनका कथन किया जाय, या इसके चटकीले छंद उद्धृत किए जायँ, तो एक बड़ा ग्रंथ तैयार हो सकता है। गोस्वामीजी ने इसमें प्रेम, भक्ति, उत्साह, वर्णन-चातुरी आदि की परा काष्ठा कर दी है। करुण-रस का तो यह ख़ज़ाना है ही।

(१६) शूर्पणखा जब रावण के पास गई, तो गोस्वामीजी ने उसका क्रोध बढ़ाने के लिये उससे झूठ ही यह बात कहला दी—

तासु अनुज काटी स्रुति-नासा ; सुनि तव भगिनी करि परिहासा।

(१७) सुंदर-कांड में हनुमान् के सम्मुख सीता और रावण की बातचीत कराकर गोस्वामीजी ने यह प्रमाणित कर दिया कि सीता में किसी प्रकार का लांछन न था, और उनको रावण कितना तंग किया करता था। त्रिजटावाले संवाद से यह भी दिखा दिया कि वह राम के विरह में कितनी कातरा थीं?

(१८) लंका-कांड में युद्धारंभ के पूर्व क्या ही शांत तथा मनोहर दृश्य दिखलाए गए है! सुबेल-सैल, रात्रि-वर्णन, रावण के अखाड़े का दृश्य आदि देखिए। इनमें तूफ़ान से पहले की शांति का सा मज़ा मिलता है।

(१९) चंद्र-मंडल में स्थित कलंक के विषय मे प्रत्येक व्यक्ति ने मानो अपना ही हाल कह दिया। यथा—सुग्रीव राजा हुए थे, अतः उन्हे उसमे भूमि की छाया प्रतीत हुई। अंगद का राज्य छिन गया था, इस कारण उनको यह जान पड़ा कि ब्रह्मा ने चंद्रमा का सार-भाग हर लिया, अतः उसकी छाती में छेद हो गया। उधर विभीषण रावण की लात सह चुके थे, सो उन्हें यही जान पड़ा कि चंद्रमा को किसी ने मारा है, जिसकी श्यामता है। राम को भाइयों से बड़ा स्नेह था, तथा वह विरही थे, इसलिये उन्हे यह प्रतीत हुआ कि—

कह प्रभु, गरल बंधु ससि केरा ; अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा।
विष-सजुत कर-निकर पसारी ; जारत बिरहवंत नर-नारी।

तब हनुमान् अपना दास-भाव क्यों छोड़ने लगे? उन्होंने अंत में चट यही कह दिया—

कहेउ पवनसुत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास ;
तव मूरति तेहि उर बसति, सोइ स्यामता भास।

रामचंद्र ने अपने भाव से भी अधिक इस कथन का आदर किया।

(२०) लक्ष्मण के शक्ति लगने पर श्रीराम ने जो विलाप किया है, उसमें तीन बड़ी-बड़ी भूलें जान-बूझकर कराई गई हैं। एक यह कि—"मिलइ न जगत

सहोदर भ्राता", दूसरी—"निज जननी के एक कुमारा", तीसरी—"सौंपेउ मोहिँ तुमहिँ गहि पानी।" ये भूलें इस कारण कराई गई हैं कि गोस्वामीजी को रामचंद्र की व्याकुलता एवं शोक प्रदर्शित करना अभीष्ट था। इस बात को न विचारकर कुछ लोग इसमें सैकड़ों झगड़े पैदा करते और भूलें हटाने के विचार से भाँति-भाँति के अर्थ ला जोड़ते हैं। हमारी समझ में तो गोस्वामीजी ने ऐसी स्पष्ट भूलें दिखलाकर अपनी भारी कवित्व-शक्ति एवं मानुषी प्रकृति का अपार ज्ञान प्रदर्शित किया है। क्लिष्ट-कल्पनावाले अर्थ यहाँ पर लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। यह भी हम अवश्य कहेंगे कि वे अर्थ कदापि ठीक नहीं बैठते।

(२१) युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में कुंभकर्ण से विभीषण को मिलाना बहुत ही उचित हुआ है। विभीषण ने राम से अपने मिल जाने का कारण कहकर मानो बड़े भाई को अपनी सफ़ाई दी है। कुंभकर्ण का उत्तर कुछ अस्वाभाविक हो गया है।

(२२) तुलसीदास ने सीता-त्याग एवं लव-कुश की कथा जान-बूझकर इसलिये उड़ा दी कि उससे श्रीराम की निंदा हो सकती थी, और राम-सीता के ऐक्य भाव में भेद पड़ता।

(२३) गोस्वामीजी की उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ, दृष्टांतादि बड़े ही चुभते हुए हैं।

दलकि उठी सुनि बचन कठोरा ; जनु छुइ गयउ पाक बरतोरा।
देखि लाग मधु कुटिल किराती ; जनु गर्व तकइ, लेउँ केहि भाँती।

यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद ;
भूषन सजति बिलोकि मृग मनहुँ किरातिनि फंद।

किष्किंधा-कांड के अंतर्गत वर्षा एवं शरद् के वर्णन में बहुत ही अच्छी उत्प्रेक्षाएँ दी गई हैं। उनका उल्लेख यहाँ कहाँ तक करें।

(२४) राजा भानुप्रताप की कथा पर समालोचनात्मक विचार मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में हमने लिखे हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि मुसलमानों को शेख़ सादी और हिंदुओं को तुलसीदास ने बिगाड़ा, पर ऐसा कहना नितांत भ्रममूलक है। अवश्य ही कतिपय अवांछित बातों के भी समर्थन में कुछ प्रमाण गोस्वामीजी की रचनाओं से मिल जाते हैं, पर ऐसे प्रमाण बहुत ही कम पाए जायँगे। वास्तविक बुरे कामों का समर्थन तो इनके काव्य से हो ही नहीं सकता। गोस्वामीजी के विरुद्ध अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि इनके कतिपय वाक्य आलसी लोगों की अकर्मण्यता के सहायक हो सकते हैं। यथा—

होइहि सोइ, जो राम रचि राखा ; को करि तर्क बढ़ावइ साखा ?

पर जैसा हम इस विषय में ऊपर लिख आए है, इन्होंने वास्तव में अकर्मण्यता को सहारा कभी नहीं दिया। श्रीरामचंद्र के अनन्य भक्त होने पर भी जो महानुभाव ऐसा वाक्य कह सकते हैं कि—

कादर मन कर एक अधारा, दैव-दैव आलसी पुकारा।

उन्हें कोई निरुद्योग का सहायक कैसे मान सकता है? यो तो जैसे समुद्र में रत्न, मकर और विष, सभी होते हैं, वैसे ही इन महात्मा के काव्य-महासागर में भी दो-चार दोष यदि ढूँढने से कहीं निकल आवे, तो उसमे आश्चर्य ही क्या है? परंतु, वास्तव मे, इस समय हिंदू-जाति का वास्तविक अवलंब जितना तुलसी-कृत रामायण तथा उनके अन्य ग्रंथ हो रहे हैं, उतना सहारा आकाश-पाताल ढूँढने पर भी और कही नही मिल सकेगा। साधारण कवियो के गंदे और विषय-वासना-पूर्ण काव्य पढने से चाहे अच्छा भले ही क्यों न लगे, परंतु चित्त में विकार उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। मगर जितनी देर तक इन महात्मा के ग्रंथ-रत्नों का परिशीलन किया जाता है, उतने समय के लिये पाठक मानो इस संसार की तुच्छ बातो के परे होकर उच्च विचारो, उच्च कर्मों और उच्च अभिलाषाओ का पात्र बन जाता है। ऐसे कवि-कुल-चूडामणि पर उक्त प्रकार के लाछन लगाना कृतघ्नता की परा काष्ठा समझनी चाहिए। एक यह भी बात है कि तुलसीदास अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे, सो हिंदुओ मे उस काल जैसे विचार प्रचलित थे, उनकी छाया इनकी रचनाओ मे भी स्वाभाविक थी। इनका साहित्य उच्च हिंदू विचारो का दर्पण है। वास्तव मे हिंदू-समाज का पूर्ण संगठन उस काल जैसे विचारो से संभव था, वैसे ही आपने कहे है। हिंदू समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही वह आज है। इसमें इनका नहीं, वरन् पीछे के सुधारको का दोष है, जो अपने-अपने समयानुसार समाज को उन्नत न कर सके।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गोस्वामीजी की रचना कई प्रकार की हुई है। रामचरित-मानस, जानकी मंगल, कलि-धर्माधर्म-निरूपण एवं हनुमान्-चालीसा की शैली एक भाँति की है, तथा कवितावली, हनुमान् बाहुक और संकट मोचन की दूसरे प्रकार की। राम-गीतावली और कृष्ण गीतावली की तीसरी ही शैली है। दोहावली और सतसई चौथी रीति पर बनी है। विनय-पत्रिका का ढंग एक पाँचवें ही कैंडे का है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रथो म कविता-शैली बराबर बदलती गई है, पर उनकी विशेषता की छाप सब पर दूर से ही दृष्टिगोचर होती है। इनके जो विचार और सिद्धांत हैं, वे इनके सभी ग्रथों में, स्पष्ट रूप से, सौ-सौ, पचास-पचास बार दोहरा-दोहराकर, कई प्रकार से, कहे गए हैं। हमको

कई ग्रंथों के विषय में, जो इनके रचे प्रसिद्ध हैं, संदेह हुआ करता था कि शायद उन्हे किसी अन्य कवि अथवा कवियों ने इनके नाम से बना डाला हो इस कारण हमने अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथों को छोड़ और सभी पुस्तकों की जाँच बड़ी ही कड़ाई से की। अंत मे हमे अधिकांश के विषय में पूर्ण विश्वास हो गया कि वे अवश्य इन्हीं महात्मा तुलसीदास के रचे हुए हैं। यह हाल ब्योरेवार अन्यत्र लिखा जा चुका है।

निदान सब बातों पर विचार करने से विदित होता है कि इन महाकवि का काव्य हिंदी मे अद्वितीय है। यदि कोई भी हिंदी-कवि इनके समीप उपस्थित किया जा सकता है, तो वे महात्मा सूरदास और देव ही हो सकते हैं। यों तो हिंदी-साहित्य में नव-दस कवि ऐसे हैं, जिन्हें हम सर्वोच्च कक्षा (Reserved Class) मे रखते हैं; जैसे (१) तुलसीदास, (२) सूरदास, (३) देव, (४) बिहारी, (५) त्रिपाठी-बंधु भूषण और मतिराम, (६) केशवदास, (७) कबीरदास, (८) चंद और (९) हरिश्चंद्र; परंतु जैसे विष्णु भगवान् के दशावतारों में से राम और कृष्ण ही की पूर्ण महिमा है, वैसे हिंदी-साहित्य के इस 'नवरत्न' में से तुलसी-दास एवं सूरदास ही सूर्य और चंद्र की भाँति महिमा एवं कवित्व-शक्ति में सबसे बढ़े हुए देख पड़ेंगे। इन दोनो में भी अब हम तुलसीदास को ही प्रथम स्थान देते हैं। अधिक क्या कहे, हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास से बढ़कर कोई कवि, हमारी जानकारी में, कभी, किसी भी भाषा में, संसार-भर में, कहीं नहीं हुआ। इनमे एक तो कोई दोष है ही नहीं और जो दो-चार हैं भी, वे एक प्रकार से गुण ही कहे जा सकते है। जब तक हिंदू-जाति पृथ्वी-मंडल पर वर्तमान है, तब तक महात्मा तुलसीदास का नाम सदा अमर रहेगा। इनकी रचना तथा भक्ति से चरित्र को शुद्धि जितनी हो सकती है, उतनी अन्य कवि की कविता से होनी कठिन है। गोस्वामीजी की रचना के उदाहरण कुछ विस्तार के साथ आगे दिए जाते हैं।

उदाहरण—

मंगल-करनि, कलि-मल-हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की;
गति कूर-कविता-सरित की ज्यों परम पावन पाथ की।
प्रभु सुजस संगति भनित भलि होइहि सुजन-मनभावनी;
भव भूति अंग मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥ १॥

गीतावली

आइ रहे जब ते दोउ भाई।
तब से चित्रकूट-कानन-छबि दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई।

सीता-राम-लखन-पद-अंकित अवनि सुहावनि, बरनि न जाई ;
मंदाकिनि मज्जत, अवलोकत त्रिबिध पाप, त्रयताप नसाई ।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई ;
फूलत, फलत, पल्लवित, पलुहत बिटप-बेलि अभिमत सुखदाई ।
सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई ,
कूजत बिहँग, मंजु, गुंजति अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाइ ॥ १ ॥

कृष्ण-गीतावली

कोउ सखि नई चाह सुनि आई ।
यह ब्रज - भूमि सकल सुरपति सो मदन मिलिक करि पाई ।
घन धावन, बग पाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सोहाई ;
बोलत पिक नकीब गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई ।
चातक, मोर, चकोर, मधुप, सुक, सुमन, समीर सुहाई ;
चाहत कियौ बास बृंदाबन, बिधि सो कछु न बसाई ।
सींव न चापि सको कोउ तब, जब हुते स्याम दोउ भाई ;
अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करहि ठकुराई ॥ १ ॥

दोहावली

बरषा - ऋतु रघुपति - भगति, तुलसी सालि सुदास ,
राम - नाम बर बरन जुग सावन - भादौं - मास ॥ १ ॥
राम - नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ;
जापक जन प्रहलाद जिमि पालहिँ दलि सुर साल ॥ २ ॥
रसना साँपिन, बदन बिल, जो न जपहिँ हरि-नाम ,
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ॥ ३ ॥
तुलसी जो पै राम सों नाहिन सहज सनेह ;
मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥ ४ ॥
सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ;
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥ ५ ॥
दीप - सिखा - सम जुवति - तन, मन, जनि होसि पतंग ;
भजहि राम तजि काम, मद, करहि सदा सतसंग ॥ ६ ॥
ताहि कि संपति सकुन सुभ, सपनेहु मन बिसराम ;
भूत - द्रोह - रत, मोह - बस, राम - बिमुख, रत काम ॥ ७ ॥

नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल;
कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल ॥ ८ ॥
होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम;
होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक मे धूम ॥ ६ ॥
बरखि बिस्व हरखित करत, हरत ताप, अघ प्यास;
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥ १० ॥
सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति;
तुलसी तापर चाहिए कीरति, बिजय, बिभूति ॥ ११ ॥
लोक-रीति फूटी सहै, आँजी सहै न कोइ;
तुलसी जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ॥ १२ ॥
सचिव, बैद, गुरु तीन जहँ प्रिय बोलहिं भय-आस;
राज, देह अरु धरम को होय बेगि ही नास ॥ १३ ॥
सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि;
ते नर पामर पापमय, तिन्हैं बिलोकत हानि ॥ १४ ॥

कवित्त-रामायण

अवधेस के द्वार सकार गई सुत गोद मै भूपति लै निकसे;
अवलोकिहौ सोच-बिमोचन को ठगि-सी रहि, जे न ठगे, धिक-से।
तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन-जातिक-से;
सजनी ससि मै समसील उभै नव-नील सरोरुह-से बिकसे ॥ १ ॥
पग नूपुर औ, पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए;
नवनील कलेवर, पीत भँगा, झलकैं, पुलकै नृप गोद लिए।
अरबिंद-सो आनन, रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिए;
मन मे न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए ॥ २ ॥
तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं ॥ ३ ॥
रावरे दोषु न पाँयन को, पग-धूरि की भूरि प्रभाउ महा है;
पाहन ते बरु बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पाँव पखारिकै नाव चढाइहौं, आयसु होत कहा है?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥ ४ ॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल - जाल मनो
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है,
कैधों ब्योम - बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर - रस बीर तरवारि - सी उघारी है।
तुलसी सुरेस - चाप, कैधों दामिनी - कलाप,
कैधों चली मेरु ते कृसानु - सरि भारी है;
देखे जातुधान जातु - धानी अकुलानी कहैं,
कानन उजारयो अब नगर पजारी है॥ ५॥

कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाबिष, ब्याधि, दवा अति घेरे;
संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे।
राखि है राम कृपालु, तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जिहि केरे;
नाक, रसातल, भूतल मे रघुनायक एक सहायक मेरे॥ ६॥

लागि दवारि पहारि ढही, लहकी कपि लक यथा खर-खोकी;
चारु चुआ चहुँ ओर चली, लपटै झपटैं सो तमीचर तोकी।
क्यों कहि जात महासुखमा, उपमा तकि ताकत है कबि कोकी;
मानो लसी तुलसी हनुमान-हिए जग जीति जराय की चोकी॥ ७॥

विनय-पत्रिका

मेरो मन हरिजू, हठ न तजै।
निसि - दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै;
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै।
लोलुप भ्रम गृह-पसु ज्यों जहँ - तहँ, सिर पदत्रान बजै;
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहुँ न मूढ लजै।
हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै!
तुलसिदास बस होइ तबहिँ, जब प्रेरक प्रभु बरजै॥ १॥

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसन की।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की;
नहिँ तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की।
ज्यों गच काँच बिलोकि स्वान जड़ छाँह आपने तन की;
टूटत अति आतुर अहार - बस, छति बिसारि आनन की।

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की ,
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥ २ ॥

अबलौं नसानी, अब ना नसैहौं ।
राम - कृपा भव - निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ,
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित - कंचनहिं कसैहौं ।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निजबस ह्वै न हँसैहौं ;
यह मन - मधुकर पन करि तुलसी, प्रभु - पद - कमल बसैहौं ॥ ३ ॥

केसव, कहि न जाय, का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मन - हि - मन रहिए ।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ;
धोए मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे ।
रबिकर नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माही ;
बदन - हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाही ।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ;
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥ ४ ॥

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
सो छाँड़िए कोटि बैरी - सम, जद्यपि परमसनेही ।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ;
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भे सब मंगल - कारी ।
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ;
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ।
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ;
जासों होइ सनेह राम - पद, एतो मतो हमारो ॥ ५ ॥

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरि - पद भजु, कर्म, बचन अरु ही ते ।
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते ;
हम-हम करि धन - धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ।
सुत - बनितादि जानि स्वारथ - रत, न करु नेह सब ही ते ;
अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर, तू न तजु अब ही ते ।
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ;
बुझै न काम - अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते ॥ ६ ॥

ऐसेहि जनम-समूह-सिराने ।
प्राननाथ रघुपति - से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ।
जे जड जीव, कुटिल, कायर, खल, केवल कलि - मल - साने ;
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि ते अधिक करि माने ।
सुख - हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने,
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ।
यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने ;
तुलसी चित चिता न मिटै बिनु चितामनि पहिचाने ॥ ७ ॥

हनुमान्-बाहुक

स्वर्ण-सैल-संकास, कोटिरबितरुन तेज घन ;
उर बिसाल, भुजदंड चंड, नख बज्र, बज्र तन ।
पिंग नयन, भ्रुकुटी कराल, रसना दसनानन ;
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल-बल-भानन ।
कह तुलसिदास बस जासु उर मारुत-सुत-मूरति बिकट,
संताप, पाप तिहि पुरुष के सपनेहुँ नहिं आवत निकट ॥ १ ॥
सिंधु तरे, बड़े बीर दले, खलजाल है लंक-से बंक मवासे ;
तैं रन केहरि केहरि के बिदले अरि कुंजर छैल छवा-से ।
तोसो समत्थ सुसाहिब सेइ सहै तुलसी दुख दोष दवा-से ;
बानर-बाज बढे खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा-से ॥ २ ॥

हनुमान्-अष्टक

रावन जुद्ध अजान कियो, तब नाग कि पास सबै सिर डारो ;
श्रीरघुनाथ - समेत सबै दल मोहे, भयो तब संकट भारो ।
आनि खगेस तबै हनुमानजू बंधन काटि कुत्रास निवारो ;
को नहिं जानत है जग मे, प्रभु संकट-मोचन नाम तुम्हारो ॥ १ ॥

राम-चरित-मानस (रामायण)

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ;
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ १ ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ;
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ २ ॥
कुंद-इंदु-सम देह, उमा-रमन करुना-अयन ;
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन-मयन ॥ ३ ॥

बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि ;
महामोह-तम-पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर ॥ ४ ॥

बंदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा ; सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।
अमिअमूरिमय चूरन चारू ; समन सकल भव - रुज - परिवारू ।
सुकृत संभुतन बिमल बिभूती ; मंजुल मंगल - मोद - प्रसूती ।
जन - मन मंजु मुकुर मल - हरनी ; किए तिलक गुन - गन - बस - करनी ।
श्रीगुरु-पद - नख - मनि-गन-जोती ; सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।
दलन मोह - तम सोसुप्रकासू ; बड़े भाग उर आवइँ जासू ।
उघरहिँ बिमल बिलोचन ही के ; मिटहिँ दोष - दुख भव - रजनी के ।
सूझहिँ राम-चरित-मनि-मानिक ; गुपित प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ।

जथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान ;
कौतुक देखहिँ सैल बन, भूतल भूरि निधान ।

गुरु - पद - रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन-अमिय - दृग-दोष - बिभंजन ।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन ; बरनउँ राम - चरित भव - मोचन ।
बंदउँ प्रथम महीसुर - चरना ; मोह - जनित संसय सब हरना ।
सुजन - समाज सकल गुन - खानी ; करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।
साधु - चरित सुभ सरिस कपासू , निरस, बिसद, गुनमय फल जासू ।
जो सहि दुख पर - छिद्र दुरावा ; बंदनीय जेहि जग जसु पावा ।
मुद - मंगलमय संत - समाजू ; जो जग जंगम तीरथ - राजू ।
राम - भगति जहँ सुर-सरि-धारा ; सरसइ ब्रह्म - बिचार - प्रचारा ।
बिधि - निषेधमय कलि-मल-हरनी ; करम - कथा रबि - नंदिनि बरनी ।
हरि-हर - कथा बिराजति बेनी ; सुनत सकल मुद - मंगल देनी ।
बट-बिस्वासु अचल निज धर्मा ; तीरथराज समाज सुकर्मा ।
सबहिँ सुलभ सब दिन सब देसा ; सेवत सादर समन कलेसा ।
अकथ, अलौकिक तीरथराऊ ; देइ सद्य फल प्रगट - प्रभाऊ ।

सुनि समुझहिँ जन मुदित मन, मज्जहिँ अति अनुराग ;
लहहिँ चारि फल अछत - तनु साधु - समाज प्रयाग ।

बालमीकि, नारद घटजोनी ; निज - निज मुखनि कही निज होनी ।
जलचर, थलचर, नभचर नाना ; जे जड़ - चेतन जीव जहाना ।
मति, कीरति, गति, भूति भलाई ; जब जेहि जतन, जहाँ जेहि पाई ।
सो जानब सतसग - प्रभाऊ ; लोकहु - बेद न आन उपाऊ ।
बिनु सतसंग बिबेक न होई ; राम - कृपा बिनु सुलभ न सोई ।

सतसंगति मुद - मंगल मूला ; सोइ फल सिधि, सब साधन फूला।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई ; पारस परसि कुधातु सोहाई।
बिधि-बस सुजन कुसंगति परही ; फनि-मनि-सम निज गुन अनुसरही।
बिधि हरि-हर-कबि-कोबिद - बानी ; कहत साधु - महिमा सकुचानी।
सो मोसन कहि जात न कैसे ; साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे।

बंदउँ संत समान चित, हित-अनहित नहिं कोउ,
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ।
संत सरल-चित जगत-हित जानि सुभाव सनेहु,
बाल-बिनय सुनि, करि कृपा राम-चरन-रति देहु।

बहुरि बंदि खलगन सतिभाए ; जे बिन काज दाहिनेहु बाँए।
पर-हित-हानि-लाभ जिन्ह केरे ; उजरे हरष, बिषाद बसेरे।
हरि-हर - जस - राकेस - राहु - से ; पर - अकाज भट सहसबाहु - से।
जे पर - दोष लखहिं सहसाखी ; पर - हित घृत जिनके मन माखी।
तेज कृसानु, रोष महिषेसा ; अघ-अवगुन - धन - धनी धनेसा।
उदय केतु-सम हित सब ही के ; कुंभकरन - सम सोवत नीके।
पर-अकाजु लगि तनु परिहरही , जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं।
बंदउँ खल, जस सेष सरोषा ; सहसबदन बरनइ पर-दोषा।
पुनि प्रनवउँ पृथुराज - समाना ; पर-अघ सुनइ सहसदस काना।
बहुरि सक्र-सम बिनवउँ तेही ; संतत सुरानीक हित जेही।
बचन-बज्र जेहि सदा पियारा ; सहस - नयन पर - दोष निहारा।

उदासीन-अरि-मीत-हित, सुनत जरहिं खल रीति ;
जानु पानि जुग जोरि जन, बिनती करउँ सप्रीति।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा ; तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा।
बायस पलिअहि अति अनुरागा ; होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।
बंदउँ संत - असज्जन - चरना ; दुख - प्रद उभय, बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ; मिलत एक दारुन दुख देहीं।
उपजहिं एक संग जल माहीं ; जलज, जोक जिमि, गुन बिलगाहीं।
सुधा-सुरा - सम साधु - असाधू ; जनक एक जग जलधि अगाधू।
भल, अनभल निज-निज करतूती ; लहत सुजस, अपलोक बिभूती।
सुधा, सुधाकर, सुरसरि साधू ; गरल, अनल, कलिमल, सरि, ब्याधू।
गुन-अवगुन जानत सब कोई ; जो जेहि भाव, नीक तेहि सोई।

भलो भलाई पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ;
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु ।

खल अघ अगुन, साधु गुन गाहा ; उभय अपार उदधि अवगाहा ।
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने ; संग्रह - त्याग न बिनु पहिचाने ।
भलेउ पोच सब बिधि उपजाए ; गनि गुन - दोष बेद बिलगाए ।
कहहिं बेद, इतिहास, पुराना ; बिधि - प्रपंच गुन-अवगुन-साना ।
दुख-सुख, पाप-पुन्य, दिन-राती ; साधु - असाधु, सुजाति - कुजाती ।
दानव - देव, ऊँच अरु नीचू ; अमिय सजीवनि, माहुर मीचू ।
माया - ब्रह्म, जीव - जगदीसा ; लच्छि अलच्छि - रंक - अवनीसा ।
कासी - मग, सुरसरि - क्रमनासा ; मरु, मालव, महिदेव, गवासा ।
सरग - नरक, अनुराग - बिरागा ; निगम - अगम - गुन - दोष - बिभागा ।

जड़ - चेतन गुन - दोषमय बिस्व कीन्ह करतार,
संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि - बिकार ।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू ; मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ।
लखि सुबेष जग - बंचक जेऊ ; बेष - प्रताप पूजिअहि तेऊ ।
उघरहिं अंत, न होइ निबाहू ; कालनेमि जिमि रावन राहू ।
कियहु कुबेषु साधु - सनमानू ; जिमि जग जामवंत, हनुमानू ।
हानि कुसंग, सुसंगति लाहू ; लोकहु बेद बिदित सब काहू ।
गगन चढ़इ रज पवन - प्रसंगा, कीचहि मिलइ नीच जल संगा ।
साधु - असाधु - सदन सुक-सारी ; सुमिरहिं राम, देहिं गनि गारी ।
धूम कुसंगति कारिख होई ; लिखिय पुरान मंजु मसि सोई ।
सोइ जल - अनल-अनिल - संघाता ; होइ जलद जग - जीवन - दाता ।

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग, सुजोग ;
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ।
सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम-भेद बिधि कीन्ह ;
ससि-पोषक, सोषक समुझि जग जस-अपजस दीन्ह ।

सीय-राममय सब जग जानी ; करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।
जानि कृपा करि किंकर मोहू ; सब मिलि करहु, छाँड़ि छल - छोहू ।
निज बुधि-बल-भरोस मोहिं नाहीं, ताते बिनय करउँ सब पाहीं ।
करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा, लघु मति मोरि, चरित अवगाहा ।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ, मन मति रंक, मनोरथ राऊ ।

मति अति नीचि, ऊँचि रुचि आछी, चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी।
छमिहहिँ सज्जन मोरि ढिठाई; सुनिहहिँ बालबचन मन लाई।

भनित मोरि सब गुन-रहित, बिस्व-बिदित गुन एक;
सो बिचारि सुनिहहिँ सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक।

यहि महँ रघुपति-नाम उदारा; अति पावन, पुरान - स्रुति - सारा।
मंगल - भवन अमंगलहारी, उमा - सहित जेहि जपत पुरारी।
भनित बिचित्र सुकबि - कृत जोऊ, राम-नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी, सोह न बसन बिना बर नारी।
सब गुन - रहित कुकबि - कृत बानी; राम-नाम-जस - अंकित जानी।
सादर कहहिँ सुनहिँ बुध ताही; मधुकर - सरिस संत गुन-ग्राही।
जदपि कबित - रस एकउ नाहीं; राम - प्रताप प्रगट यहि माहीं।
सोइ भरोस मोरे मन आवा; केहि न सुसंग बड़प्पन पावा।
धूमउ तजइ सहज - करुआई; अगरु - प्रसंग सुगंध बसाई।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी; राम - कथा जग मंगल - करनी।

स्याम सुरभि, पय बिसद अति, गुनद करहिँ सब पान,
गिरा ग्राम्य, सिय - राम - जस गावहिँ - सुनहिँ सुजान।

मनि - मानिक - मुकुता - छबि जैसी; अहि - गिरि-गज-सिर सोह न तैसी।
नृप - किरीट, तरुनी - तनु पाई; लहहिँ सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं; उपजहिँ अनत, अनतछबि लहहीं।
भगत - हेतु बिधि - भवन बिहाई; सुमिरत सारद आवति धाई।
राम - चरित - सर बिनु अन्हवाए; सो स्रम जाइ न कोटि उपाए।
कबि - कोबिद अस हृदय बिचारी; गावहिँ हरि - जस कलि-मल-हारी।
कीन्हे प्राकृत - जन - गुन गाना; सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।
हृदय सिंधु मति सीपि - समाना; स्वाती सारद कहहिँ सुजाना।
जो बरसइ बर - बारि बिचारू; होहिँ कबित मुकुता - मनि चारू।

जुगुति बेधि पुनि पोहियहि रामचरित बर - ताग;
पहिरहिँ सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।

जे जनमे कलिकाल कराला; करतब बायस, बेष मराला।
चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े; कपट - कलवर कलि - मल - भाँडे।
बंचक भगत कहाइ राम के; किंकर कंचन, कोह, काम के।
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी; धिग धरमध्वज, धँधरक धोरी।

बंदउँ मुनि-पद-कंजु, रामायन जेहि निरमयउ ;
सखर, सकोमल मंजु, दोष-रहित, दूषन सहित।
बंदउँ कौसल्या दिसि-प्राची ; कीरति जासु सकल जग माची।
प्रगटेउ जहँ रघुपति-ससि चारू ; बिस्व सुखद, खल-कमल-तुसारू।
गिरा-अरथ, जल-बीचि-सम, कहियत भिन्न, न भिन्न ;
बंदउँ सीता-राम-पद, जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न।
बंदउँ राम-नाम रघुबर को ; हेतु कृसानु, भानु, हिमकर को।
बिधि-हरि-हरमय बेद-प्रान सो ; अगुन, अनूपम, गुन-निधान सो।
महामंत्र जोइ जपत महेसू ; कासी मुकुति हेतु उपदेसू।
महिमा जासु जान गनराऊ ; प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।
जान आदि कबि नाम-प्रतापू ; भयहु सुद्ध करि उलटा जापू।
नाम-प्रभाउ जान सिव नीको ; कालकूट फल दीन्ह अमी को।
बरषा-रितु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सुदास ;
राम-नाम बर बरन जुग सावन-भादौं मास।
सुमिरत सुलभ, सुखद सब काहू ; लोक लाहु, परलोक निबाहू।
बरनत बरन प्रीति बिलगाती ; ब्रह्म-जीव-सम सहज सँघाती।
नर-नारायन-सरिस सुभ्राता ; जग-पालक बिसेषि जनि त्राता।
भगति सुतिय कल करन-बिभूषन ; जग-हित हेतु बिमल बिधु-पूषन।
स्वाद-तोष-सम सुगति सुधा के ; कमठ-सेष-सम धर बसुधा के ;
जन-मन मंजु कंज मधुकर-से ; जीह-जसोमति-हरि हलधर-से।

एक छत्र, इक मुकुट-मनि, सब बरननि पर जोउ ;
तुलसी रघुबर-नाम के बरन बिराजत दोउ।
यहि बिधि निज गुन-दोष कहि, सबहिं बहुरि सिर नाय ;
बरनउँ रघुबर बिसद जसु, सुनि कलि कलुष नसाइ।
निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी ; करउँ कथा भव-सरिता-तरनी।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि ; राम-कथा कलि-कलुष-बिभंजनि।
राम-कथा कलि-पन्नग भरनी ; पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी।
राम-कथा कलि कामद-गाई ; सुजन-सजीवनिमूरि सोहाई।
सोइ बसुधातल सुधा-तरंगिनि ; भय-भंजनि, भ्रम-भेक-भुअंगिनि।
असुरसेन-सम नरक-निकंदिनि ; साधु-बिबुध-कुलहित गिरि-नंदिनि।
संत-समाज-पयोधि रमा-सी, बिस्व-भार-धर अचल छमा-सी।

जमगन-मुँह-मसि जग जमुना - सी ; जीवन - मुकुति - हेतु जनु कासी ।
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी - सी ; तुलसिदास - हित हिय हुलसी - सी ।
सिव प्रिय मेकल - सैल - सुता - सी ; सकल सिद्धि - सुख संपति - रासी ।
सदगुन-सुरगन अंब अदिति-सी , रघुबर - भगति प्रेम - परमिति - सी ।

राम - कथा मंदाकिनी , चित्रकूट चित चारु ;
तुलसी सुभग सनेह बन सिय - रघुबीर - बिहारु ।

राम - चरित - चिंतामनि चारू ; संत सुमति - तिय सुभग सिँगारू ।
जग - मंगल गुन ग्राम राम के , दानि मुकुति, धन, धरम, धाम के ।
सदगुरु ज्ञान बिराग जोग के , बिबुध बैद भव भीम रोग के ।
जननि - जनक सिय - राम - प्रेम के ; बीज सकल ब्रत, धरम, नेम के ।
समन पाप, संताप, सोक के ; प्रिय पालक परलोक, लोक के ।
काम - कोह - कलिमल - करिगन के ; केहरि-सावक जन-मन - बन के ।
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के ; कामद - घन दारिद - दवारि के ।
मंत्र महामनि बिषय - ब्याल के , मेटत कठिन कुअंक भाल के ।
हरन मोह - तम दिनकर - कर - से ; सेवक - सालिपाल जलधर - से ।
अभिमत - दानि देव - तरुवर - से ; सेवत सुलभ सुखद हरि - हर से ।
सुकबि सरद, नभ मन उडुगन - से ; रामभगत जन जीवनधन-से ।
सेवक - मन मानस मराल - से , पावन गंग - तरंग - माल - से ।

× × ×

संबत सोरह सै इकतीसा , करउँ कथा हरि - पद धरि सीसा ।
नौमी, भौमबार, मधु - मासा ; अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।

× × ×

जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना ; स्रवन रंध्र अहि-भवन - समाना ।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा ; लोचन मोरपंख कर लेखा ।
ते सिर कटु - तुंबरि-सम तूला ; जे न नमत हरि-गुरु - पद - मूला ।
जिन्ह हरि-भगति हृदय नहिं आनी ; जीवत सव - समान तेइ प्रानी ।
जो नहिं करइ राम-गुन-गाना ; जीह सो दादुर - जीह समाना ।
कुलिस-कठोर निठुर सोइ छाती ; सुनि हरि - चरित न जो हरषाती ।

राम - कथा सुर - धेनु - सम सेवत सब सुखदानि ;
सतसमाज सुरलोक सब को न सुनइ अस जानि ?

राम - कथा सुंदर कर-तारी ; संसय - बिहग उड़ावनहारी ।
राम-कथा कलि - बिटप - कुठारी , सादर सुनु गिरिराजकुमारी ।

× × ×

भगतबछल प्रभु कृपानिधाना , बिस्व बास प्रगटे भगवाना ।

नील सरोरुह, नील मनि, नील नीरधर स्याम ;
लाजहि तनु - सोभा निरखि कोटि - कोटि - सत काम ।

सरद - मयंक बदन छबि - सींवाँ , चारु कपोल, चिबुक, बर ग्रीवाँ ।
अधर - अरुन, रद सुंदर नासा , बिधु-कर - निकर - बिनिंदक हासा ।
नव - अंबुज अंबक - छबि नीकी ; चितवनि ललित भावती जी की ।
भ्रुकुटि मनोज - चाप - छबि हारी ; तिलक ललाट - पटल - दुतिकारी ।
कुंडल - मकर मुकुट सिर भ्राजा , कुटिल केस जनु मधुप - समाजा ।
उर श्रीबत्स, रुचिर बनमाला , पदिक - हार, भूषन मनि - जाला ।
केहरि कंधर चारु जनेऊ , बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ।
करि-कर - सरिस सुभग भुज - दंडा ; कटि निषंग, कर सर - कोदंडा ।

तड़ित - बिनिंदक पीत पट, उदर रेख बर तीनि ;
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन - भवँर - छबि छीनि ।

पद - राजीव बरनि नहिं जाहीं , मुनि-मन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ।
बाम भाग सोभित अनुकूला ; आदि-सकति, छबि-निधि, जगमूला ।
जासु अंस उपजहिं गुन - खानी ; अगनित लच्छि, उमा, ब्रह्मानी ।
भ्रुकुटि - बिलास जासु जग होई ; राम-बाम दिसि सीता सोई ।
छबि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी ; इकटक रहे नयन पट रोकी ।
चितवहिं सादर रूप अनूपा ; तृप्ति न मानहिं मनु - सतरूपा ।

× × ×

भूप बाग बर देखेउ जाई ; जहँ बसंत - रितु रही लुभाई ।
लागे बिटपि मनोहर नाना , बरन - बरन बर बेलि - बिताना ।
नव पल्लव, फल, सुमन सुहाए ; निज संपति सुर - रूख लजाए ।
चातक, कोकिल, कीर, चकोरा ; कूजत बिहँग, नटत कल मोरा ।
मध्यबाग सर सोह सुहावा ; मनि - सोपान बिचित्र बनावा ।
बिमल सलिल, सरसिज बहुरंगा ; जल - खग कूजत, गुंजत भृंगा ।

बाग - तड़ाग बिलोकि प्रभु हरषे बंधु - समेत ;
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ।

× × ×

कंकन-किंकिनि - नूपुर - धुनि सुनि ; कहत लषन सन राम हृदय गुनि ।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही ; मनसा बिस्व - बिजय कहँ कीन्ही ।
अस कहि फिरि चितए तिहि ओरा ; सिय-मुख-ससि भे नयन चकोरा ।
भए बिलोचन चारु अचंचल ; मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ।
देखि सीय-सोभा सुख पावा ; हृदय सराहत बचनु न आवा ।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई ; बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ।
सुंदरता कहँ सुंदर करई ; छबि-गृह दीप - सिखा जनु बरई ।
सब उपमा कबि रहे जुठारी ; केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी ?

× × ×

सोभा - सींव सुभग दोउ बीरा ; नील - पीत - जलजाभ - सरीरा ।
मोर-पंख सिर सोहत नीके ; गुच्छा बिच-बिच कुसुम-कली के ।
भाल तिलक, स्रम - बिंदु सुहाए ; स्रवन सुभग भूषन छबि छाए ।
बिकट भृकुटि, कच घूँघरवारे ; नव - सरोज - लोचन रतनारे ।
चारु चिबुक, नासिका, कपोला ; हास - बिलास लेत मन मोला ।
मुख-छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं ; जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ।
उर मनि - माल, कंबु-कल ग्रीवाँ ; काम - कलभ - कर भुज-बल-सीवाँ ।
सुमन - समेत बाम कर दोना ; साँवर कुँवर सखी सुठि लोना ।
केहरि कटि पट पीत-धर, सुखमा - सील - निधान ;
देखि भानु-कुल - भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान ।

× × ×

उएउ अरुन अवलोकहु ताता ; पंकज - लोक - कोक - सुख - दाता ।
बोले लषन जोरि जुग पानी ; प्रभु - प्रभाव - सूचक मृदु बानी ।
अरुन - उदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन ;
तिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बल-हीन ।
नृप सब नखत करहिं उजियारी ; टारि न सकहिं चाप-तम-भारी ।
कमल, कोक, मधुकर, खग नाना ; हरषे सकल निसा - अवसाना ।
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे ; होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ।
उएउ भानु बिनु स्रम तम-नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा ।
रबि निज उदय - ब्याज रघुराया ; प्रभु - प्रताप सब नृपन्ह दिखाया ।
तव भुज - बल महिमा उदघाटी ; प्रगटी धनु - बिघटन - परिपाटी ।

× × ×

पुनि मुनि-बृंद - समेत कृपाला, देखन चले धनुष-मख - साला।
रंगभूमि आए दोउ भाई ; असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई।
चले सकल गृह - काज बिसारी, बाल, जुवान, जरठ, नर - नारी।
देखी जनक भीर भइ भारी ; सुचि सेवक सब लिए हँकारी।
तुरत सकल लोगन्ह पहिँ जाहू, आसन उचित देहु सब काहू।

कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर - नारि ;
उत्तम, मध्यम, नीच, लघु, निज - निज थल अनुहारि।

राजकुँअर तेहि अवसर आए ; मनहुँ मनोहरता तन छाए।
गुन - सागर, नागर बर - बीरा ; सुंदर, स्यामल - गौर सरीरा।
राज - समाज बिराजत रूरे, उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे।
जिन्हकै रही भावना जैसी ; प्रभु - मूरति देखी तिन्ह तैसी।
देखहिँ भूप महारन - धीरा ; मनहुँ बीर - रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी ; मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल - छोनिप - बेखा ; तिन्ह प्रभु प्रगट काल-सम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई, नर-भूषन लोचन - सुखदाई।

नारि बिलोकहिँ हरषि हिय निज - निज रुचि अनुरूप ;
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।

बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा ; बहुमुख, कर पग, लोचन, सीसा।
जनक जाति अवलोकहिँ कैसे ; सजन सगे प्रिय लागहिँ जैसे।
सहित बिदेह बिलोकहिँ रानी ; सिसु-सम, प्रीति न जाइ बखानी।
जोगिन्ह परमतत्त्वमय भासा ; सांत, सुद्ध, सम, सहज - प्रकासा।
हरि - भगतन देखे दोउ भ्राता ; इष्टदेव इव सब सुखदाता।
रामहिँ चितव भाव जेहि सीया ; सो सनेह सुख नहिँ कथनीया।
उर अनुभवति, न कहि सक सोऊ ; कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ।
यहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ ; तेहि तस देखेउ कोसलराऊ।

राजत राज - समाज महँ कोसल - राज - किसोर ;
सुंदर, स्यामल, गौर - तनु, बिस्व बिलोचन - चोर।

सहज मनोहर मूरति दोऊ ; कोटि काम उपमा लघु सोऊ।
सरद - चंद - निंदक मुख नीके ; नीरज - नयन भावते जी के।
चितवनि चारु मार - मद - हरनी ; भावति हृदय, जाति नहि बरनी।
कल कपोल स्रुति कुंडल - लोला ; चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला।

कुमुद - बंधु - कर-निंदक हासा ; भृकुटी कुटिल, मनोहर नासा ।
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं ; कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं ।
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई ; कुसुम - कली बिच - बीच बनाई ।
रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ , जनु त्रिभुवन - सोभा की सीवाँ ।
कुंजर - मनि - कंठा कलित उरन्ह तुलसिका - माल ;
बृषभ - कंध, केहरि ठवनि, बल - निधि बाहु बिसाल ।
कटि तूनीर पीत पट बाँधे ; कर सर धनुष बाम बर काँधे ।
पीत जग्यउपबीत सोहाए ; नख - सिख मंजु महाछबि छाए ।
देखि लोग सब भए सुखारे , इकटक लोचन टरत न टारे ।
हरषे जनक देखि दोउ भाई , मुनि - पद - कमल गहे तब जाई ।
करि बिनती निज कथा सुनाई ; रंग - अवनि सब मुनिहि दिखाई ।
जहँ - जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ ; तहँ-तहँ चकित चितव सब कोऊ ।
निज - निज रुख रामहिं सब देखा ; कोउ न जान कछु मरम बिसेखा ।
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ , राजा मुदित महा सुख लहेऊ ।
सब मंचन्ह ते मंच इक सुंदर, बिसद, बिसाल ;
मुनि - समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल ।
जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बुलाइ ;
चतुर सखी सुंदरि सकल सादर चलीं लेवाइ ।
सिय - सोभा नहिं जाइ बखानी , जगदंबिका रूप - गुन - खानी ।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी ; प्राकृत - नारि - अंग अनुरागी ।
सीय बरनि तेहि उपमा देई ; कुकबि कहाइ अजसु को लेई ?
जो पटतरिय तीय महँ सीया ; जग असि जुबति कहाँ कमनीया ?
गिरा मुखर तनु - अरध भवानी ; रति अति दुखित अतनु पति जानी ।
बिष, बारुनी - बंधु, प्रिय जेही ; कहिय रमा-सम किमि बैदेही ?
जो छबि - सुधा - पयोनिधि होई ; परम रूपमय कच्छप सोई ।
सोभा - रजु, मंदरु सिंगारू ; मथइ पानि - पंकज निज मारू ।
यहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुख - मूल ;
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय - समतूल ।
चलीं संग लै सखी सयानी ; गावत गीत मनोहर बानी ।
सोह नवल - तनु सुंदर सारी , जगत जननि अतुलित छबि भारी ।
भूषन सकल सुदेस सुहाए ; अंग - अंग रचि सखिन्ह बनाए ।
रंगभूमि जब सिय पगु धारी ; देखि रूप मोहे नर - नारी ।

हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई ; बरसि प्रसून अपछरा गाई।
पानि-सरोज सोह जयमाला ; अवचक चितए सकल भुवाला।
सीय चकित-चित रामहिँ चाहा ; भए मोह - बस सब नरनाहा।
मुनि समीप देखे दोउ भाई , लगे ललकि लोचन निधि पाई।
गुरुजन - लाज, समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि ;
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि।

× × ×

तब बंदीजन जनक बुलाए ; बिरदावली कहत चलि आए।
कह नृप, जाइ कहहु पन मोरा ; चले भाट, हिय हरष न थोरा।
बोले बंदी बचन बर, सुनहु सकल महिपाल ;
पन बिदेह कर कहहिँ हम भुजा उठाइ बिसाल।
नृप-भुज-बलु बिधु सिव-धनु राहू ; गरुअ, कठोर बिदित सब काहू।
रावन, बान महाभट भारे ; देखि सरासन गवहिँ सिधारे।
सोइ पुरारि - कोदंड कठोरा ; राज - समाज आज जेइ तोरा।
त्रिभुवन - जय - समेत बैदेही ; बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही।
सुनि पन सकल भूप अभिलाखे ; भटमानी अतिसय मन माखे।
परिकर बाँधि उठे अकुलाई , चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई।
तमकि ताकि तकि सिव-धनु धरहीं ; उठइ न कोटि भाँति बल करहीं।
जिनके कछु बिचार मन माहीं ; चाप समीप महीप न जाहीं।
तमकि धरहिँ धनु मूढ़ नृप, उठइ न, चलहिँ लजाइ ;
मनहुँ पाइ भट - बाहु - बल अधिक-अधिक गरुआइ।
डिगइ न संभु - सरासन कैसे ; कामी - बचन सती - मन जैसे।
सब नृप भए जोग उपहासी ; जैसे बिनु बिराग संन्यासी।
कीरति, बिजय, बीरता भारी ; चले चाप - कर बरबस हारी।
श्रीहत भए हारि हिय राजा ; बैठे निज - निज जाइ समाजा।

× × ×

बिस्वामित्र समय सुभ जानी ; बोले अति सनेह मृदु बानी।
उठहु राम, भंजहु भव - चापा ; मेटहु तात जनक - परितापा।
सुनि गुरु-बचन चरन सिरु नावा ; हरष - बिषाद न कछु उर आवा।
ठाढ़ भए उठि सहज - सुभाए ; ठवनि जुवा - मृगराज लजाए।
उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल - पतंग ;
बिकसे संत सरोज - बन, हरषे लोचन - भृंग।

नृपन्ह केरि आसा-निसि नासी ; बचन नखत-अवली न प्रकासी।
मानी महिप कुमुद सकुचाने ; कपटी भूप उलूक लुकाने।
भए बिसोक कोक - मुनि - देवा , बरषहिं सुमन, जनावहिं सेवा।
गुरु-पद बंदि सहित अनुरागा ; राम मुनिन सन आयसु माँगा।
सहजहि चले सकल जग - स्वामी ; मत्त मंजु बर कुंजर - गामी।
चलत राम सब पुर - नर - नारी ; पुलक पूरि तन भए सुखारी।
बंदि पितर सब सुकृत सँभारे ; जौं कछु पुन्य - प्रभाव हमारे।
तौ सिव - धनु मृनाल की नाईं , तोरहिं राम गनेस गोसाईं।

रामहिं प्रेम - समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ ;
सीता - मातु सनेह - बस बचन कहइ बिलखाइ।

सखि सब कौतुक देखनहारे ; जेउ कहावत हितू हमारे।
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं ; ये बालक, अस हठ भल नाहीं।
रावन बान छुआ नहिं चापा ; हारे सकल भूप करि दापा।
सो धनु राजकुँवर - कर देहीं , बाल मराल कि मंदर लेहीं।
भूप सयानप सकल सिरानी , सखि बिधि-गति कछु जाति न जानी।
बोली चतुर सखी मृदु बानी ; तेजवंत लघु गनिय न रानी।
कहँ कुंभज, कहँ सिंधु अपारा ; सोखेउ सुजस सकल संसारा।
रबि - मंडलु देखत लघु लागा ; उदय तासु त्रिभुवन - तम भागा।

मंत्र परमलघु, जासु बस बिधि, हरि, हर, सुर सर्बं ;
महामत्त गजराज कहँ बस - कर अंकुस खर्ब।

काम कुसुम - धनु - सायक लीन्हे ; सकल भुवन अपने बस कीन्हे।
देबि तजिय संसय अस जानी ; भंजब धनुष राम सुनु रानी।
सखी - बचन सुनि भइ परतीती ; मिटा बिषाद, बढ़ी अति प्रीती।
तब रामहिं बिलोकि बैदेही ; सभय हृदय बिनवति जेहि - तेही।
मन - ही - मन मनाव अकुलानी ; होउ प्रसन्न महेस - भवानी।
करहु सफल आपनि सेवकाई , करि हित हरहु चाप-गरुआई।
गन-नायक बरदायक देवा ; आजु लगे कीन्हेउँ तुव सेवा।
बार-बार सुनि बिनती मोरी , करहु चाप-गुरुता अति थोरी।

देखि - देखि रघुबीर तन, सुर मनाव धरि धीर ,
भरे बिलोचन प्रेम-जल, पुलकावली सरीर।

नीके निरखि नयन-भरि सोभा , पितु-पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा।
अहह तात, दारुन हठ ठानी ; समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।

सचिव सभय सिखि देइ न कोई ; बुध-समाज बड़ अनुचित होई।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा ; कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा।
बिधि किहि भाँति धरउँ उर धीरा ; सिरिस - सुमन कत बेधिय हीरा !
सकल सभा कै मति भइ भोरी ; अब मोहिँ संभु - चाप, गति तोरी।
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी ; होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी।
अति परिताप सीय मन माहीं , लव-निमेष जुग सत - सम जाहीं।

प्रभुहि चितइ, पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल ;
खेलत मनसिज - मीन जुग जनु बिधु - मंडल डोल।

गिरा - अलिनि मुख-पंकज रोकी ; प्रगट न लाज - निसा अवलोकी।
लोचन-जल रह लोचन - कोना ; जैसे परम कृपन कर सोना।
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी ; धरि धीरज प्रतीति उर आनी।
तन-मन-बचन मोर पन साँचा , रघुपति - पद - सरोज चितु राँचा।
तौ भगवान सकल उर-बासी ; करिहहिँ मोहिँ रघुबर कै दासी।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू ; सो तिहि मिलइ, न कछु संदेहू।
प्रभु तन चितइ प्रेम-पन ठाना ; कृपानिधान राम सब जाना।
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे ; चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे।

लषन लखेउ रघुबंस - मनि ताकेउ हर - कोदंड ;
पुलकि गात बोले बचन चरन - चापि ब्रह्मंड।

दिसि - कुंजरहु, कमठ, अहि, कोला ; धरहु धरनि धरि धीर, न डोला।
राम चहहिँ संकर - धनु तोरा ; होहु सजग सुनि आयसु मोरा।
चाप समीप राम जब आए ; नर - नारिन्ह सुर - सुकृत मनाए।
सब कर संसय अरु अज्ञानू ; मंद महीपन्ह कर अभिमानू।
भृगुपति केरि गरब - गरुआई ; सुर - मुनि - बरन्ह केरि कदराई।
सिय कर सोच, जनक - पछितावा ; रानिन्ह कर दारुन दुख - दावा।
संभु-चाप बर बोहित पाई ; चढ़े जाइ सब संग बनाई।
राम - बाहु - बल सिंधु अपारू ; चहत पार नहिँ कोउ कनहारू।

राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे - से देखि ;
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि।

देखी बिपुल बिकल बैदेही ; निमिष बिहात कलप - सम तेही।
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा ; मुए करइ का सुधा - तड़ागा ?
का बरषा, जब कृषी सुखाने , समय - चूकि पुनि का पछिताने ?
अस जिय जानि जानकी देखी , प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी।

गुरुहि प्रनाम मनहिँ - मन कीन्हा ; अति लाघव उठाय धनु लीन्हा ।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ ; पुनि धनु नभ - मंडल - सम भयऊ ।
लेत, चढावत, खैंचत गाढे ; काहु न लखा, देख सब ठाढे ।
तेहि छन मध्य राम धनु तोरा , भरेउ भुवन धुनि घोर, कठोरा ।

संकर - चाप जहाज, सागर रघुबर - बाहु - बल ;
बूड़ सो सकल समाज, चढे जो प्रथमहिँ मोह-बस ।

× × ×

वेद-स्तुति

जय सगुन - निर्गुन - रूप राम, अनूप भूप - सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज - बल हने ।
अवतार नर संसार - भार बिभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे ।
तुव बिषम माया बस सुरासुर, नाग, नर, अग, जग हरे ;
भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस - निसि काल कर्म गुन्हनि भरे ।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे ;
भव - खेद - छेदन - दच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे ।
जे ज्ञान - मान - बिमत्त तव भव - हरनि भक्ति न आदरी ;
ते पाइ सुर-दुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी ।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तुव जे होइ रहे ;
जपि नाम तुव बिनु स्रम तरहिँ भव, नाथ राम नमामहे ।
जे चरन सिव-अज-पूज्य रज सुभ परसि मुनि - पतिनी तरी ;
नख - निर्गता मुनि - बंदिता त्रैलोक्य - पावनि सुरसरी ।
ध्वज - कुलिस - अंकुस - कंज-जुत बन फिरत कंटक जिन लहे ;
पद - कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ।
अब्यक्त मूलमनादि तरु त्वक चारि निगमागम भने ;
षट कंध, साखा पंचबिस, अनेक पर्न, सुमन घने ।
फल जुगुल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ;
पल्लवत, फूलत, नवल, नित संसार - बिटप नमामहे ।
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ;
ते कहहु जानहु नाथ हम तुव सगुन - जस नित गावहीं ।
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं ;
मन - बचन - कर्म बिकार तजि तुव चरन हम अनुरागहीं ।

महात्मा सूरदास

सूरदास ने बिरच सूरसागर अति भारी ;
कृष्ण-भक्ति की ललित लहर जग मे बिस्तारी ।
लिया विषय जो हाथ, दूर तक उसे निबाहा ;
एक न छोड़ा भाव, शब्द-सागर अवगाहा ।
कर अमित विषय वर्णन विशद सभी परम सुंदर कहे ;
अब कवियों के हित ये सकल इस कवि के जूठे रहे ।

सूरदास की गणना अष्ट-छाप अर्थात् व्रज के आठो कवीश्वरों में है। उन आठ कवियों के नाम ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविद स्वामी, चतुर्भुजदास और नददास। इनमे प्रथम चार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के और अंतिम चार श्रीस्वामी विट्ठलनाथ के सेवक थे। नददास गोस्वामी तुलसीदास के चचेरे या गुरुभाई माने जाते हैं। व्रज-भाषा के अरुणोदय-काल मे, व्रज मे, ये आठो कवि हो गए, और सभी ने पदों द्वारा श्रीकृष्ण-चंद्र आनंदकंद के यश का कीर्तन किया। हिदी के प्रसिद्ध लेखक बाबू राधाकृष्णदास ने खेमराज-श्रीकृष्णदास के छापेखाने में सूर-कृत 'श्रीसूरसागर' नामक ग्रंथ, संवत् १६५३ विक्रमीय में, छपाया। उसी में, भूमिका की भाँति, उन्होंने सूरदास का जीवन-चरित भी लिखा। इस लेख में घटनाओं के लिखने मे उससे भी सहायता ली गई है। इसमें जहाँ पृष्ठ और संख्या का हवाला है, वह उसी पुस्तक का है।

सूरदास का जन्म, संवत् १५३५ विक्रमीय में, महाप्रभु वल्लभाचार्य से थोड़े ही दिन पीछे, होना सिद्ध हो चुका है, और संवत् १६४२ वि० में उनकी मृत्यु गोस्वामी बिट्ठलनाथ से कुछ ही पहले हुई। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है—"मुझे उनकी अवस्था लगभग अस्सी वर्ष की होने का पक्का प्रमाण मिला है।" पर वह पक्का प्रमाण क्या है, सो उन्होंने नहीं लिखा। सूर-सारावली के विषय में सूरदास ने स्वयं उसी ग्रंथ का १००२ नंबर का छंद यों लिखा है—

गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रबीन,
सिव-बिधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिँ लीन।

सूर-सारावली एक प्रकार से सूरसागर की सूची कही जा सकती है, और यह भी जान पड़ता है कि सूरसागर के कुछ ही दिन पश्चात् बनाई गई होगी; कारण, ग्रंथ बनाने पर उसकी सूची लिखने की आवश्यकता शीघ्र ही होती है। यह भी विचार है कि इसका प्रयोजन यह है कि सं० १५६७ में सूर को दर्शन हुआ, अर्थात् महाप्रभु के शिष्यत्व से लीला का दर्शन हुआ, तथा उससे पूर्व आप बहुत दिन शैव विधान से तपस्या करते रहे थे। सूरदास ने साहित्य-लहरी नाम की एक और पुस्तक बनाई, और उसमें छाँटकर सूरसागर में लिखित एवं अन्य दृष्ट-कूट पदों का संग्रह किया। जान पड़ता है, सूरसागर बन जाने के पश्चात् यह ग्रंथ भी बना होगा। इसमें सूरदास ने संवत् यों दिया है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख;
दसन गौरी-नंद को लिखि, सुबल संबत पेख।
नंदनंदन - मास, छयते - हीन तृतिया बार;
नंदनंदन जनमते हैं बाण सुख आगार।
तृतिय ऋक्ष सुकर्म जोग बिचारि 'सूर' नवीन;
नंदनंदनदास हित साहित्यलहरी कीन।

मुनि= ७, रसन= ० (जिसमें कोई रस नहीं, अर्थात् जो कुछ भी नहीं, याने शून्य है), रस= ६, दसन गौरी-नंद = १, = १६०७; नदनदन-मास=वैशाख (मधु); छयते हीन तृतिया=अक्षय-तृतीया, तृतिय ऋक्ष=कृत्तिका नक्षत्र; सुकर्म योग (देखो सरदार-कृत सौर दृष्ट-कूट की टीका, पृष्ठ ७१)। रसन का अर्थ रसना के दो गुणों के कारण दो भी किया गया है, जिससे सं० १६२७ आता है। अतः यह विदित हुआ कि साहित्य-लहरी संवत् १६०७ या १६२७ वि० मे लिखी गई। एक सुलेखक का विचार है कि सूर सारावली किसी अन्य सूरदास की है। उसमे सूरसागर की कथाओं से बहुत अंतर है। यह विचार हमें भी पसंद है।

सूरदास लिखते हैं, उनके गुरु श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु थे, और श्रीगोस्वामी बिठ्ठलनाथ ने उनको अष्टछाप मे रक्खा। यथा—

श्रीवल्लभ गुरु-तत्त्व सुनायो, लीला-भेद बतायो।
थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।
(सूर-सारावली नं० ११०२)

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने लिखा है कि आचार्यजी के जन्म एवं मरण-काल संवत् १५३५ एवं १५८७ वि० थे, और गोस्वामीजी के १५७२ एवं १६४२ वि०।

सूरदास का मरण-काल संवत् १५७२ वि० से बहुत पीछे होगा, क्योंकि उस संवत् में जन्म-ग्रहण करके गोस्वामीजी ने बहुत दिनों में प्रतिष्ठा प्राप्त की, और तब अपने चार शिष्यों के साथ सूरदास को अष्टछाप में रक्खा। अतः इस हिसाब से भी सूरदास के जन्म और मरण-काल १५३५ और १६४२ ठहरते हैं। शिवसिंह सरोज में इनका जन्म-काल संवत् १६४० वि० लिखा गया, परंतु उसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया, अतः वह अग्राह्य है। श्रीयुत देवीप्रसादजी ने सं० १६४२ का एक अबुलफ़ज़ल का पत्र सूरदास के नाम का लिखा है, जिसमें अकबर के इलाहाबाद जाने की सूचना है। यह पत्र काशीवाले सूर से संबद्ध है, अपने-वाले से नहीं।

श्रीगोस्वामी बिठ्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नाम की एक पुस्तक लिखी। भक्तमाल में भी बहुत भक्तों की जीवनियाँ दी गई है। इन दोनो पुस्तकों में सूरदास का वृत्तांत लिखा है, परंतु वह बहुत छोटा होने के कारण सतोष-जनक नहीं है। सूरदास के वंश इत्यादि के विषय में कुछ गड़बड़ी पड़ गई है। वह दो प्रामाणिक पुस्तकों में दो प्रकार लिखा हुआ है। सरदार-कृत 'सूरदास के दृष्ट - कूट' - नामक पुस्तक के ७१वें पृष्ठ पर, छंदावली नं० ११० में, कवि-वंश वर्णित है। उससे विदित होता है कि इनका पूर्व-पुरुष प्रार्थज-गोत्रीय जगात-वंश का ब्रह्मराव-नामक भद्र पुरुष था। इन्ही के वंश में पृथ्वीराज के राजकवि चंद उत्पन्न हुए, जिनको उन महाराज ने ज्वाला-देश दिया। उनके चार पुत्र हुए, जिनमे प्रथम राजा हुआ। उनके द्वितीय पुत्र का नाम गुणचंद था। उसका पुत्र शीलचंद, जिनका वीरचंद हुआ। वह रणथंभौर के राजा हम्मीरदेव का सखा था। उनके वंश में हरिचंद बड़ा विख्यात हुआ। उसका बेटा आगरे मे रहा, जिसके सात पुत्र हुए। उनके नाम थे—कृतचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद, प्रबोधचंद और सूरजचंद। सातवाँ पुत्र सूरजचंद ही हमारे विख्यात कवि सूरदास थे। सूर के सब भाई शाह से युद्ध करके परम गति को प्राप्त हुए। सूरजचंद अंधे थे, अतः वह एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी मे पड़े रहे। किसी ने उनकी पुकार नहीं सुनी। सातवें दिन यदुपति ने उन्हें बचाया। यथा—

परो कूप, पुकार काहू सुनी ना संसार;
सातएँ दिन आय यदुपति कियो आपु उधार।
दिव्य चख दै, कही सिसु, सुनु जोग बर जो चाइ;
हौं कही, प्रभु-भगति चाहत सत्रु - नास सुभाइ।
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधा - स्याम;
सुनत करुना - सिंधु भाखी, एवमस्तु सुधाम।

प्रबल दच्छिन विप्र-कुल ते सत्रु ह्वै है नास,
अखिल बुद्धि, बिचार, बिद्या, मान मानै मास।

इस लेख के अनुसार सूरदास ब्रह्मभट्ट अर्थात् भाट साबित होते है। कारण, एक तो जगात कोई ब्राह्मण नहीं है, वरन् जगातिया भाट को कहते है; दूसरे, पृथ्वीराज के चंद कवि तो निश्चय ही भाट थे। यहाँ शत्रु का अर्थ मुसलमान बादशाह ह, क्योकि उन्ही से लड़कर सूर के सब भाई मारे गए थे। वरदान यह हुआ कि दक्षिण के ब्राह्मण अर्थात् पेशवा-राजा शत्रु-नाश करेगे। उस समय न मरहठो का ज़रा भी बल था, न शिवाजी तक—जो क्षत्रिय-राजा थे—उत्पन्न हुए थे। तो फिर पेशवाओ का, जो पीछे साहूजी के सचिव हुए, इतना प्रचंड अभ्युदय सोचना कि वे मुसलमानों को परास्त करने मे कभी समर्थ होंगे (जैसा कि अंत को वे हुए), किसी का काम न था। इसीलिये साफ़ जाहिर है कि ये छंद सूरदास के बनाए हुए नही है। हमारा ख़याल है कि उनसे लगभग दो सो वर्ष पीछे पेशवाओं का अभ्युदय और मुग़लो का पतन देखकर, किसी भाट कवि ने लगभग बालाजी-बाजीराव के समय मे ये छंद बनाकर सूरदास की कविता मे रख दिए होंगे। इस शत्रु नाश से काम-क्रोधादि का नाश भी कहा जाता है, जो दक्षिण के विप्र महाप्रभु द्वारा हुआ। हमे पहला अर्थ ठीक जँचता है। इन छंदों के कपोल-कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि श्री-गोकुलनाथ-कृत चौरासी-चरित्र को टीका मे और मियाँसिंह के भक्त-विनोद मे सूरदास को ब्राह्मण कहा गया है। भारतेंदु ने चौरासी की किसी टीका तथा भक्तमाल की टीका के आधार पर लिखा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण माने जाते थे। मिश्रबंधु-विनोद मे चौरासी की कई टीकाओं का कथन है, जिनमे अनेक बातें कथित होंगी, पर वे सब अप्रकाशित है, और सब हमारे देखने मे नही आई है। फिर भी भारतेंदु न जब ग्रंथ देखा ही था, तब उनके आधार पर कथन अनुचित नही है। हरिराय गोस्वामी बिट्ठलनाथ तथा गोकुलनाथ के छोटे समकालीन थे। उनकी चौरासी वैष्णवों की वार्ता की टाका मे सूरदास सारस्वत ब्राह्मण लिखे हुए हैं। चौरासी-वार्ता और भक्त-विनोद मे शत्रु-नाश के वरदान का कोई हाल नहीं लिखा ह, यद्यपि कूप-पतन का वर्णन अंतिम मे है। यह संभव नही कि यदि यह वरदान सूरदास को मिलना उस काल कहा गया होता, तो इन्होंन यह हाल न लिखा होता। फिर यह भी बहुधा संभव नही कि यदि इनके छ भाई मारे गए होते, तो ये दोनो लेखक उस बात को न लिखते। महाप्रभु वल्लभाचार्य के एक पुत्र ने भी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखा है। इसका हवाला एक प्रसिद्ध लेखक न दिया है, जो हमें स्मरण नही है।

इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे, और इनके पिता का नाम रामदास था। शिवसिंह भी पिता का नाम बाबा रामदास लिखते हैं। चौरासी-वार्ता मे नंबर १२, ४०, ४५ और ५५ पर चार रामदास है, जिनमें नंबर ५५ ठाकुर थे, ४५ बीरबल के पुरोहित और शेष दोनो सारस्वत ब्राह्मण। भक्ति करने पर नंबर १२ के पुत्र हुआ। इनका जन्म दिल्ली के समीप सीही-ग्राम के निवासी निर्धन माता-पिता के घर हुआ। अब यह प्रश्न उठता है कि सूरदास जन्मांध थे, या नही? इसके विषय में सिवा भक्तमाल के कोई प्राचीन प्रमाण तो नहीं मिला, परंतु रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह-कृत रामरसिकावली में, भक्तमाल के आधार पर, लिखा हुआ है—"जनमहिं ते हैं नैन-बिहीना।" चौरासी-वार्ता में आया है कि अकबर शाह ने इनसे पूछा कि अंधे होकर उपमाएँ कैसे देते हैं? इसका उन्हे कोई उत्तर नहीं मिला। अकबर के कहने पर भी इन्होने नर-काव्य न किया। हमें तो इनके जन्मांध होने पर विश्वास नही होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के, रंगो के और अनेकानेक हाव-भावो के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं, तथा उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी है, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नही होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों-देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा सजीव वर्णन कर सकता है। चौरासी-वार्ता में इनका जन्मांध होना साफ़-साफ़ नही लिखा है। एक किंवदंती है कि सूरदास जब अंधे न थे, तब एक युवती को देखकर उस पर आसक्त हो गए, मगर पीछे प्रकृतिस्थ होकर यह दोष नेत्रों का समझ तुरंत दो सुइयो से आपने अपने दोनो नेत्र फोड़ डाले। संभव है, स्त्री का विषय होने के कारण ही चौरासी-वार्ता मे यह हाल न लिखा गया हो। यह कथा बिल्वमंगल की भी कही जाती है।

भक्तमाल मे लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया था। कुछ काल में इनके माता-पिता मथुरा-दर्शन को गए। उस समय सूरदास भी उनके साथ थे। जब वे घर लौटने लगे, तब सूरदास ने उनसे बिनती की कि "अब मुझे यहीं रहने दो।" इस पर उनके माता-पिता रोने लगे; बोले—"तुम्हे अकेले किसके सहारे छोड़ जायँ?" तब सूर ने कहा—"कृष्णचंद्र का सहारा क्या थोड़ा है?" इस पर एक साधु ने कहा—"मैं इस बालक को अपने साथ रक्खूँगा।" तब माता-पिता रोते-कलपते घर चले गए, और यह महाराज व्रज में ही रह गए। एक बार अंधे होने के कारण सूरदास एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला। सूर ने समझा, स्वयं कृष्ण भगवान् ने इन्हे निकाला है। बस,

इन्होंने निकालनेवाले की बाँह पकड़ ली, पर वह बाँह छुड़ाकर भाग गया। इस पर इन्होंने यह दोहा पढ़ा—

बाँह छोड़ाए जात हौ निबल जानि कै मोहिँ,
हिरदे सों जब जाइहो, मरद बदौंगो तोहिँ।

इसके उपरांत, चौरासी-वार्ता के अनुसार, यह महाराज गऊघाट नामक एक स्थान पर, जो आगरे और मथुरा के बीच में है, रहने लगे। आप वहीं वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य हुए, उन्ही के साथ गोकुल में श्रीनाथ के मंदिर गए, और बहुत काल तक कीर्तन करते रहे। इसी स्थान पर इनसे गोस्वामी बिट्ठलनाथ से बहुधा भेंट हुआ करती थी, और वह इनके पद सुना करते थे। सूरदास सदैव कृष्णानंद में मग्न एवं उन्मत्त रहा करते थे, और अपनी अखंड भक्ति से संसार को शुद्ध करते थे। महाप्रभु ने श्रीनाथ के कीर्तन का काम इन्हे सौंपा (चौरासी-वार्ता)। यह मंदिर सं० १५७६ में पूरनमल खत्री ने बनवाया था। आचार्यजी का शरीर-पात सं० १५८७ मे हुआ। अतएव इन्ही दिनों सूर का शिष्यत्व एवं कीर्तन का सौंपा जाना जान पड़ता है। चौरासी-वार्ता के अनुसार वल्लभ की शिष्यता के पूर्व सूरदास स्वामी कहलाते और शिष्य करते थे। आपने पीछे उन्हे भी वल्लभाचार्य का शिष्य बनवाया। एक महाशय ने लिखा है कि वल्लभी शिष्य होने के पूर्व सूर हरिदास के पट्ट शिष्य बिट्ठल विपुल के चेले थे। हरिदासी मत मे कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, तथा उसमे वृंदावन की मुख्यता है। इधर वल्लभी संप्रदाय मे वह परब्रह्म के अवतार है, तथा गोकुल की मुख्यता है। सूर की रचना में इन दोनो मतों के विचार हैं। कुछ विद्वानों ने महाप्रभुवाली शिष्यता का समय सं० १५६७ के निकट तत्कालीन घटनाओं से सिद्ध किया है।

यही गोकुल में रहते-रहते यह महाराज वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जब सं० १६४२ में विदित हुआ कि इनका अंत-समय निकट है, तब यह पारासोली चले गए। पारासोली भगवान् के अखंड रास का स्थान माना जाता है। जब गोस्वामीजी को यह संवाद मिला, तब वह भी पारासोली पहुँचे, और सूरदास से अंत-पर्यंत उनसे बातचीत होती रही। उसी समय किसी ने सूरदास से पूछा—"आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया?" इस पर इन्होंने उत्तर दिया—"मैंने सब पद गुरुजी ही के बनाए हैं। क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्णचंद्र मे कोई भी भेद नही है।" तथापि एक पद भी रचा। वह यो हैं—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो;
श्रीवल्लभ - नख-चंद - छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।

साधन और नहीं या कलि मैं, जासो होत निबेरो ;
'सूर' कहा कहि दुबिधि आँधरो, बिना मोल को चेरो।

अंत-समय सूरदास कृष्ण - राधिका का एक भजन कहकर ऐसे प्रेम-गद्गद हुए कि इनके नेत्रों में अश्रु-जल छा गया। इस पर गोस्वामीजी ने पूछा—"सूरदासजी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?" तब इन्होने निम्न-लिखित भजन पढ़कर शरीर त्याग दिया—

खंजन - नयन रूप - रस-माते ;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल - पिँजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि-उलटि ताटंक फँदाते ;
'सूरदास' अंजन - गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।

इन महाशय के विषय मे कई ग्रंथकारों का कहना है कि यह उद्धव के अवतार थे। सं० १६४२ में ही गोस्वामीजी का भी शरीर-पात हुआ।

कविता

सूरदास ने पाँच ग्रंथ बनाए—सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी (दृष्ट-कूट), नल-दमयंती और ब्याहलो । खोज में ब्याहलो और नल-दमयंती, ये दो ग्रंथ लिखे है, पर हमारे देखने मे नही आए । सूर-सारावली संदिग्ध है, और साहित्य-लहरी में इनके बहुतेरे पद हैं, किंतु ग्रंथ - रूप में वह भी पीछे बना हुआ समझ पड़ता है।

साहित्य-लहरी को सूरदास का सं० १६०७ वि० में संकलन कहा जाता है। इसमें कुछ पद सूरसागर से और कुछ कूट रक्खे गए है। इसकी एक छंदोबद्ध टीका भी है, जो सूरदास के नाम से बनी है, परंतु यह निश्चय नहीं होता कि यह टीका सचमुच सूर-कृत है, या नहीं । टीका में प्रत्येक पद के अलंकार, नायिका आदि का वर्णन है, परंतु सूरदास ने रीतिबद्ध कविता नहीं की, वरन् स्वाभाविक रीति से जो वर्णन जहाँ उचित था, लिखा। इस कारण शंका होती है कि यह टीका सूर-कृत नहीं है। सरदार कवि ने अपनी टीका में पहले ११७ पद दिए, फिर ६३ और लिखे। इस प्रकार उनकी प्रति मे कुल १८० पद हैं। इन कूटों में नायिका और अलंकार अवश्य निकलते है, और श्रुति-कटु दूषण भी नहीं है, परंतु यह दोष है कि विना टीका की सहायता के इनका अर्थ लगाना कठिन है। इनमें यमकादि खूब आए है । यदि कोई धैर्यवान् व्यक्ति इस पुस्तक के अर्थ लगाकर देखे, तो विदित हो कि इसमे सूरदास का कितना परिश्रम है। इसके सब पद उनके है भी नहीं।

सूर-सारावली मे सूरसागर की सूची-सी है । इसमें ११०७ पद हैं, परंतु कुल ग्रंथ में एक ही छंद होने के कारण इसे पढ़ना उतना रुचिकर नहीं है, जितना इन महाकवि के अन्य ग्रंथों का। अब यह ग्रंथ संदिग्ध दिखता है।

सूरसागर बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है, परंतु दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष बहुत छोटे है, और उनमें साहित्यिक छटा भी प्राय: वैसी रोचक नहीं है, जैसी दशम के पूर्वार्द्ध मे। जिस प्रकार तुलसीदास के बाल तथा अयोध्या-कांड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूरसागर के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय, तो इन्हे सूर्यवत् कोई भी न माने। तथापि, जैसे रामायण के अन्य कांडों मे गोस्वामी-जी की कवित्व-शक्ति की पूर्ण झलक मिलती है, और पूर्वोक्त दोनो कांड पढ़कर पाठक अवाक् रह जाते है, वही सूर-कृत दशम के पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कंधों का हाल है। सूरसागर मे श्रीमद्भागवत के आशय पर विवरण है, परंतु कथाएँ बहुत न्यूनाधिक हैं। प्रथम नव स्कंधों मे विविध वार्ताएँ और कथाएँ हैं, तथा दशम मे श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं का वर्णन है । एकादशम स्कंध मे उद्धव का बदरिकाश्रम-गमन एवं हंसावतार की कथा है । बारहवे स्कंध मे बौद्धावतार, भविष्य कल्कि-अवतार एवं परीक्षित के शरीर-त्याग का वर्णन है । उस समस्त सूरसागर में, जो बाबू राधाकृष्णदास द्वारा प्रकाशित हुआ, ४०१८ पद हैं। सूरदास ने प्रत्येक वर्णन सूक्ष्म रूप से किया, केवल, श्रीकृष्ण ने नंद-गृह में बसकर जो लीला की, उसका और उद्धव-संवाद का कथन विस्तार-पूर्वक है; परंतु इन्हीं दोनो वर्णनों में सूरदास ने दिखा दिया है कि विस्तार किसे कहते है? सूर व्रजवासी कृष्ण, विशेषतया राधा-कृष्ण, के भक्त थे। अत: ज्यो ही कृष्ण मथुरा को चले गए, त्यों ही उनका भी वर्णन संक्षेप से होने लगा। कही-कही आपने कार्यों के वर्णनों में बड़ी ही द्रुत गति का आश्रय लिया है। आप व्रज में मथुरा को नहीं जोड़ते (पृष्ठ ५६२)। व्रजवासीदास ने व्रजविलास को इसी पुस्तक के सहारे बनाया। इस ग्रंथ के गुणों एवं दोषों का वर्णन सौर कविता की समालोचना में किया जाता है।

कविता की समालोचना

(१) सूरदास की कविता में सर्व-प्रधान गुण यह है कि उसके पद-पद से कवि की अटल भक्ति झलकती है । प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा हो। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगें उसके चित्त मे उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो

वह सिवा चोरी के और क्या करेगा ? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया। तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे ? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो इस विषय पर उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा ! ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक़ल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त मे वैराग्य संबंधी असली भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा, तभी कविता असली और सजीव होगी। इसी कारण उर्दू के कवियों मे यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी ख़ास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक़ हो आओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता में सूल्यो लग्यो।"

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमे भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद, कर्म-भेद आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और मानव हृदय का एकमात्र शृंगार समझते थे। इनके मत में, यदि कोई मनुष्य भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो (पृष्ठ ४, संख्या १८)। कोई मनुष्य चाहे जितना चंदन आदि क्यो न लगाता हो, परंतु यदि शुद्ध भक्ति नहीं है, तो वह अपना समय वृथा नष्ट करता है (पृष्ठ ५, संख्या २८)। यह महाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्त क्योंकर न हो ? जो भक्ति नही करता था, उस पर यह अचंभा करते थे (पृष्ठ ३५, संख्या १३)। यह कहते थे—'भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ' (पृष्ठ ३१, संख्या २०३)। भक्ति के विषय में, संक्षेप में, इनका मत यह था—

तजौ मन, हरि - बिमुखन को संग ;
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग।
कहा होत पय-पान कराए, बिष नहिँ तजत भुजंग ;
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए गंग।
खर को कहा अरगजा - लेपन, मरकट भूषन - अंग ;
गज को कहा न्हवाए सरिता, बहुरि धरै खहि छंग।

पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतो करत निषंग,
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग।
(पृष्ठ ३१, संख्या २०४)

भजन बिनु कूकर - सूकर - जैसो ;
जसे घर बिलाव के मूसा, रहत बिषय-बस वैसो ;
उनहू के गृह, सुत, दारा हैं, उन्हें भेद कहु कैसो ?

यह महाराज जगदीश्वर, राम एवं कृष्ण को एक ही समझते थे—

सोई बड़ो जु रामहिं गावै।
श्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
बिनु गोपाल द्विज - जनम न भावै।
होय अटल जगदीस - भजन में,
सेवा तासु चारि फल पावै।
(पृष्ठ १८, सख्या ११८)

और, शेष देवतों मे देव-भाव नही रखते थे। यथा—

और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
(पृष्ठ १६, संख्या १०३)

सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।
सगुणोपासना करने का कारण आपने इस प्रकार लिखा है—

अबिगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै ;
मन बानी को अगम, अगोचर, सो जानै, जो पावै।
रूप - रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन धावै ;
सब बिधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन पद गावै।
(पृष्ठ १, संख्या २)

ऐसे भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतना बड़ा पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है (पृष्ठ ११, संख्या ६६, पृष्ठ १२, संख्या ७३)। इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होने पर भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास की भक्ति मे भेद था। गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी, परंतु इनकी सखा और सखी-भाव की। यह महाशय श्रीकृष्णचद्र को अपना मित्र समझते थे, और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है, और जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हे भी सूरदास डाँट देते थे। इसके अतिरिक्त सखी-भाव भी आपकी रचना मे आता है। तुलसीदास जब कभी राम

की नर-लीला का वर्णन करते हैं, तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं, यह केवल नर-लीला करते हैं। यह बात ऐसे भोंडे प्रकार से भी वह सैकड़ों बार स्मरण कराते है कि जी उकता उठता है, और यह ज्ञान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितनी ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। यह एक-दो बार स्मरण कराने को ही यथेष्ट समझते हैं। इन्होंने, जहाँ तक हमें स्मरण है, केवल दो-चार स्थानों पर सिफ़ारिशी छंद दिए हैं (पृष्ठ ११६, संख्या १६, पृष्ठ १२६, संख्या ६२), परंतु श्रीकृष्णचंद्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक़ था। उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौक़े-बेमौक़े नहीं दिखाया है। पृष्ठ ४७२ पर आपने श्रीकृष्ण को आशीर्वाद भी दिया है। इन्होंने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामो की प्रेम-पूर्ण निंदा भी की है। यथा—पृष्ठ ६, संख्या ३१, पृष्ठ ७, संख्या ३६, और—

हम बिगरी, तुम सबै सुधारी ;
द्विज कानीन हमारे बाबा, कुंडज पिता, जगत में गारी।
हम सब जग-जाहिर जारज है, ताहू पर यक बात बिगारी ;
बड़े कष्ट सों ब्याहु भयो है, पतिनी ह्वै गइ पंच - भतारी।
तुम जानत राधा है छोटी।
हमसों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी-पोटी ;
कबहुँ स्याम सो नेकु न बिछुरति, किए रहति हमसो हठ जोटी।
नँदनंदन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी ;
'सूरदास' प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी।
(पृष्ठ २१६, संख्या ७५)

सखी री, स्याम कहा हितु जानैं ?
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।
(पृष्ठ ४७६, संख्या ८४)

इसी प्रकार सैकड़ों पद सूरदास की कविता में मिलते हैं।

(१) एक महाशय ने ऐसे अवसर पर हमारी नासमझी दिखलाकर अपनी समझ का परिचय दिया है। आप कहते हैं कि न सूरदास ने कृष्ण को काला-कलूटा, न राधा को खोटी कहा है, वरन् ये प्रेम के उपालंभ-मात्र हैं। उनको समझना चाहिए था कि इतनी सुगम बात जानने की शक्ति हममे भी थी। प्रति-पक्षी को मूर्ख बनाकर अपना मतलब निकालना प्रमाण की कमी-मात्र दिखलाना

है। हम भी समझते हैं कि ये वाक्य प्रेम के उपालंभ प्रकट करते है, किंतु कहाँ परमेश्वर, और कहाँ पोच मनुष्य! भक्त लोग बहुधा ईश्वर की बड़ाई करने में भक्ति के नाते अपने को भी उचित से बहुत ऊँचा पद दे डालते हैं। सखा, सखी तथा वात्सल्य भावों की भक्ति इसी प्रकार की है। इतने बड़े ईश्वर से प्रेम के नाते भी खेलवाड़ करने का किसी को अधिकार नहीं। उस खेल को बढ़ाकर भगवान् को काला और कुटिल बनाना हमारी समझ में अक्षम्य दूषण तथा भगवान् की निंदा है। जो समालोचक आलोच्य विषय का इतना मोटा विचार भी न समझ सके, उसे कहा ही क्या जाय?

(२) भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजी के विषय में हमने गोस्वामी तुलसीदास के अवतार-संबंधी वर्णन मे कुछ कथन किया है। उस स्थान पर रामचंद्र का मुख्य विवरण था। अब भगवान् श्रीकृष्णचंद्र-संबंधी शेष कथन यहाँ किया जाता है। आप विष्णु के अवतार कहे गए है। उन (विष्णु) की महत्ता औपनिषत्काल मे नारायण के रूप मे हुई। अनंतर वासुदेव, भगवत् और कृष्ण के रूपो में वैष्णव-पूजन चला। छठी (या चौथी) शताब्दी सं० पू० के पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते थे। गीताकार बादरायण व्यास उत्तर मीमासा में वासुदेव-मत को अवैदिक बतलाकर उसकी समीक्षा करते हैं। इस मत के प्रतिकूल उनकी गीता भी न होगी, किंतु उसमे दूसरी शताब्दी तक के विचार हैं। वर्तमान रूप में गीता मे श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार तथा वासुदेव एवं भगवान् हैं। यह ग्रंथ प्राचीनतम भागों में पाँचवी शताब्दी सं० पू० का है। चौथी शताब्दी सं० पू० का बौद्ध-ग्रंथ निद्देश बलराम के पूजन की साक्षी देकर व्यूह-पूजन का चलन बतलाता है। तीसरी शताब्दी स० पू० का ग्रीक-राजदूत मेगास्थिनीज़ मथुरा में कृष्ण-पूजन का चलन प्रकट करता है। दूसरी शताब्दी सं० पू० के पतंजलि वासुदेव को पूज्य देवता बतलाते हैं, तथा इसी समयवाले घोसुंडी और बेसनगर के शिला-लेख संकर्षण और वासुदेव का पूजन कहते हैं, और सौ वर्ष पीछे का नानाघाट-वाला शिला-लेख भी यही बात लिखता है। पहली शताब्दी के निकट आभीर-जाति मथुरा के निकट बालकृष्ण का पूजन करती थी। इसी समय के घटजातक में बालकृष्ण का वर्णन है, तथा (इसी समय के) अमरकोष मे दामोदर नाम आया है, जो बालकृष्ण से संबद्ध है। इस काल के पूर्व बालकृष्ण का पूजन नही लिखा है। राधा या प्रेम का कथन अब तक भी नही आया है। गुप्तकाल में भागवत, जनार्दन तथा विष्णु-पूजन के प्रमाण मिलते हैं। चौथी और पाँचवी शताब्दी के कालिदास गोपालकृष्ण का कथन करते हैं, और छठी के वराह मिहिर भागवत विष्णु का। शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) के समय और बहुत पहले

भी एकांतिक मत का पता चलता है, जिसमें व्यूह-पूजन का आधिक्य था। उद्योग पर्व मे कृष्ण-पार्थ नर-नारायण है। बारहवी शताब्दी मे निबार्क स्वामी के साथ राधा-पूजन का चलन चलता है, और पीछे से श्रीकृष्ण का वाम-मत पूर्ण शृंगारिक वर्णन होता है। छांदोग्य उपनिषत् मे कोई देवकी-पुत्र कृष्ण अध्यात्म-विद्या-प्रेमी हैं। स्वामी शंकराचार्य का निराधार मत है कि वह कृष्ण दूसरे थे। शायद उन्हे कोई प्रमाण ज्ञात होगा, जो अब अप्राप्य है।

(३) सूरदास की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। चंद आदि के होने पर भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिंदी के प्रेमी परमोत्कृष्ट प्रथम कवि सूरदास ही थे, तो भी इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है, जैसी इनके पीछेवाले कवियों तक मे बहुत कम पाई जाती है। पृष्ठ ५८३ मे आपने 'महलात' शब्द का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता मे मिलित वर्ण बहुत कम आते हैं। माधुर्य और प्रसाद उसके प्रधान गुण है। ओज की मात्रा इनकी कविता मे बहुत कम है। इनको अनुप्रास का इष्ट नहीं था, परंतु उचित रीति पर इन गुणों को यह महाराज अपनी कविता में रखते थे। प्रायः कही यमक आदि के लिये इन्होने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ-गंभीरता से भरे हुए हैं।

सिवा संदिग्ध सूर-सारावली के, समस्त कविता मे इन्होंने छंद इतनी शीघ्रता और इस रीति से परिवर्तित किए हैं कि वे कही अरुचिकर नहीं होते। इन महाराज ने अपनी कविता मे संस्कृत के पद बहुतायत से नही रक्खे, परंतु जहाँ कही वे आए हैं, वहाँ स्तुत्य रीति से। इनके कुछ घनाक्षरी-छंद भी मिले हैं (पृष्ठ ४०४, संख्या ३६ और ३७)। कुछ घनाक्षरी-छंद आपने छ पदों के भी लिखे हैं। सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन मे दिए जायँगे, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(४) उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षादि। यह महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसंद करते थे, और इन्होने उपमाएँ भी बहुत ही अच्छी खोज-खोजकर रक्खी हैं। इनके अर्थ-गांभीर्य, उपमा और पद-लालित्य ऐसे उत्कृष्ट हैं कि किसी कवि को कहना ही पड़ा—

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर (बीरबल);
केसव अरथ-गँभीरता, सूर तीनि गुन धीर।

उदाहरणार्थ इनके दो पद आगे लिखे जाते हैं, जिनसे रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा। आपने प्रायः रूपकों में पूरे वर्णन किए

हैं। संयोग-शृंगार में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा की बहुतायत रक्खी है, और वियोग-वर्णन मे स्वभावोक्ति की। यथा—

अद्भुत एक अनूपम बाग ;
जुगुल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज पराग ;
रुचिर कपात बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित - फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद, काग ;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर-नाग।
अंग-अग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग ;
'सूरदास' प्रभु पिअहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग।

बरनौं श्रीबृषभानु-कुमारि ;
चित दै सुनहु स्याम-सुंदर-छबि, रति नाहीं उनहारि।
प्रथमहिं सुभग स्याम-बेनी की सुषमा कहहुँ बिचारि ;
मानहु फनिक रह्यो पोवन को ससि-मुख सुधा निहारि।
बरनै कहा सीस-सेदुर को, कबि जु रह्यो पचि हारि ;
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि।
भृकुटी बिकट निकट नैनन के राजति अति बर नारि ;
मनहु मदन जग-जीति जेर करि, राखेउ धनुष उतारि।
ता बिच बनी आड़ केसरि की, दीन्हीं सखिन सँवारि ;
मानौ बँधी इंदु - मंडल मैं रूप-सुधा की पारि।
चपल नैन नासा बिच सोभा, अधर सुरंग सुढारि ;
मनो मध्य खजन सुक बैठ्यो लुब्ध्यो बिंब-बिचारि।
तरिवन सुधर, अधर नकबेसरि, चिबुक चारु रुचिकारि ;
कंठसिरी, दुलरी, तिलरी पर, नहि उपमा कहुँ चारि।
सुरँग गुलाब-माल कुच-मंडल, निरखत तन-मन वारि ;
मानौ दिसि निरधूम अगिनि के तपि बैठे त्रिपुरारि।
जौ मेरा कृत मानहु मोहन, करि ल्याऊँ मनुहारि ;
'सूर' रसिक तबही पै बदिहौं, मुरली सकहु सम्हारि।

(५) नख-शिख। पूर्वोक्त दोनो पदो मे कवि की नख शिख-वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है। नख-शिख के श्रेष्ठ वर्णन पृष्ठ ९८, संख्या १८२, पृष्ठ १८६ और १८७, पृष्ठ २७८, संख्या १० के छंदों मे भी हैं, और वे बहुत ही श्लाघ्य तथा सुहावने है।

(६) प्रबंध-ध्वनि। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति इन महाराज ने भी अपनी कविता मे पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है। इस कथन के उदाहरणार्थ पृष्ठ ६, संख्या ४८ देखिए।

(७) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि यह महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सागोपांग वर्णन करते हैं। यह जिस बात का वर्णन विस्तार-पूर्वक कर देते है, उसमें फिर औरों के लिये बहुत कम भाव रह जाते है। या तो बहुत सूक्ष्म वर्णन करते है, या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तर वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवांछित भी इनके भाव लेने पड़ते हैं, क्योकि ऐसी दशा मे यह महाकवि नए भावों के लिये जगह छोड़ ही नही रखते। इसी कारण रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंहदेवजी ने यथार्थ लिखा है कि—

मतिराम, भूषन, बिहारी, नीलकंठ, गंग,
बेनी, सम्भु, तोष, चिंतामनि, कालिदास की ;
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव,
पजन, घनानँद ऽरु घनस्यामदास की।
सुंदर, मुरारि, बोधा, श्रीपति हू दयानिधि,
जुगल, कबिंद त्यों गोबिंद, केसौदास की ;
'रघुराज' और कबिगन की अनूठी उक्ति
मोहिं लगी झूठी जानि जूठी सूरदास की।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूरदास की कविता के नायक यशोदानंदन तथा गोपिका-वल्लभ श्रीकृष्ण थे। अत: इन्होंने श्रीकृष्णचंद्र के उन सभी कार्यों को, जिन्हे उन्होंने यशोदा और गोपियों के संबंध मे किया, विस्तार के साथ लिखा है।

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्कृष्ट वर्णन सूरदास ने किया है, वह कृष्ण की बाल-लीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बाल-चरित्र इस महाकवि ने लिखा है, वैसा संसार-भर के किसी ग्रंथ मे हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चंद्र के विषय में झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जानी इत्यादि वर्णन ऐसे सच्चे ढंग से कहे गए हैं कि जान पड़ता है, सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है। इसके उदाहरण-स्वरूप किस छंद को हम लिखे? पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिल सकता है। ज्यों ही माता ने कहा—"कजरी को पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै", त्यों ही बालक ने तुरंत दूध पीकर पूछा—"मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी?

किती बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी।" उदाहरणार्थ एक छंद नीचे लिखा जाता है—

मातु, मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं, यहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात ;
पुनि - पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम - सरीर ?
चुटकी दै - दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ;
मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति अति मन रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चवाई, जनमत ही को धूत ;
'सूर-स्याम' मोहिं गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत।

(ख) बाल-लीला के पश्चात् इन महाकवि ने माखन-चोरी का वर्णन बड़ा हृदय-ग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी कही है, मानो कोई सचमुच गोपिकाओं को खिझा रहा हो। यशोदा के पास उलाहना आना, उनका गोपिकाओं के कथन पर प्रतीति न करनी, और पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध करने के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना, बड़ी ही स्वाभाविक रीति से कहे गए हैं। बहुत अधिक शिकायतें सुनकर माता का कुछ क्रोध करना, बालक को समझाना और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन चुराया एवं गोपी के लड़के को भी मारा है, उन्हे रस्सी से ऊखल में बाँध देना, ये सब बातें अत्यंत स्वाभाविक रीति से लिखी गई है (पृष्ठ १४२, संख्या २५)।

ऊखल में बाँधने पर जब जब बालक रोया, तब-तब माता ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि वह चोर था। चोरी पर ऐसे समय में ज़ोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और वह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने तथा उसे प्राणों से अधिक चाहने पर भी यशोदा बेजा काम देखकर अदूरदर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठकर कड़ा दंड देती थीं। माखन-चोरी-लीला का भी वर्णन अत्यंत रोचक और स्वाभाविक है।

(ग) ऊखल-बंधन के पश्चात् कालिय-दमन, दावानल-पान और चीर-हरण के भी बड़े ही विशद वर्णन हैं। उद्धृत करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छंद नहीं लिखते। ये वर्णन देखने ही योग्य है। सूरदास ने भोजन के वर्णन अनेक बार किए है। भोज्य वस्तुओं में आप दुष्पाच्य चीज़ों की बहुतायत रखते है। उनमें सघृत एवं मधुर वस्तुओ का प्राधान्य रहता है।

(घ) इसके पीछे रास-लीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही अच्छे हैं। विशेषकर ३९९ से ४११ पृष्ठ-पर्यंत जो मान एवं मान मोचन वर्णित है, उससे प्रकट होता है कि वाल्मीकि की भाँति यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है, अथच महाभक्त होने पर भी शृंगार-रस के गूढ़ विषयों का इनको कितना सच्चा ज्ञान है। यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रास-विलास के वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार-रस का वर्णन करनेवालों की रचना की भाँति कोरा काव्य-मात्र है, या किसी कथा का अंग भी। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे, तो उसका जी अवश्य उकता जाय, परंतु वास्तव मे ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं। केशवदास, दास आदि की भाँति इन्होने अपनी रचना मे अन्यो की कविताओं से उठा-उठाकर उल्था नही रक्खा है, न किसी ऐसे विषय को विस्तार से कहा ही है, जिसमें इन्हे पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती। अतः इस कविता मे जहाँ कही विस्तृत वर्णन हैं, वही वे सच्चे, असली, ख़ास सूरदास के भावों से भरे हैं, और इसी कारण इन कविवर ने शुद्ध पाठकों से ऐसे-ऐसे वचन कहला ही लिए कि—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास;
अब के कबि खद्योत - सम जहँ - तहँ करत प्रकास।
कबिता - करता तीनि है, तुलसी, केसव, सूर;
कबिता - खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर।
तत्त्व - तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी;
बची - खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी।
किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर;
किधौं सूर को पद लग्यो, तन - मन धुनत सरीर।

अंतिम दोहा तानसेन ने बनाकर सूरदास को सुनाया था। इसके उत्तर में सूरदास ने निम्न-लिखित दोहा पढ़ा—

बिधना यह जिय जानिके सेसहि दिए न कान;
धरा, मेरु, सब डोलते तानसेन की तान।

सूरदास इतने सच्चे और यथार्थ-भाषी कवि थे कि इनकी कविता मे असंभव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है, अर्थात् किसी असंभव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा। "बिध्य लगि बाढिबो उरोजन को पेखो है" की भाँति के कथन इन सच्चे कवि को नहीं भाते थे। इस यथार्थ-भाषण के प्रतिकूल हम

श्रीकृष्णचंद्र के संबंध में ऐसी कथाओं का वर्णन, जो अब असंभव ज्ञात होती हैं, प्रमाण-स्वरूप नहीं मानते; क्योंकि वे उस कथा के अंग हैं, जिसे यह महात्मा कहने बैठे है। इसी यथार्थ-भाषण की आदत के कारण इन्होंने कई स्थानों पर विस्तार से सुरति का वर्णन किया है, और कहीं-कहीं ऐसी-ऐसी गालियाँ दिलाई गई हैं, जिनको कविता में रखना साधारणी सभ्यता के प्रतिकूल है। कहना न होगा कि ये वर्णन भी सराहनीय अवश्य हैं।

(ङ) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है, परंतु कविता-रीति के नियमानुसार उसे न लिखकर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होती है, उसी का वर्णन, कथा-प्रसंग की भाँति, इन्होंने किया है, और जिस नायिका का प्रसंग चलाया, उसका अपनी विस्तारकारिणी प्रकृति के अनुसार कुछ देर तक वर्णन किया। इन्होंने सब नायिकाओं का कथन न करके बहुत कम का किया, परंतु जो कुछ कहा, वह परम मनोहर है। अधिक उदाहरण न देकर केवल धीरादि-भेद का एक पद नीचे लिखते हैं—

अतिहि अरुन हरि, नैन तिहारे ;
मानहुँ रति-रस भए रँगमगे, करत केलि पिय पलक न पारे।
मंद-मंद डोलत संकित-से, राजत मध्य मनोहर तारे ;
मनहुँ कमल-संपुट महँ बाँधे, उड़ि न सकत चंचल अलि-बारे।
झलमलात, रति-रनि जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे ;
मानहुँ सकल जगत जीवन को काम-बान खर सान सँवारे।
अटपटात, अलसात, पलक-पुट मूँदत, कबहूँ करत उघारे ;
मनहुँ मुदित मरकत - मन - अंगन खेलत खंजरीट - चटकारे।
बार-बार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे ;
'सूर' स्याम सुखदायक रोचन, दुख- मोचन लोचन रतनारे।

कथाओं के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी रचना में काल-विरुद्ध दूषण आ जाता है ; जैसे दावानल में गोवर्द्धन-धारण का, और गोवर्द्धन-धारण में दावानल-पान का। ऐसे स्थानों पर कथा न मानकर साधारण साहित्य का विवरण समझना चाहिए।

(च) इन सब कथाओं के पीछे इन महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने 'क़लम तोड़ दी', तो हम अवश्य कहेंगे कि व्रज-विरह-वर्णन में इन महाकवि ने सचमुच क़लम तोड़ दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़कर जान पड़ता है कि सूरदास वियोग-श्रृंगार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का

वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा बढ़िया और स्वाभाविक नहीं किया। इस विषय में भी कोई छंद उदाहरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते, क्योंकि एक रोएँ से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता। वियोग-वर्णन में आपने राधा का नाम बहुत नहीं लिया।

(छ) उद्धव-संवाद भी बहुत ही विस्तृत रूप से कहा गया है। यह पृष्ठ ५०२ से प्रारंभ होकर पृष्ठ ५६२ पर समाप्त होता है, और ये पृष्ठ रॉयल अठपेजी के ढाईगुने होंगे! यह भी आद्योपांत प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा होगा, जो इसमे न आ गया हो। इसमें बड़े ही प्रशंसनीय पद मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे लिखा जाता है—

ऊधो, मन न भए दस-बीस;
एक हुतो, सो गयो स्याम-सँग, को अवराधै ईस।
इंद्री सिथिल भईं केसव बिनु ज्यों देही बिनु सीस;
आसा लगी रहति तनु-स्वासा, जीजै कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम-सुंदर के, सकल जोग के ईस;
'सूरदास' वा रस की महिमा, जो पूँछै जगदीस।

उद्धव-संवाद मे गोपियो ने कही-कही ज्ञान को व्यर्थ माना है, और कही-कही अपनी योग्यता के लिये बहुत ऊँचा। निर्गुणोपासना का खंडन अवतार के सिद्धांत को ठीक मानकर किया गया, जो तार्किक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। सगुणोपासना के उत्तर में उद्धव से जो कथन कराए गए हैं, वे ऐसे निर्जीव हैं, मानो कोई थका हुआ व्यक्ति बोझ उतार रहा हो। निर्गुणोपासना के साथ न्याय नहीं हुआ है। निर्गुण-सगुण का कुछ ब्योरा कबीर के कथन में मिलेगा। अंत में उद्धवजी भी ज्ञान भूलकर प्रेम-मग्न हो गए, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे। उसके बाद उन्होंने यदुपति के पास जाकर गोपियों की बड़ी सिफ़ारिश की।

(ज) अन्य राजों की कथा एवं युद्धादि वर्णन करने का प्रयत्न इन सच्चे कवि ने, इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया; और जहाँ किया भी, वहाँ वह अच्छा नहीं बना। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास में यही अंतर है। गोस्वामीजी ने कुल बातों का वर्णन अच्छा और अपने ख़ास विषयों का बड़ा ही विशद किया है; किंतु महात्मा सूरदास ने अपने कुछ ख़ास विषयों का वर्णन ऐसा किया है, जैसा कि गोस्वामीजी या संभवतः किसी भाषा का कोई कवि नहीं कर सका, परंतु साधारण विषयों का कथन बहुतेरे कवियों से भी ख़राब किया है। उनको अच्छे प्रकार से कहने का इन्होंने प्रयत्न ही नहीं

किया। इसी कारण सूरसागर के इधर-उधर दो-चार पृष्ठ पढनेवाले इन्हे साधारण कवि समझ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके विशद वर्णन संग्रह करके रामायण की इतनी पोथी निकाल ले, तो उसके देखने से सूरदासजी की कविता का पूरा आनंद मिल सके। कुछ दिन हुए, सूर-सुधा-नामक एक ऐसा ही संग्रह हमीं ने बनाया है, जिसका प्रथम खंड मनोरंजन-पुस्तकमाला में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इधर 'संक्षिप्त सूरसागर' नाम से अन्य दो संग्रह भी प्रकाशित हो गए हैं।

(झ) इन्होंने स्फुट विषयों का वर्णन भी कहीं-कहीं अच्छा किया है। प्रीति के विषय में इनका मत है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ;
प्रीति पतंग करी दीपक सो, अपनी देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो ;
सारँग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सो, चलत न कछू कह्यो ;
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो।

सत्संग पर सूरदास को बड़ी श्रद्धा थी। इस बात मे भी तुलसीदास से इनका मत मिलता है। यथा—

जा दिन संत पाहुने आवत ;
तीरथ-कोटि अन्हान करैं फल, जैसो दरसन पावत।
नेह नयो दिन-दिन-प्रति उनको, चरन-कमल चित लावत ,
मन-बच-क्रम औरन नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत।
मिथ्यावाद-उपाधि-रहित ह्वै, बिमलि-बिमलि जस गावत ;
बंधन करम कठिन जो पहिले, सोऊ काटि बहावत।

इस छंद से सूरदास के रहन-सहन का भी पता लगता है।

इन महाशय ने पाँच पृष्ठों तक केवल मुरली का वर्णन किया है। उसमें बड़े ही बढ़िया पद लिखे हैं। जब श्याम का इतना वर्णन है, तब फिर मुरली ही क्यों रह जाय ? यह इन्हीं का काम था कि मुरली-जैसे विषय पर क़रीब चालीस पद लिख गए।

इन महाकवि ने पृष्ठ ३१६ से क़रीब १८ पृष्ठों मे केवल नेत्रों का वर्णन किया है। ऐसे-ऐसे छोटे विषयों पर इतनी बड़ी एवं बढ़िया कविता रच डालना साधारण कवि का काम नहीं है। इस वर्णन में भी अच्छे पद बहुत हैं। उदाहरण लीजिए—

नैना नाहीं कछू विचारत ;
सनमुख समर करत मोहन सों, जद्यपि हैं हठि हारत।
अवलोकत अलसात नवल छबि, अमित तोष अति आरत ;
तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूँघट पटहि बिदारत।

(७) सूरदास ने कई जगह पर पदों में कथाएँ कहकर फिर उनको साधारण छंदों मे सूक्ष्म रूप से दुहराया है। इन सबमे कालिय-दमन की दुबारा कथा श्लाघ्य है, परंतु उसमें भी यह दोष है कि कृष्ण और नागिन की बातचीत में कृष्ण ने उसको बहुत फटकारा है। कृष्ण उस समय बालक थे। शायद यही विचारकर सूर ने उनसे ऐसा कहलाया हो।

(८) सूर ने जगह-जगह पर कूट लिखे है। उनमें अलंकार, रसांग आदि भी आए है। उदाहरण-स्वरूप सरदार-कृत सूर-दृष्ट-कूट (मुंशी नवलकिशोर के यहाँ मुद्रित हुई प्रति) के पृष्ठ ६४ पर लिखित एक कूट हम यहाँ लिखते हैं (उसका अर्थ भी उसी पृष्ठ पर सरदार ने लिखा है।)—

जनि हठि करहु सारँग-नैनी ;
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग-बैनी।
सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँग सुत दृढ़ निरखनि पैनी,
सारँग कहो सु कौन बिचारो, सारँगपति सारँग रचि सैनी।
सारँग सदनहि लै जु बहन गए, अजहुँ न मानत गत भइ रैनी ;
'सूरदास' प्रभु तव मग जोवै, अधकरिपु ता रिपु सुख-दैनी।

(९) इन्होंने लोगों का चरित्र भी अच्छा दिखलाया है। यशोदा के यद्यपि एक ही पुत्र वृद्धावस्था में हुआ था, तथापि वह उसकी बेजा चाल-ढाल पर कड़ा दंड तक देती थीं। ऐसी उदार-हृदया भी थी कि रोहिणी-पुत्र बलदेव को अपने पुत्र से भी अधिक मानती थी। यथा—

हलधर कहत प्रीति जसुमति की।
एक दिवस हरि खेलत मोसों, झगरो कीन्हों पेलि ;
मोको दौरि गोद करि लीन्हों, इनहिं दियो कर ठेलि।

इन्होंने कृष्ण के चले जाने पर देवकी से जो संदेश कहला भेजा है, वह विशेष रूप से देखने योग्य है—

सँदेसो देवकी सों कहियो ;
हौं तो धाय तिहारे-सुत की, मया करत नित रहियो।
जद्यपि टेंव तुम जानत उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै ;
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन-रोटी भावै।

तेल, उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भगि जाते ;
जोइ-जोइ माँगत, सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि मोंहि रैनि-दिन बढ़ो रहत उर सोच ;
मेरो अलख - लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत सकोच।

यशोदा के शील-गुण में केवल यह बात अनुचित जान पड़ती है कि उन्होंने नंद से बार-बार कहा—"दशरथ तुमसे अच्छे थे, क्योंकि तुम पुत्र को मथुरा में छोड़कर जीते-जागते घर चले आए !" इन्होंने शायद अपनी यथार्थ-भाषण की टेंव से ऐसा कहला दिया हो।

कुब्जा का चरित्र भी नौ बढ़ियों की भाँति ख़ूब ही दिखाया गया है। वह समझती थी कि गोपी ग्रामीण थी, अत: श्याम को अपने वश में न रख सकीं, परंतु वह ख़ुद नागरी थी, सो उसने उन्हें लुभा लिया। उस दासी ने केवल यह सोचा ही नहीं, गोपियों से उद्धव द्वारा कहला भी भेजा (पृष्ठ ५०४-५०५)।

(१०) यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि इन्होंने गोपियों के मुख से काले रंग की ख़ूब निंदा कराई है, और अंत-पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफ़ारिशी छंद नहीं लिखा। वे कहती थीं—

सखी री, स्याम सबै इकसार ;
मीठे बचन सोहाए बोलत, अंतर - जारनहार।

❀ ❀ ❀

भँवर, कुरंग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार।
सखी री, स्याम कहा हितु जानै ?
कोऊ प्रीति करौ कैसे हू, वह अपने गुन ठानै।
देखौ या जलधर की करनी, बरषत पोषै आनै ;
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।
ऊधौ, कारे सबहि बुरे।

इससे ज्ञात होता है, सूरदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, विना अपनी सम्मति प्रकट किए न रहा जाता। अँगरेज़ी में ऐसे कवियों को सर्वव्यापक-दृष्टि के कवि (Poets of general vision) कहते हैं। सूरदास इसी प्रकार के कवि थे। भाषा-साहित्य में सूरदास, तुलसीदास और देव, ये सर्वोच्च तीन कवि हैं। इनमें न्यूनाधिक बतलाना मत-भेद से ख़ाली नहीं है। सूरदास की गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियों

में है। हम लोगों का अब यह मत है कि हिंदी मे तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूरदास का नंबर आता है, और तब देव का। महात्मा सूरदास हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि ही के समान यह हिंदी के प्राचीन सत्कवि है, और उन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वांग-सुंदर होते है।

गोस्वामी सूरदास के विषय मे हम थोडे मे अपना मत प्रकट कर चुके हैं। कुछ उदाहरण भी आगे लिखे जाते है। इनके तीन संग्रह ग्रंथ निकल चुके है। इसलिये यद्यपि यहाँ उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता न थी, तो भी साम्य के विचार से यहाँ भी कुछ उदाहरण दिए जाते है। ये सूर-सुधा के छंदों से भिन्न है। जो महाशय प्रचुर उदाहरण देखना चाहे, वे हमारी सूर-सुधा देखने का कष्ट उठावे।

उदाहरण—

नीबी ललित गही हरि राई।
जबहिँ सरोज धरो श्रीफल पर तब जसुमति गइ आई;
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन मे बुधि उपजाई।
देखो ढीठ, देति नहिँ माता, राखो गेंद चुराई,
काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न, देउँ बताई।
देखि बिनोद बाल-सुत को, तब महरि चली मुसुकाई;
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जानै इहि भाई॥ १॥
मोहन कर ते दोहनि लीनी, गोपद बछुरा जोरे;
हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन, छीर-छीटि छल-छोरे।
आनन रही ललित पय-छींटै, छाजति छबि तृन-तोरे;
मनहुँ निकसि निकलंक कलानिधि दुग्ध-सिंधु के बोरे।
दै घूँघुट-पट ओट नील हँसि, कुँअरि मुदित मुख मोरे;
मनहुँ सरद-ससि को मिलि दामिनि घेरि लियो घन घोरे।
यहि बिधि रहसत, बिलसत दंपति, हेत हिए नहिँ थोरे;
'सूर' उमँगि आनंद-सुधानिधि, मनो बिलावल फोरे॥ २॥
डसी री माई स्याम-भुअंगम कारे;
मोहन मुख मुसुकानि मनहुँ बिष, जाति मरे सो मारे।
फुरै न मंत्र, जंत्र गति नाही, चले गुनी गुन-डारे;
प्रेम-प्रीति-बिष हिरदै लागी, डारत है तनु जारे।
निर्बिष होत नही कैसेहु करि, बहुत गुनी पचि हारे;
'सूर' स्याम गारुड़ी बिना को मो सिर गाड़ उतारे॥ ३॥

अबही देखे नवलकिसोर ,
घर आवत ही तनक भए है, ऐसे तन के ओर।
कछु दिन करि हरि माखन-चोरी, अब चोरत मन मोर ;
बिबस भई, तनु-सुधि न सँभारति, कहत बात भइ भोर।
यह बानी कहत ही लजानी, समुझि भई जिय ओर ;
'सूर' स्याम मुख निरखि चली घर आनँद लोचन लोर ॥ ४ ॥

सखियन बीच नागरी आवै ;
छबि निरखत रीझै नँद - नंदन, प्यारी मनहि रिझावै।
कबहुँक आगे, कबहुँक पाछे, नाना भाव बतावै ;
राधा यह अनुमान कियो, हरि मेरे चितहि चोरावै।
आगे जाइ, कनक - लकुटी लै, पंथ सँवारि बतावै ;
निरखत, छाँह जहाँ प्यारी की तहँ लै छाँह छुवावै।
छबि निरखत तनु वारत अपनो, नागरि जियहि जनावै ;
अपने सिर पीताबर वारत, ऐसे रुचि उपजावै।
ओढ़ि ओढनियाँ चलत दिखावत, यहि मिस निकटहि आवै ;
'सूर' स्याम ऐसे भावनि सो राधा मनहि रिझावै ॥ ५ ॥

बिनती सुनहु देव मघवापति ,
कितक बात गोकुल ब्रजबासी, बार-बार रिस करत जाहि अति।
आपुन बैठि देखियो कौतुक, बहुतै आयसु दीनो ,
छिन मे बरषि प्रलय - जल पाटौं, खोजु रहै नहिँ चीनो।
महाप्रलय हमरे जल बरषै, गगन रहै भरि छाइ ;
अछै - बिरछ - बट बचतु निरंतर, कह ब्रज, गोकुल गाइ।
चले मेघ माथे कर धरिकै, मन में क्रोध बढाइ ;
उमड़त चले इंद्र के पायक, 'सूर' गगन रहे छाइ ॥ ६ ॥

धरनि-धर क्यों राख्यो दिन सात ?
अति ही कोमल भुजा तुम्हारी, चापति जसुमति मात।
ऊँचो अति बिस्तार, भार बहु, यह कहि-कहि पछितात ;
वह अगाध, तेरे तनक-तनक कर, कैसे राख्यो तात ?
मुख चूमति, हरि कंठ लगावति, देखि हँसे बल भ्रात ;
'सूर' स्याम को कितिक बात यह, जननी जोरति नात ॥ ७ ॥

मात-पिता इनके नहिँ कोई ,
आपुहि करता, आपुहि हरता, त्रिभुवन रहत है जोई।

किंतिक बार अवतार लियौ ब्रज, ये है ऐसे वोई ;
जल-थल, कीट - ब्रह्म के व्यापक, और न इन सरि होई ।
बसुधा - भार उतारन कारन आपु रहत तनु गोई ;
'सूर' स्याम माता - हितकारी, भोजन माँगत रोई ॥ ८ ॥

नंद-सुअन यह बात कहावत ;
आपुन जोबन-दान लेत है, तापर जोइ-सोइ सखनि कहावत ।
वै दिन भूलि गए हरि, तुमको, चोरी माखन खाते ?
खीझत ही भरि नयन लेत हे, डर डरात भजि जाते ।
जसुमति जब ऊखल सों बाँधति, हम ही छोरत जाइ ;
'सूर' स्याम, अब बड़े भए हौ, जोबन-दान सुहाइ ॥ ९ ॥

लरिकाई की बात चलावति ,
कैसी भई, कहा हम जानैं, नेकहु सुधि नहिँ आवति ।
कब माखन चोरी करि खायो, कब बाँधे धौं मैया ?
भले - बुरे को मात - पिता तन हरषत ही दिन जैया ।
अपनी बात खबरि करि देखहु, न्हात जमुन के तीर ;
'सूर' स्याम तब कहत सबनि के कदम चढ़ाए चीर ॥ १० ॥

सबै रही जल माँझ उघारी ;
बार-बार हा-हा करि थाकी, मै तट लिए हँकारी ।
आई निकसि बसन बिनु तरुनी, बहुत करी मनुहारी ;
कैसे हास भए तब सबके, सो तुम सुरति बिसारी ।
हमहिँ कहति दधि - दूध चुराए, अरु बाँधे महतारी ;
'सूर' स्याम के भेद-बचन सुनि हँसि सकुची ब्रज-नारी ॥ ११ ॥

गन गंधर्ब देखि सिहात ;
धन्य ब्रज - ललनानि कर ते ब्रह्म माखन खात ।
नही रेख, न रूप, नहिँ तन, बरन नहिँ अनुहारि ;
मात - पितु दोऊ न जाके, हरत, मरत न जारि ।
आपु करता, आपु हरता, आपु त्रिभुवन - नाथ ;
आपु ही सब घटन ब्यापी, निगम गावत गाथ ।
अंग प्रति - प्रति - रोम जाके कोटि - सत ब्रह्मंड ;
कीट ब्रह्म प्रयंत जल - थल, इनहि ते यह मंड ।
बिश्व बिश्वंभरन एई, ग्वाल - संग बिलास ;
सोई प्रभु दधि - दान माँगत, धन्य 'सूरजदास' ॥ १२ ॥

तै मेरे हित कहत सही री ;
यह मोको सुधि भली दिवाई, तन बिसरे मै बहुत बही री।
जब ते दान लियो हरि हमसों, हँसि-हँसिकै कछु बात कही री ;
काके घर, काके पितु माता, काके तन की सुरति रही री ?
अब समुझति कछु तेरी बानी, आई हौं लइ दही-मही री ;
सुनहु 'सूर' प्रातहि ते आई, यह कहि-कहि जिय लाज गही री ॥ १३ ॥

तऊ न गोरस छाँड़ि दयो ;
चहुँ फल भवन गह्यो सारँग-रिपु, बाजि धरा अथयो।
अमी-बचन रुचि रचत कपट हठि, झगरो फेरि ठयो ;
कुमुदिनि प्रफुलित हौ जिय सकुची, लै मृग चंद जयो।
जानि निसा ससि रूप बिलोकत नवल किसोर भयो ;
तब ते 'सूर' नेक नहिँ छूटत, मन अपनाइ लयो ॥ १४ ॥

तुमसो कहा कहौ सुंदरधन ,
या ब्रजमै उपहास चलत है, सुनि-सुनि स्रवन रहति मन-ही मन।
जा दिन सबनि बछरु-नोई करि, मो दुहि दई धेनु बंसी बन ;
तुम गहि बाँह सुभाइ आपने, हौं चितई हँसि नेकु बदन तन।
ता दिन ते घर-मारग जिन-तित, करत चबाउ सकल गोपी जन;
'सूर' स्याम सों साँचु सारिहौं, यह पतिबरत सुनहु नँद-नंदन ॥ १५ ॥

इह न होइ हरि माखन-चोरी ;
तब वह मुख पहिँचानि, मानि सुख, देती जान हानि हुति थोरी।
उनहिँ दिननि सुकुआर हुते हरि, हौं जानत अपनो मन भोरी;
ब्रज बसि बास बड़े के ढोटा, गोरस - कारन कानि न तोरी।
अब भए कुसल किसोर नंद-सुत, हौ भइ सजग समान किसोरी;
जात कहाँ बलि बाँह छुड़ाए, मूसे मन संपति सब मोरी।
नख-सिख लौं चितचोर सकल अँग, चीन्हे पर कत करत मरोरी ?
यक सुनि 'सूर' हरयो मेरो सरबस, अरु उलटी डोलों सँग डोरी ॥ १६ ॥

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे ;
बाँह मरोरि जाहुगे कैसे, मै तुमको नीके करि चीन्हे।
माखन-चोरी करत रहे तुम, अब तो भए मन - चोर ;
सुनत रही, मन चोरत है हरि, प्रगट लियो मन मोर।
ऐसे ढीठ भए तुम डोलत, निदरे ब्रज की नारि ;
'सूर' स्याम मोहू निदरौगे, देत प्रेम की गारि ॥ १७ ॥

मन-ही-मन रीझति है राधा, बार-बार पिय-रूप निहार ;
निरखि भाल बेंदी सेंदुर की, वा छबि पर तन, मन, धन वारै ।
यह मन कहति, सखी जनि देखै, बूझै पर कह कै हौं ?
तिहूँ भुवन सोभा, सुख की निधि, कैसे उनहि दुरैहौं ।
पग जेहरि, बिछियन की झमकनि, चलत परस्पर बाजत ;
'सूर' स्याम-स्यामा सुख जोरी, मनि - कंचन - छबि लाजत ॥१८॥

यह बृषभानु-सुता, वह को है ?
याकी सरि जुवती कोउ नाही, यह त्रिभुवन-मन मोहै ।
अति आतुर देखन को आवति, निकट जाय पहचानो ;
ब्रज मे रहति किधौ कहुँ औरै, बूझे ते तब जानो ।
यह मोहिनी कहाँ ते आई, परम सलोनी नारि ?
'सूर' स्याम देखत मुसुकानी, करी चतुरई भारि ॥१६॥

इनते निधरक और न कोई ;
कैसी बुद्धि रची है नोखी, देखी - सुनी न होई ।
यहि राधा सों हाथ बिधाता, बुद्धि चतुरई आनी ,
कैसे स्याम चुराइ चली लैं, अपने भूषन ठानी ।
और कहा इनको पहिचानै, मोपै लखे न जात ;
'सूर' स्याम चंद्रावलि जाने, मन - ही - मन मुसुकात ॥२०॥

हरि परदेस बहुत दिन लाए ;
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए ।
बीर बटाऊ पंथी हो तुम, कौन देस ते आए ?
यह पाती हमरी लै दीजो, जहाँ साँवरे छाए ।
दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए ;
'सूरदास' गोकुल ते बिछुरे, आपुन भए पराए ॥२१॥

किते दिन हरि-दरसन बिन बीते ;
एकौ फुरत न स्यामसुँदर बिन, बिरह सबै सुख जीते ।
मदनगोपाल बैठि कंचन-रथ, चितइ किए तनु रीते ;
सुफलक-सुत लै गए दगा दै, प्रानन ही के प्रीते ।
बहुरि कृपालु घोष कब आवहिं, मोहन राम समीते ?
'सूरदास' प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते ॥२२॥

जनि चालहि अलि, बात पराई ;
नहिँ कोउ सुनै, न समुझत ब्रज में, नइ कीरति सब जात हिराई ।

जाने समाचार, सुख पाए, मिलि कुल की आरति बिसराई ;
भले ठौर बसि भली भई मति, भले ठौर पहिँचान कराई।
मीठी कथा कटुक-सी लागति, उपजत है उपदेस खटाई ;
उलटे न्याउ 'सूर' के प्रभु के बहे जात माँगत उतराई ॥ २३ ॥

हरि है राजनीति पढ़ि आए ;
समुझी बात कहत मधुकर सो, समाचार सब पाए।
पहिले ही अति चतुर हुते, अरु गुरु सब ग्रंथ दिखाए ;
बाढी बुद्धि, कहत जुवतिन को, जोग-सँदेस पठाए।
आगे हूँ के लोग भले हो, पर-हित डोलत धाए ;
अब अपने मन फेरि पाइहै, चलत जो होहिँ पराए।
ते क्यों नीति करैं आपुन, जिन औरन अपथ छुड़ाए ?
राज-धर्म सुनि इहै 'सूर' जिहि, प्रजा न जाहिँ सताए ॥ २४ ॥

ऊधो, हरि यह कहा बिचारी ?
सदा समीप रहत बृंदाबन, करत बिहार बिहारी।
एक तौ रंग रचे कुबिजा के, बिसरि गए सब नारी ;
कछु इक मंत्र कियो उन दासी, तेहि बिनोद अधिकारी।
दिन दस और रहौ तुम इतही, देखौ दसा बिचारी ;
प्रान रहत है आसा लागे, कब आवै गिरधारी।
तुम तौ कहत जोग है नीको, कहो, कौन बिधि कीजै ?
हम तन ध्यान नंद-नंदन को निरखि-निरखि सो जीजै ॥ २५ ॥

सुंदर स्याम-कंठ बैजंती, माथे मुकुट बिराजै ;
कमल-नैन, मकराकृति कुंडल, देखत ही भव भाजै।
याते जोग न आवै मन मे, तू नीके करि राखि,
'सूरदास' स्वामी के आगे निगम पुकारत साखि ॥ २६ ॥

ऊधो, मनमाने की बात ;
दाख-छोहारा छाँड़ि अमिय-फल बिष-कीरा बिष खात।
जो चकोर को दइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात ;
मधुप करत घर फोरि काठ मे, बँधत कमल के पात।
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात ;
'सूरदास' जाको मन जासो, सोई ताहि सुहात ॥ २७ ॥

महाकवि देवदत्त (देव)

देवदत्त, उपनाम 'देव', का जन्म सं० १७३० वि० में हुआ। इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथ भावविलास के अंत में, निम्न-लिखित दोहे मे, अपना समय कहा है—

सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष;
कढ़ी देव - मुख देवता, 'भावविलास' सहर्ष।

देवजी ने अपने ग्रंथों मे सन्-संवत् का ब्योरा बहुत कम दिया है, और अपने विषय मे तो प्राय: कुछ भी नहीं कहा। इन कारणों से इनके विषय में बहुत कम बाते ज्ञात है। इन्होंने कहा है—

द्योसरिया कवि देव को नगर इटायो बास।

इससे विदित होता है कि देवजी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण एवं इटावा नगर के रहनेवाले थे। इटावे मे हमने पूछ-जाँच की, तो विदित हुआ कि यह द्योसरिया (दुसरिहा) कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे, और पंसारी टोला, बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे। इनके वंशधर इटावे से प्राय: ३२ मील पर, मौज़ा कुसमरा (मैनपुरी) में, अब तक मौजूद हैं। इन्ही लोगों के द्वारा देवजी का वंश-वृत्त एवं इनके वंशज भोगीलाल का बनाया 'बखतेश-विलास' ग्रंथ मिला है। उक्त ग्रंथ में जो कवि-वंश दिया है, वह इस प्रकार है—

कास्यप गोत्र द्विवेदि कुल कान्यकुब्ज कमनीय;
देवदत्त कवि जगत मै भए देव रमनीय॥ १॥
जिनको श्रीनवरंग सुत आजमसाहि सुजान;
जाहिर करो जहान मै मान - सहित सनमान॥ २॥
तिनके पुरुषोत्तम भए सकल सुमति के ईस;
निपुन जु जुक्ति सुउक्ति मैं उद्यत उक्ति फनीस॥ ३॥
तिनके सोभाराम सुत कबिबर भए बिनीत;
सीता श्रीरघुनाथ के चरचे चरन पुनीत॥ ४॥
तिनके भोगीलाल सुत बरनत बखत - बिलास; (प्रपौत्र)

यह बखत-विलास ख़ुद भोगीलाल का लिखा हुआ सं० १८५७ का हमने

महाकवि देव

अनुभव - सागर, रसिक - बर, भाषा - भानु बिसाल ;
करत छंद - रचना लखौ देव सकल - गुन - आल ।

देखा है। यह प्रति कुसमरा में पं० मातादीन मास्टर के पास प्रस्तुत है। देव के वंशजों द्वारा जो और वंश-वृत्त मिला है, वह भी दिया जाता है—
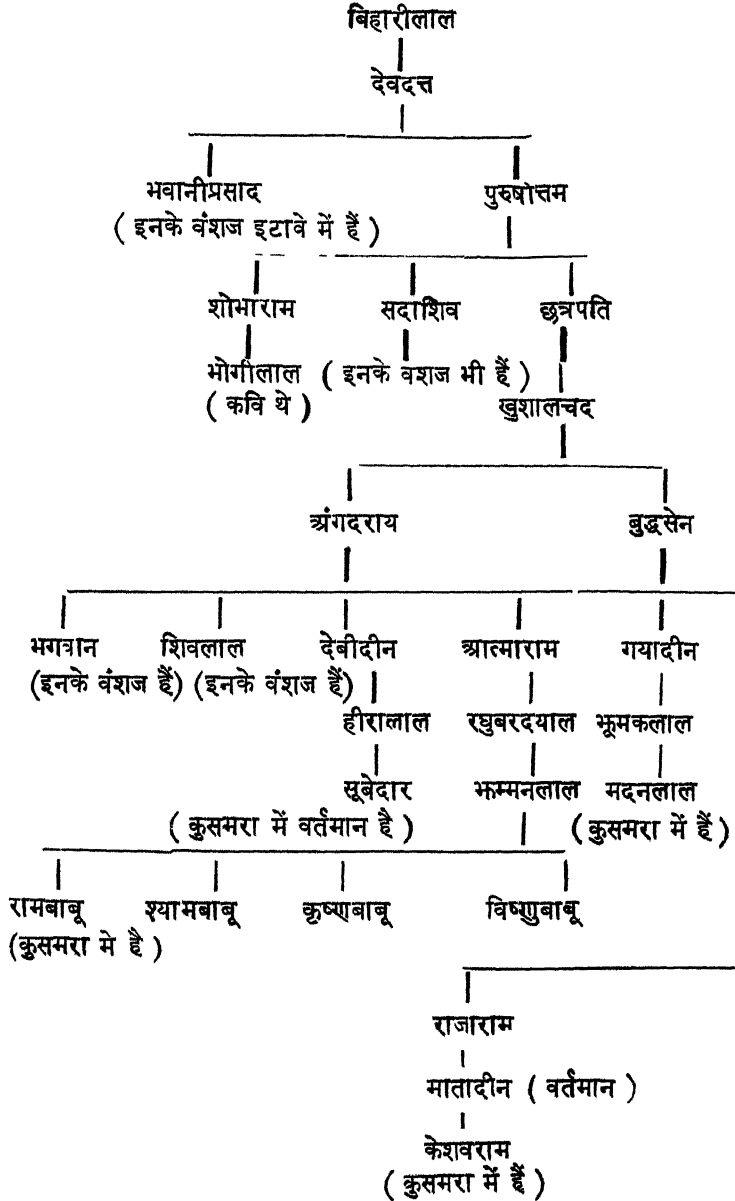
शिवसिंहसरोज में इनका निवास-स्थान समाने-गाँव में माना गया है। यह ग्राम जिला मैनपुरी में है। यह कथन उपर्युक्त प्रमाणों के आगे माननीय नहीं जान पड़ता। देवजी हितहरिवंश स्वामी के संप्रदायवाले बारह शिष्यों में मुख्य थे। यह महाशय ऐसी अद्भुत कवित्व-शक्ति से संपन्न थे कि इन्होंने केवल सोलह वर्ष की बाल्यावस्था में ही भावविलास-जैसा ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। इतनी प्रतिभा होने पर भी भाग्य ऐसा कुछ मंद था कि इनका अच्छा आदर कहीं नहीं हुआ। यह महाराज बड़े और छोटे, सभी प्रकार के मनुष्यों के यहाँ पहुँचे, परंतु सिवा भोगीलाल के और किसी श्रीमान् ने इन्हें संतुष्ट न किया। यह स्वयं कहते हैं—

ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो;
आजु लगि कत नरनाहन की 'नाहीं' सुनि,
नेह सों निहारि हेरि, बदन निहारतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल, अचल करि,
चाबुक-चितावनीन मारि मुँह मोरतो;
भारो प्रेम-पाथर, नगारो दै, गरे मैं बाँधि,
राधा-बर-बिरद के बारिधि में बोरतो।

देवजी ने 'भाव-विलास' और 'अष्टयाम' बनाकर पहलेपहल बादशाह औरंगज़ेब के बड़े पुत्र आजमशाह को जाकर सुनाए। इन्होंने भाव-विलास में लिखा है—

दिल्ली-पति नवरंग के आजमसाहि सपूत;
सुन्यो, सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम-संजूत।

आज़मशाह हिंदी के प्रेमी थे। फिर भी उन्होंने देव का ऐसा सम्मान न किया कि इनको औरों का मुख न देखना पड़ता।

इसके पीछे देव ने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानी-विलास' ग्रंथ बनाया, और फफूँद, ज़िला इटावा के कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल विलास' की रचना की। तदनंतर मरदनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह बैस के वास्ते प्रेमचंद्रिका-ग्रंथ बनाया। इनकी भी देव ने अधिक प्रशंसा नहीं की। इससे विदित होता है कि इनके यहाँ भी उनका यथेष्ट आदर नहीं हुआ। इस समय देवजी अच्छे गुणज्ञ की खोज में, अथवा तीर्थ-यात्रा के लिये, या चाहे और ही किसी कारण से हो, देश-भर में बराबर घूमते रहे। यह महाराज जहाँ गए, वहाँ के मनुष्यों की चाल-ढाल, रीतियों और अन्यान्य दर्शनीय पदार्थों पर

पूरा ध्यान देते रहे। जान पड़ता है, इन्होंने काश्मीर, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा, मदरास, बंबई, गुजरात, राजपूताना, बरार आदि सब देशों को घूम-घूमकर देखा। इन महाकवि ने अपने भ्रमण द्वारा प्राप्त अपूर्व ज्ञान को वृथा नहीं खोया, वरन् अपनी रचनाओं मे स्थान-स्थान पर उसका उपयोग किया है। 'जाति-विलास'-नामक ग्रंथ रचकर इन्होने सब देशों की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। नायिकाओं के देश-भेद मे इन देशों की स्त्रियों का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, अभीर, बरार, कोकनद, केरल (इसमे अब मलाबार, कोचीन और ट्रावनकोर भी शामिल हैं), द्रविड़ (तंजोर), तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर और सौवीर। इन महाकवि ने इन सब देशो की स्त्रियों का ऐसा सच्चा वर्णन किया है कि जान पड़ता है, यह वहाँ गए अवश्य थे। इस समय इनका कोई भी आश्रयदाता न था, यहाँ तक कि इन्होने 'जाति-विलास' किसी को भी समर्पित नहीं किया।

इस प्रकार घूमते-घामते देव को एक गुणज्ञ भी मिल ही गया। वह राजा भोगीलाल थे। जैसा बढ़िया वर्णन आपने इनका किया है, वैसा किसी भी अन्य आश्रयदाता का नहीं किया। इन्होंने, सं० १७८३ मे, इन्हीं के वास्ते 'रस-विलास'-नामक ग्रंथ बनाया। इन गुणज्ञ को पाकर देव ने अपने पुराने आश्रय-दाताओं को केवल भुला ही नहीं दिया, प्रत्युत छोड़ भी दिया। वह लिखते हैं—

> पावस-घन चातक तजै चाहि स्वाति-जल-बिंदु ;
> कुमुद मुदित नहिं मुदित-मन, जौ लौं उदित न इंदु।
> देव सुकबि तातें तजे राइ, रान, सुलतान ;
> रस-बिलास सुनि रीझिहै भोगीलाल सुजान।
> भूलि गयो भोज, बलि, बिक्रम बिसरि गए,
> जाके आगे और तन दौरत न दीदे है ;
> राजा, राइ, रान, उमराइ उनमाने, उन
> माने निज गुन के गरब गिरबीदे है।
> सुबस बजाज जाके सौदागर सुकबि,
> चलेई आवैं दसहूं दिसान के उनीदे हैं ;
> भोगीलाल भूप लाख-पाखर लिवैया, जिन
> लाखन खरच-रचि आखर खरीदे है।

इन छंदों से जान पड़ता है कि भोगीलाल बड़े गुणज्ञ थे, उनके यहाँ बहुत-से कवि आते थे, और उन्होने देव को पूर्ण रूप से संतुष्ट किया था। परंतु देव

का भाग्य ऐसा कहाँ था कि वह इनको कल से एक स्थान पर बैठने देता ! जान पड़ता है, या तो भोगीलाल का शरीर-पात हो गया या देवजी से उनमें कुछ अनबन हो गई। जिस समय इन्होंने अपना प्रधान ग्रंथ 'शब्द-रसायन' बनाया, उस समय इनका कोई भी आश्रयदाता न था। अत: इन्होने शब्द-रसायन भी किसी को नहीं अर्पित किया। इसके पीछे देवजी ने अपनी समस्त कविता का संग्रह-स्वरूप 'सुखसागर-तरंग-संग्रह'-नामक ग्रंथ बनाया, और उसे पिहानी के अकबरअलीख़ाँ को समर्पित किया। अकबरअली का समय सं० १८२४ है। इससे देवजी का ६४ वर्ष जीना सिद्ध होता है। देव ने 'भाव-विलास' और 'रस-विलास' के सिवा और किसी ग्रंथ मे सन्-संवत् का ब्यौरा नहीं दिया है। शेष ग्रंथों का समय उनकी कविता की प्रौढता एवं अन्य गुणों से यहाँ क्रम-बद्ध किया गया है। देव के स्वर्ग-वास का क्या समय था, इस बात का अभी ठीक पता नही लगा। कोई कहता है, इन्होंने ७२ ग्रंथ बनाए, और कोई इन्हे ५२ ग्रंथो का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेगे कि यदि इन्होने ५२ ग्रंथ बनाए हों, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह महाशय नए ग्रंथों मे भी प्राय: वही छंद इधर-उधर उलट-पलट-कर रख देते थे। 'जाति-विलास' और 'रस-विलास' में बहुत ही कम अंतर है। इनका चाहे जो ग्रंथ उठा लीजिए, और देखिए, तो ज्ञात होगा कि इनके कुछ सर्वश्रेष्ठ छंद प्राय: सभी ग्रंथों में है। इन बातों से विदित होता है कि नया ग्रंथ बनाने मे इन्हे बहुत समय नही लगता था। आपने 'नीतिशतक' और 'वैराग्य-शतक' भी बनाए हैं। जान पड़ता है, जब ५३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'रस-विलास' समाप्त किया, तब 'शब्द-रसायन' और 'सुखसागर-तरंग' आदि बनाने का विचार उठा। फिर सत्तर वर्ष की अवस्था के लगभग 'वैराग्यशतक' बनाया होगा। समझ पड़ता है, इन्होंने रामचरित्र पर भी कोई ग्रंथ अवश्य लिखा होगा, क्योंकि इस विषय पर इनके बहुत-से छंद मिलते हैं। इन अपूर्व ग्रंथों की रचना करके पूर्णायु भोगने के पश्चात् और संसार के माया-जाल से विरक्त होने के पीछे सं० १८२४ के बाद इस महाकवि का देहावसान होना सिद्ध है।

हमने देव के चौदह ग्रथ देखे हैं। उन्हीं की समालोचना भी नीचे लिखते हैं। शोक का विषय है कि जहाँ तक हमे ज्ञात है, आपके केवल ये ही ग्रंथ मुद्रित हुए हैं—'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी-विलास', 'रस-विलास', 'शब्द-रसायन' और 'सुखसागर-तरंग'। हमने 'सुजान-चरित्र', 'राग-रत्नाकर' और 'प्रेम-चंद्रिका'-नामक इनके ग्रंथ भी देव-ग्रंथावली में छपवाए। 'देवशतक' जयपुर से प्रकाशित हो गया है, जिसमें जगदर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और

प्रेमपचीसी हैं। इनके अतिरिक्त भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संगृहीत सुंदरी-सिंदूर-नामक (देव के काव्य का) एक संग्रह भी छापा गया है। इनका संस्कृत में नायिका-भेद का एक छोटा-सा ग्रंथ छपा हुआ नागरी-प्रचारिणी सभा मे रक्खा है। इसका देव-कृत होना संदिग्ध कहा जाता है। एक शिवाष्टक हाल मे 'माधुरी' मे छपा है। सं० १६६२ मे इनकी रचना का संग्रह देव-सुधा के नाम से हमने छपवाया, जिसमें २७१ छंद हैं।

(१) भाव-विलास। यह देव का प्रथम ग्रंथ है। इन्होने इसे केवल सोलह वर्ष की अवस्था में बनाया, परंतु इनकी प्रौढ़ कविता मे जो गुण देख पड़ते है, वे सब इस बाल्य-कविता में भी पाए जाते है। रस-विलास तिरपन वर्ष की अवस्था मे बना, और यद्यपि इन दोनो मे अंतर अवश्य है, तथापि इतना अधिक नहीं, जितना होना उचित था। इससे संदेह होता है कि देव ने इस ग्रंथ के निकम्मे छंद निकालकर उनके स्थान मे पीछे से बने हुए उत्कृष्ट छंद रख दिए हैं। तो भी ऐसी बाल्यावस्था मे ऐसा बढिया ग्रंथ बनाना इन्ही का काम था। इन्होंने इसमे लिखा है—

कवि देवदत्त शृंगार-रस सकल भाव-सयुत सच्यो;
सब नायिकादि-नायक-सहित अलकार-बरनन रच्यो।

इन्होंने और कवियों की भाँति छ प्रकार के भाव कहे है। देव भी मरणावस्था का वर्णन न करके उसके स्थान पर मूर्च्छा का कथन कर देते हैं। भरतादि आचार्यों ने तेंतीस संचारी भाव माने हैं, परंतु देव ने चौंतीसवाँ 'छल' भी कहा है। इस ग्रंथ मे प्रेम का निम्न-लिखित लक्षण दिया गया है—

सुख-दुख मैं है एकसम, तन-मन-बचननि प्रीति;
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सु प्रेम प्रतीति।

देव ने दो प्रकाशों मे भाव का वर्णन करके तृतीय मे रस का कथन किया है। इन्होंने अलौकिक और लौकिक, दो प्रकार के रस कहे हैं। अलौकिक रस तीन प्रकार का कहा है—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक। इन्होंने भी लौकिक रस नव प्रकार का कहा है; यथा—शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शांत। इनमें से नाटक मे केवल प्रथम आठ रहते हैं, और काव्य में पूरे नव।

शृंगार दो प्रकार का होता है—संयोग और वियोग। दोनो दो-दो प्रकार के होते हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। यह कहकर देवजी ने संयोग के दस हावों और वियोग की दस दशाओं का वर्णन किया है। इन्होंने नायकों के चार और नायिकाओं के ३८४ भेद माने हैं। यौवन का निम्न-लिखित लक्षण दिया है—

बालापन को भेदिकै छवि को अंकुर ताय :
जग मोहै, दिन-दिन बढ़ै, जोबन कहिए सो।।

देवजी के मत में कविता और कामिनी अलंकार पहनने से उत्कृष्टतर देख पड़ती है। अतः यह महाशय प्रायः सालंकार नायिका का वर्णन करते है—

कविता, कामिनि, सुखद पद, सुबरन, सरस, सुजाति,
अलंकार पहिर, बिसद, अद्भुत रूप लखाति।

देव कहते है कि पुरातन आचार्यों की रीति से केवल ३६ अलंकार मुख्य हैं। उन्हीं का यह वर्णन करते है।

भाव-विलास एक बड़ा ही रोचक ग्रंथ है। आश्चर्य है कि एक सोलह वर्ष का बालक ऐसा विशद ग्रंथ बनाने मे कैसे समर्थ हुआ! यह ग्रंथ भाषा के किसी भी रीति-ग्रंथ से कविता के गुणों मे न्यून नहीं है।

(२) अष्टयाम—यह देव का द्वितीय ग्रंथ है। प्रायः कविजन षट्-ऋतुओं का विवरण देते है। देवजी ने उससे भी आगे बढकर दिन के प्रत्येक प्रहर और घड़ी का वर्णन कर दिखाया है। यह ग्रंथ भी भाव-विलास के साथ ही बना। जान पड़ता है, इसमे पीछे से कोई छंद नहीं मिलाए गए है, सो यह भाव-विलास से कुछ हीन है, परंतु, तो भी, इसमे देव की वही मनभावनी छटा वर्तमान है। इतनी प्रगाढ़ शक्ति इन्हीं महाराज मे थी कि केवल दिन-रात के वर्णन में उत्कृष्ट ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। कुछ अन्य वैष्णव कवियों ने भी अष्टयाम कहे हैं, किंतु वे ग्रंथ देव-कृत अष्टयाम की समता नहीं कर पाते।

इन्होंने भाव-विलास और अष्टयाम आजमशाह, (औरंगज़ेब के पुत्र) को पढ़कर सुनाए, और उन्होंने इन दोनो ग्रंथों की प्रशंसा की। वास्तव में ये ग्रंथ बहुत प्रशंसनीय है।

(३) भवानी-विलास। यह ग्रंथ भवानीदास-नामक एक वैश्य महाशय के नाम पर बनाया गया। इसमें रस-वर्णन है। इसकी कविता भाव-विलास से प्रौढ है। उपर्युक्त तीनो ग्रंथ काशी मे, बाबू रामकृष्ण वर्मा के यहाँ, भारत-जीवन-प्रेस से प्रकाशित हुए थे।

(४) सुंदरी-सिंदूर। यह देव का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संकलित, देव के चुने हुए, १११ छंदों का बड़ा ही चित्ताकर्षक संग्रह है। इसमें प्रथम पदार्थ-निर्णय है, उसके पीछे रस-वर्णन। फिर उपमा आदि कही गई हैं। इसमें पूर्ण रूप से कोई प्रबंध नहीं है, परंतु छंद बड़े ही मनोहर हैं।

(५) सुजान-विनोद । यह पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में वर्तमान है । इसमे प्रेमचंद्रिका की भाँति प्रेम का सूक्ष्म वर्णन किया गया है, जो श्रेष्ठ है । इनके मतानुसार जप या तप उतना श्रेष्ठ नहीं है, जितना प्रेम । देव ने इस ग्रंथ मे सूक्ष्मतया दो-चार छंदों मे उद्धव के विषय का वर्णन करके नायिका-भेद कहा है । अंत मे षट् - ऋतुएँ कहकर इसे समाप्त कर दिया है । यह षट् -ऋतु-वर्णन बहुत अच्छा है । यह ग्रंथ उत्तमता तथा आकार मे भवानी-विलास के समान है । इसके नाम से भ्रम हो सकता है कि यह सुजान-नामक किसी व्यक्ति के वास्ते बनाया गया होगा, परंतु ग्रंथ मे किसी सुजान का नाम तक नहीं आया । अत: जान पड़ता है, यहाँ सुजान से विज्ञ मनुष्य का तात्पर्य है । देव का कथन है कि प्रेमी जन विषयासक्त मनुष्यों को परम नीच मानकर विषय-वासनाओं से इतर शुद्ध प्रेम की उपासना करके ब्रह्मानंद को प्राप्त होते है । आपके सिद्धांत बहुत ऊँचे है ।

(६) प्रेम-तरंग । यह भी हमने पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय मे देखा है । इसके केवल तीन अध्याय वहाँ है । इसमे बड़े विस्तार के साथ नायिका-भेद का वर्णन है । इन तीन अध्यायों मे क़रीब दो सै के छंद है । इस ग्रंथ का आकार शब्द-रसायन के बराबर होना संभव है । इसमे भी देवजी ने परकीया और सामान्या के संपर्क को बहुत निंदित माना है—

प्रगट भए परकीय अरु सामान्या को संग ;
धरम-हानि, धन-हानि, सुख थोरो, दुःख इकंग ।
उत्तम रस शृंगार की स्वकिया मुख्य अधार ;
ताको पति नायक कह्यो, सुख संपति को सार ।

यह एक परम मनोहर ग्रंथ है, और इसकी कविता बहुत प्रशंसनीय ।

(७) राग-रत्नाकर । यह एक बड़ा ही श्रेष्ठ ग्रंथ है । इसमें देव ने रागों का वर्णन किया है । इसमे केवल दो अध्याय है । इसके विषय का सूक्ष्म वर्णन नीचे लिखा जाता है—

षड्ज, रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नाम के सात स्वर होते है । मुख्य राग छ है—भैरव, मालकौस, हिंडोला, दीपक, श्री और मेघ । इन सबमें दीपक रागों का राजा है , प्रत्येक राग की पाँच-पाँच भार्याएँ है ; यथा—भैरव की भैरवी, बरारी, मधुमाधवी, सिंधवी और बंगाली ; मालकौस की टोड़ी, गौरी, गुणकरी, खंभावती और कुंकुम, हिंडोल की रामकरी, देसाख, ललित, बिलावल और पटमंजरी; दीपक की देसी, कामोद, नट, केदारा और कान्हरो ; श्री की मालसिरी, मारू, धनाश्री, बसंत और आसावरी ; तथा मेघ की मलारी,

गूजरी, भूपाली, देशकारी और टंक। द्वितीय अध्याय बहुत ही छोटा है, और उसमे थोड़े-से उपरागो का स्वल्प वर्णन हुआ है।

रागो और रागिनियो के रूप तथा उनके विषय मे अन्य जानने-योग्य बात देवजी ने एक-एक छंद मे, बहुत ही श्लाघ्य रीति से, दिखा दी है। उदाहरणार्थ दीपक का छंद यहाँ लिखा जाता है –

सूरज के उदै तूरज राव, चढ़ो गजराज, प्रभा परिवेख्यो;
दूसरो सूरज, सूरज-जोति, किरीट ज्यों सूरज भूषन भेख्यो।
कामिनी सग, सुरंग मैं प्यो धनी, ग्रीषम ग्रोस, मध्याह्न बिसेख्यो;
दीपन दीप ज्यो दीपत दीपक, रागु-महीपति दीप ज्यों देख्यो।

'रंग मै प्यो धनी' से रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद को समझना चाहिए। इस स्थान पर दीपक का स्वरूप, गाने का उचित समय, साथ के वाद्य, सवारी, भूषण, स्वर, लक्षण आदि का पूरा वर्णन एक ही छंद में कर दिया गया है। छंद भी बहुत ही मनोहर है।

रागिनियों के उदाहरण-स्वरूप बसंती का वर्णन नीचे लिखा जाता है—

साँवरी, सुंदरी, पीत दुकूलनि, फूल रसाल के मूल लसंती;
लीन्हें रसाल कि मंजरी हाथ, सुरंगित आँगी हिये हुलसंती।
पूरन प्रेम, सुरंग मै प्यो धनी, संग-ही-संग बिलोल हसंती;
है उत है उत ही दिन माँझ, समौ करि राखोय बसंत बसंती।

इसमे भी उपर्युक्त बातों का कथन किया गया है। यह देव का ही काम था कि ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंदों द्वारा राग-रागिनियो का सांगोपांग वर्णन कर दिया। यह भी इनका बड़ा ही विशद ग्रंथ है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि यह रागों के भी ज्ञाता थे।

(८) कुशल-विलास। यह तिरासी बड़े-बड़े पृष्ठों का एक प्रकृष्ट ग्रंथ है। इसमे नव अध्यायों द्वारा नायिका-भेद वर्णित है। यह फफूँद, ज़िला इटावा के निवासी, शुभकरन के पुत्र, कुशलसिंह सेगर के नाम पर बना। इसमें कुशल-सिह की साधारण बड़ाई है, जिससे जान पड़ता है कि यहाँ भी कवि का साधारण ही मान हुआ। इसके नवो अध्यायो में क्रमशः भाव-भेद 'स्वकीया-पति-निरूपण स्वकीयादि-स्वरूप, मुग्धा के १३ भेद, मुग्धादिक-स्वरूप, मुग्धा का पूर्वानुराग मध्या की दस अवस्था, दस हाव, तीन मान और धीरादि-भेद वर्णित हैं। इसमे अपने सिद्धात के दो दोहे इन्होने कहे है—

भूलि कहत नव रस सुकबि सकल-मूल सिंगार;
जा संपति दंपतिनु की, जाको जग विस्तार।

होति अनूढ़ा रस - बिवस, नवल छैल - छबि देखि ;
ऊढ़ा गूढ़ बिमूढ़ - मन प्रेमारूढ़ बिसेखि ।

उत्तमता मे यह ग्रंथ भवानी-विलास के बराबर है। देव की कविता के सब गुण इसमें भी मौजूद हैं। यहाँ उदाहरणार्थ केवल एक छंद लिखते हैं—

अंब - कुल, बकुल, कदंब, मल्ली, मालती,
मलैजन को मींजि कै, गुलाबन की गली है ;
कौ गनै अलप - तरु जीत्यो जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों, बिकल मति अली है ।
चित्त जाके जाय चढ़ि चपक चपायो कौन,
मोचि सुख सोचि हौं सकुच चुप चली है ;
कचन बिचारे रुचि पाई चारु पंचन मैं,
चंपा बरनी के गरे परयौ चंपकली है ।

(९) देव-चरित्र । यह ४४ बड़े पृष्ठों का ग्रंथ है। इसमे श्रीकृष्णचंद्र के ऐतिहासिक चरित्र, कंस-वध-पर्यंत कुछ विस्तार से और शेष बहुत सूक्ष्मतया कहे गए हैं। इसमे सब लीलाएँ थोड़े मे, अत्यंत उत्तमता के साथ, कही गई है, और वर्णन सवैयों तथा घनाक्षरियो मे हुआ है। यह बड़ा ही मनोहर ग्रंथ है। इसमे इन महाकवि ने ऐतिहासिक वर्णन की शक्ति ख़ासी प्रकट कर दी है। कालिय नाग को नाथने और गोवर्द्धन-धारण की लीलाएँ विशेष श्लाघ्य हैं। इस ग्रंथ मे गोपियो के रास और उद्धव-संदेश का अच्छा वर्णन नहीं किया गया, न उनके विस्तार का कुछ भी प्रयत्न हुआ है। उत्तमता मे यह ग्रथ भी भवानी-विलास के समान है।

फैलि - फैलि, फूलि-फूलि, फलि - फलि, झूलि - झूलि,
झपकि - झपकि आई कुंजैं चहुँ कोद ते ;
हिल - मिलि हेलिनु सों केलिनु करन गई,
बेलिनु बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते ।
नदजू की पौरि पर ठाढ़े हे रसिक 'देव',
मोहनजू माहि लीन्ही मोहनी सु मोद ते ;
गाथनि सुनत भूलीं साथनि की, फूल गिरे,
हाथनि के हाथनि ते, गोदनि के गोद ते ।
मेरे गिरिधारी गिरि धरयो धरि धीरजु,
अधीर जनि होहि अंगु लचकि - लुरकि जाय ;

लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि भैया,
बोलि ल्याऊँ, बल भैया, आय उर पै उरकि जाय।
टेकि रहि नेक जौलों हाथ न पिराय देखि,
साधु सँगु रीते अँगुरी ते न बुरकि जाय;
परयो ब्रज - बैर बैरी बारिद - बाहन बारि,
बाहन के बोझ हरि - बाँह न मुरकि जाय।

(१०) प्रेम-चंद्रिका। यह ग्रंथ मरदनसिहात्मज राजा उद्योतसिंह बैस के वास्ते रचा गया। इसमें प्रथम शृंगार-रस के दो छंद कहकर कवि ने राधा-कृष्ण की वंदना की है। प्रेम का वर्णन इस छंद मे किया गया है—

जाके मद मात्यो न उमात्यो कहुँ कोऊ, जहाँ
बूड़्यो उछल्यो ना तरयो सोभा-सिंधु सामुहै;
पीवत ही जाहि कोई मारयो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो, मान्यो सुखधामु है।
चख के चखक भरि चाखत ही जाहि, फिरि,
चाख्यो ना पियूख, कछु ऐसो अभिरामु है;
दंपति - सरूप ब्रज औतरयो अनूप, सोई,
'देव' कियो देखि प्रेम - रस प्रेम नामु है।

देव के मतानुसार सबो में शृंगार-रस मुख्य है। तल्लीनता की विशेषता से मुख्य प्रेम मुग्धाओं मे होता है। मध्या मे कभी-कभी कलह होने से उसका प्रेम कलुषित होता है, और प्रौढ़ा मे रोष-गर्वादि अधिक होते है। अतः उसमें उत्तम प्रेम नही मिलता। प्रेम पाँच प्रकार का होता है—सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। सानुराग प्रेम शृंगारमय है। इस शृंगार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। ये भी गूढ़ और अगूढ के उपभेदों से दो-दो प्रकार के होते हैं। वियोग-शृंगार चार प्रकार का है—पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास। तीन प्रकार की नायिकाओं मे से स्वकीया और परकीया में प्रेम है, गणिका में नहीं, अतः उसमे शृंगाराभास हो जाता है इन्ही के पति उपपति और व्यसनी नायक हैं, जिनमे क्रम से प्रेम, सुख, दुःख तथा दुर्वासना प्रधान हैं।

पूर्वानुराग स्वकीया और परकीया मुग्धाओं मे होता है। उसकी उत्पत्ति श्रवण, दर्शन तथा स्मरण से है। इसी के अनंतर अभिलाष आदि दस दशाएँ मिलती है। पहले श्रवण, दर्शन, स्मरण एवं विरह के द्वारा पूर्वानुराग होता है। तब अभिलाष आदि दस दशाएँ उत्पन्न होती हैं। उनके पीछे संयोग है। शृंगार

की मुख्य पात्र शुद्ध-स्वकीया है। उसमे भी मुग्धा विशेष है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है—

परकीया उपपति - विरह होति प्रेम - आधीन ;
पति संपति तन बिपति मैं दौरि परै पन पीन।
पर - रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन गोत ;
आपु औटि खोवा मिलै, खात दूध फल होत।
काची प्रीति कुचालि की, बिना नेह - रस - रीति ;
मार - रंग मारू - मही बारू की - सी भीति।

इन कविरत्न ने प्रेम के तत्त्व, गंभीरता, महत्त्व, निःस्वार्थ भाव, तल्लीनता, चाह आदि के परमोत्कृष्ट चित्र खींचे हैं। प्रेमी जन प्रेम-पात्र के लिये समस्त संसार को कैसे और क्यों तृणवत् छोड़ देते हैं, इसका प्रत्यक्ष वर्णन वहाँ प्रस्तुत है। देव ने विषयानंद को तुच्छ कहकर ऊँचे प्रेम का वर्णन किया है। विषय-जन्य प्रेम को आप फीका और पोच समझते थे। श्रृंगार का प्राधान्य रखकर भी आपने अपनी रचना मे विषय-जन्य प्रेम का कथन बहुत कम किया है।

इसके पीछे प्रेमचंद्रिका मे स्वकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा परकीया का प्रेम वर्णन किया गया है। परकीया के वर्णन में बड़े ही मनोहर छंद है। देवजी ने यह सब कहकर इस ग्रंथ के मुख्य विषय—गोपियों के प्रेम—का कथन किया है। यह विवरण देखते ही बनता है। इसके पीछे आपने भक्ति का वर्णन आरंभ किया है। उसमें प्रथम गोपियों का रास कहा है। तत्पश्चात् दो-चार भक्तों की दशा पर दो-दो, एक-एक छंद कहकर ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह बड़ा ही सुंदर ग्रंथ है। इसमें हृदय को क्षुब्ध करनेवाले कितने ही बड़े-बड़े मनोहर और चटकीले छंद हैं। उद्धव का वार्तालाप इस ग्रंथ का मुख्य अंश है, और वही इसका सर्वोत्कृष्ट भाग भी है। इसमे पुराने आचार्यों के ढर्रे पर न चलकर देवजी ने एक अनोखा प्रबंध बाँधा है। उन्होंने प्रेम-संबंधी अपने अपूर्व अनुभवों का निचोड़, अपने ख़ास ढंग से, इसमें भर दिया है। जितनी जाँच की बातें देवजी के इस छोटे-से ग्रंथ मे पाई जाती है, उतनी इनके किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलतीं। यह इनका सर्वप्रिय विषय और सर्वप्रिय ग्रंथ है। इन्होंने मानो बाह्याडंबर को छोड़कर इसमे पाठकों को अपना हृदय दिखा दिया है। देवजी की प्रगाढ़ कवित्व-शक्ति एवं रसियापन जाति-विलास, रस-विलास और प्रेमचंद्रिका से ही पूर्ण प्रकट होता है। काव्य-रसायन में ये बातें उतनी अधिकता से नहीं हैं, यद्यपि उसमें भी इन सबकी झलक देख पड़ती है। काव्य-रसायन में देवजी ने आचार्यता दिखाई है। प्रेमचंद्रिका के उदाहरण-स्वरूप हम दो छंद नीचे देते हैं—

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहो,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं;
कैसो पर - लोक, नरलोक वर लोकन मैं,
लीन्हों मैं अलीक, लोक लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं;
बृंदाबन - वारी बनवारी की मुकुट - वारी,
पीत - पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥ १ ॥

बोरयो बंसु - बिरद मैं, बौरी भई बरजत
मेरे बार - बार बीर कोई पास पैठौ जनि;
सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौंही,
गोहन मैं छाँड़ौ, मोंसो भौंहनि उमैठौ जनि;
कुलटा कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर,
काहू के न काम की, निकाम, याते ऐंठौ जनि।
'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तो
बैठी हौं बिकल, कोऊ माँहि मिलि बैठौ जनि ॥ २ ॥

(११) जाति-विलास। इस ग्रंथ की वंदना बड़ी ही विशद है।

पाँयनि नूपुर मंजु बजै, कटि किंकिन मैं धुनि की मधुराई;
साँवरे - अंग लसै पट-पीत, हिए हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई;
जै जग - मंदिर - दीपक, सुंदर श्रीब्रज-दूलह 'देव' सहाई।

इसमें सबसे प्रथम जाति-भेद कहा गया है। फिर अष्टांगवती नायिका है। तदनंतर भारतवर्ष के समस्त देशों की वधुओं का वर्णन आरंभ हुआ है। हमारी कॉपी में केरल-वधू तक का वर्णन लिखा है। उसके आगे पुस्तक अपूर्ण है। यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ, और हमको कहीं इसकी पूर्ण प्रति भी नहीं मिली। प्रायः तीन-चौथाई ग्रंथ हमारी प्रति मे नही है। यह बड़े खेद का विषय है, क्योंकि 'जाति-विलास' देवजी के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है। जहाँ तक यह ग्रंथ हमारे पास है, वहाँ तक इसकी रचना रस-विलास से बहुत कुछ मिलती है, यहाँ तक कि दोनो ग्रंथों में प्रति सैकड़े नब्बे छंद एक ही हैं। इस कारण रस-विलास के विषय में जो कुछ लिखा जाय, वही जाति-विलास के विषय में भी समझना चाहिए।

(१२) रस-विलास। यह ग्रंथ देवजी ने विजया-दशमी, संवत् १७८३ वि० को समाप्त किया। इसकी वंदना का छंद भी वही है, जो जाति-विलास का। यह बड़ा ही मनोहर छंद है, और इसको अच्छी व्रजभाषा का उदाहरण मान सकते हैं। यह ग्रंथ राजा भोगीलाल को समर्पित हुआ है। देवजी ने भोगीलाल की जितनी प्रशंसा की है, उतनी किसी अन्य आश्रय-दाता की नहीं। इसमें प्रथम नायिकाओं के विभाग लिखे गए हैं, और उनका बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है। जिस कामिनी में आठों अंग पूर्ण हों, उसी को नायिका कहते है। आठो अंग ये है—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण। देवजी कहते हैं, वह एक बार भाव-विलास रचकर नायिका-भेद कह चुके है, और अब उसी (नायिका-भेद) को द्वितीय बार नए प्रकार से कहते हैं।

नायिकाओं के आठ भेद होते हैं। यथा—जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्त्व। इनके भेदांतर भी नीचे लिखे जाते हैं—

जाति के चार भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।

कर्म के तीन भेद—स्वकीया, परकीया, गणिका।

गुण के तीन भेद—सात्त्विक, राजस, तामस।

देश के अनंत भेद—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, आभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर, सौवीर आदि-आदि।

काल के दस भेद—स्वाधीनपतिका, कलहातरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, प्रवत्स्यद्भर्तृका, प्रोषितपतिका, आगतपतिका।

वय के तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

प्रकृति के तीन भेद—कफ, पित्त, वात।

सत्त्व के नव भेद—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, काग।

इसके पीछे देवजी ने नायिकाओं के संयोग और वियोग तथा नायक का वर्णन करके ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह ग्रंथ इनकी प्रौढ़ अवस्था मे बना, और इसी कारण प्रौढ़ कविता से परिपूर्ण है। देश-देशातरों मे घूम-घूमकर कवि ने इसे बनाया। प्रेमचंद्रिका की भाँति इसमें भी आप अपनी ही बनाई हुई रीति पर चले हैं, और इस कारण भी ग्रंथ में अद्भुत कवित्व की छटा देख पड़ती है। नायिका-भेद नए ढंग का अवश्य है, परंतु उसमें किसी का वर्णन छूटा नहीं है। मुग्धा, अनुशयना आदि का विवरण इसमें स्पष्ट रूप से नहीं आया, परंतु वह सब

परकीया नायिका के अंतर्गत समझना चाहिए। इस ग्रंथ की कविता किसी भी स्थान पर शिथिल नहीं हुई, वरन् हर जगह एक ही तरह औवल दर्जे की होती चली गई है। इससे अच्छे ग्रंथ भाषा-साहित्य में अधिक न होंगे। केवल इतना ही खेद है कि इसका विषय नायिका-भेद है। यदि किसी श्रेष्ठ विषय पर ऐसा उत्कृष्ट ग्रंथ बना होता, तो गीता की तरह घर-घर इसकी पूजा होती। इसमें देवजी ने दिखा दिया है कि कवि की दृष्टि कितनी पैनी होती है, और वह एक ही निगाह मे कितना देख सकता है। जिस जाति की और जिस देश की नायिका का कथन है, उसमें उस जाति के कर्म एवं उस देश के स्वभावों और रीतियों का ऐसा सच्चा वर्णन है कि कुछ कहते नहीं बनता। इसमें इन्होंने जाति-भेद मे उपर्युक्त चार प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त इन जातियों का भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—देवी, पुजारिन, द्वारपालिका, राजकुमारी, धाय, दूती, सखी, जौहरिन, छीपिन, पटइन, सोनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन, काँदुनि, बनेनी, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरिन, गणिका, ब्राह्मणी, रजपूतिन, खत्रानी, वैश्या, कायथिन, किरारिन, नाइन, मालिन, धोबिन, अहिरिन, काछिन, कलारिन, कहारिन, लुनेरिन, मुनितिय, व्याधतिय, भीलिन, सैन्या, वेश्या, मुकेरिन, बनजारिन, जोगिन, नटिन, कंजरिन, पथिक-वधू और भठियारिन। भठियारिन का वर्णन केवल जाति-विलास में है। इसमें से प्रत्येक जाति के कथन मे छंद से यह भास जाता है कि अमुक का वर्णन है। यही दशा देशों की है। उदाहरणार्थ जाति और देश मे से दो-दो छंद नीचे लिखे जाते हैं—

देव देखावति कचन सो तनु, औरनि को मनु-तावै अगौनी;
सुंदरि साँचे में दै भरि काढ़ी-सि, आपने हाथ गढ़ी बिधि-सौनी।
सोहति चूनरि स्याम किसोरी कि, गोरी, गुमान-भरी, गज गौनी;
कुंदन-लीक कसौटी में लेखी-सि, देखी सोनारि सुनारि सलोनी ॥ १ ॥

ऍड़िन ऊपर घूमत घाँघरो, तैसिये सोहति सालू कि सारी;
हाथ हरी-हरी राजे छरी, अरु जूती चढ़ी पग फुँद-फुँदारी।
आछे उरोज, हरा घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बैल निहारी;
गात नही दिखराय - बटोहिन बातन ही बनिजै बनिजारी ॥ २ ॥

तीनिहु लोक नचावति ऊक मैं, मंत्र के सूत अभूत गती है;
आपु महा गुनवंत गोसाइनि, पाँइन पूजत प्रानपती है।
पैनी चितौनि चलावति चेटक, को न कियो बस जोगि-जती है?
कामरूकामिनि काम-कला, जगमोहनि भामिनि भानमती है ॥ ३ ॥

जोबन के रंग भरी, ईंगुर से अंगनि पै,
ऍड़िन लौं आँगी छाजें छबिन की भीर की ;
उचके उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढनी किनारीदार चीर की।
गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल,
सुधा-बिंदु बाल, इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की ;
'देव' दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की ॥ ४ ॥

(१३) काव्य-रसायन। यह ग्रंथ देवजी के सब स्वतंत्र ग्रंथों से गुरुतर और प्रौढ़तर है। इसका दूसरा नाम शब्द-रसायन भी है। जैसे केशवदास ने कविप्रिया मे आचार्यता दिखाई है, वैसे ही देवजी ने काव्य-रसायन मे गुरुता प्रदर्शित की है। काव्य के विषय मे सूक्ष्मतया इनका यह मत है—

ऊच-नीच तन कर्म-बस चल्यो जात संसार ;
रहत भव्य भगवंत-जस नव्य काव्य सुख-सार।
रहत न घर बर बाम धन, तरुवर सरबर कूप ;
जस-सरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप।

समर्थ काव्य का लक्षण देवजी ने यों दिया है—

सब्द सुमति मुख ते कढें, लै पद बचननि अर्थ ;
छंद भाव भूखन सरस सो कहि काव्य समर्थ।

पहले इन्होने पदार्थ-निर्णय किया है। यह महाराज अभिधा-लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त एक चौथी शक्ति तात्पर्य' भी मानते है। एकआध समालोचक लोग कहते है कि जब संस्कृत के आचार्यों ने तात्पर्य का वर्णन किया ही है, तब इसमें देव की मुख्यता क्या है ? उन्हे जानना चाहिए कि हम हिंदी के विषय में कथन करते हैं। शुद्ध लक्षणा, व्यंजना आदि का वर्णन करके इस महाकवि ने इनके संकीर्ण भेद कहे है। इन भेदों मे इन कविवर ने अभिधा में अभिधा, अभिधा मे लक्षणा, अभिधा मे व्यंजना, लक्षणा मे लक्षणा, लक्षणा मे व्यंजना, लक्षणा में अभिधा, व्यंजना मे व्यंजना, व्यजना मे अभिधा, व्यंजना मे लक्षणा, अभिधा में तात्पर्य, लक्षणा मे तात्पर्य और व्यंजना म तात्पर्य के वर्णन किए हैं। इस ग्रथ में देव ने पढनेवालों के लिये यह बड़ी सुविधा कर दी है कि प्राय: प्रत्येक उदाहरण के पीछे दोहे मे उसका प्रयोजन भी प्रकट कर दिया है। पदार्थ-निर्णय के पीछे आपने रस-निर्णय किया। शब्द, काव्य और रस मे इन्होने निम्न-लिखित संबंध दिखाया है--

काव्य सार सब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार ;
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार ॥ १ ॥
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामैं दरसत भाव ;
अलंकार सब्दार्थ के छंद अनेक सुभाव ॥ २ ॥

देव के मतानुसार यदि कविता को वृक्ष मानें, तो रस उसके फलों का रस होगा। रस के स्वरूप को आपने इस छप्पै द्वारा खूब ही समझाया है—

रस-अंकुर थाई, बिभाव रस के उपजावन ;
रस अनुभव अनुभाव सु सात्विक रस झलकावन।
छिन-छिन नाना रूप रसनि संचारी उझकै ;
पूरन रस संयोग बिरह रस रंग समुझ कै।
ये होत नायिकादिकनि मैं रत्यादिक रस-भाव षट ;
उपजावत शृंगारादि रस गावत नाचत सुकबि नट।

इसी को सूक्ष्म रूप से कवि ने इस प्रकार कहा है—

जो बिभाव, अनुभाव अरु संचारिन करि होय ;
थिति की पूरन बासना, सुकबि कहत रस सोय।

देव के मतानुसार रसो मे शृंगार, वीर और शांत मुख्य हैं। शेष छ रसों (हास्य, भयानक, रौद्र, करुण, अद्भुत, बीभत्स) में दो-दो क्रमानुसार इनके संगी हैं; फिर वीर और शात अपने साथियो समेत शृंगार के संगी होते हैं, अत: शृंगार-रस ही रसराज है। रसो ही से मिलता हुआ रस-मित्र, रस शत्रु आदि का वर्णन है। फिर पात्र-विचार हुआ है। इसके पीछे कवि ने रस-रीति कही है। तदनंतर शब्दालंकार का वर्णन किया गया है। इसके विषय में इनका यह मत था—

अलंकार जे सब्द के, ते कहि काव्य-सुचित्र ;
अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन बिचित्र।
अधम काव्य ताते कहत, कबि प्राचीन, नवीन ;
सुंदर छंद, अमंद रस, होत प्रसन्न प्रवीन।
जिनहिं न अनुभव अरथ को, भावत नहिं रस भोग ;
चित्र कहत तिन हेत कछु, भिन्न-भिन्न-रुचि लोग।
सरस बाक्य, पद, अरथ तजि सब्द चित्र समुहात ;
दधि, घृत, मधु, पायस तजत, बायस चाम चबात।
मृतक काव्य बिनु अर्थ के, कठिन अर्थ के प्रेत ;
सरस भाव रस काव्य सुनि उपजत हरि सों हेत।

देव ने चित्र-काव्य की इतनी निंदा करके फिर भी कई प्रकार की उत्कृष्ट चित्र-कविता की। इसके पीछे इन्होंने अर्थालंकार कहे हैं। उनमें आपने सबका वर्णन न करके चालीस मुख्य और तीस गौण अलंकार ही कहे। इतने पर भी संतुष्ट न होकर फिर कहा—

अलंकार मैं मुख्य द्वै उपमा और सुभाव ;
सकल अलंकारन विषे दरसत प्रगट प्रभाव।

देव ने उपमा की प्रधानता समझाने के लिये बहुत तरह की उपमाएँ कही है। शेष अलंकारों को आपने थोड़े मे इस प्रकार कहा कि एक एक छंद में चार-चार, पाँच-पाँच अलंकार भर दिए। दसवे अध्याय से इन्होंने छंदों का वर्णन आरंभ किया। छंद दो प्रकार के होते हैं, एक मात्रा-वृत्त और दूसरा वर्ण-वृत्त। लघु-गुरु मात्राओ का विचार करके देवजी ने गणागण का वर्णन किया है। इनके गद्य का उदाहरण बड़ा ही विचित्र है। गद्य तीन प्रकार का होता है—वृत्ति, चूर्ण और उत्कलिका। देव ने छंदो के लक्षण और उदाहरण प्राय: एक ही साथ दिए हैं; अर्थात् जिस छंद का उदाहरण कहना हुआ, उसी छंद में उसका लक्षण कह दिया। इस प्रकार एक ही साथ लक्षण और उदाहरण, दोनो ज्ञात हो जाते हैं। संस्कृत के कुछ कवियो ने इसी प्रकार छंदों के उदाहरण दिखलाए है। देव ने प्राचीन प्रकार के आठों सवैयों के लक्षण और नाम एक ही छंद में दिखा दिए है। वह छंद यह है—

सैल भगा; बसुधा; मुनि भागग, सात भगोल, लसै लभगा ;
लै मुनि भागग, ही लल सत्त भगी, ललसात भगंग पगा।
पी मदिरा, ब्रजनारि किरीटि, सुमालति, चित्रपदा भ्रमगा ;
मल्लिक, माधवि, दुर्मिलिका, कमला सुसवैय बसुक्रम गा।

इस सवैए को समझने के लिये प्रथम भगण का रूप जान लेना आवश्यक है। भगण तीन अक्षरों का है, जिसमें प्रथम गुरु और अंत के दोनो लघु हैं।

मदिरा = सैल भगा , सात भगण और एक गुरु।
किरीटी = बसुधा ; आठ भगण।
मालती = मुनि भागग; सात भगण और दो गुरु।
चित्रपदा = सात भगोल; सात भगण और एक लघु
मल्लिका = लसै लभगा; एक लघु, सात भगण और एक गुरु।
माधवी = लै मुनि भागग; एक लघु, सात भगण और दो गुरु।
दुर्मिलिका = लल सत्त भगी; दो लघु, सात भगण और एक गुरु
कमला = लल सात भगंग; दो लघु, सात भगण और दो गुरु।

इनके अतिरिक्त मंजरी, ललिता, सुधा और अलसा-नामक चार प्रकार के नवीन मत के सवैए हैं—

मंजरी = लाष्ट भगल; एक लघु, आठ भगण, एक गुरु और एक लघु।

ललिता = ललाष्टभ ; दो लघु, आठ भगण।

सुधा = लल मुनिभगल; दो लघु, सात भगण, एक गुरु और एक लघु।

अलसा = सैलभर, सात भगण और एक रगण।

रगण के तीन अक्षरों में आदि और अंत के गुरु होते हैं, तथा मध्य का लघु।

दंडक नियत-गण-वर्ण और अनियत-गण-वर्ण के होते हैं। अनियत-गण-वर्णों को घनाक्षरी कहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं, जिनमें से किसी में तीस, किसी में इकतीस, किसी में बत्तीस और किसी मे ततीस वर्ण होते हैं।

देवजी ने सात प्रकार के गाहा दोहे कहे हैं। मेरु, मर्कटी, पताका आदि के विषय में इनका यह मत है—

> मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट ;
> कौतुक-हित प्रस्तार हू विस्तारत हैं सृष्ट।
> मानुष-भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छंद ;
> अलंकार पंचांग ये कहत-सुनत आनंद।

अपने काव्य-रसायन-ग्रंथ के विषय में निम्न-लिखित दोहे देवजी ने लिखे हैं—

> सत्य रसायन कविन को श्रीराधा - हरि-सेव ;
> जहाँ रसालंकार-सुख, सच्यो-रच्यो कबि देव।
> भाषा, प्राकृत, संसकृत, देखि महाकबि-पंथु ;
> देवदत्त कबि रस रच्यो, काव्यरसायन ग्रंथु।

देव ने वास्तविक रीति-ग्रंथ केवल काव्य-रसायन और भाव-विलास लिखे हैं। इनमे भी काव्य-रसायन में इन्होंने अपनी आचार्यता दिखलाई है। इसमें पदार्थ-निर्णय, रस, अलंकार और पिंगल के वर्णन हैं। रस का वर्णन देव ने बहुत ही उत्कृष्ट किया है। यह ग्रंथ आपके सब स्वतंत्र ग्रंथों में बड़ा है, और संभवतः सबसे पीछे बना भी हो। केवल सुखसागर-तरंग-संग्रह और नीति तथा वैराग्य की कविताएँ इसके पीछे बनी होंगी। कविता की उत्तमता में भी यह प्रेमचंद्रिका आदि के समान है। प्रत्येक छंद में देव की अलौकिक योग्यता की छटा देख पड़ती है। यह ग्रंथ भी अब प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रंथ देव के परमोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है, और इसमें भी इनकी अनुमतियों का आविर्भाव हुआ है।

(१४) सुखसागर-तरंग । इस ग्रंथ की वंदना में भी आपने शृंगार-रस को नहीं छोड़ा—

> माया देवी नायिका, नायक पूरुष आपु ;
> सबै दंपतिन मैं प्रकट, देव करैं तेहि जापु ।

इसको आपने पिहानी के अकबरअलीख़ाँ के वास्ते बनाया । इससे विदित होता है कि उस समय मुसलमान भी भाषा-साहित्य को ख़ूब समझते और उसका आदर करते थे । स्वयं देवजी के समान महाकवि ने लिखा है कि अकबरअली रस-पंथ जानते थे । इससे विदित होता है कि भाषा-साहित्य पर अकबरअली का प्रगाढ़ अधिकार था । इसी प्रकार बादशाह औरंगजेब के पुत्र आज़मशाह ने भाव-विलास और अष्टयाम सुनकर उन ग्रंथों की प्रशंसा की । इस ग्रंथ में देवजी ने प्रथम दंपति की वंदना करके तब देवियों की स्तुति की । और किसी देवता की वंदना इन्होंने नहीं की । फिर छत्तीसवें छंद में एक प्रकार से ग्रंथ के विषय का वर्णन करके आपने सवैयों और दंडकों में बहुत बढ़िया ढंग से सूक्ष्मतया नायिका-भेद कहा । इसके पीछे गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधा का सौभाग्य कहकर पंचमी-महोत्सव का वर्णन किया । ये सब विवरण बहुत ही उत्कृष्ट हैं । वसंत-ऋतु के कथन में भी इन्होंने आगे चलकर होली का वर्णन किया । पंचमी-महोत्सव के पीछे देव ने शृंगार-रस की रचना की । दूसरे अध्याय को कवि ने प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रारंभ किया है । इसके पीछे सूक्ष्मतया शृंगार-रस का सांगोपांग कथन हुआ है । तदनंतर देव ने परकीया के बहुत-से छंद कहकर षड्ऋतु कहा । फिर अष्टयाम कहकर नख-शिख लिखा है । इसमें से उदाहरणार्थ नेत्र-वर्णन का एक छंद नीचे लिखा जाता है—

> लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ
> चौंकि चितवनि चरखीन चमकारे हैं ;
> बरुनी अरुन लीक, पलक झलक झूल,
> झूमत सघन-घन घूमत घुमारे हैं ।
> रंजित-रजोगुन सिँगार-पुंज कुंजरत,
> अंजन सोहन मनमोहन दतारे हैं ;
> 'देव' दुख-मोचन सकोच न सकत चलि
> लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं ।

नख-शिख कहकर इन कविवर ने नायकों की जाति कही है । फिर नायिकाओं के आठो अंगों का अच्छा वर्णन हुआ है । इसके पीछे देव ने बड़ा लंबा-चौड़ा नायिका-भेद कहा है । इसी के अंतर्गत अंश-भेद भी है । अंत के बारहवें

अध्याय में नायक और नायक के सखाओं का वर्णन किया गया है। इसी अंतिम अध्याय को इन्होंने एक प्रशंसनीय मान-लीला के साथ समाप्त किया है। इस लीला में उनतीस छंद हैं, और वे सब बहुत ही उत्कृष्ट हैं। इसका पहला ही छंद उदाहरणार्थ नीचे लिखा जाता है—

प्यारी हमारी सौं आओ इतै, कहि 'देव,' कुप्यारी ह्वै कैसेक ऐए ?
प्यारी कहो जनि मोसो अहो, कहि प्यारी प्यो प्यार की प्यारी बुलैए।
कै वह प्यार कि एतो कुप्यार! औ, न्यारी ह्वै बैठो, सो बात बतैए;
प्यारे पराए सो कौन परेखो, गरे परि कौ लगि प्यारी कहैए।

इस ग्रंथ मे देव ने मुख्य रूप से नायिका-भेद कहा है। इसको प्राय: लोग आपकी कविता का संग्रह कहते हैं। किसी अंश मे यह कथन यथार्थ भी है, क्योंकि इसमे जाति-विलास, अष्टयाम, भाव-विलास आदि के विषय आ गए हैं, परंतु यह भी कहना पड़ता है कि इस ग्रथ मे न-जाने कितने ऐसे वर्णन है, जो कवि के अन्य प्रचलित ग्रंथो मे नही पाए जाते। शब्द-रसायन का विषय इसमे नही आया, और न भाव-भेद ही पूर्ण रूप से कहा गया है। अलंकार-वर्णन से भी इस ग्रंथ से कोई संबंध नही है। स्थूल रूप से इसे नायिका-भेद का ग्रंथ कह सकते है। भाषा मे नायिका-भेद का इतना सांगोपाग और सर्वांग-सुंदर कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। रस-विलास में नायिका-भेद आठ भेदों में वर्णित है, परंतु इसमें उसके दस प्रधान भेद माने गए है। ये शेष दो भेद रस-विलास में मुख्य भेद करके नहीं माने गए। हम तो इसे स्वतंत्र ग्रंथ ही मानते, क्योंकि यदि अन्य ग्रंथों के छंदों की कहिए, तो देव का ऐसा कोई भी ग्रंथ नहीं है, जिसमें अन्य ग्रंथों के छंद न भरे पड़े हों; परंतु देव ने स्वयं इसे संग्रह कहा है। इसमे कुल मिलाकर ८५६ छंद हैं, परंतु इसकी कविता किसी स्थान पर शिथिल नही हुई है। भाषा-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण, सतसई और सूरसागर को छोड़कर ऐसा उत्कृष्ट कोई भी ग्रंथ नहीं है। इसमे प्रत्येक विषय का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। प्राय: देखा गया है कि यदि भारी कवियों तक के ग्रंथ पढ़िए, तो उनके भी सभी स्थल अच्छे नही लगते। अधिक स्थलो पर कविता शिथिल पड़ जाती है, परंतु देव के किसी ग्रंथ मे प्राय: किसी स्थान पर ऐसा नही हुआ है। सुखसागर-तरंग-जैसा बड़ा ग्रंथ भी किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुआ है। इनका यह भी एक बड़ा ही बढिया ग्रंथ है।

(१५) देव-माया-प्रपंच-नाटक। इसमें रूपक की तरह सद्धर्म और माया के युद्ध का वर्णन किया गया है। यह पूर्ण नाटक नहीं है, यद्यपि नाटकों की भाँति इसमे नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश, प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्द्ध-

नाटक-सा कह सकते हैं। इसमें छ अंक हैं। प्रथम अंक मे सद्धर्म के पक्षवालों का दिग्दर्शन एवं कलि का प्रवेश वर्णित है। द्वितीय मे कलि के पक्षवालों का स्वरूप और उनके विचार कहकर कवि ने जनश्रुति और बुद्धि का सत्संगति के यहाँ जाना कहा है। तृतीयांक में योग, मुक्ति, सत्क्रिया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुद्धि, स्मृति, तत्त्व-चिंता, शांति, करुणा, तुष्टि और क्षमा भी सत्संगति के यहाँ जाती हैं, और इनके कुछ वर्णनों के पीछे इनमें से प्रत्येक अपने-अपने मतानुसार अनुमति देती है। इसके पीछे जनश्रुति शत्रुओं का पता लगाने को उनके यहाँ छद्म-वेष में भेजी जाती है। यह अंक बड़ा मनोरंजक है, और प्रत्येक देवी के सम्मति-विषयक छंद बहुत अच्छे है। चतुर्थ अंक में जनश्रुति योगिनी के वेष में शत्रु-नगर मे जाती और नगर तथा उसकी सब बातो का निरीक्षण करती है। यह अंक साधारणत: अच्छा है। पाँचवें मे जनश्रुति सहजानंद, इच्छानंद, आत्मानंद, विषयानंद, स्पर्शानंद, भोगानंद और संभोगानंद के उपदेश सुनती एवं धूर्तराज द्वारा तंत्र, मंत्र, इंद्रजाल तथा वाग्जाल का माहात्म्य जानती है। अंत में कई परमोत्कृष्ट छंदों द्वारा माया की महिमा कही गई है। यह अंक बड़ा ही बढिया, रुचिकर और हास्य-रस से परिपूर्ण है। इसमे इच्छानंद के विचार अँगरेजी के एपिक्योरियन-सिद्धांत से बिलकुल मिल जाते है। छठे अंक मे मनराज का अभिषेक हुआ, फिर युद्ध मे माया की सेना सद्धर्म-दल से बिलकुल पराजित हो गई, और पुरुष की मुक्ति हुई। युद्ध-वर्णन साधारण है। ग्रंथ कुल मिलाकर अच्छा है; परंतु फिर भी इनके ख़ास ग्रंथों की बराबरी नही कर सकता।

उदाहरण—

> मूढ़ कहैं मरिकै फिरि पाइए, ह्याँ जु लुटाइए भौन - भरे को ;
> ते खल खोय खिस्यात खरे, अवतारु सुन्यो कहुँ छार परे को।
> जीवत तौ व्रत - भूख सुखौत, सरीर महा सुर-रूख हरे को ;
> ऐसी असाधु असाधुन की बुधि, साधन देत सराध मरे को।

देवजी के जिन ग्रंथो पर ऊपर समालोचना लिखी गई है, उन सबको सम्मति लिखते समय हमने देखा है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त पंडित युगलकिशोर मिश्र कहते थे कि निम्न-लिखित देव-कृत ग्रंथ उन्होंने स्वयं देखे थे, परंतु उनकी प्रति वह प्राप्त नही कर सके।

(१६) वृक्ष-विलास। यह एक छोटा-सा ग्रंथ है, और इसमे देवजी ने वृक्षों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। इसमे अन्योक्तियाँ बहुत है।

(१७) पावस-विलास। इसमे पावस-वर्णन के बड़े बढ़िया छंद है। यह आकार में भाव-विलास के बराबर और एक बड़ा ही अनमोल ग्रंथ है।

(१८) देव-शतक । यह जयपुर से प्रकाशित हो गया है । इसके कुछ छंद नीचे लिखते हैं—

बागो बन्यो जरपोस को, तामहि ओस को हार तन्यो मकरी ने ;
पानी मैं पाहन-पोत चल्यो चढ़ि कागद की छतुरी सिर दीने ।
काँख मैं बाँधिकै पाँख पतंग के 'देव' सुसंग पतंग को लीने ;
मोम के मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने ॥ १ ॥
काम परयो दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वार ही छूटे ;
माया के बाजने बाजि गए, परभात ही भातखवा उठि बूटे ।
आतसबाजी गई छिन मैं छुटि, देख अजौं उठिकै अखिफूटे ;
'देव' दिखैयन दाग बने रहे, बाग बने ते बरोठेई लूटे ॥ २ ॥
आवत आयु को द्यौस अथौत, गए रबि ज्यों अँधियारिए ऐहै ;
दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै ।
'देव' छितीस कि छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहै ;
जात उठी पुर - देह कि पैठ, अरे बनिए बनिए नहिँ रैहै ॥ ३ ॥
'देव' जियै जब पूछौ तौ पीर को, पार कहूँ लहि आवत नाहीं ;
सो सब झूँठ मतै मत कै बकि, मौन सोऊ रहि आवत नाहीं ।
है नँदनंद तरंगिनि मैं मन, फेन बह्यो गहि आवत नाहीं ;
चाहौं कह्यो बहुतेरा कछू, पै कहा कहिए, कहि आवत नाहीं ॥ ४ ॥

संपति मैं ऐंठि बैठे चौतरा अदालति के,
बिपति मैं पैन्हि बैठे पाँय झुनझुनिया ;
जेतो सुख संपति, तितोई दुख बिपति मैं,
संपति मैं मिरजा, बिपति परे धुनिया ।
संपति ते बिपति, बिपति हू ते संपति है,
संपति औ' बिपति बरोबरि कै गुनिया ;
संपति मैं काँय-काँय, बिपति मैं भाँय-भाँय,
काँय - काँय, भाँय - भाँय देखी सब दुनिया ॥ ५ ॥

गुरुजन जीवन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न बिबेक - रई 'देव' जो बनायगो ;
माखन मुकुति कहाँ, छाँड़यो न भुगुति जहाँ,
नेह - बिनु सगरो सवाद खेह नायगो ।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
तच्यो कोप - आँच पच्यो मदन छिनायगो ;

पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सों,
दूध-सो जनमु बिनु जाने उफनायगो ॥ ६ ॥
माया के प्रपचन सों, पंचन के बंधन सों,
कंचन के काज मोह-मंचन ठए फिरै;
काम भरयो, क्रोध भरयो, कपट-कुबोध भरयो,
बिस्व मैं बिरोध ही के बीजन बए फिरै।
लाभ ही के लोभ भरयो रंभत अनेक दंभ,
मान बिषै बस्तुन के पुस्तक लए फिरै;
चौदहो भुवन, सातौ द्वीप, नवो खंड जाके
पेट मै परे हैं, ताहि पेट मैं दए फिरै ॥ ७ ॥
कथा मै न, कंथा मै न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मै, न पाथ मै, न साथ की बसीति मै;
जटा मै न, मुंडन न, तिलक त्रिपुंडन न
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान-रीति मै।
पीठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दंड मै न 'देव' देहरे की भीति मै;
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं ॥ ८ ॥

(१९) हाल में प्रेम-दर्शन-नामक इनका एक और ग्रंथ खोज में मिला है। शायद यह प्रेम-दर्शन-पचीसी हो।

(२०) देव-सुधा में हमने इनके २७१ छंदों का संग्रह किया है। वे सब उत्कृष्ट है। लोग प्रायः छंद न समझ सकने की शिकायत करते थे, सो सुधा के सब छंदों के अर्थ भी लिख दिए गए हैं। यह ग्रंथ व्रज-भाषा में सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने देवजी-कृत ग्यारह ग्रंथों के नाम लिखे हैं, जिनमे से निम्न-लिखित चार ग्रंथों के अतिरिक्त शेष सात का विवरण ऊपर किया जा चुका है—

रसानंदलहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिल-विनोद और राधिका-विलास।

इन चार नए ग्रंथों के अतिरिक्त शिवसिंहसरोज में निम्न-लिखित सात ग्रंथों के नाम मिलते हैं—प्रेम-तरंग, भाव-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, काव्य-रसायन, अष्टयाम और देव-माया-प्रपंच-नाटक। हमारे पूज्य पिता पंडित बालदत्त

मिश्र ने देव के सुखसागर-तरंग को प्रकाशित कराया था। उसकी भूमिका में उन्होंने देव के नीतिशतक-नामक ग्रंथ का नाम लिखा था।

इस वर्णन से विदित होता है कि अभी तक हमें इनके २४ ग्रंथो के नाम ज्ञात हुए है। यदि सुंदरी-सिंदूर और सूर-सुधा को ग्रंथ न मानिए, तो २२ ग्रंथों के नाम ऊपर मिलेंगे। खोज मे नख-शिख और प्रेम-दर्शन-नामक इनके दो और ग्रंथ मिले हैं। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दुर्गाष्टक-नामक एक ग्रथ हाल मे पाया।

इन महाकवि के ग्रंथ अमूल्य रत्न हैं। समस्त भाषा - रसिकों को उचित है कि जो ग्रंथ जिस व्यक्ति के पास हो, वह उसकी सूचना समाचार-पत्रों में दे दे, या नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को लिख भेजे। इसके सिवा यदि इन महाकवि के सब ग्रंथ प्रकाशित न हो सकें, तो भाषा-रसिकों को उचित है कि अन्य रसिकों को उनके पास की हस्त-लिपियाँ प्राप्त करने मे पूरी सहायता दें।

देवजी की कविता का परिचय

(१) देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रचीं। उत्तमता मे भी वे सवैयो से न्यून नही हैं। इनकी कविता में पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्राय: कहीं कोई बुरा छंद न पाइएगा। देव ने कई ग्रंथों मे वे ही पद्य दो-दो, तीन-तीन बार रख दिए हैं, और कहीं-कही एक ही ग्रंथ मे वही पद्य दुबारा रख दिया है, यहाँ तक कि यदि किसी मनुष्य ने इनके कई ग्रंथ देखे हो, तो उसको किसी नए ग्रंथ के देखने में उत्कृष्ट नवीन पद्य बहुत नही मिलेंगे। इसका कारण एक यह भी है कि इनके पद्यों मे कितने ही पृथक्-पृथक् भाव झलकते हैं; अत: यह महाराज एक ही छंद विविध काव्यांगों के उदाहरणों में रख देते हैं, और वह पूर्णतया बैठ भी जाता है।

इनकी कविता मे अजायबघर की भाँति अच्छे-से-अच्छे छंद देखते चले जाइए, परंतु उसमे बिहारी की भाँति उतने चोज नही मिलते, किंतु इसके साथ-ही-साथ इनके साहित्य मे अभूतपूर्व कोमलता, रसिकता, सुंदरता आदि गुण कूट-कूटकर भरे है। ऐसे उत्कृष्ट पद्य किसी अन्य कविता मे, स्वप्न में भी, नही देखे जाते। इनके प्रकृष्ट पद्यों के बराबर किसी भाषा मे कोई पद्य पाना कठिन है। देव ने आभूषण-सहित रूप का वर्णन अधिक किया है, ख़ाली रूप का कम। इनके मध्या और प्रौढ़ा के भेद उतने बढ़िया नहीं बने, जितने मुग्धा के।

इनकी कविता में चोरी बहुत कम है। अधिक निर्लज्जता भी नहीं पाई जाती; परंतु 'सुखसागर-तरंग' के पद्य नंबर ७७४ में वह पूर्ण रूप से विराजमान है। एकआध स्थान पर इन्होंने गुरु अक्षर से लघु का काम लिया है। सुखसागर-तरंग का छंद नंबर ४०५ इसका उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देव महाराज देश-देश घूमे हैं। पूर्ण रसिक भी थे। अतः जहाँ गए, वहाँ की स्त्रियों को बहुत ध्यान-पूर्वक देखा। इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। देश-वर्णन देखकर कहीं-कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि संभवतः इनका चाल-चलन बहुत ठीक न था।

आपके तुकांतों में दो-चार स्थानों पर निरर्थक पद भी देख पड़ते हैं, यथा चाड़िली, रुंज आदि। इन्होंने प्रेम-चंद्रिका के आदि में कहा है कि कवि को प्रेम के ग्रंथ बनाने चाहिए, और पुरानी कथाओं में दिन वृथा ही बीत गए।

(२) देव की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। इन दोनो कवियों की-सी उत्कृष्ट भाषा कोई भी अन्य कवि नहीं लिख सका है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनो कवि अन्य कवियों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। इनकी कविता में श्रुति-कटु शब्द ढूँढ़े से भी कम मिलते हैं, और इन महाकवियों ने मिलित वर्णों का प्रयोग जितना कम किया है, उतना कम कोई भी अन्य कवि नही कर सका है। इन दोनो कवियों की भाषा टकसाली है, विशेषकर देव की अद्वितीय है। इसका कारण यही है कि इनकी कविता में भाषा-संबंधी निम्न-लिखित गुण मतिराम से भी कही अधिक हैं।

इनकी भाषा में अनुप्रास भरे पड़े हैं। आप जो शब्द उठाते थे, प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे; और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसी के शब्दों का कोई और अक्षर-क्रम उठाकर उसकी समता के शब्द रखने लगते थे। इस प्रकार एक साथ आप कई भाँति के अनुप्रास रख जाते थे। ये गुण लाने के वास्ते इनको निरर्थक शब्दों का व्यवहार नहीं करना पड़ा, और प्रायः कहीं भी अपना भाव नही बिगाड़ना पड़ा। ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देवजी कृतकार्य हो सके हैं। किसी अन्य कवि की कविता मे इतने अनुप्रास तो हैं ही नहीं, प्रायः इतने बढ़िया भाव भी नहीं पाए जाते। उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

> आई बरसाने ते बोलाइ बृषभानु - सुता,
> निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथैं गई ;
> चक - चकवान के चकाए चकचोटन सों,
> चौंकत चकोर चकचौंधी - सी चकैं गई।

देव नंद-नंदन के ननन अनंदमई,
नंदजू के मंदिरन चंदमई छै गई ;
कंजन कलिनमई, कुंजन नलिनमई,
गोकुल की गलिन अलिनमई कै गई ॥ ९ ॥

देवजी ने तुकांत भी निराले ही रक्खे हैं। अन्य कवियों ने ऐसे विलक्षण तुकांत नहीं रक्खे। इन महाकवि का भाषा पर इतना प्रगाढ़ अधिकार था कि इन्हें तुकात खोजने में कुछ भी कठिनता नहीं पड़ती थी, अतः आप हर प्रकार के टेढ़े-मेढ़े तुकांत रखकर उन्हें निभा ले जाते थे। इसके उदाहरण मे सुखसागर-तरंग के पद्य नंबर २५, ३६९, ६४७ और ६६३ द्रष्टव्य हैं।

इन्होंने कहीं-कहीं प्रचलित लोकोक्तियों को बहुत मनोरम प्रकार से अपनी कविता में रक्खा है। यथा—

प्राणपति परमेश्वर सो साझो कहौ कौन सो ?
गरे परि कौलगि प्यारी कहैए ?
कालिह के जोगी, कलींदे को खप्परु।
मनु-मानिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
ताको तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ॥ १० ॥
चंचल नैनि चमार की जाई, चितौनि मैं चाम के दाम चलावै।
सूझन साँझ-भिया न कछू सु दिया न बरै कहूँ कारे के आगे।

देव ने अपनी कविता में बड़े-बड़े विशेषण रक्खे हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक-एक चरण तक विशेषण लिखे गए हैं—

नूपुर-संजुत मजु मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पाँयन।
बीच जरनारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरें।

कुल मिलाकर जैसी सुहावनी भाषा यह महाकवि लिखने में समर्थ हुए हैं, उससे आधी सुहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्त, समाधि, कांति और उदारता-नामक गुण देव की रचना मे पाए जाते है। कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है। पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्त, प्रसन्नतादि गुणों की भी आपकी रचना में बहार है। कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी प्रस्तुत है। भाषा की उत्तमता इनका सर्वोत्कृष्ट गुण है, और भाषा को देखते हुए इन कवि को किसी अन्य कवि से न्यून कहना अन्याय समझ पड़ता है। देव की मनोहर भाषा के उदाहरण-स्वरूप हम केवल एक ही पद्य नीचे लिखते हैं, परंतु इस विषय में नीचे लिखे छंद भी विशेष रूप

से द्रष्टव्य हैं—सुखसागर-तरंग के छंद १५१, ३०६, ४८१, ५५४, ७२७ और सुंदरी-सिंदूर के छंद नंबर ५५ इत्यादि ।

मंजु बजै गुजरी कर - कंजन, पायलैं पॉय जराय लपेटी ;
नासिका मैं झमकै मुकुता, स्त्रुति हू झुमकी मनि कुंडल-जेटी ।
लालन-माल, जरी-पट लाल, सखी सॅग बाल-वधू कुअँरेटी ;
सेवक 'देव' सबै सुख साजति, राजति, है गिरिराज की बेटी ॥ ११ ॥

जितने उत्कृष्ट पद्य देव की कविता में हैं, उतने किसी अन्य कवि की कविता में, पड़ता लगाने से, नहीं पाए जाते । यदि पद्यों की उत्तमता के हिसाब से विचार करें, तो देव ही सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरेंगे । उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के छंद नंबर १७, ३४, ६६, १०३, ११४, १६३, १८०, २११, ३०६, ३७६, ४५३, ४६७, ५८२, ७६६ और ७६० देखिए । अन्य ग्रंथों के पद्य इस कारण प्राय: उदाहरणों में नहीं लिखे गए कि वे मुद्रित नहीं हैं, और उनके नंबर लिखने और देखने में कठिनाई होगी । अच्छे पद्यों के कुछ उदाहरण आगे लिखे भी जायँगे ।

(३) देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही अच्छे किए हैं । इनके पद्यों से विदित होता है कि आप प्रकृति के अच्छे निरीक्षक थे, परंतु सिवा मानव-प्रकृति के इतर प्रकृति की ओर यह महाशय निगाह बहुत नहीं उठाते थे । मानव - प्रकृति के वर्णन में इन्होने बेशक क़लम तोड़ दी है । इसके निम्न-लिखित पद्य उदाहरण हैं—सुखसागर - तरंग के छंद ८६, १४८, १८१, १८२, ३४१, ३७५, ४४८, ४६२, ५३३, ५४२, ६३०, ७०२, ७०८, ७१५, ७४६ और सुंदरी-सिंदूर के छंद १७, २६, ३१, ७५ । रस विलास मे जाति और देशों का प्राय: समस्त वर्णन ऐसा ही है । इसमें देव ने दिखा दिया है कि कवि कितना देखता है । वास्तविक प्रकृति और मानव-प्रकृति के उदाहरण-स्वरूप दो पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

सुनि कै धुनि चातक - मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल - कूकन सों ;
अनुराग - भरे बन - बागन मैं हरि रागत राग अचूकन सों ।
कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बन - भूमि भई दल - दूकन सों ;
रँग-राती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकन सो ॥१२॥
गूजरी ऊजरे जोबन को कछु मोल कहौ दधि कौ तब दैहौं ;
'देव' अहो इतराबु नहीं, ई नहीं मृदु बोल न मोल बिकैहौं ।
मोल कहा अनमोल बिकाहुगी, ऐंचि जबै अधरा रसु लैहौं ;
कैसी कही, फिर तौ कहौ कान्ह, अभै कछु हौंहू कका कि सौं कैहौं ॥१३॥

देव ने नायिकाओं का वर्णन ऐसा उत्कृष्ट किया है कि पूरी तसवीर खींच दी है। ऐसी सच्ची तसवीरें खींचने में बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि ऐसी निर्दोष तसवीर कोई भी कवि नहीं खींच सका है। इनकी कविता से विदित होता है कि कवि और चित्रकार में कितना घनिष्ठ संबंध है। ऐसी तसवीरें निम्न-लिखित पद्यों मे मिलेंगी। सुखसागर-तरंग के छंद १६७, १८६, २६२, ४१८। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

आश्रा ओट रावटी झरोखा झाँकि देखौ 'देव',
देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्यौस नाहिनै;
लहलहे अंग रंगमहल के अंगन में,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहनै।
लोने मुख लचनि नचनि नैन-कोरन की,
उरति न और ठौर सुरति सराहनै,
बाम कर बार हार आँचर सम्हारै, करै,
कैयो छंद कंदुक उछारि कर दाहिनै ॥ १४ ॥

देव ने क़समें भी अच्छी खिलाई हैं—

देहौं मिलाय तुम्हैं हौं तिहारियै आनि करौं वृषभानुलली सों;
बाँभन की सौं, बबा कि सौं मोहन, मोंहिं गऊ कि सौं, गोरस की सौं।

देव ने उपालंभ भी अच्छे दिए हैं। यथा—

कूबरी-सी अति सूधी बधू, बरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो।
गोकुल-गाँव के लोग गरीब हैं बासु बराबरि ही को उहाँ तो;
बैठि रहौ, सपनेहू सुन्यो कहुँ राजन सों परजान सों नातो।

भाषा-संबंधी काव्यांगों के साथ इन कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना में बड़ी ही प्रचुरता से रक्खे हैं। इनके एक-एक छंद में अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं, और मानुषीय प्रकृति के निरीक्षण का फल प्राय: सर्वत्र प्रकट है। शब्द-रसायन में ऐसे छंद बहुतायत से मिलेंगे। उसमें स्वयं इन्होंने अपने छंदों के विविध भाव कहीं-कहीं दिखलाए हैं। मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में हमने इनके एक छंद के वर्णन में अलंकार, रसादि का उसमें होना दिखलाया है। इसी प्रकार यदि कोई शब्द-रसायन की टीका रचे, तो इनकी रचना के पूरे गुण साधारण पाठकों पर भी प्रकट हों। पंडित युगलकिशोरजी मिश्र ऐसी ही एक टीका रच रहे थे, परंतु शोक है कि वह अपूर्ण रह गई, और उनका स्वर्गवास हो गया। कुछ लोगों का विचार है कि देव की भाषा-मात्र श्रेष्ठ है, किंतु

भाव-सबलता इनकी रचना का मुख्यांग नहीं है। हमारा मत इस कथन के बिलकुल प्रतिकूल है। जो लोग इनकी रचना में शब्दाडंबर-मात्र देखते हैं, वे हमारी समझ में भारी भूल करते हैं। इनकी भाषा अद्वितीय अवश्य है, किंतु साहित्य-गौरव की तुलना में हम भाषा का पद ऊँचा नहीं समझते। देव ने स्वयं यही मत प्रकट किया है। हम भाव-सबलता देव का मुख्य गुण मानते हैं। प्रेम का वर्णन आपका अद्वितीय है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। इसमें आपने दांपत्य प्रीति की मुख्यता अवश्य रक्खी है, किंतु है वह औवल दर्जे का। आपने अधिक स्थानों पर केवल नायक या नायिका का कथन नहीं किया है, वरन् प्राय: दोनो का मिला हुआ वर्णन दिया है। हमारी समझ में देव के इतर गुण उतने सबल हैं कि इनके भाषा-संबंधी गौरव को बिलकुल छोड़ देने से भी इनका नंबर वहीं-का-वहीं रहता है। मुख्य करके आप आचार्य हैं। भाव-भेद, रस-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल आदि, सभी में आपकी आचार्यता देख पड़ती है। इनके प्राय: ग्रंथों से ये सब बातें प्रकट हैं। देव-चरित्र में आपने भगवान् कृष्णचंद्र की कथा भी ख़ूब अच्छी कही है। देव-माया-प्रपंच-नाटक भी दर्शनीय है। जिन विषयों के उदाहरण इस ग्रंथ में बतलाए गए हैं, वे सब देव-सुधा में भी प्राचुर्य से प्राप्त हैं। अर्थ समझाकर परमोत्कृष्ट छंद सामने रखने को ही वह संग्रह किया गया है।

(४) देव ने ऊँचे विचार बहुत ही अधिक बाँधे हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे विचार सब कवियों में नहीं पाए जाते—

आरसी-से अंबर में आभा-सी उज्यारी लगै ;
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।

आपके बराबर अमीरी का सामान बाँधनेवाला कोई भी कवि नहीं है। इनके छंदों में हर स्थान पर साज़-सामान ख़ूब देख पड़ता है। इससे विदित होता है कि यह महाराज अमीरों में रहे थे। रस-विलास के चौथे अध्याय के छंद ३०, ३१ और ३२ इस कथन के उदाहरण हैं। अष्टयाम में बहुत प्रकार के मकान कहे गए हैं।

इसी ऊँचे विचार और अमीरी से मिलता हुआ अतिशयोक्ति का विषय है। इसका भी देव की कविता में प्रभुत्व रहता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के छंद १८०, २१४ हैं। तो भी इतना कहना पड़ेगा कि स्वभावोक्ति इनका प्रधान गुण है।

इन्होंने ग्रामीण नायिकाओं को इतना बढ़ाया है कि वे अन्य कवियों की नागरी नायिकाओं से भी अधिक नागरी देख पड़ती हैं। देवजी की नागरी

नायिकाओं के वर्णन में तो सरसता, कोमलता आदि का वारापार नहीं है। इनका ग्रामीण उदाहरण लीजिए—

बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई ;
सुंदरै हौ, सुघरै हो, सलोनी हौ, सील-भरे रस-रूप-सनाई।
राज बधू बलि राज-कुमारि, अहा सुकमारि न मानौ मनाई ;
नैसुक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई॥ १५॥

(५) देव की कविता मे हृदय पर चोट करनेवाले चित्त के सच्चे भाव बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। ऐसे कलेजा निकालकर सामने रख देनेवाले विशद पद्य बहुत कम कवियों मे मिलते हैं। इन्हें केवल वे ही कवि बना सकते हैं, जो किसी विषय में बिलकुल तल्लीन हो गए हों। ऐसे पद्य प्रेमालाप में बहुत आते हैं, अतः प्रेम-चंद्रिका मे ये बहुतायत से आए हैं। प्रेम का आपने अद्वितीय-प्राय कथन किया है। उदाहरण-स्वरूप सुखसागर-तरंग के पद्य ५८१, ६०२, ६५४, ७७७ और ८२६, सुंदरी-सिंदूर का तीसरा पद्य, प्रेम-चंद्रिका के तीसरे अध्याय के छंद ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ५०, ५१ और चौथे अध्याय का पाँचवाँ छंद देखिए। प्रेम-चंद्रिका के उदाहरण में जो दो पद्य ऊपर लिखे जा चुके हैं, वे इसके भी उदाहरण है। अपने छंदों में मन पर भी आपने अच्छे-अच्छे भाव बाँधे हैं। देव-सुधा में इनका प्राचुर्य है।

(६) देवजी ने उपमाएँ बहुत खोज-खोजकर दी हैं। उपमा तथा उससे मिलते हुए रूपक आदि अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

उर में उरोज जैसे उमगत पाग है।
साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।

सुखसागर-तरंग के छंद ३०७, ३५२, ३७०, ४६६, ५३६, ६५४, ८२४ और सुंदरी-सिंदूर का ४५वाँ छंद भी देखने योग्य है। इन्होंने ऐसी अनूठी उपमाएँ आदि लिखी हैं, जो केवल यही लिखते हैं, दूसरा नहीं। कुछ और छंद या छंदांश यहाँ भी लिखे जाते हैं—

'देव' कछू अपनो बसु ना, रस, लालच लाल चितै भई चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी।
(प्रेम-चंद्रिका)

'देव' जू द्वार किंवारन हू झँझरीन, झरोखन झाँकि फिरी त्यों ;
हीन ज्यों मीन जरा की भई है, फिरै, फरकै पिंजरा की चिरी ज्यों।
(प्रेम-चंद्रिका)

सुघर सोनार रूप सुबरनचोर दृग,
कोरि हरि लेत रवा राखत न राई-सी ;

× × ×

घर - घरिया मैं घुरी, घरी, मैं उघरि आई,
फैली जाति फूल नहीं फिरति गराई - सी ;
'देव'जू सोहाग - रंग आँचन तचाई सोई,
रचना सिरानि तची कंचन सिराई - सी।
(प्रेम-चंद्रिका)

नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गोपाल गुन,
गाड़रू सिंगार रूप - कला अकुलाई है ;
लीलि - लीलि लाज दृग मीलि - मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि - कीलि ब्यालिनी - सी ग्वालिनी बोलाई है।
(प्रेम-चंद्रिका)

चौंकि - चौंकि चकित चितौती चहुँ ओर, भई
साँझ की - सी चकई, चकोरी मनो भोर की।
(प्रेम-चंद्रिका)

बालपनो, तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबरि केवल बोलै,
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सुनैन - पलानि तुला धरि तोलै।
(सुजान-विनोद)

'देव' तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों - ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत।
(सुजान-चरित्र)

पतिब्रत - ब्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो।
बड़े - बड़े नैनन ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो - गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।
(प्रेम-चंद्रिका)

बेलि बधून सों केलि कै पौन अन्हाय सरोजन के रस भीने ;
नायक लौं निकसो तजि कुंजन गुंजन सो अलि-पुंजन लीने।
(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

कुल की - सी करनी, कुलीन की - सी कोमलता,
सील की - सी संपति सुसील कुल कामिनी ;

दान को-सो आदर, उदारताई सूर की-सी,
गुनी की लोनाई, गुनमंती गजगामिनी।
ग्रीषम को सलिल, सिसिर को-सो घाम 'देव',
हेउत हसंती ,जलदागम की दामिनी;
पून्यो को-सो चंद्रमा, प्रभात को-सो सूरज,
सरद को-सो बासर, बसंत की-सी जामिनी ॥ १६ ॥
(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

हाय दई, यहि काल के ख्याल मैं फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने।
(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

ताहि चितौत बड़ी अँखियान ते,
ती की चितौनि चली अति ओज की;
बालम ओर बिलोकि के बाल,
दई मनो खैंचि स-नाल सरोज की।
(सुजान-चरित्र)

आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।
(सुजान-चरित्र)

बालम के उर मैं उ रमै, सु-सदा लपटी रहै साल पटी-सी।
(सुजान-चरित्र)

जो छंद अंत में कविता के उदाहरण-स्वरूप लिखे गए हैं, उनमें भी कितने ही उपमा आदि के लिये भी दर्शनीय हैं।

इन्होंने सर्वांग-रूपक बड़े ही विशद कहे हैं। यथा—सुखसागर-तरंग के छंद ५२४, ६४३, ८१७, २३८, सुंदरी-सिंदूर के ६, ६, ३४, ६८, रस-विलास के सातवें अध्याय का छंद ५६, शब्द-रसायन के नव अध्याय का छंद ७३।

(७) देवजी ने बहुत-से चोज भी कहे हैं, यथा—

जोगहू ते कठिन सँजोग पर-नारी को।
सुख थोरो अरु दुख बड़ो परकीया की प्रीत।

है परमेसुर ते पति नीको, सदा पतिनी को जो लोक-लहावैं;
'देव'जू तासो कहा कहिए, दुख कैं सुख सो सहिए जो सहावैं।
दूरि ही ते रहिए कर जोरे, भले गहिए पग जो पै गहावैं;
रारि करैं मनुहारि बिसारि, परैं कुल-गारि कुनारि कहावैं ॥ १७ ॥

(८) इनकी कविता से विदित होता है कि यह अभिमानी भी बड़े थे, और इन्हें किसी की बरदाश्त न थी। इनकी बहुज्ञता भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। बहुतेरे विषयों का इन्हें ख़ासा ज्ञान था। इतने अनमेल विषयों पर किसी ने कविता नहीं की है। इन्होंने काव्य-रीतियों पर भी बड़ी दृढ़ता से गमन किया है। देव-ग्रंथावली की भूमिका मे हमने देव के अनेक सद्गुणों के उदाहरण-स्वरूप उन छंदों का हवाला दिया है, जो उन्हीं ग्रंथों में हैं। उन सब छंदों को यहाँ दोहराने से ग्रंथ का आकार बहुत बढ़ जायगा, इसीलिये यहाँ थोड़े में उनका कथन किया जाता है। जो महाशय वे सब छंद देखना चाहें, वे उस ग्रंथ को पढ़ने की कृपा करें। उक्तियों का देव की कविता मे अच्छा समावेश है। अन्योक्ति, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति आदि के आपने ख़ासे उदाहरण दिए हैं। काकु, अत्यंत तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि आदि के अच्छे उदाहरण इनकी रचना मे मिलेंगे। इशारो तथा ध्वनियों में कहीं-कहीं आपने बड़े चमत्कार-पूर्ण भाव रक्खे है। बहुत स्थानों पर अनेकानेक भावों का आपने एक ही छंद में बड़ा विशद वर्णन किया है। ऐसा भाव-समुच्चय बड़े-बड़े कवि ही दिखला सकते है। लाज, मन आदि को संबोधित करके देव ने कई बहुत अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं। प्रेम और योग तथा योग और वियोग को मिला-मिलाकर आपने अच्छे-अच्छे भाव दिखलाए हैं। यद्यपि प्रकृति-निरीक्षण के फल आपकी रचना में बहुतायत से नहीं, तथापि इस संबंध के छंदो की संख्या बहुत कम भी नहीं है। आपने बहुतेरे अनमिल विषयों पर सफलता-पूर्वक रचना की है, जैसा कि ऊपर लिखे हुए इनके ग्रंथों से विदित हुआ होगा। भाषा-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे। आपने दशांग कविता पर अनेकानेक रीति-ग्रंथ बनाए, और भाव-भेद, रस-भेद तथा प्रेम का कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार से अनूठा, हृदयग्राही तथा मनोरम वर्णन किया। आपकी रचना मे शृंगार-रस की विशेषता अवश्य है, परंतु फिर भी उसमें सदैव सदुपदेश दिए गए, और प्रेम का भाव बहुत ऊँचा रक्खा गया है। शृंगारी कवि होने पर भी आपने वैराग्य, राग, माया, आत्मज्ञान, वृक्ष, पावस, नीति आदि पर अनमोल ग्रंथ रचे। कवि-कर्तव्य आपकी सम्मति मे कितना ऊँचा है, यह दिखाने को आपका एक छंद यहाँ दिया जाता है—

जाके न काम, न क्रोध, विरोध न, लोभ छुवै नहिँ छोभ को छाहौ ;
मोह न जाहि रहै जग-बाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहौ।
बानी पुनीति ज्यों देव-धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौ ;
सील ससी सबिता छबिता, कबिताहि रचै कबि ताहि सराहौ॥ १८॥

(प्रेम-चंद्रिका)

(६) देवजी की कविता के गुण-दोष हम सूक्ष्मतया ऊपर दिखा चुके। यों तो इनकी कविता के गुण अगाध हैं, और उनका वर्णन करना कठिन काम है, तथापि यथासाध्य हमने उनको थोड़े मे, स्थाली-पुलाक-न्याय से, दिखा दिया है। जिस प्रकार लोग सूरदास और तुलसीदास की स्तुति कर गए हैं, उसी प्रकार इनकी भी की गई है। इनके विषय मे निम्न-लिखित छंद हमने सुना है, जो सुखसागर-तरंग की भूमिका मे हमारे पूज्य पिता ने भी लिखा—

सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नछत्र केसौ,
सेष कबिराजन को जुगनू गनायकै;
कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो, अब
काव्य रीति मोसन सुनहु चित लायकै।
देव नभ-मंडल-समान है कबीन मध्य,
जामै भानु, सितभानु, तारागन आयकै;
उदै होत, अथवत, चारो ओर भ्रमत, पै
जाको ओर-छोर नहिँ परत लखायकै।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि बिहारीलाल देव से श्रेष्ठ कवि है। किसी-किसी को यहाँ तक संदेह हुआ है कि हमने बिहारी का वर्णन जो नवरत्न में किया है, उसका एकमात्र अभिप्राय उस महाकवि की निंदा करनी है। ऐसे लोगों से हम क्षमा के प्रार्थी है, और उन्हें निश्चय दिलाते है कि हमने जो कुछ लिखा हैं, वे हमारे शुद्ध विचार हैं। उनका कहना है कि देव के कितने ही छंद बहुत कठिन है, अतः रचना मे प्रसाद-गुण नहीं है। यदि सौ छंदों में दस-पाँच बहुत कठिन हों, जैसा कि है भी, तो पूरी रचना मे प्रसाद का अभाव नही माना जा सकता। इसी भाँति यदि देव ने कुछ शब्द मरोड़े हों, तो कोई हानि नहीं, क्योंकि ऐसे शब्दों का पड़ता इनकी रचना मे अधिक न बैठेगा।

देवजी की कविता मे जो गुण है, वे अद्वितीय है। ऐसी बढ़िया कविता किसी कवि के किसी ग्रंथ मे, एक स्थान पर, नही पाई जाती। जैसे विशद छंद इनकी कविता मे सैकड़ो पाए जाते है, वैसे छंद किसी कविता में, किसी स्थान पर, न निकलेंगे। ये सब बातें होते हुए भी हम इनको भाषा-साहित्य मे सर्व-श्रेष्ठ कवि नही कह सकते। इनको किसी कवि से न्यून कहना इनके साथ अन्याय समझ पड़ता है, परंतु इनको सर्व-श्रेष्ठ कहना गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास के साथ भी अन्याय होगा। सिवा इन दोनो महात्माओं के और किसी तृतीय कवि की तुलना देवजी स कदापि नही की जा सकती। शेष कवियों से और

देवजी से बहुत बड़ा अंतर है, और जो देवजी के प्रधान गुण हैं, उनमें इनकी कविता और उपर्युक्त दोनो महात्माओं की कविता मे भी बहुत बड़ा अंतर है; क्योंकि वे महात्मा भी उन गुणो को अपनी-अपनी कविता मे सन्निविष्ट करने में देवजी के सामने नितात असमर्थ रहे ; परंतु जो बहुतेरे गुण सूरदास तथा तुलसीदास की कविता में हैं, वे गुण देवजी भी नहीं ला सके हैं। यदि देवजी किसी भारी कथा-प्रसंग का काव्य करते, तो नही मालूम, उनका वर्णन कैसा होता ? संभव है, यह भी वैसा काव्य कर सकते, जैसा उन महात्माओं ने किया है, परंतु जब तक कोई वैसा साहित्य रचकर दिखा न दे, तब तक यह कहा नही जा सकता कि वह अवश्य ऐसा कर सकता है, चाहे जितना बड़ा कवि वह क्यों न हो। सूरदास की साधारण कविता से तो देवजी की कविता की कोई भी तुलना नहीं की जा सकती, परंतु सूर-कृत उत्कृष्ट प्रबंधों की बराबरी देव का कोई भी ग्रंथ नही कर सकता। सूर का कोई भी पद देवजी के कवित्तों के बराबर मनोहर नही है, परंतु उनके कुछ परमोत्तम प्रबंध ऐसे है कि वे बहुत ही आला दरजे के है, और उनके सम्मिलित प्रभाव की समता देवजी का कोई भी वर्णन नही कर सकता। ये ही बातें गोस्वामी तुलसीदास के विषय में भी चरितार्थ होती है। देव-कृत छंदों की उत्तमता को तो कोई भी कवि नहीं पहुँचता, परंतु इसी प्रकार गोस्वामीजी का भी सदा ही निभनेवाला औचित्य बहुत ही अद्वितीय है। तुलसीदास की रचना हर स्थान पर अत्यंत सराहनीय है, और सैकड़ों पृष्ठों तक वह शिथिल नहीं हुई है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि कुल मिलाकर ये दोनो महात्मा देवजी से श्रेष्ठ नहीं है।

ये तीनो महापुरुष भाषा-साहित्य के भूषण हैं, और अपने-अपने ढंग पर तीनो अनमोल हैं। इनके विषय मे न्यूनाधिक कहना मतभेद से ख़ाली नहीं है। इन तीनो के भक्त अपने-अपने कवि को सर्वोत्तम मानते है। हमने इन तीनो महाकवियों के ग्रंथ बहुत ध्यान-पूर्वक पढे है, और हम तीनो को महान् समझते हैं। संभव है, इनके विषय मे जो कुछ हमने कहा है, वह अन्य साहित्यानुरागियों को यथार्थ न जँचे, और इसमे हम यह नहीं कह सकते कि यह उनकी भूल अवश्य होगी, परंतु जहाँ तक हमें समझ पड़ा, हमने इनके विषय में अपना मत प्रकट किया। इतना अवश्य निश्चित है कि इन तीनो महानुभावों के बराबर कोई चौथा कवि किसी प्रकार नहीं पहुँचता, क्योकि यदि इन तीनो मे ६० और १०० का अंतर है, तो शेष में इनसे ७० और १०० का अंतर निकलेगा। कुछ लोगों को यह वास्तविक भ्रम है कि बिहारी सचमुच देव से श्रेष्ठ कवि हैं। इस विचार की पुष्टि में वे देव-कृत हज़ारो छंदों से कुछ साधारण पद निकालकर उनका

बिहारी के अच्छे दोहों से मिलान करते हैं। उनका यह विचार शुद्ध शंकामय समझकर हमने देव के २७१ अच्छे छंद चुनकर देव-सुधा-संग्रह प्रकाशित किया है। उसे देखकर पाठक सहज में ही समझ सकेंगे कि इन दोनो कवियों में से चुने हुए छंद किसके अच्छे हैं, और कौन कैसा है? हम अपने विचारों को ठीक समझते हैं; सो स्वाभाविक ही है। इन महाशय की कविता का बड़ा भाग अध्यात्म-संबंध पर भी है। इन दिनों बिहारी के भी २७० दोहे छाँटकर हमने बिहारी-सुधा भी प्रकाशित किया है।

देवजी के विषय में एक अपना छंद लिखकर हम यह प्रबंध समाप्त करते हैं—

देव सुकवि ने बिरच छंद अनुपम टकसाली;
भाषा की सरबोच्च दिखाई छटा निराली।
देस-देस की बिसद तरुनिगन बरन सुनाया;
कर बरनित प्रति जाति सभी का रूप दिखाया।
दस अंग काव्य, बैराग, त्यों राग-भेद सब कुछ कहा;
सब कबियों में यह एक कबि भाषा का राजा रहा।

देवजी की रचना के कुछ उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

प्रेम-चंद्रिका

आँखिन आँखि लगाए रहैं, सुनिए धुनि कानन को सुखकारी;
'देव' रही हिय मैं घरु कै, न रुकै, निसरै, बिसरै न बिसारी।
फूल मै बासु ज्यों मूल सुबासु की, है फलि-फूल रही फुलवारी;
प्यारी उज्यारी हिये भरिपूरि, सु दूरि न जीवनमूरि हमारी॥ १॥

एकै अभिलाष लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं;
जासों मनु राचै, तासों तनु-मनु राचै, रुचि
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं।
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं;
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे, तौ पैठो प्रेम-घर मैं॥ २॥

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गए एक संग मैं;

कारे - कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि, जिमि
जंबु - रस - बुंद जमुना - जल - तरंग मैं;
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं॥ ३॥
वारै कोरि इंदु अरबिंदु रसबिंदु पर,
मानै ना मलिंद बिंदुसम कै सुधासरो;
मलै, मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा,
चपेहू न चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिनि तुही षटपदु को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो;
रस, रिस, रास, रोस आसरो सरन, बिसे
बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि - बासरो॥ ४॥

को कुल या ब्रज गोकुल दो कुल दीप-सिखा-सी ससी-सी नहीं भरि;
त्यों न तिन्है हरि हेरत री रँगराती न जो अँगराती गरे परि।
जो नवला नव-इंदुकला ज्यों लची परै प्रेम रची पिय सों लरि;
भेटत देखि बिसेखि हिये ब्रजभूभुज 'देव' दुहू भुज सों भरि॥ ५॥

प्रेम कहानिन सों पहिले हरि कानन आनि समीप किए तैं;
चित्र चरित्रन मित्र भए सपने महँ मोहिँ मिलाइ लिए तैं।
'देवजू' दूरि ते दौरि दुराइ कै प्रेम सिखाइ दिखाइ दिए तैं;
बारिज - से बिकसे मुख वै निकसे इत ह्वै, निकसे न हिए तैं॥ ६॥

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी, देखे हैं जा दिन ते ब्रजभूप मैं;
पूरि रही री वही धुनि कानन आन न आनन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ न हमारियै जाय मिलीं जल-बुंद ज्यों कूप मैं;
कोटि उपाय न पाइय फेरि, समाइ गईं रँगराइ के रूप मैं॥ ७॥

लाल बुलाई है, को हैं वे लाल, न जानती हौ तौ सुखी रहिबो करि;
री सुख काहे को देखे बिना दिखसाधन ही जियरा न परयो जरि।
'देव' तौ जानि अजान क्यों होति? इती सुनि आँसुन नैन लए भरि;
साँची बुलाई, बुलावन आई, हहा कहु मोहिँ कहा कहिहैं हरि॥ ८॥

जागत - जागत खीन भई, अब लागत संग सखीन को भारो;
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो बिसे बीस बिसारो।

प्य-सुधि दौस गँवावति 'देवजू' जामिनि जाम मनौ जुग चारो ;
नीरजनैनी निहारिए नैनन धीरज राखत ध्यान तिहारो ॥ ६ ॥

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
'देव' जियै मिलिबेई कि आस कै आस हू पास अकास रह्यो भरि ;
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ॥ १० ॥

रीझि - रीझि, रहसि - रहसि, हँसि - हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई - दई ;
चौंकि - चौंकि, चकि - चकि, उचकि-उचकि 'देव'
जकि - जकि, बकि - बकि, परत बई - बई ।
दुहुन को रूप - गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई - नई ;
मोहि - मोहि मोहन को मन भयो राधिकामै,
राधा मन मोहि - मोहि मोहन मई - मई* ॥ ११ ॥

पीछे तिरीछे चितौनि सोई इत वै चितवैं री लला ललच्यो है ;
चौगुनो चाउ चवाइन के चित चाव चढ़ो है चवाउ मच्यो है ।
जोबनु आयो न पापु लग्यो कबि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसोहैं ;
जी मैं लजैए जु जैए कहूँ तित पैए कलंक चितैए जु सोहै ॥ १२ ॥

प्रेम - चरचा है अरचा है कुल नेम, न
रचा है चित और अरचा है चित्तचारी को ;
छोड़यो परलोक नर - लोक बरलोक कहा,
हरख न सोक न अलोक नर - नारी को ।
घाम, सीत, मेह न बिचारै सुख देह हू को,
प्रीतम सनेह डरु बन न अँध्यारी को ;
भूलेहू न भोग, बड़ी बिपति, बियोग - बिथा,
जोग हू ते कठिन सँजोग परनारी को ॥ १३ ॥

नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव',
देवर जगै न लगै सोवत तनक ते ;
ननद नछीछी त्योरी तोरति तिरीछी, लखि
बीछी - कैसो बिषु बगरावैगी भनक ते ।

* मई भई भी पाठ है ।

देखिए कठिन साथ गहौ जू हठि न हाथ,
कैसे कहौ जाहु नाथ, आए हौ बनक ते ;
बस ना हमारो रंगरस ना बनत, चौंकि
रसना दसन दाबै रसना झलक ते ॥ १४ ॥
बारिधि बिरह बड़ी बारिधि की बड़वागि,
बूड़े बड़े - बड़े जहाँ पारै प्रेम - पुलते ;
गरुओ दरब 'देव' जोबन गरब गिरि,
परयो गुन टूटि छूटि बुधि - नाउ डुलते ।
मेरे मन तेरी भूल, मरी हौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन तूल - तूल अति ही अतुलते ;
भावते ते भोंड़ी करो, मानिनी ते मोंड़ी करी,
कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते ॥ १५ ॥
आपुस मै रस मै रहसै - बहसै बनि राधिका कुंजबिहारी,
स्यामा सराहत स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी ।
एकहि दर्पन देखि कहै तिय, नीके लगौ पिय, प्यौ कहै प्यारी ;
'देवजू' बालम बाल को बादु बिलोकि भई बलिहौं बलिहारी ॥ १६ ॥
अंबकुल, बकुल, कदंब, मल्ली, मालती,
मलैजन को मीजकै गुलाबन की गली है ;
को गनै अलपतरु, जीसो जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों अलपमति अली है ।
चित जाके चाय - चढ़ि चंपक चपायो कोन,
मोचि मुख सोचि है सकुचि चुप चली है ;
कंचन बिचारे रुचि पंचन मै पाई 'देव',
चंपाबरनी के गरे परयो चंपकली है ॥ १७ ॥
धार मै धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसीं उकसी न अबेरी ;
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरीं औ घिरी नहिं घेरी ।
'देव' कछू अपनो बसु ना रस, लालच लाल चितै भईं चेरीं ;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥ १८ ॥
पहिले सतराइ रिसाइ सखी जदुराइ पै पाँय गहाइए तौ ;
फिरि भैंटि भटू भरि अंक निसंक बड़े खन लौं उर लाइए तौ ।
अपनो दुख औरनि को उपहासु सबै कबि 'देव' जताइए तौ ;
घनस्यामहिं नेकहुँ एक घरी को इहाँ लगि जो करि पाइए तौ ॥ १९ ॥

जीभ कुजाति न नेकु लजाति गनै कुल - जाति न बात बह्यो करै ;
'देव' नयो हिय नेह लगाय बिदेह कि आँचन देह दह्यो करै।
जीव अजान न जानत जान जो मैन अयान के ध्यान रह्यो करै ;
काहे को मेरो कहावत मेरो जुपै मन मेरो न मेरो कह्यो करै ॥ २० ॥

रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ, मेरे
रीझ - खीझ एकै रँग राग्यो सोई रागि चुक्यो ;
जस - अपजस, कुबड़ाई औ बड़ाई, गुन-
औगुन न जान्यो, जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो।
कौन काज गुरुजन बरजैं जु दुरजन,
कैसो कुल-नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो ;
लोगन लगायो सुतौ लाग्यौ अनलाग्यौ 'देव',
पूरो पन लाग्यौ मन लाग्यौ सोई लागि चुक्यो ॥ २१ ॥

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं ;
कैसो परलोक, नरलोक बर लोकन मैं,
लीन्हों मैं अलोक लोक-लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि 'देव' गुरुजन जाहि,
जीव क्यो न जाहि, टेक टरति न टारी हौं ;
बृंदाबनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥ २२ ॥

कैसी कुल-बधू ? कुल कैसो ? कुल-बधू कौन ?
तू है, यह कौन पूछै काहू कुलटाहि री ?
कहा भयो तोहिं ? कहा काहि तोहिं मोहिं कीधौं
कीधौं और का है और कहा न तौ काहि री ?
जाति ही ते जाति, कैसी जाति ? को है जाति ? एरी
तोसों हौं रिसाति, मेरी मोसों न रिसाहि री ;
लाज गहु, लाज गहु, लाज गहिबे हौं रही,
पंच हँसिहैं री, हौं तौ पंचन ते बाहिरी ॥ २३ ॥

बोरयो बंस - बिरद मैं बौरी भई बरजत,
मेरे बार - बार बीर कोई पास पैठौ जनि ;
सिगिरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन मैं छाँड़ौ मोसों भौंहन अमैठौ जनि।

कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर,
काहू के न काम की निकाम याते ऐंठौ जनि ;
'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ
बैठी हौं बिकल, कोई मोहिं मिलि बैठौ जनि ॥ २४ ॥
जिन जान्यो बेद ते तौ बाद कै बिदित होंहिं,
जिन जान्यौ लोक तेऊ लीक पै लरि मरौ ;
जिन जान्यो तपु तीनो तापन सों तपि, जिन
पंचागिनी साध्यो ते समाधिन परि मरौ।
जिन जान्यो जोग तेऊ जोगी जुग-जुग जियो,
जिन जान्यो जोति तेऊ जोति लै जरि मरौ ;
हौं तौ 'देव' नंद के कुमार तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ ॥ २५ ॥
मोहिं तुम्है अंतरु गनैं न गुरुजन, तुम
मेरे, हौं तुम्हारी, पै तऊ न पघिलत हौ ;
पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौ,
पंच पूँछि देखे, कहूँ काहू ना हिलत हौ।
ऊँचे चढ़ि रोई, कोई देत न दिखाई 'देव',
गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ ;
ऐसे निरमोही सदा मोही मैं बसत अरु
मोही ते निकरि फेरि मोहीं न मिलत हौ ॥ २६ ॥
को हमको तुम - से तपसी बिन जोग सिखावन आइहै ऊधो ;
पै अब एही कहौ उनको पिछली सुधि आवति है कबहू धौ ?
एक भली भई भूप भए जिन्हैं भूलि गए दधि, माखन, दूधो,
कूबरी - सी अति सूधी बधू बरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो ॥ २७ ॥
रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों स्रुति सानो ;
गात मै देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिए बात बखानो।
ऊधो, हहा हरि सों कहियो, तुम हौ न इहाँ, यह हौं नहिं मानो,
या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनते जु बसौ तब जानो ॥ २८ ॥
जौ न जी मैं प्रेम, तब कीजै ब्रत - नेम, जब
कंज - मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए ;
आस नहीं पी की, तब आसन ही बाँधियत,
सासन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए।

नख ते सिखा लौं सब स्याममई बाम भई,
बाहिर हू भीतर न दूजो 'देव' देखिए;
जोग करि मिलै जो बियोग होय बालम, जु
ह्याँ न हरि होयँ, तब ध्यान धरि देखिए॥ २९॥
जोगहि सिखै हैं ऊधौ जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ कै चुकी;
'देव' पंचसायक नचाय खोलि पंचन मै,
पंचहू करनि पंचामृत सो अचै चुकी।
कुल-बधू ह्वै कै हाय कुलटा कहाई, अरु
गोकुल मै, कुल मै, कलंक सिर लै चुकी;
चित होत हित न हमारे नित और, सो तौ
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकी॥ ३०॥
'देव' प्रीति पंथा चीरि, चीर गरे कंथा डारि,
भसम रमाय खान-पान हू न छूजिए;
दूरि दुख-दुंद राखि, मुंदरा पहिरि कान,
ध्यान सुंदरानन गुरू के पग पूजिए।
शृंगी की टकी लगाय, भृंगी-कीट कै मनु,
बिरागिनि ह्वै बपु बिरहागिनि मैं भूजिए;
केली तजि राधिका अकेली होय जोगिनि, तौ
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए॥ ३१॥
अंजन सों रंजित निरंजनहि जानैं कहा,
फीको लगै फूल रस चाखे हो जु बौंड़ी को;
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौंड़ी को।
ऊधो पूरे पारखी हौ, परखे बनाय 'देव',
वारही पै बोरौ पैरवैया धार औंड़ी को;
मनु-मनिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को॥ ३२॥
कुबिजा कितेब दुबिजा के रहे आपु 'देव',
अंसअवतारी अब तारी जिन गनिका;
आरति न राखत निवारत नरक ही ते,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका।

इनके गुनानुबाद तुम - सो सुने हैं ऊधो,
गोपिन को सूधो मत प्रेम की जवनिका,
कुंजन मै टेरि हैं जु स्याम को सुमिरि नीके,
हाथ लै न फेरिहै सुमिरिनी के मनिका ॥ ३३ ॥

मंद महामोहक मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस बँधी बाँसी है, री बाँसी है,
गोकुल की कुल - बधू को कुल सम्हारै नही,
दो कुल निहारैं, लाज नासी है, री नासी है।
काहि धौं सिखावत, सिखै को काहि सुधि होय,
सुधि-बुधि कारे कान्ह डासी है, री डासी है,
'देव' ब्रजबासी या बिसासी की चितौनि, वह
गाँसी है री हाँसी, वह फाँसी है, री फाँसी है॥ ३४ ॥

फलि-फलि, फूलि-फलि, फैलि-फैलि, झुकि-झुकि,
झपकि-झपकि आईं कुंजै चहुँ कोद ते,
हिलि-मिलि हेलिन को केलिन करन गईं,
बेलिन बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते।
नंदजू की पौरि पर ठाढे हैं रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीनी मोहिनी वे मोद ते;
गाथन सुनत भूलो साथन की, फल गिरे
हाथन के हाथन ते, गोदन के गोद ते ॥ ३५ ॥

मोंही मै छिपे हौ मोहि छूवावत न छाँहौ, तापै
छाँह भए डोलत, इते पै मोहिं छरिहौ,
मच्छ सुनि, कच्छप, बराह, नरसिंह सुनि,
बामन, परसुराम, रावन के अरि हो।
'देव' बलदेव, देव - दानव न पावैं भेव,
को हौ जू, कहौ जू जो हिये की पीर हरिहौ ?
कहत पुकारे प्रभु करुनानिधान कान्ह,
कान मूँदि, बौध ह्वै, कलंकी काहि करिहौ ? ॥ ३६ ॥

कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, क्यो
ऐसो तुम्है अनोखो ? नेकु सीत मैं ससन देहु ;
अंबर हरैया हरि ! अंबर उजेरो होत,
हेरि कै हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु।

'देव' दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु ;
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु ॥ ३७ ॥

बारे बड़े उमड़े सब जैबे को हौं न तुम्है पठवों बलिहारी ;
मेरे तौ जीवन 'देव' यही धनु, या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी।
जानै न रीति अथाइन की, नित गाइन मैं बनभूमि निहारी ;
याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरो कुंजबिहारी ॥ ३८ ॥

सुजान विनोद

हौं ही ब्रज, वृंदाबन मोहीं मैं बसत सदा,
जमुना - तरंग स्यामरंग अवलीन की ;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसीबट - तट नटनागर नटत मो मैं,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की ;
भरि रही भनक बनक ताल-ताननि की,
तनक - तनक तामैं भनक चुरीन की ॥ ३९ ॥

भारी भरयो बिबि भौंहनि रूप सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै ;
नीको चुनी को लिलार मैं टीको सुटेकि खिलार खरे गुन खोलै।
बालपनो तरुनापनो बाल को 'देव' बराबरि केवल बोलै ;
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन सु नैन-पलानि तुला धरि तोलै ॥४०॥

धाइ के अंक में सोई निसंक ह्वै पंकज - सी अँखियान झकाझकी ;
त्यों सपने मै लखे अपने प्रिय प्रेमपनेः छबि ही की छकाछकी।
ठाढ़े ह्वै भेटि भरी भुज गाढे ही बाढ़ी दुहू के हिये मैं सकासकी ;
'देव' जगी, रतिया हू गई, न तिया की गई छतिया की धकाधकी ॥४१॥

साँवरो सुंदर रूप बिसाल, अनूप रसाल बड़े - बड़े नैन री ;
या बन आवत गैयनि लै नित 'देव' दिखैयनि के चित चैन री।
मैं हूँ सुनी सो कहा कहौं लाज की बात कहूँ सखि तू कहिए न री ;
वा जगबंचक देखे बिना दुखिया अँखियान न रंचक चैन री ॥४२॥

बैरागिनि, कीधौं अनुरागिनि सोहागिनि तू,
'देव' बड़भागिनि, लजाति औ लरति क्यों ?

सोवति, जगति, अरसाति, हरखाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
बिथकति औ थकति, ध्यान धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति सह-
चरज सराहि आहचरज मरति क्यो ? ॥ ४३ ॥

बैठी सीसमंदिर मैं सुंदरि सबारही की,
मूँदि कै किँवार 'देव' छबि सों छकति है,
पीत पट, लकुट, मुकुट, बनमाल धरि,
बेष करि पी को, प्रतिबिब मै तकति है।
होति न निसंक, उर अंक भरि भेटिबे को,
भुजनि पसारति, समेटति, जकति है;
चौंकति, चकति, उचकति, चितवति, चहूँ,
भूमि ललचाति, मुख चूमि न सकति है ॥ ४४ ॥

प्रान-सों प्रानपती-सों निरंतर अंतर अंतर पारत हेरी;
'देव' कहा कहौं बाहेरहूँ, घर-बाहर हूँ रहै भौंह तरेरी।
लाज न लागत लाज अहे ! तोहिँ जानी मै आजु अकाजिनि एरी;
देखन दे हरि को भरि नैन घरो किन एक, सरीकिनि मेरी ॥ ४५ ॥

खोरि लौं खेलन आवति ए न तौ आलिन के मत मैं परती क्यों;
'देव' गुपालहि देखति ए न तौ या बिरहानल मैं बरती क्यों।
माधुरी मंजु रसाल की बालि सुभालि-सी ह्वै उर मै अरती क्यों;
कोमल कूकि कै कोकिल कूर, करेजनि की किरचैं करती क्यों ॥ ४६ ॥

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सो, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो;
कंचुकी मैं चुपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिँगार कै चाख्यो;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ॥ ४७ ॥

देखे, अनदेखे दुखदानि भए सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो;
पानी, पान, भोजन, सुजन, गुरजन भूले,
'देव' दुरजन लोग लरत खरे परो।
लागो कौन पाप, पल एकौ न परति कल,
दूरि गयो गेह, नयो नेह नियरे परो;

होतो जो अजान, तौ न जानतो इतीकु बिथा,
मेरे जिय जान तेरे जानिबो गरे परो ॥ ४८ ॥
तेरो कह्यो करि-करि जीव रह्यो जरि-जरि,
हारी पाँय परि-परि, तऊ तै न की सँभार,
ललन बिलोके 'देव' पल न लगाए तब,
यों कल न दीनी तैं छलन उछलनहार।
ऐसे निरमोही सो सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु बिधि बूड़्यो माँझ बाधा-सिंधु निराधार;
एरे मन मेरे, तै घनेरे दुख दीन्हे, अब
ए केँवार दैकै तोहि मूँदि मारौ एक बार ॥ ४९ ॥
अरिकै वह आजु अकेली गई खरिकै हरि के गुन रूप लुही;
उनहू अपनो पहिराइ हरा मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही।
कवि 'देव' कहो किन कोऊ कछू तब ते उनके अनुराग छुही;
सबही सों यही कहै बालबधू, यह देखु री माल गोपाल गुही ॥ ५० ॥
ना यह नंद को मंदिर है, वृषभान को भौन कहा जकती हौ ?
हौं हीं यहाँ तुम ही कहि 'देवजू' काहि धौं घूँघुट कै तकती हौ ?
भेंटती मोंहिँ भटू केहि कारन, कौन की धौं छबि सों छकती हौ ?
कैसी भई सो कहो किन कैसे हू, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ ॥ ५१ ॥
जब ते कुँवर कान रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी;
तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी, हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति-रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीनि लीनी-सी, छकी-सी-छीन,
जकी-सी, टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी;
बींधी-सी, बँधी-सी, बिष बूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी ॥ ५२ ॥
मंजुल मंजरी पजरी-सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारति चीर न,
भूख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर-जीरन।
'देव' घरी-पल जाति धुरी, अँसुवानि के नीर उसास समीरन;
आहन जाति अहीर अहे तुम्है कान्ह कहा कहौ काहू कि पीर न ॥ ५३ ॥
ना खिन टरत टारे, आँखि न लगत पल,
आँखिन लगे री स्यामसुंदर सलौन से;

देखि-देखि गातन अघात न अनूप रस,
भरि-भरि रूप लेत लोचन अचौन से।
एरी कहु को हो, हौ सु को हौं, कहा कहति हौ,
कैसे बन-कुंज 'देव' देखियत भौन-से,
राधे हौ सदन बैठी, कहती हौ कान्ह-कान्ह,
हा-हा कहि कान्ह वै कहाँ है, को है, कौन-से ॥ ५४ ॥

केलि के बगीचे लौं अकेली अकुलाइ आई
नागरि नवेली बेली हेरत हहरि परी;
कुंज-पुंज तीर तहँ गुंजत भँवर-भीर
सुखद समीर सीरे नीर की नहरि परी।
'देव' तेहि काल गूँधि ल्याई माल मालिनि,
सो देखत बिरह-बिष-ब्याल की लहरि परी;
छोह-भरी छरी-सी छबीली छिति माहिँ, फूल
छरी के छुअत फूलछरी-सी छहरि परी ॥ ५५ ॥

जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओंठन अनूठे रस-हाँसी उमड़े परत;
कंचुकी मैं कसे आवै उकसे उरोज, बिंदु
बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कचन किनारीदार,
'देव' मनि-झुमका झुमति झुमड़े परत;
बड़े-बड़े नैन कजरारे, बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ी-होड़ी हुमड़े परत ॥ ५६ ॥

पामरि न पाँवड़े परे है पुरि-पौरि लगि,
धाम-धाम धूपनि के धूम धुनियतु है;
कस्तुरी, अतरसार, चोवारस, घनसार,
दीपक हजारनि अँध्यार लुनियतु है।
मधुर मृदंग रागरंग के तरंगनि मैं,
अंग-अंग गोपिन के गुन गुनियतु है,
'देव' सुखसाज, महाराज ब्रजराज आजु
राधाजू के सदन सिधारे सुनियतु है ॥ ५७ ॥

खरी दुपहरी हरी-भरी-फरी कुंज-मंजु,
गुंज अलि-पुंजनि की, 'देव' हियौ हरि जाति;

सीरे नद - नीर, तरु सीतल - गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जाति।
ऐसे में किसोरी भोरी कोरी कुम्हिलाने मुख,
पंकज - से पाँय धरा धीरज सों धरि जाति;
सोहैं घाम स्याम मग हेरति हथेरी - ओट,
ऊँचे धाम बाम चढि आवति उतरि जाति ॥ ५८ ॥

हित की हितू री नहिँ तू री समुझावै आनि,
सुख - दुख मुख सुखदानि को निहारनो;
लपने कहाँ लौं बालपने की बिकल बातैं,
अपने जनहि सपने हू न बिसारनो।
'देवजू' दरस बिनु तरसि मरयो हो, पग
परसि जियैगो मन बैरी अनमारनो;
पतिब्रत - ब्रती यै उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप - पारनो ॥ ५९ ॥

सखी के सकोच गुरु - सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात;
'देव' वै सुभाय मुसुकाय उठि गए, यहि
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
कौन जानै बीर बिन बिरही बिरह - बिथा,
हाय - हाय करि पछिताय न कछू सोहात;
बड़े - बड़े नैननि ते आँसू भरि - भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात ॥ ६० ॥

सूझत न गात बीति आई अधराति, अरु
सोए सब गुरुजन जानिकै बगर के;
छिपिकै छबीली अभिसार को केंवार खोले,
खुलिगे खजाने चारु चंदन - अगर के।
'देव' कहैं भौंर गुंजि आए कुंज - कुंजनि ते,
पूँछि - पूँछि पीछे परे पाहरू डगर के;
देवता कि दामिनी, मसाल, किधौं जोतिजाल,
झगरे मचत जागे सगरे नगर के ॥ ६१ ॥

बालम बिरह जिन जान्यो न जनम - भरि,
बरि - बरि उठै ज्यों - ज्यों बरस बरफ राति;

बीजन डुलावत सखीजन सो सीतहु मै,
सौतिन सराप तनतापनि तरफराति।
'देव' कहै साँसनि सो अँसुवा सुखात मुख
निकसै न बात, ऐसो सिसकी सरफराति;
लौटि - लौटि परति करौट खटपाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति ॥ ६२ ॥

धाई खोरि - खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
सुनि - सुनि कोरि - कोरि भावनि भरति है,
मोरि - मोरि बदन निहारनि बिहार-भूमि,
घोरि - घोरि आनँद घरी - सी उघरति है।
'देव' कर जोरि - जोरि बंदत सुरन, गुरु
लोगनि के लोरि - लोरि पाँयन परति है;
तोरि - तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि - छोरि भूषन धरति है ॥ ६३ ॥

आवन सुन्यो है मनभावन को भावती ने,
आँखिन अनंद आँसू ढरकि - ढरकि उठै;
'देव' दृग दोऊ दौरि जात द्वार - देहरी लौं,
केहरी - सी साँसै खरी खरकि - खरकि उठैं।
टहलैं करति टहलैं न हाथ - पाँय, रंग-
महलै निहारि तनी तरकि - तरकि उठैं,
सरकि - सरकि सारी, दरकि दरकि आँगी,
औचक उचौंहैं कुच फरकि - फरकि उठैं ॥ ६४ ॥

केसरि, किंसुक औ बरना, कचनारनि का रचना उर - सूली,
सेवंती, 'देव' गुलाब, मलै मिलि, मालती, मल्लि, मलिंदनि झूली।
चंपक, दाड़िम, नूत महाउर पाँडर डार डरावनि फूली;
या मयमंत बसंत मै चाहत कंत चल्यो हम ही किधौं भूली ॥ ६५ ॥

'देव' जौ बाहिर हो बिहरै, तौ समीर अमी - रस-बिंदु लै जैहै;
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुधा मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै।
राखिहौ जौ अरबिंदहु मै मकरंद मिलै तौ मलिंद लै जैहै;
जैए कहूँ यहि राखि गोबिंद कै इंदुमुखी लखि इंदु लै जैहै ॥ ६६ ॥

बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोनी हौ, सील - भरी, रस-रूप-सनाई।

राजबधू बलि राजकुमारि अहो सुकुमारि न मानौ मनाई,
नैसुक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई॥ ६७॥
भारे हौ भूरि भुराई भरे अरु भाँतिन-भाँतिन कै मन भाए;
भाग बड़ो वहि भावती को, जेहि भावते लै रँगभौन बसाए।
भेष भलोई भली बिधि सों करि भूलि परे किधौं काहू भुलाए;
लाल भले हौ, भलो सुख दीनो, भली भई आजु, भले बनि आए॥ ६८॥

कंचन किनारीवारी सारी तास-की मै आस-
पास झूमी मोतिन की झालरि एकहरी;
सीसफूल, बेना, बेंदी, बेसरि औ बीरनि की,
हीरनि की भीर मै हँसनि-छवि छहरी।
चंद-से बदन भानु भई बृषभानुजाई,
नयन लुनाई की उवनि की-सी लहरी;
काम घाम घी ज्यौं पघिलतु घनस्याम मन,
क्यों सहैं समीप 'देव' दीपति दुपहरी॥ ६९॥

देखि न परति 'देव' देखिबे की परी बानि,
देखि-देखि दूनी दिखसाध उपजति है,
सरद-उदित इंदु बिंदु सों लगत, लखे
मुदित मुखारबिंद इंदिरा लजति है।
अदभुत ऊख-सी, पियूख-सी मधुर धुनि,
सुनि-सुनि स्रवननि भूख-सी भजति है;
मंत्री करयो मैन, परतंत्री करयो बैन नीके,
बिना तार-तंत्री जीभ जंत्री-सी बजति है॥ ७०॥

रच्यो कचमौर सुमोरपखा धरि काकपखा मुख राखि अराल;
धरी मुरली अधराधर लै मुरली सुर-लीन ह्वै 'देव' रसाल।
पितंबर काछनी पीत पटी धरि बालम-बेष बनावति बाल;
उरोजन खोज-निवारन को उर पैन्ही सरोजमई मृदु माल॥ ७१॥

हौं भई दूलह, वे दुलही, उलही सुख-बेलि-सी केलि घनेरी;
हौ पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उन-री चुनरी चुनि मेरी।
'देव' कहा कहौं, कौन सुनै? औ कहा कहे होत कथा बहुतेरी?
जे हरि मेरी धरैं नित जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री॥ ७२॥

पीछे परबीनैं बीनैं संग की सहेली, आगे
भार-डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि;

चौंकति चकोरनि त्यौं मोरै मुख मोरनि, त्यौं
भौंरनि की ओर भीरु हेरै मुख मोरि - मोरि।
एक कर आली - कर - ऊपर ही धरे, हरे-
हरे पग धरै 'देव', चलै चित चोरि-चोरि,
दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन, राज-
हंसनि चुनावति मुकुत - माल तोरि - तोरि ॥ ७३ ॥
पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई, 'देव'
श्रीफल - उरोज आभा आभासै अधिक - सी;
छूटी अलकनि छलकनि जल - बूँदन की,
बिना बेंदी - बंदन बदन - सोभा बिकसी।
तजि - तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज,
गुंजरत मंजु - रव बोलै बाल पिक - सी;
नीबी उकसाइ, नेकु नयन नचाय, हँसि
ससिमुखी सकुचि सरोवर तैं निकसी ॥ ७४ ॥
काम-कलोलनि केलि करी निसि, प्रात उठी थिर ह्वै थहरायकै;
आपने चीर के धोखे बधू पहिरो पट पीतम को फहरायकै।
बाँधि लई कटि सों बनमाल न किंकिनि बाल लई ठहरायकै;
भावती की रसरंग कि दीपति संग की हेरि हँसीं हहरायकै ॥ ७५ ॥
माधुरे भौरनि, फूलनि, भौंरनि, बौरनि-बौरनि, बेलि बची है;
केसरि, किसु, कुसुंभ, कुरौ, किरवार, कनैरनि रंग रची है।
फूले अनारनि, चंपक-डारनि, लै कचनारनि, नेह तची है;
कोकिल रागनि, नूत परागनि, देखु री बागनि, फागु मची है ॥ ७६ ॥
होरी मै आजु भिजै रँग-रोरी के आपनो प्यो अपने बस कै लै,
यों कहि 'देव' सखी गहि गोरी को ल्याई है गोकुल-गाँव की गैलै।
लाज को गारी सुनी कबहू नहिँ, गावत लोग लगावत छैलै,
खेलति फागु नई दुलही, दृग-आँसुनि लीलि उसाँसनि लै-लै ॥ ७७ ॥
लोग-लोगाइन होरी लगाइ मिला-मिली चारु न मेटत ही बन्यो;
'देवजू' चंदन-चूर कपूर लिलारन लै - लै लपेटत ही बन्यो।
ये यहि औसर आए इहाँ समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो,
कीनी अनाकनियो मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यो ॥ ७८ ॥
कंत बिन बासर - बसंत लागे अंतक से,
तीर - ऐसे त्रिबिध समीर लागे लहकन;

सान-धरे सार से चँदन घनसार लागे,
खेद लागे खरे, मृगमेद लागे महकन।
फाँसी-से फुलेल लागे, गाँसी-से गुलाब, अरु
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन,
अंग-अंग आगि-ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन॥ ७९॥

दुलही दुलह नौल चाह अनुकूल फूले,
उलहे फिरत गोपी-गोपनि की भीर मे;
तैसिये बसंतपाँचैं चाय सों चरचि नाचै,
रंग राचै कीच माचैं केसरि की नीर मै।
करत न कानि जानि भरत भुजानि 'देव',
धरत न धीर उर अधिक अधीर मै;
संबरारि-डंबर मै बूड़ि रहे दोऊ, मुख
सोभा के अडंबर मै अंबर अबीर मे॥ ८०॥

होरी को सोरु परयो ब्रज पौरि किसोरी को चित्त बिछोहनि छीज्यो;
दौरि फिरै दुरि देखिबे को न दुरै मनु ओज-मनोज को मीज्यो।
केसरिया चकचौधत चीर ज्यों केसरि बीर सरूप लसी ज्यो;
लाल के रंग में भीजि रही सुगुलाल के रंग मै चाहति भीज्यो॥ ८१॥

भेटि भुज भुजन समेटि उर सों जु उर,
अधर अधर धरे अधिक अधीर की;
जोरि अंग-अंग सों लचाइ गुलचाइ भाल,
दीनी लाल बेंदी बोरि खैंचिकै अबीर की।
'देव' दुखभंजन लला के दृग-खंजन मै
अंजन की लीक पीक-पलक लकीर की;
तन-मन-वारी बनवारी की बनक पर
चंद बलिहारी बलिहारी बलबीर की॥ ८२॥

भूजि रही बिरहाजुर सों समौ पावन जानि जनीनु जगाई;
घोरि घनो रँग केसरि को गहि बोरि गुलाल मैं बाल रँगाई।
साँस लई गहिरी कहि री हमसों-उनसों अब कौन सगाई;
ऐसे भए निरमोही महा हरि हाय हमैं बिन होरी लगाई॥ ८३॥

सीतल महल महासीतल पटीर-पंक,
सीतल कै लोप्यो भीति छिति छाती दहरै;

सीतल सलिल-भरे सीतल बिमल कुंड,
सीतल बिमल जल-जंत्र-धारा छहरैं।
सीतल बिछौननि पै सीतल बिछाई सेज,
सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े है दुपहरै;
'देव' दोऊ सीतल अलिगननि देत-लेत,
सीतल-सुगंध-मंद मारुत की लहरै ॥ ८४ ॥

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा,
मंदिर चवारो चंदमंडल की चोटही;
भीतर ही लालनि के जालनि बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोटहीं।
बरनति बानी, चौंर ढारति भवानी, कर
जोरे रमा-रानी ठाढ़ी रमन के ओटही,
'देव' दिगपालनि की देवी सुखदाइन, ते
राधा-ठकुराइन के पाँइन पलोटहीं ॥ ८५ ॥

छीर की-सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को मन ऐठ्यो है।
ठौर-ठौर छूटत फुहारे मनौ मोतिन के,
'देव' बनु याको मनु काको न अमैठ्यो है।
सुधा के सरोवरु-सो अंबर उदित, ससि
मुदित मराल मनु पैरिबे को पैठ्यो है;
बेलि के बिमल फूल फूलत समूल, मनौ
गगन ते उड़ि उड़गन-गन बैठ्यो है ॥ ८६ ॥

घूँघट खुलत अबै उलटु ह्वै जैहै 'देव',
उद्धत मनोज जग जुद्ध-जूटि परैगो;
को कहै अलीक बात, सोक है सुरोक सिद्ध,
लोक तिहूँ लोक की लुनाई लूटि परैगो।
दैयनि दुराव-मुख, नतरु तरैयनि को,
मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैगो;
तो चितै सकोचि सोचि मोचि मदु, मूरछिकै,
छोर ते छपाकर छता सो छूटि परैगो ॥ ८७ ॥

इभ-से भिरत चहुँघाई सो घिरत घन,
आवत फिरत झीने झरसों झपकि झपकि;

सोरन मचावैं नचै मोरन की पाँति, चहुँ
ओरन ते कौंधि जाति चपला लपकि-लपकि।
बिन प्रानप्यारे प्रान न्यारे होत 'देव' कहै,
नैन-बरुनीन रहे अँसुआ टपकि-टपकि।
रतियाँ अँधेरी, धीर न तिया धरति, मुख
बतियाँ कढ़ै न, उठै छतियाँ तपकि-तपकि ॥ ८८ ॥
पावस-प्रथम पिय ऐबे की अवधि सों, जो
आवत ही आवै, तौ बुलाऊँ अति आदरनि,
नाहीं तौ न हील होन दे री झील झाबरनि,
ग्रीषमहि राखु खाली भाखु खल खादरनि।
बीजुरी बरजु, कहुँ मेघ न गरजु, इन
गाज-मारे मोर मुख मोरि री निरादरनि;
कंठ रोकि कोकिलनि, चोंच नोचि चातकनि,
दूरि करि दादुर, बिदा करि री बादरनि ॥ ८९ ॥

आली झुलावति झूँकनि सो झुकि जाति कटि' झननाति झकोरे;
चंचल अंचल की चपला चल-बेनी-बड़ी सो गड़ी चित-चोरे।
या बिधि झूलत देखि गयो तब ते करि 'देव' सनेह के जोरे;
झूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहारे हरा के हिँडोरे ॥ ९० ॥
भूलत ना वह झूलनि बाल की फूलनि-माल की लाल पटी की;
'देव' कहै लचकै कटि चंचल, चोरी दृगंचल चाल-नटी की।
अंचल की फहरानि हिये रहि जानि पयोधर पीन तटी की;
किंकिनि की झननानि, झुलावनि झूकनि सो, झुकि जानि कटी की ॥ ९१ ॥
झूलन हारी अनोखी नई, उनई रहती इत ही रँगराती;
मेह मै ल्यावैं सु तैसिए संग की रंग-भरी चुनरी चुचुवाती।
झूला चढे हरि साथ हहा करि 'देव' झुलावत ही ते डराती;
मोरे हिँडोरे कि डोरिन छाँड़ि खरे ससवाइ गरे लपटाती ॥ ९२ ॥

जोतिन के जूहनि, दुरासद दुरूहनि,
प्रकास के समूहनि, उजासनि के आकरनि,
फटिक अटूटनि, महारजत कूटनि,
मुकतमनि जूटनि, रूमेटि रतनाकरनि।
छूटि रही जोन्ह जग लूटि दुति 'देव' कम-
लाकरनि भूटि फूटि दीपति निवाकरनि

नभ सुधासिंधु गोद पूरन प्रमोद, ससि
सामुद बिनोद चहूँ कोद कुमुदाकरनि ॥ ९३ ॥
आस-पास पूरन-प्रकास के पगार सूझैं,
वन न अगार डीठि गली औनि-बरते;
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
चंड ब्रह्मंड उतरात बिधु बरते।
सरद जुन्हाई जह्न-जाई-धार सहस,
सुधाई सुधासिंधु नभ-सुभ्र गिरिबर ते;
उमड़्यो परत जोतिमंडल अखंड सुधा-
मंडल मही मै बिधुमंडल-बिबर ते ॥ ९४ ॥
नगर निकेत, रेत, खेत सब सेत-सेत,
ससि के उदेत कछु देत न देखाई है,
तारका मुकुतमाल झिलिमिलि झालरनि,
बिमल बितान नभ आभा अधिकाई है।
सामुद समोद ब्रज कुमुद बिनोद 'देव',
चहुँ कोद चाँदनी की चादर बिछाई है;
राधा मधु-मालतिहि माधव-मधुप मिले,
पालिक पुलिन झीनी परिमल झाई है ॥ ९५ ॥
रूपे के महल, धूपे अगर उदार द्वार,
झंझरी झरोखा मूँदे चारु चिकराती मै;
उध अध मूल तूल पटनि लपेटे मूल,
पटल सुगंध सेज सुखद सोहाती मै।
सिसिर के सीत पिया पीतम सनेह दिन,
छिन-सो बिहात 'देव' राति नियराती मैं;
केसरि कुरंगसार अंग मैं लिपत दोऊ,
दुहू मै दिपत, औ छिपत जात छाती मै ॥ ९६ ॥

रस-विलास

पाँयन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मै धुनि की मधुराई ;
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी, मुख-चंद जुन्हाई,
जै जगमंदिर-दीपक सुंदर, श्रीब्रजदूलह 'देव' सहाई ॥ ९७ ॥

राई लोन बारति गुराई देखि अंगन की,
दुरै न दुराई त्यौं भुराई सों भिरति है;
ज्यौं-ज्यौं सुघराई सों न उघरन देति, त्यौं-त्यौं
सुंदर सुघर घर-घेरन घिरति है।
निठुर दिठौना दीन्हे नीठि निकसै न देति,
दीठि लागिबे को उर-पीठि दै गिरति है;
जिन-जिन ओर चितचोर चितवत, त्यौं ही
तिन-तिन ओर तिन तोरति फिरति है॥ ९८॥

लेहु लली उठि लाई हौ लाल को लोक की लाजहु सों लरि राखौ;
फेरि इन्है सपनेहू न पैयत, लै अपने उर मै धरि राखौ।
'देव' लला नवला अबला यह चंदकला कठुला करि राखौ,
आठहु सिद्धि, नवो निधि लै घर बाहर-भीतर हू भरि राखौ॥ ९९॥

कुंजन के कोरे मन केलि-रस-बोरे लाल,
तालन के धोरे बाल आवनि है नित को,
अमिय निचोरे, कल बोलति निहोरे, नेकु
सखिन के डोरे 'देव' डोलै जित-तित को।
थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देति रूप-रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को;
तोरे लेति रति-दुति, मोरे लेति मति, गति
छोरे लेति लोक-लाज, चोरे लेति चित को॥१००॥

आई हौं देखि बधू यक 'देव' जु देखत भूली सबै सुधि मेरी;
राख्यो न रूप कछू बिधि के घर, ल्याई है लूटि लुनाई कि ढेरी।
एबी अबै वहि ऐबे है बैस मरैगी महाबिष घूँटि घनेरी,
जे-जे गुनी गुनआगरी, नागरी, ह्वै है ते वाके चितौत ही चेरी॥१०१॥

राधे कही है कि तै छमियो ब्रजनाथ जिते अपराध किए मैं,
कानन तानन भूलत ना खिन आँखिन रूप अनूप पिए मैं।
ओछे हिये अपने दिन-राति दयानिधि 'देव' बसाय लिए मैं;
हौ ही असाधु बसी न कहूं पल आधु अगाधु तिहारे हिये मैं॥१०२॥

सीची सुधा-बुंदन सो, कुंदन की बेलि, किधौं
साँचे-भरि काढी रूप ओपनि भरतु है।
पोखी पुखराजनि, बपुख नख-सिख, कर,
चरन, अधर, बिद्रुमन ज्यो धरतु है।

हीरा - सी हँसनि, मोती - मानिक दसन सेत,
स्यामता लसनि दृग हियरा हरतु है ;
जोबन जवाहिर सों जगमग होइ जोइ,
जौहरी की जोइ जगु जौहर करतु है ॥१०३॥

रेसम के गुन छीनि छरा करि छोर ते ऐंचि सनेह रचावै ;
'देव' दसौ अँगुरी कर पॉइ बरै उरझाइ कै रंग मचावै।
मोहति-सी मनु पोहति मोतिन, जोहति-सी छबि भौंहै चलावै ;
चंचल नैननि सैननि सों पटवा की बहू नटवा सो नचावै ॥१०४॥

अंतर पैठि दुहूँ पट के कबि 'देव' निरंतर ता उर आनै;
देति मिलाइ घने अपने गुन तार सुई किधौं दूती सुजानै।
ताहि लिए कर मै घर मै हिय जाको सिए मरमै सु बखानै ;
कीन्ही करेजन की दरजै, दरजी की बहू बरजी नहिँ मानै ॥१०५॥

माखनु-सो तनु, दूध-सो जोबनु, है दधि ते अधिकौ उर ईठी ;
जा छबि आगे छपाकर छॉछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै कहि 'देव' बुझावत बैन बियोग अँगीठी ;
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यो न लगै मनमोहनै मीठी ॥१०६॥

गोरे मुख गोल, हरे हँसत कपोल, बड़े
लोयन बिलोल बोल लीने लोक लाज पर ;
लोभा लागे लाल लखि सोभा, कबि 'देव', छबि-
गोभा - से उठत रूप सोभा के समाज पर।
बादले कि सारी, दरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर ;
मोती गुहे कोरन, चमक चहुँ ओरन, ज्यो
तोरन तरैयन की तानी द्विजराज पर ॥१०७॥

सासु सो हाँसु छिपाय रहै, ननदी लखि ज्यौं उपजावति भीतिहि ;
सौतिन सों सतराइ चितौति, जिठानिन सों जिय ठानति प्रीतिहि।
दासिन हू सों उदास न 'देव', बढ़ावति प्यारे सों प्रेम-प्रतीतिहि ;
धाय सों सीखति बात बिनैकी, सखीन सों सीखै सुहाग कि रीतिहि ॥१०८॥

रूप चुवै चपि कंचन नूपुर कौल - से पायन नौल - बहू के ;
अंगन रंग मनौ निचुरै पिय संग धरे मग मै पग-दू के।
इंदु - से आनन मै श्रमबिंदुनि 'देव' गुबिंद सुखावत फूके ;
सो लखि सौतिन की अँखियान मै लागि उठी मनौ आगि की लूके ॥१०९॥

आजु गोपालजू बारबधू सँग नूतन-नूतन कुंज बसे निसि ;
जागर होत उजागर नैनन पाग पै पीरी पराग परी पिसि ।
चोज के चंदन खोज खुले जहँ ओछे उरोज रहे उर में घिसि ;
बोलत बात लजात-से जात है आए इतौत चितौत चहूँ दिसि ॥११०॥

राजपौरिया के रूप राधे को बनाय लाई,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मै ;
टेरि कह्यो कान्ह सो, चलौ हो कंस चाहै तुम्है,
काके कहे लूटत सुनो हो दधि-दानि मै ।
सग के न जाने गए डगरि डेराने 'देव',
स्याम ससवाने से पकरि करे पानि मैं ;
छूटि गयो छल छैल बाल की विलोकनि है,
ढीली भईं भौहै वा लजीली मुसकानि मै ॥१११॥

बंसीबट के तट निकट जमुना-जल मै
खेलति कुँवरि राधा सखिन के पुंज मे ;
चलि न सकति बृंदाबन की गलिन बीच,
बिकल नलिननैनी अलिन कि गुंज मे ।
रसिक कन्हाई आइ बाँसुरी बजाई, धुनि
सुनिकैं रही न मति-गति मन लुंज मै ;
'देव' दुरी जाय अकुलाय सो समितमुखी,
कुसुमित बकुल - कदंब - कुल - कुंज मै ॥ ११२ ॥

मूरति जो मनमोहन की मन-मोहिनी के थिर ह्वै थिरकी-सी ;
'देव' गोपाल को बोल सुने सियराति सुधा छतिया छिरकी-सी ।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिँ, नैनन लाज घटा घिरकी-सी ;
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी ॥ ११३ ॥

कान्हमई बृषभानुसुता भई, प्रीति नई उनई जिय जैसी ;
जानै को 'देव' बिकानी-सि डोलै, लगै गुरु लोगन देखे अनैसी ।
ज्यो-ज्यो सखी बहरावति बातनि, त्यों-त्यो बकै वह बावरी-ऐसी ;
राधिका प्यारी हमारी सौं, तू कहि, काल्हि की बंसी बजाई मै कैसी ॥११४॥

गौने की चाल चली दुलही, गुरुनारिन भूषन, भेष बनाए ;
सील, सयान सबै सिखएऽरु सबै सुख सासुरे हू के सुनाए ।
बोलियो बोल सदा अति कोमल, जे मनभावन के मन भाए ;
यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर-से उठि आए ॥ ११५ ॥

केसरि सो उबटे सब अंग, बडे मुकुतान सो माँग सँवारी ,
चारु सु चंपक-हार गरे, अरु ओछे उरोजन की छबि न्यारी ।
हाथ सों हाथ गहे कबि 'देवजू', साथ तिहारे हौं आजु निहारी ,
हा-हा हमारी सौं, साँची कहौ, वह कौन ही छोहरी छीबरवारी ॥ ११६ ॥

महाकवि बिहारीलाल

——:०:——

भाषा-साहित्यकारों मे चरित्र न लिखने के कारण बड़े-बड़े कवियों के विषय में भी संदेह बना ही रहता है। वैसे ही इन महाकवि के कुल-गोत्रादि के विषय में भी संदेह उपस्थित था। इन्होंने 'सतसई'-नामक एक ही ग्रंथ बनाया, और उसका भी केवल समाप्त होने का संवत् दिया। अपने विषय मे भी इन्होंने केवल एक दोहा लिखकर संतोष किया। वे दोनो दोहे नीचे लिखे जाते है—

संबत ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि, बासर चंद;
चैत मास पख कृष्न में पूरन आनँदकंद।
जनम लियो द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आय;
मेरे हरौ कलेस सब केसव, केसवराय॥

इन दो दोहों के सिवा इनके विषय में एक यह तीसरा भी प्रसिद्ध है—

जनम ग्वालियर जानिए, खड बुँदेले बाल;
तरुनाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल।

इन्हीं तीनो दोहों पर इनके कुल, गोत्र, जन्म, मरण आदि के अनुमान अवलंबित थे, पर अब इनके वंशजों का भी पता बूँदी में चला है। उनका बतलाया वंश-वृक्ष दिया जाता है। इन्होंने सतसई मे मिर्जा राजा जयसिह का थोड़ा-सा यशोगान किया, और कुछ बाते जयपुर के संबंध में भी लिखी हैं। महाराजा जयसिंह ने संवत् १६७६ से १७२२ तक राज्य किया। बिहारी कवि चतुर्वेदीय माथुर घरवास अल्ल के धूम्र-गोत्री ब्राह्मण थे। बसुआ-गोविंदपुर मे इनके भांजे मिश्र अल्लवाले कुलपति रहते थे। कुलपति के वंशज पं० प्यारेलाल जयपुर मे मौजूद हैं। बिहारीलाल के वंशज अमरकृष्ण और गोपीकृष्ण चौबे बूँदी मे विद्यमान हैं। वंश-वृक्ष इस प्रकार है—

हिंदी

बिहारीलाल

लखौ अनुभवी रसिक-मनि सुकबि बिहारीलाल,
जाकी पैनी डीठि की मिलत न कहूँ मिसाल।

गंगा-फाइनआर्ट प्रेस, लखनऊ

जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि इनकी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि इनके पुत्र थे। कृष्ण कवि ने कविता में अपने को ककोरकुल का माथुर-विप्र कहा है। जनश्रुतियों में यह भी प्रसिद्ध है कि यह महाशय एक बार जोधपुर गए। पंडित प्रभुदयाल पांडेय ने वंगवासी-प्रेस में बिहारी-सतसई, अपनी टीका-समेत, छपवाई। इस लेख में उसी प्रति के दोहों के नंबरों का हवाला दिया जायगा। गोलोकवासी मित्रवर बाबू राधाकृष्णदास ने 'कविवर बिहारीलाल'-नामक एक निबंध लिखा। इसी प्रकार पं० अंबिकादत्त व्यास ने भी 'बिहारी विहार' मे अच्छी भूमिका लिखी। अतएव हम बिहारी के कुल आदि के विषय में विस्तार-पूर्वक न लिखकर थोड़े में अपना मत प्रकट करते हैं। ऊपर लिखे हुए द्वितीय दोहे का अर्थ बिहारी के एक प्रसिद्ध टीकाकार ने यों लिखा है—

श्लेष-अर्थ केसव-पिता, अरु हरि केसवराय;
ये द्विज-कुल, वे राज-कुल, उपजे अर्थ जताय।

इस अर्थ तथा बिहारी की कविता में बुंदेलखंडी शब्दों के प्रयोग और इनकी रचना में एक स्थान पर 'मधुकर'-शब्द के (ओड़छे के मधुकर शाह को सूचित करते हुए) आने से राधाकृष्णदासजी ने अनुमान किया कि बिहारीलाल प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। हमारे मत मे 'मधुकर'-शब्द से 'मधुकर शाह' का व्यक्त होना निश्चित नहीं समझा जा सकता। मधुकर भ्रमर को कहते हैं, और यह एक बहुत ही प्रचलित साधारण शब्द है। हमारे मत में, बिहारी के पिता का नाम केशव अवश्य था, और वह ब्राह्मण भी थे, परंतु प्रसिद्ध कवि केशवदास नही। यदि केशवदास ही होते, तो यह बात जनश्रुतियो मे अवश्य प्रचलित होती। अब उपर्युक्तानुसार इसका निश्चित निर्णय भी हो गया है। बिहारी का जन्म-स्थान 'बसुआ-गोविंदपुर' नाम का एक ग्राम, जो ग्वालियर के निकट है, बतलाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि इनके चचा ने महाभारत का उल्था किया था, जो अब तक वहाँ है, परंतु प्रकाशित नही हुआ। बिहारी का जन्म अनुमान से संवत् १६६० वि० मे हुआ होगा। इन्होंने संवत् १७१६ मे सतसई समाप्त की, और उसके पीछे कोई ग्रंथ या छंद नही बनाया। इससे जान पड़ता है, इस संवत् के थोड़े ही दिनों बाद इनका मरण हुआ होगा। सतसई मे कुछ दोहे शांत-रस के भी हैं। बिहारी बड़े ही शृंगारी थे। उनके चित्त में ६० वर्ष की अवस्था के लगभग पहुँचे विना शांत-रस का प्रादुर्भाव न हुआ होगा। यह कोई निश्चित बात है नहीं, तो भी जान पड़ता है, उस समय, जब कि सतसई समाप्त हुई, यह लगभग ६० वर्ष के होंगे। यह जयपुर छोड़कर, सिवा जोधपुर के, और कही नहीं गए। वहाँ भी ठहरकर इन्होंने अपना मान बढाने का प्रयत्न नही किया, यद्यपि उस समय महाराजा जसवंतसिंह वहाँ राज्य करते थे। वह कविता के प्रेमी और कवियों के प्रतिपालक भी थे। उन्होंने 'भाषा-भूषण'-नामक अलंकारों का विशद ग्रंथ बनाया, जो अब तक कवि समाज में पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। इससे भी प्रकट होता है कि यह उस समय ६० वर्ष के लगभग होंगे, और उसके पीछे संभवत: बहुत दिन जीवित नहीं रहे।

'केसवराय' वाले ऊपर के दोहे मे 'राय'-शब्द आने के कारण कुछ लोग यह अनुमान लगाते है कि बिहारी भाट थे, परंतु उस दोहे पर विचार करने से प्रकट होता है कि 'केसवराय'-शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये। फिर 'राय' शब्द से सर्वत्र भाट ही का अर्थ नही लिया जा सकता। ब्राह्मणों के नाम में भी 'राय' आ सकता है। स्वयं कवि केशवदास कभी-कभी अपने को 'केशौराय' लिखते थे। भाट प्राय: ब्रह्मभट्ट कहाते हैं। कृष्ण कवि के संबंध की जनश्रुति भी इसके प्रतिकूल है। अब इनके वंशजों का भी पता

लग ही चुका है। अतः निश्चय है कि बिहारीलाल माथुर चौबे थे। इनका जन्म ग्वालियर मे हुआ, और किसी कारण इनकी बाल्यावस्था बुँदेलखंड मे बीती। जवानी में यह महाशय अपनी ससुराल—मथुरा—में रहे। जान पड़ता है, इनके पिता धन-हीन थे, और इनके बचपन मे ही मर गए। मतलब यह कि इन्हे लड़कपन बुँदेलखंड में, जहाँ इनका ननिहाल होना संभव है, और सारी उमर ससुराल—मथुरा—मे बितानी पड़ी।

कहते है, एक समय महाराज जयसिह किसी एक नवोढा मुग्धा रानी के प्रेम में इतने बेसुध हो गए कि उसे छोड़कर बाहर निकलते ही न थे। उस समय बिहारीलाल ने नीचे का दोहा बनाकर किसी तरह उनके पास भिजवाया—

> नहिँ पराग, नहिँ मधुर मधु, नहिँ बिकास यहि काल;
> अली कली ही सो बिँधो, आगे कौन हवाल!

इसे पढ़कर महाराज को होश हुआ, और वह तुरंत प्रेमोन्माद से मुक्त होकर बाहर निकल आए, और राज्य का काम-काज करने लगे। इसी समय से जयपुर में बिहारी का आदर बढ़ा होगा, और वह वहाँ रहने लगे। कहते है, राजा ने उपर्युक्त दोहे पर उन्हे बड़ा पुरस्कार दिया, और फिर वैसे ही हरएक दोहे पर एक मोहर भी दी। यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती। बिहारीलाल को कलिकाल के दानियो से सदा शिकायत रही। इससे जान पड़ता है, उनका पूरा सम्मान कहीं नहीं हुआ। यदि हरएक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हज़ारों दोहे बना डालते, सात ही सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हज़ारों दोहे बने होते, तो उन्हे स्वयं कवि भी नष्ट न कर सकता, और वे अवश्य प्रसिद्ध होते। इन महाकवि के एकमात्र ग्रंथ सतसई मे केवल ७१९ दोहे हैं। उनमें भी दो-तीन सोरठे है। इनके अतिरिक्त उन्होंने सात दोहों मे सतसई की प्रशंसा की है। यथा—

> सतसैया को दोहरो ज्यों नावक को तीर;
> देखत को छोटो लगै, घाव करै गभीर।
> ब्रज भाषा बरनी कबिन, बहु बिधि बुद्धि-बिकास;
> सबकी भूषन सतसई करी बिहारीदास।
> जा काऊ रस-रीति का समुझो चाहै सार;
> पढै बिहारी-सतसई कबिता को सिंगार।
> उदै-अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह;
> सुनत बिहारी-सतसई सबही करत सराह।

भाँति-भाँति के बहु अरथ, यामें गूढ़, अगूढ़ ;
जाहि सुने रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़।
बिबिध नायिका-भेद अरु अलंकार, नृप-नीति ;
पढ़ै बिहारी-सतसई जानै कबि रस-रीति।
करे सात सौ दोहरा सुकबि बिहारीदास ;
सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सबिलास।

यह भी संभव है कि बड़ाईवाले ये दोहे किसी अन्य कवि के बनाए हुए हों। इन दोहों में सतसई की बड़ी बड़ाई की गई है। उसका बहुत-सा अंश यथार्थ भी है। इस एक छोटे-से ग्रंथ में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्ही १,४५२ पंक्तियो मे मानो सभी कुछ आ गया है, और कविता का प्राय: कोई अंग, सिवा पिंगल के, नही छूटा। काव्य का यह छोटा-सा ख़ज़ाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नही ला सका। जैसी एकाग्रता और श्रम से इस कवि-रत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहुत कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास का रामायण के और कोई भी हिंदी-ग्रथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है। क़रीब ३५ महाशयो ने इसकी, गद्य अथवा पद्य मे, टीका या व्याख्या की है। उन सबमे सूरति मिश्र की टीका सर्वोत्कृष्ट है। हाल में बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) ने सतसई पर विशेष श्रम किया। उसकी फल-स्वरूपा बिहारी-रत्नाकर-नामक बहुत शुद्ध और उत्तम टीका गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित हुई है, जो प्रशंसनीय है। इसमे बिहारी का चित्र भी प्रकाशित किया गया है, जो कहा जाता है, जयपुर में बिहारी के सामने बना था। पठान सुल्तान के आश्रित चंद कवि ने इन दोहों पर कुंडलियाएँ लगाईं, और यही काम पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी किया। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद ने भी क़रीब ७० या ८० दोहों पर कुंडलियाएँ लगाई थीं, परंतु कार्य असाध्य और श्रम बहुत समझकर फिर छोड़ दिया। इन दोहों पर कुंडलियाँ लगाना हमको भी व्यर्थ श्रम समझ पड़ता है। यदि शेष चार पद दोहे के बराबर उत्कृष्ट हों, या उसके लगभग भी पहुँचें, तो कुंडलियाएँ अच्छी कही जा सकती हैं; परंतु ऐसा न हुआ है, और न हो सकता है। बिहारी-जैसे सुकवि जब जन्म-भर में सिर्फ़ सात सौ दोहे बना सके, तब जब तक कोई वैसा ही कवि न हो, और आयु-भर श्रम न करे, तब तक भला उन बूँदों से भेंट कहाँ? तभी तो नवरत्न के भी प्रसिद्ध कवि भारतेंदु ने उसे असाध्य और व्यर्थ का श्रम समझा। पंडित परमानंद ने संस्कृत श्लोकों में सतसई का

उल्था किया, और कृष्ण कवि ने सवैयों में। सतसई के टीकाकारों में सूरति, कृष्ण, चंद, सरदार, रत्नाकर और भारतेंदु सुकवि हैं। एक वैद्य ने सब दोहों से एक-एक वैद्यक का नुस्खा निकाला है, परंतु उसमें टीकाकार ही का बुद्धि-चमत्कार देख पड़ता है। उक्त टीकावाला अर्थ स्वयं बिहारीलाल भी न जानते होंगे *।

सतसई का जो क्रम आजकल प्रचलित है, वह आज़मशाह का बँधवाया हुआ, और अच्छा है। इसका छठा शतक परमोत्कृष्ट है। इसमे वर्णित षट्-ऋतु बहुत ही प्रशंसनीय है। इसके प्रथम, पंचम और सप्तम शतक भी अच्छे हैं। शेष साधारण है। बिहारीलाल की कविता के गुण और दोष हम नीचे लिखते है।

इन महाकवि ने व्रज-भाषा मे कविता की, फिर भी, यत्र-तत्र कई भाषाओं के शब्दो का बहुतायत से व्यवहार किया। किसी भाषा का भी शब्द मिले, और यदि अच्छा हो, तो उससे काम निकालने में यह महाशय संकोच नही करते थे। यदि इनके प्रयुक्त शब्दों के भाषा-भेद पर ग़ौर किया जाय, तो ऐसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दो की संख्या बहुत होगी। इन्होने रीझबी, देखबी आदि बुँदेलखंडी और ताफ़ता, इजाफ़ा, क़िबिलनुमाँ (क़ुतुबनुमा), ग़नी, सबील, अदब, दाग़ आदि फ़ारसी के शब्द रक्खे है। छौंकु, उड़ायक आदि पद गढ़ भी लिए है। कुछ स्थानो पर इन्होने असमर्थ शब्द भी रख दिए है। यथा 'दीजतु' और 'ज्यो'—

सबहिनु बिनुहीं ससि उदै, दीजतु अरघ अकाल।
जात - जात ज्यों राखियत पिय को नाम सुनाय।

यहाँ 'दीजतु' से देगी या देती हैं का और 'ज्यो' से ज्यो-त्यो का अर्थ लिया गया है, पर ये शब्द इन अर्थों को पूर्ण रूप से प्रकट करने में असमर्थ है। इन्होंने शब्दो को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है, और उन्हे कहीं-कहीं बहुत ही बिगड़े हुए रूप में रक्खा है। यथा—समर (स्मर), तूठ्यो (तुष्ठ्यो), मोख (मोक्ष) इत्यादि। इसी प्रकार ठिक, भावक, दुसाल, नटसाल, ईठि, नीठि, अनखुली, धरहरि, सवादिल, बट (बाट के लिये, छंद-नंबर ८६), चोरटी, गोरटी, दुकचित, कुकत, हई (हैरत, नंबर ११६), कैवा (१२१), लाव (१२८), रहचटै (१३६), लाय (१४१), रोज (रोज़ा की जगह—१८८), ईठि, खुँदी (१६६), चिलक, चौंध (२१७), चुपरी (ढकी—२२२), चौटत (२२७), लोयन (लुनाई—२३०), केलि (केला—२३२), ऊलि (उछल – २३७), जनकु (मानो—२४२), बेपाय (भूली हुई—२३५), सँगी (३०६), औंचि (३३१), बींद (३३५),

* एक और महाशय भी इधर ऐसा ही कुछ उद्योग 'शांत-बिहारी' में कर रहे है। वह सब दोहों में शांत-रस का अर्थ दिखा रहे हैं।—संपादक

नतरक्कुकत, गॉस (३४६), पातु (३६२), कोरि (४१५), निय (४२३), ओम (४३०), सुध (सुधा—४३५), पजरै (४३६), संसो (सॉस—४४१), ककै (करके—५०४), बाथ (५१०), धर (धरा, पृथ्वी—४३५), तैन (५३६), खियाल (खेल—५४७), श्राघ (अर्घ्य, मोल—६८४), नीसकै (६६०) इत्यादि असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपो मे शब्द लिखे है। बड़े कवि होने पर भी इनकी शब्द-संबंधी निरंकुशता प्रशंसनीय नही है। तुकांत के लिये भी इन्होने शब्द मरोड़े है। यथा—चाढ (चढ़कर—२२०), आव (आब—३२२)।

एक हिंदी-रसिक महाशय* ने हमारे उपर्युक्त कथनो का घोर विरोध किया। उन्होने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि बिहारी की भाषा देव की भाषा से श्रेष्ठतर है। यदि कोई बात बिहारी की रचना पर आरोपित हो भी गई, तो आपने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि अन्य कवियों ने—विशेषकर देव ने भी वैसे ही रूप लिखे है, अतः बिहारी दोष के भागी नही है। स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी-नवरत्न केवल देव और बिहारी पर नहीं लिखा गया है, बल्कि उसमे नव कवियो पर स्वतंत्र सम्मतियॉ है। प्रसंग-वश चाहे कही किसी से दूसरे का मिलान कर भी दिया गया हो, तथापि यह इस पुस्तक का विषय नही है। ग्रंथ प्रत्येक कवि पर स्वतंत्र विचार करता है, तुलनात्मक नही। मिलान का विषय उसमे इतना ही है कि हमने कुल मिलाकर उत्तमता की दृष्टि से कवियों को पूर्वापर स्थान दिया है। फिर भी सबकी कविताओं पर स्वतंत्र रीति से विचार किया गया है। इसलिये यदि बिहारी की भाषा मे कोई दोष है, तो देव की भाषा मे भी उसके होने से उसका परिहार न हो जायगा। देव चाहे साधारण श्रेणी से भी नीचे के कवि माने लिए जायँ, तथापि उससे बिहारी की कविता का दर्जा बढ़ नही सकता।

आपने यह भी लिखा कि जब अन्य कविगण उन्हीं शब्दो का प्रयोग करते है, तब अकेले बिहारी पर क्यों दोषारोपण होता है? इसका उत्तर ग्रंथ मे पहले ही से था, किंतु आपने दोष दिखलाने के पूर्व ग्रंथ को अच्छी तरह पढ़ने या समझने का कष्ट नही उठाया। हम ऊपर लिख चुके है कि बिहारी ने शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। यदि उनके कुल शब्दों को जोड़ें, और उनसे तोड़े-मरोड़े हुए शब्दों का औसत निकाले, तो वह औरो से कहीं अधिक पड़ेगा। बस, यही हमारा प्रयोजन था, और है। अन्य सत्कवियों की रचनाओं मे तोड़े-

* स्वर्गवासी लाला भगवानदीन भूतपूर्व अध्यापक, छतरपूर तथा बनारस।

मरोड़े शब्दों का औसत इतना अधिक न बैठेगा। इसीलिये बिहारी का यह दोष कहा गया, औरों का नहीं। फिर जो शब्दों की बड़ी सूची हमने दी थी, उसके विषय में केवल इतना कहा था कि वे शब्द असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपों में हैं। समालोचक साहब ने प्रत्येक शब्द को लेकर केवल विकृत रूप की कसौटी पर कसा, और जहाँ कहीं शब्द बिगड़ा न पाया, वहाँ हमारे कथन को अशुद्ध कहने की कृपा की। इतना तो सोच ही लेना चाहिए था कि हमने उन सबका विकृत रूप ही नहीं बतलाया है। जब ऐसा है, तब बार-बार उसी झूठी बात पर जोर देना बहुत ही भद्दी बात है। आपने यह भी कहा कि नवीन शब्द बनाने के लिये हमने बिहारी को दोषी ठहराया है। यह भी ग़लत बात है। हमने तो केवल इतना कहा था कि बिहारी में यह बात है। यह नहीं कहा था कि यह अवगुण है। यदि आपने हमारे अन्य ग्रंथ देखे होते, तो जानते कि हम इसे गुण ही समझते हैं। कम-से-कम इतना तो करते कि जब हमने उसे अवगुण नहीं कहा, तो हमारे मुख में ऐसा कथन अपनी ओर से न रखते। अब, शब्दों के विषय में आपने जो कहा, उस पर विचार किया जाता है। देखने में यह विवाद असंगत समझ पड़ सकता है, किंतु बिहारी की रचना के विषय में होने के कारण हम इसे मुख्य विषय से असंबद्ध नहीं समझते।

बिहारी ने अग्नि को अगिनि कहा अवश्य, परंतु इसे आप साधारण मरोड़-मात्र मानते हैं। जब मरोड़ मौजूद है ही, तब झगड़ा थोड़ा ही समझ पड़ता है। अच्छा, मान लिया कि अन्य कविगण भी 'अगिनि' का व्यवहार करते हैं, फिर भी लालाजी की लिखी सतसई की टीका में, २२४ नं० के दोहे में, अग्नि का रूप बिहारी ने 'अगिनि' लिखा है, जो असाधारण मरोड़ है। 'कुकत' के दोष की शांति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपका कथन है कि 'नतरकु कत' शुद्ध पाठ है। किंतु इसमें भी वही आपत्ति मौजूद है, क्योंकि नतरकु कोई शुद्ध शब्द नहीं है। वास्तव में नतरु (नहीं तो) कु ऐसा शब्द है। अतः 'कु' अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि 'नहीं तो' का भाव तो 'नतरु' से ही आ जाता है।

'रोज' का अर्थ हमने रोज़ा माना है। आप कहते हैं, रोज ब्रज में मातम को कहते हैं। ठीक है, हम भी मानते हैं। जब प्रभुदयाल ने भी यही अर्थ लिखा है, तब आपकी राय में हमें भी यह ज्ञात था। फिर भी हमने रोज़ा अर्थ लिखा। रोज मातम के अर्थ में एक प्रांतीय शब्द है। हमारे प्रांत में मातम के अर्थ में नहीं बोला जाता। जायसी का जो छंद लिखा गया है, उसमें रोज का अर्थ रोज़ा भी लगाया जा सकता है। ऐसा एक प्रांतीय शब्द हमें असाधारण समझ पड़ा। आप शायद इसे बहुत साधारण मानते हों। 'ईठि' विकृत रूप में है। 'खुँदी'

से घोड़े के जमने का अर्थ लिखा गया है। ये एकदेशीय अथवा असाधारण शब्द हैं। 'चिलक' हमारे प्रांत में बड़ी पीड़ा को कहते है। लोग प्राय: ऐसा कहते है कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाब उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुंदेलखंड और व्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है। 'चौंटत' भी एकदेशीय शब्द है। 'ऊलि' को आप झूलि कहकर दोष-शांति करते है, और अपनी टीका मे उसका अर्थ लगाते हैं 'झड़ पड़ना'। झूलि का अर्थ झड़ना कहाँ से आया, सो आप ही जानें। झूलने में कोई वस्तु झड़ जाय, तो वह बात दूसरी है ; परंतु अर्थ 'झड़ना' न होकर 'झूलना' ही रहेगा। झूलने का अर्थ लगाने से वह प्रसंग में नही बैठता। अतएव दोष-शांति नही होती।

'गाँस'-शब्द को हमने अव्यवहृत समझा था। उसका कोई अर्थ हमने नहीं लिखा, किंतु आप कहते हैं कि हमने अशुद्ध अर्थ लिखा। आपकी राय मे बूढ़, बीरबहूटी के अर्थ में, व्रज में अब तक बोला जाता है। हमने व्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा—हमारे यहाँ बीरबहूटी, इंद्रबधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते है, न कि बूढ़। संभवत: बिहारी ने बूढ-शब्द राम की डोकरिया से निकाला हो, अथवा किसी गाँव मे बोला जाता हो। ऐसी दशा में यह शब्द निंद्य अवश्य है। 'संसो' का अर्थ उस दोहे मे साँस या संशय, दोनो हो सकते है। शब्द मरोड़ा हुआ है, यह आप भी मानते है। 'तूठ्यो' की दोष-शाति आप उसे शुद्ध प्राकृत कहकर करते है, किंतु ग्रंथ हिंदी का है, प्राकृत का नहीं। 'हई', 'कैवा', 'डाढी', 'रहचट' और 'लाय' को आप व्रज में प्रचलित बतलाते हैं, पर हमें व्रजवासियों से पूछने पर भी इनका चलन नहीं ज्ञात हुआ। आपको मालूम होगा। 'लाय'-शब्द आग के अर्थ मे बुंदेलखंड मे अवश्य प्रचलित है, परंतु एकदेशीय होने के कारण कविता में उत्तम नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध अँगरेज़ी-समालोचकों का भी मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं। वैदिक साहित्य में अवध मध्य-देश कहलाता था। यह आर्य-सभ्यता का प्राचीन केंद्र है। जो अप्रयुक्त व्रज-भाषा अवध तक में न समझी जा सके, वह ठीक नही मानी जायगी। ग्रंथो में शिष्ट भाषा ही का आदर होता है। डाढ़ी-शब्द डाढा (दौरहा आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। डाढ़ी को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढ़ा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ

होने ही से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि डाढ़ी को इसी अर्थ मे कई प्राचीन कवियों ने लिखा है। इससे यह दोष छोटा है।

'लाव', 'बीदि' और 'बाथ' को राजपूतानी शब्द बताकर आप उनका समर्थन करते हैं। फिर भी प्रांतिकता के कारण इनसे भाषा मे अशिष्टता आती है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

'चुपरी', 'ज्यों', 'दीजतु', 'दुकचित', 'नजुक', 'संगी', 'औचि', 'कौरि' और 'तैन' की दोष-शांति आप पाठ-भेद से करते है। आपने यह कई बार कहा है कि प्रभुदयाल की प्रति भ्रष्ट होने के कारण हमको बिहारी की रचना में शाब्दिक दोष दिखलाने का मौक़ा मिला है। संवत् १६७८ में आपने भी बिहारी-सतसई की टीका प्रकाशित की। अब हम उसी का पाठ शुद्ध मानकर कुछ और ऐसे शब्द भी दिखलाते हैं, जो पहले नहीं दिखलाए थे। आपके दोहों के नंबर शब्दो के सामने कोष्ठको में लिखे जायँगे—

'लखि' (६) का शुद्ध अर्थ 'देखकर' है, किंतु इस दोहे मे 'देखने के लिये' ऐसा निकलता है। यह असमर्थ-दूषण है। १३ नंबर के दोहे मे 'लखि' का शुद्ध अर्थ आया है।

'लोपे' (१४) का अर्थ 'पूजा का लोप किए जाने पर' आपने लिखा है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। लोपे के साथ पूजा का विचार जोड़े विना दोहे का शुद्ध अर्थ भी नही लगता।

'नै' (२८) का शुद्ध रूप नदी है। (३१) में आपने 'जोर' का तुकांत 'और' रक्खा है। यह अशुद्ध है। यहाँ बिहारी की आत्मा शायद आप ही से फ़र्याद कर बैठे, क्योंकि शुद्ध शब्द ज़ौर (ज़ुल्म) है, और उससे 'और' का ठीक तुकांत भी मिलता है। 'बर' (५२) बल के लिये आया है। 'मौरि' (७०) मौलि के लिये है। 'दौरि' (७५) उड़ने के लिये आया है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। कुही शिकार खेलने मे नीचे-नीचे दौड़ती नही, बल्कि उड़ती है।

'चीकनी' (८४) 'पुष्ट' अर्थ के लिये असमर्थ है। बहुत-सी कमज़ोर चीज़ें भी चिकनी हो सकती हैं।

'ससिहर' (१०८) 'शशदर' की ख़राबी है। 'हायल' (१११) 'घायल' के लिये है। 'अच्छ' (११७) 'अच्छी' का बिगाड़ा हुआ रूप है। 'बरी छबि' (१३१) में छवि बेचारी जल ही गई, किंतु अर्थ लिया गया देदीप्यमान होने का। असमर्थ-दूषण है।

'सोनजाय' (१४१) सोनजुही के लिये आया है । अरगट (१५०) = आड़+गात्र = घूँघट । इस प्रकार 'अरगट' का अर्थ लगाया गया है । शब्द-विकृति घूँघट खोले खड़ी है । 'घन' (१५७) घनसार का आधा अंश है । खरौंट (१६०) 'खरोंच' की ख़राबी है । दुलहिनि (१७२) मे आगे 'पर' और होना चाहिए । 'भोगवै' (१७५) 'भोगै' के लिये आया है । 'हरकी' (१८१) 'हटकी' का विकृत रूप है । 'अति आगि' (१८८) में क्रिया - विशेषण 'अति' विशेषण की तरह 'आगि' के लिये आया है । 'सौंट' (१६६) का अर्थ आपने सौदा बेचना माना है । शायद आप इसे 'सट्टे' का अपभ्रंश समझे हों । वास्तव में यह बुंदेलखंडी शब्द है, किंतु है बहुत अशिष्ट । इसका ऐसा प्रयोग होता है कि 'साले को ख़ूब सौंटा' अर्थात् ख़ूब गाँठा या कब्ज़े में किया । ऐसे अशिष्ट (Slang) शब्द का व्यवहार गर्हित है ।

'मूका' (२११) 'मोखा' की ख़राबी है । 'अगनि' (२२४) 'अग्नि' का बिगड़ा रूप है, और तन की दीप्ति का अर्थ प्रकट करने को लाया गया है । विकृत रूप तथा असमर्थता, ये दोनो दूषण वर्तमान है ।

'खटकति' (२५५) एकवचन है, किंतु बहुवचन होना चाहिए था, क्योंकि इसके कर्ता तीन है ।

'दिन' (२६०) 'उस दिन' के लिये आया है । इसमे असमर्थ-दूषण है ।

'बारद' (२६२) बारिद की ख़राबी है । आधीन (२६३) अधीन का रूप है । 'उपय जाय' (२६४) उड़ जाने के लिये आया है । यह शब्द बंग-प्रांत का है, जो एकदेशीय होने से असाधारण माना जाता है । 'इन' (२७१) 'इनका' का अर्थ बतलाने के लिये आया है ।

'सबील' (२७३) युक्ति के अर्थ मे लाया गया है । इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग । 'भाई, इसकी कोई सबील निकाल दो', ऐसे वाक्य मे सबील का अर्थ व्यंग्य से युक्ति माना जा सकता है, किंतु 'बचै न बड़ो सबीलहू चील-घौंसुआ माँसु' में युक्ति का अर्थ नहीं लगता ।

'धरहर' (२७५) धैर्य के लिये आया है । 'दिया लौं नादि उठति' (२७८) में 'नादि उठति' सचेत होने के अर्थ मे आया है, किंतु नाद से शब्द-संबंधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का ।

'बरि-बरि' (२८८) 'बकि-बकि' के लिये आया है, जो असमर्थ है । यदि बड़बड़ाने का भाव लाना था, तो उपयुक्त शब्द लाया जा सकता था । 'ढोरी' (२६४) 'आदत' के लिये कहा गया है । यह शब्द ढारने से निकला है, और

आदत के अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ है । 'सैल' (३०८) 'सैर' का अपभ्रंश है। हित (३२४) 'हितू' या पति का अर्थ प्रकट करने मे असमर्थ है।

'पिछान' (३२७) 'पहचान' का अपभ्रंश है । 'उसरत' और 'गुफ़रोट' (३४७) बिगड़े हुए शब्द है। 'सद' (३८६) 'स्वभाव' के अर्थ मे आया है। 'पनिहा' (३६२) 'चोरी का पता लगानेवालो' के अर्थ मे आया है। शुद्ध बुँदेलखंडी शब्द है 'पनाहा'। जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरो का पता बताना है, उसे पनाही कहते है। इसी से कवि ने मनमाना शब्द 'पनिहा' गढ़ लिया होगा। 'ठिकठैन' (४१५) 'ठीक-ठाक' के लिये आया है। 'कटनि' (४१६) आसक्ति के लिये अशिष्ट है।

'निघरघटौ' (४२१) निश्चय-पूर्वक 'घरघाट' के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। 'जानि' (:४२३) का प्रयोग ज्ञानी के अर्थ मे हुआ है। 'गहराइ' (४३१) गर्राने के लिये आया है।

'रली' (४३५) से 'रँगरलियो' का अर्थ-बोध कराया गया है । 'कैनि' (४३६)—'कोर्निश' का बिगड़ा रूप—प्रार्थना के अर्थ मे आया है। 'गहिली' (४४२) 'ग्रहिल' से निकालकर 'बावली' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। 'रचौं हैं' (४४४) प्रेम-युक्त होने के अर्थ में आया है। शुद्ध अर्थ किसी रंग मे रचने का है। 'अचैन' (४६१) का प्रयोग बेचैनी के अर्थ में हुआ है। 'मिलान' (४८४) से 'मुक़ाम' का अर्थ लिया गया है, यद्यपि मुख्य अर्थ मिलने का है।

'जीगनन' (४६२) से जुगनुओं का बोध कराया गया है। 'सखी सबै ढिग जाति' (४६७) मे कर्म जाति एकवचन है, किंतु कर्ता 'सबै सखी' बहुवचन है। शुद्ध वाक्य यों होना चाहिए था—सब सखियाँ ढिग जाती हैं। 'छतौ' (५०४) से 'आछत' के सहारे प्रस्तुति का अर्थ निकाला गया है। 'वै' (५१०) से 'उनकी' का अर्थ-बोध कराया गया है। 'आवटी' (५२३) 'औटी' का विकृत रूप है। 'सुद्धि द्याय प्यो' (५७८) में लाला साहब ने जो अर्थ लिखा है, उसमे सुध दिला करके आगे कुछ होने का वाक्यांश आवश्यक है, किंतु छंद में वह कुछ नही है। 'औथरे' (६४५) शब्द 'उथले' के लिये आया है। 'तरहरि' (६७८) 'तले' के लिये कहा गया है।

संभव है, बिहारी का कोई दूसरा प्रेमी लाला साहब के लिखे हुए पाठों को भ्रष्ट कहकर हमारे उपर्युक्त कथनों मे दूषण निकाले। ऐसा कुछ शब्दो मे होना संभव भी है। फिर भी पाठों का कितना भी ढकोसला निकाला जाय, हमारी समझ में बिहारी का शब्द-प्रयोग निर्दोष नहीं प्रमाणित हो सकता। हमने विकृत शब्दों के उदाहरण एक-ही-एक दिए हैं, किंतु ग्रंथ-भर में ऐसे-ऐसे शब्द अनेक

बार आए हैं। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि साहित्य-गौरव के लिये भाषा पर उतना विचार नहीं हो सकता, जितना भाव पर, क्योंकि इसके निर्णय में भाषा का प्रभाव उतना अधिक नहीं।

निम्न-लिखित छंदों मे दूरान्वय-दोष मौजूद है—

वेई गड़ि गाड़ै परीं, उपट्यो हारु हियै न;
आन्यो मोरि मतंग मनु मारि गुरेरन मैन ॥ १ ॥
जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल;
भजत भार-भयभीत ह्वै घन चंदन बनमाल ॥ २ ॥
कियो जु चिबुक उठायकै कंपित कर भरतार,
टेढ़ीयै-टेढ़ी फिरति, टेढ़ो तिलक लिलार ॥ ३ ॥
ढीठ्यो दै बोलत, हँसत, प्रौढ़ बिलास अपोढ़;
त्यों-त्यों चलत न पिय-नयन, छकए छकी नबोढ़ ॥ ४ ॥

इन कुछ दोषों के होने पर भी इन कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। यथा—

तेह तरेरो त्योंर करि, कत करियत दृग लोल,
लीक नहीं यह पीक की स्रुति-मनि-झलक कपोल ॥ ५ ॥

१६५, २७६, ३१२, ३१७ और ४७३ नंबर के छंद भी इस गुण के उदाहरण हैं। इन महाकवि ने इबारत-आराई भी ख़ूब ही की है—

कुंज-भौन तजि भौन को चलिए नंद-किसोर;
फूटत कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर ॥ ६ ॥
केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप;
गात-रूप लखि जात दुरि जातरूप को रूप ॥ ७ ॥

बिहारीलाल ने पद-मैत्री को बड़ा ही आदर दिया है, और इसका प्रयोग भी बड़ा मनोरंजक किया है। यह चमत्कार ५, २५, ४३, ७७, ८६, १५६, १८४, १८८, २००, २०१, २०२, २२७, ३०६, ३३०, ३३२, ३३४, ३४२, ३५४, ३६०, ३६६, ४२३, ४४७, ५२१ और ६३० नंबर के छंदों में ख़ूब देख पड़ता है, और साधारणतः सर्वत्र ही है—

रस सिँगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन;
अंजन-रंजन हूँ बिना खंजन-गंजन नैन ॥ ८ ॥
तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान;
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी-समान ॥ ९ ॥

गड़े बड़े छबि छाकु छकि, छिगुनी छोर छुटैं न,
रहे सुरँग - रँग रँगि वहीं, नँह - दी महँदी नैन ॥ १० ॥

दो-चार स्थानों पर इन्होने पद-मैत्री के साथ चित्र-काव्य भी किया है। यथा—

खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार;
काननचारी नैन - मृग, नागर - नरनु सिकार ॥ ११ ॥

परंतु शब्दों के बनाव मे इन महाकवि ने उद्दंडता आदि गुण भी हाथ से नहीं जाने दिए हैं। उद्दंडता का उदाहरण—

फिरि-फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव;
अंग - अंग छबि - भौंर मैं भयो भौंर की नाव ॥ १२ ॥

कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलाल की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होने लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द प्राय: रक्खे हैं कि अधिक विशद भाव न होने पर भी दोहा चमत्रमा उठता है। इसी प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।

बिहारी ने स्त्रियों के तालाब मे नहाने का ढंग, स्नान-समय की नजारेबाज़ी आदि का ऐसा वर्णन किया है कि वह आँखों-देखा-सा समझ पड़ता है—

नाँह अन्हाय, नहिं जाय घर, चित चहुँट्यो तकि तीर;
परसि फुरहरी - लौ फिरति, बिहँसति, धँसति न नीर ॥ १३ ॥
मुँह धोवति, ऐंड़ी घसति, हँसति अनगवति तीर;
धसति न इंदीबर - नयनि कालिंदी के नीर ॥ १४ ॥
मुँह पखारि, मुड़हर भिजै, सीस सजल कर छ्वाय;
मोरि उचैं घूटैंनु नैं, नारि सरोवर न्हाय ॥ १५ ॥
चितवत जितवत हित हिए, किए तिरीछे नैन;
भीजे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न ॥ १६ ॥
बिहँसति सकुचति - सी, दिए कुच आँचर बिच बाँह;
भीजे पट, तट को चली, न्हाय सरोवर माँह ॥ १७ ॥

इन महाकवि ने कई काव्यांगों के बड़े ही साफ़ और उत्कृष्ट उदाहरण दिए हैं। यथा—

छुटी न लाज, न लालचौ, प्यौ लखि नैहर - गेह;
सटपटात लोचन खरे, भरे सकोच - सनेह ॥ १८ ॥ (मध्या)

उपर्युक्त तीसरा और पाँचवाँ, दोनो दोहे 'स्वभावोक्ति' के अच्छे उदाहरण हैं।

कितो न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सिख दीन ;
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥ १६ ॥ (काकु)
मन मोहन सों मोह करि तू घनस्याम निहारि ;
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरिधारी उर धारि ॥२०॥ (परिकरांकुर)
स्वारथ, सुकृत न, स्रम बृथा, देखि बिहंग बिचारि ;
बाज पराए पानि पर तू पंछीन न मारि ॥२१॥ (अन्योक्ति)
काल्हि दसहरा बीतिहै, धरि मूरुख, जिय लाज ;
दुरयो फिरत कत बनन में नीलकंठ, बिनु काज ॥ २२ ॥ (,,)
नाहिँन ये पावक प्रबल, लुवैं चलत चहुँ पास ;
मानहु बिरह बसंत के ग्रीषम लेत उसास ॥ २३ ॥ (उत्प्रेक्षा)
मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुँह न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरति जाय ॥ २४ ॥ (उन्मीलित)
डीठि न परत समान दुति, कनक कनक-से गात ;
भूषन कर-करकस लगे, परसि पिछाने जात ॥ २५ ॥ (,,)
कंचन तन धन बरन बर रह्यो रंग मिलि रंग ;
जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग ॥ २६ ॥ (विशेषक)
अंग-अंग नग जगमगत दीप-सिखा-सी देह ;
दिया बढ़ाए हू रहै, बढ़ो उजेरो गेह ॥ २७॥ (द्वितीय पूर्वरूप)
छाले परिबे के डरनि सकति न हाथ छुवाय ;
झिझकति हिए गुलाब के झवाँ झवाँवत पाय ॥२८॥ (अतिशयोक्ति)

इन कवि ने अतिशयोक्ति में क़लम तोड़ दी है, विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में। ६६, २३४, २४१, २४२, ४२६, ४२७, ४२८, ४२६, ४३४, ४४८, ४७७ और ४२४ नंबर के छंदों में इसकी छटा देख पड़ेगी। इन महाकवि ने उपमाएँ बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज-खोजकर दी हैं, तथा उत्प्रेक्षाएँ और रूपक भी बड़े ही चोखे कहे हैं—

भो मन मोहन-रूप मिलि पानी मे को लोन।
साईं-सिर कच सेत, ज्यों बीत्यो चुनति कपास।
जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह-सी होति।
अरगट ही फानूस-सी परगट होति लखाय।
भरत ढरत, बूड़त तिरत, रहट-घरी लौं नैन।
आली, बाढ़ै बिरह, ज्यों पंचाली को चीर।

१७, २७, ३४, ४३, ५४, ६७, ७२, ८४, ६०, ११२, ११४, १२७,

१२८, १६२, १६३, २२२, ३१०, ३२३, ३८०, ३६६, ४२२, ४४४, ४६३, ४६७, ४७१, ५२३, ५२४, ५४२, ५६४, ६४०, ६६६ और ६६७ नंबर के छंदों में इकी उपमा, उत्प्रेक्षा या रूपक का जोर देख पड़ता है। इन्होंने सैकड़ो नए-पुराने रूपक और उपमाएँ कही। जहाँ यह पुरानी उपमाएँ या रूपक कहते हैं, वहाँ भी अपनी विशेषता रख देते है। यथा—

नीको लसत ललाट पर टीको जड़ित जड़ाय;
छबिहिँ बढ़ावत रबि मनो ससि - मंडल मैं आय ॥ २६ ॥
चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट भीन;
मानौ सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन ॥ ३० ॥

इन उत्प्रेक्षाओं मे इन कविवर ने पुराने विचारो को कैसे नए कपड़े पहनाए है! बिहारी ने एक यह भी विशेषता रक्खी है कि सैकड़ो रूपक कहने पर भी, जहाँ तक हमें स्मरण है, एक भी तद्रूप-रूपक नही कहा। वास्तव मे यथावत् रूपक अभेद ही है, क्योंकि तद्रूप में अंतर नही मिटता। इसीलिये शायद इन्होंने उसे पसंद नही किया। उपर्युक्त के अतिरिक्त भी बिहारी ने बहुत-से अच्छे काव्यांग कहे हैं। काव्य के पूर्ण ज्ञाता होने पर भी बिहारी उसकी रीतियों के पूरे पाबंद नहीं थे। मरणावस्था के कथन मे रसाभास समझकर बहुतेरे कवि मूर्च्छा ही का वर्णन कर देते हैं (यथा—"नेक मरू करिकै चितई, जब चारि घरी लौं मरीयै धरी रही।"), परंतु बिहारी ने मरण का भी वर्णन कर दिया—

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईस;
बिरह-ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस॥ ३१ ॥

पंडित पद्मसिंह शर्मा इस दोहे का हमारा अर्थ अशुद्ध मानते है। आप इसका यों अर्थ लगाते हैं कि "उसे विरह-ज्वाला में जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद) के समान है।" भेद इतना ही है कि आप 'असीस के समान है' कहते हैं, किंतु कवि कहता है कि 'असीस भयो' (हो गया)। मरिबो क्रिया है, नाम नहीं। क्रिया पूर्ण हो गइ। मरना आशीर्वाद हो गया। यदि इसमे भी क्रिया अपूर्ण ही मानी जाय, तो कष्ट-कल्पना की हद हो जायगी।

सिवा संस्कृत के कवि कालिदास के और कवियों ने प्राय: गर्भवती नायिका का वर्णन नहीं किया, पर बिहारी ने वह भी कहा है—

दृग थरकौहैं अध-खुले, देह थकौहैं ढार;
सुरति-सुखित-सी देखिए दुखित गरभ के भार॥ ३२ ॥

बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और

यह महाशय अपने मतलब की बात ख़ूब देख लेते थे। इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है। यथा—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय;
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय॥ ३३॥
सोनजुही-सी होति दुति मिलति मालती-माल।
देखी सोनजुही फिरत, सोनजुही-से अंग;
दुति लपटनु पट सेतहू, करत बनौटी रंग॥ ३४॥
अधर धरत हरि के परति ओंठ डीठि पट जोति;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रध-नुष-रँग होति॥ ३५॥
सोनजुही-सी जगमगै अँग-अँग जोबन-जोति;
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह-दुति होति॥ ३६॥
कचन तन धन बरन-बर रह्यो रंग मिलि रंग;
जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग॥ ३७॥

इन कविवर ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति पर्यवेक्षण देख पड़ता है। निम्न-लिखित दोहे इस गुण के प्रधान उदाहरण हैं—

रह्यो मोहु, मिलनो रह्यो, यों कहि गहे मरोर;
उत दै अलिहि उराहनौ, इत चितई मो ओर॥ ३८॥
छल सों चली छुआय कै छिनकु छबीली छाँह।
ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों-त्यों खरी उताल;
झमकि-झमकि टहलै करै, लगी रहचटैं बाल॥ ३९॥
सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि;
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं डीठि॥ ४०॥
लरिका लेबे के मिसुन लंगर मो ढिग आय;
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुआय॥ ४१॥
ज्यों उझकति, झाँपति बदन, बिहँसति अति सतराय;
त्यों गुलाल झूठी मुठी झुठकावत प्यौ जाय॥ ४२॥
ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन;
त्यों-त्यों परम उदारहू फगुआ देत बनै न॥ ४३॥
बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय॥ ४४॥

इन अंतिम तीन दोहों में इन कवि ने घंटे-घंटे-भर की बातचीत एक-एक दोहे

में भर दी है। इनका प्रकृति-निरीक्षण इन दोहों से भी प्रकट होगा—१, ६, २३, २६, २८, ३०, ३७, ३८, ४०, ४१, ४२, ४८, ६१, ६५, ६८, १३६, १३८, १६६, २३६, २७१, २८०, ३३५, ३६१, ४१३, ४४४, ४६३, ४६५, ५०६, ५१३, ५४६, ५५१, ६०६, ६५१, ६५२, ६५४, ६६३, ६६४, ६६६, ६८१, ६८६, ६६०, ६६२, ६६३, १८, १६, २२, ५६, १५०, ४०६, ७११, १३४, २१५, ७६, १०५ इत्यादि। इन कवि ने कहीं-कहीं प्रकृति-निरीक्षण मे अपना काइयाँपन भी प्रकट किया है, और इनके दोहों के साथ प्राय: प्रकृति और काइयाँपन मिले है। मानुषी प्रकृति के संबंध की जितनी बाते इन महाकवि ने लिखी, और जितने चोज निकालकर इन्होने रख दिए, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नही रख सका होगा। इन सात सौ दोहो मे ख़ूबियाँ ठूँस-ठूँसकर भरी हुई है, परंतु इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण मे बहुधा अश्लीलता भी मिल जाती है। देखिए नंबर ५, १६८, २२८, २८१, २८२, २६५ इत्यादि।

बिहँसि, बोलाय, लगाय उर, प्रौढ़ तिया रस घूमि;
पुलकि, पसीजति पूत को प्यो चूम्यो मुँह चूमि॥ ४५॥

यहाँ पुत्र मे भी पति-भाव आ गया है, जो निंद्य है।

भीगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न।

कवियो ने कहा है—'देखि परै औ दुराव रहै कबि तोष सोई कबिता मन भावै'; परंतु बिहारी ने दो-चार स्थानो पर बिलकुल साफ़ कह दिया है। इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में केवल एक स्थान पर ग़लती समझ पड़ती है—

पावस घन-अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन;
राति-द्यौस जान्यो परत लखि चकई-चकवान॥ ४६॥

वर्षा-ऋतु मे भारत मे चक्रवाक नहीं रहते। बहुत-से लोग कष्ट-कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते है, किंतु हम उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं। शर्माजी का प्रश्न है कि वे क्या होते है? उत्तर यही है कि वे भारत के बाहर कहीं चले जाते हैं।

इन महाकवि ने रूप-वर्णन मे सीधा, सादा, सच्चा रूप ही दरसा दिया है। सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसा रूप नही दिखा सका। देखिए नंबर ५२, २३५, १५१, ३१२ पद्य इत्यादि।

कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ;
जगत तपोबन-सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥ ४७॥

कहते है, यह छंद एक तसवीर को देखकर बना था।

चलत देत आभारु सुनि वही परोसिहि नाँह ;
लसी तमासे के दृगनि हाँसी आँसुन माँह ॥ ४८ ॥

मानुषी, विशेषकर नागर वर्णन में इन्होंने सुकुमारता को भी ख़ूब रक्खा है—

जनकु धरत हरि हिय धरे, नाज़ुक कमला बाल ;
भजत भार - भय - भीत ह्वै घन, चंदन, बन - माल ॥ ४६ ॥
झिझकति चित्त गुलाब के झवाँ झवाँवति पाँय ।

नागरियों के अतिरिक्त इन्होंने ग्राम्य नायिकाओं का भी वर्णन अच्छा किया है—

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलनि गाड़ ;
कैसी लसति गँवारि यह सोनकिरवा की आड़ ॥ ५० ॥
पहला - हारु हिए लसै, सन की बेंदी भाल ;
राखति खेत खरी - खरी खरे उरोजनि बाल ॥ ५१ ॥

परंतु ग्रामीणों की इन्होंने प्रायः निंदा की है—

नागरि सकल बनाव तजि बसी गमेलिन माह ;
मूढ़नि मैं गिनबी न तो, हूठ्यो दै इठलाह ॥ ५२ ॥
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि ;
रे गंधी, मति - अंध, तू अतर देखावत काहि ? ॥ ५३ ॥

इन कवि ने मद्य-पान का बड़ा ही बढ़िया वर्णन किया है, और इनकी रचना में ज्योतिष का भी यत्र-तत्र समावेश हुआ है—

तिय तिथि, तरुन - किसोर बय, पुन्य - काल सम दोनु ;
पूरे पुन्निनु, पाइयतु, बैस - संधि संक्रोनु ॥ ५४ ॥

दो-चार और स्थानों पर भी ज्योतिष-मिश्रित वर्णन आए हैं। प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कविवर भाषा-साहित्य में बहुत श्रेष्ठ हैं।

इनके दोहों में उत्कृष्ट पद्यों की गणना करनी कठिन है, क्योंकि इनके प्रायः तिहाई दोहे अच्छे हैं, और कोई एक भी दोहा ऐसा नहीं, जो ख़राब कहा जा सके। अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण और देव - सुधा के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। विशद पद्यों के उदाहरण वर्णन के अंत में हैं। कुछ यहाँ भी लिखे जाते है—

बरन, बास, सुकुमारता, सबही रही समाय ;
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाय ॥ ५५ ॥

(मीलित अलंकार)

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गहब गरूर;
भए न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर ॥ ५६ ॥
सायक-सम घायक नयन रँगे त्रिबिध रँग गात;
झखौ निरखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥ ५७ ॥
मो हिय को छुटि मान गो निरखत ही ब्रजराज;
रही घरिक लौं मान-सी मान किए की लाज ॥ ५८ ॥
वहैं सदा पसु-नरन को प्रेम-पयोधि पगार;
गिरि ते ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजार ॥ ५९ ॥

इन्होंने अपने बहुत-से ऐसे ऊँचे और ख़ास विचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। देखिए ७१, ७२, ८२, ८३, १०६, १६२, १६७, २४०, ३०६, ३३८, ४०२, ४७५, ५३२, ७०० नंबर इत्यादि के दोहे।

करत मलिन आछी छबिहि, हरत जु सहज बिकासु,
अंगराग अगनि लग्यो, ज्यो आरसी उसासु ॥ ६० ॥
पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत यहि हेत;
दरपन के-से मोरचे देह दिखाई देत ॥ ६१ ॥
अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन-से सब गात;
दोहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात ॥ ६२ ॥
डीठि बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत, न डरात;
इतै-उतै मन दुहुन के नट-लौं आवत-जात ॥ ६३ ॥
जूठे जानि न संग्रहे, मनु मुँह-निकसे-बैन;
याही सों मानो किए बातन को बिधि नैन ॥ ६४ ॥
बिरह-बिकल बिन ही लिखी पाती दई पठाय;
आँक-बिहीनीयै सुचित, सूने बाँचत जाय ॥ ६५ ॥
पत्रा ही तिथि पाइयत वा घर के चहुँ पास;
नित-प्रति पून्योई रहै आनन ओप-उजास ॥ ६६ ॥

ऊँचे ख़यालात भी देखने योग्य हैं—

वाँह लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति;
जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह-सी होति ॥ ६७ ॥

दूर की कौड़ी भी अच्छी लाते थे—

भई जु तन-छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन;
अंग-आप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ॥ ६८ ॥

बारीक ख़यालात भी ख़ूब ही रक्खे है—

मानहु बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज;
दृग - पग पोंछन को किए भूषन - पायंदाज ॥ ६९ ॥
भीगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरैं न।

इनकी विशेषताएँ भी द्रष्टव्य है। ऊपर लिखे हुए दोहों में 'पहिरि न भूषन' देखिए। इन्होंने संयोगादि के दो-एक चोज भी कहे है, जो देखने योग्य हैं—

नहिँ हरि लौं हियरा धरौं नहिँ हर लौं अरधंग;
एकत ही करि राखिए अंग - अंग प्रति अग ॥ ७० ॥

इसे पढ़कर—

मन तो शवम् तो मन् शवी, मन् तन् शवम् तो जाँ शवी;
ता कस न गोयद बादऽज़ीं मन् दीगरम् तो दीगरी।

याद आता है। इन्होने बहुत-से ऐसे विचार और भाव लिखे कि बड़े-बड़े कवियों ने भी इनके सामने उनके लिये हाथ फैलाए है। एकआध स्थान पर इन्होंने औरों के भी कुछ भाव लिए हैं। देखिए—

नई लगनि, कुल की संकुच, बिकल भई अकुलाय;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय ॥ ७१ ॥ (बिहारी)
धाई फिरै फिरकी-सी दुहूँ दिसि, 'देव' दुऔ गुन जारिकै ऐंची। (देव)
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी - खिरकीन फिरै फिरकी-सी। (देव)
बाल काहि लाली भई, लोयन कोयन माँह;
लाल तिहारे दृगनि की परी दृगन में छाँह ॥ ७२ ॥ (बिहारी)
काहू के रग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे। (देव)
नेह न, नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय;
नीर-भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥ ७३ ॥ (बिहारी)
छलकै चहूँघा अश्रुजल को प्रवाह पै न,
नेकु बिरहागिनि को तपनि बुझाय है। (दूलह)
नैना धैना करत हैं, उरज उमेठे जाहिँ। (रहीम)
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिँ। (बिहारी)
उपर्युक्त भाव बिहारी ने लिया है।
भई रहति नट को बटा अटकी नागरि नेह। (बिहारी)
भूतल ते नभ, नभ ते अवनी अगु उछले नट का बटा हुआ। (सीतल)
सायक - सम घायक नयन रँगे त्रिबिध रँग गात;
झखौ बिलखि दुरि जात जल लखि जलजात लजात ॥ ७४ ॥ (बिहारी)

कंज सकोच गड़े रहैं पंक मैं, मीनन बोरि दियो दहनीरन। (दास)
उठे राम अति प्रेम-अधीरा ; कहुँ धनु, कहुँ निपंग, कहुँ तीरा।
(तुलसीदास)

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ;
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट, बनमाल ॥ ७५ ॥ (बिहारी)
बिहारी ने यह भाव लिया है।

जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत पराग।. (बिहारी)
इस भाव पर केशव, पद्माकर एवं अन्य कई कवियो ने कहा है।
भाव केशवदास का है।

पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि ;
आपु आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥ ७६ ॥ (बिहारी)
स्याम-ही-स्याम रही रटिकै, पुनि ह्वै गई मूरति नंदकिसोर की।
(पद्माकर)

भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि। (बिहारी)
डीठि-सी डीठि लगी इनके, उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।
(पद्माकर)

साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः। (भर्तृहरि)
तंत्री-नाद, कबित्त रस, सरस राग, रति-रंग,
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ ७७ ॥ (बिहारी)
बिहारी ने यह भाव लिया है।

आर्या-सप्तशती और गाथा-सप्तशती से बिहारी ने बहुतेरे भाव लिए है, जैसा कि शर्माजी ने दिखलाया है।

लाला भगवानदीन इस स्थान पर इतने चकित हुए है कि उनको समझ में हमने बिहारी से पीछे होनेवाले कवियों से भाव चुराने का दोष बिहारी पर लगाया। कितना बड़ा आश्चर्य है! आपने अपना यह विचार केवल श्रीशारदा-पत्रिका में ही नहीं छपवाया, अपनी 'बिहारी-बोधिनी' पुस्तक मे भी लिखा। हमने तो पहले ही लिखा है कि बड़े-बड़े कवियों ने भी बिहारी के सामने भावो के लिये हाथ फैलाए है। उसी कथन के उदाहरण दिए गए हैं। पैरे के अंत मे यह भी लिखा है कि बिहारी ने भी कभी-कभी भाव लिए हैं। दोनो बातो के उदाहरण दिए गए है। जिसका भाव है, उसका छंद पहले लिखा गया है, और नक़ल करनेवाले का पीछे।

इतने बड़े शृंगारी कवि होकर इन्होंने कुछ पद्य भक्ति के भी लिखे हैं। इनका अद्वैत मत जान पड़ता है, परंतु इनको भक्त कहना वितंडा-मात्र है, जब कि यह स्वयं लिखते हैं—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय;
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाय॥ ७८॥

इनके भक्तिवाले पद्यों के ये उदाहरण हैं—

मोर-मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल;
यहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल॥ ७९॥
मैं देख्यो निरधार, यह जग काचो काँच सो;
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत तहाँ॥ ८०॥
जप-माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम;
मन-काचे नाचे बृथा, साँचे राचे राम॥ ८१॥
ब्रजबासिन को उचित धन, जो घनरुचि तन कांय;
सु-चित न आयो सुचितई, कहौ कहाँ ते होय॥ ८२॥

सूमपने के भी यह कवि प्रतिकूल थे—

मीत न नीत गलीत यह, जो धरिए धन जोरि;
खाए-खरचे जो बचै, तो जोरिए करोरि॥ ८३॥
जेती संपति कृपन के, तेती सूमति जोर;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यों-त्यों होत कठोर॥ ८४॥

यह ऐसे खरे आदमी थे कि इन्होंने महाराजा जयपुर के यहाँ रहते हुए भी अपना ग्रंथ उनके नाम पर नहीं बनाया, और उनकी प्रशंसा मे केवल ७ या ८ दोहे कहे। उसके साथ कलि के दानियो की निंदा भी कर दी। इससे जान पड़ता है, इन कवि का अच्छा मान जयपुर में भी नहीं हुआ। भूषण बिहारी से कवित्व-शक्ति में कम थे, परंतु उनके शिवाजी-संबंधी पद्य बिहारी के जयसाहिवालों से कही अच्छे हैं। इससे जान पड़ता है, बढ़िया पद्य केवल इच्छा से नहीं बनते, वरन् जब चित्त से उसके विषय में उमंग एवं उत्साह उठता है, तभी बनते है। बिहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि ख़ास जयसाहि ने इन्हे हराया था। इससे जान पड़ता है, मुग़लो की ओर से जयसाहि का शिवाजी से लड़ना इन्हे भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप में इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है। कलियुग के दानियों की यों निंदा हुई है—

कब को टेरत रट, होत न स्याम सहाय ;
तुम हूँ लागी जगत गुरु, जगनायक, जग-बाय ॥ ८५ ॥
थोरेई गुन रीझबी बिसराई वह बानि ;
तुम हूँ कान्ह मनो भए आजु कालि्ह के दानि ॥ ८६ ॥

बिहारी ने अपनी कविता में धर्म-संबंधी आचार-विचारों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का भी बहुत हवाला दिया है। इसी प्रकार लोगों के विश्वासों पर भी इनके कई पद्य अवलंबित है—

पूस - मास सुनि सखिन पै साईं चलत सबार ;
लै कर बीन प्रबीन तिय गायो राग मलार ॥ ८७ ॥

इसमें विश्वास यह है कि मलार गाने से पानी बरसे, और पूस की वृष्टि अकाल-वृष्टि है। इस पर विश्वास है कि जो अकाल-वृष्टि के दिन घर से चले, उसकी अकाल-मृत्यु हो। सो मलार गाने से पति न जा सकेगा।

"फिरत काग-गोलक भयो दुहूँ देह जिय एक।"—इसमें यह विश्वास है कि कौए की आँख का गोला एक ही होता है, और वह इच्छानुसार उस गोले को किसी भी आँख मे लाकर देख सकता है। वास्तव मे यह बात नहीं है। "कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुरजोधन-लौं लाल।" कहा जाता है, दुर्योधन जल-स्तंभन-विधि जानते थे। बिहारी ने अंतिम शतक मे कुछ दोहे नीति और शिक्षा के भी अच्छे कहे है।

जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा - राय ;
प्रगटत जड़ता आपनी, सुमुकुट पहिरत पाय ॥ ८८ ॥
सीतलता रस बास की घटै न महिमा मूर ;
पीनसवारे जो तजै सोरा जानि कपूर ॥ ८९ ॥
बड़े न हूजै गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाय ;
कनक धतूरे सो कहत गहनो गढ़ो न जाय ॥ ९० ॥
कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय ॥ ९१ ॥
बढ़त - बढ़तसंपति - सलिल मन - सरोज बढ़ जाय ;
घटत - घटत नहिं पुनि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥ ९२ ॥

इन महाकवि ने यत्र-तत्र अपनी कविता में मज़ाक भी ख़ूब रक्खे हैं। इसके उदाहरण हर जगह मिलेगे।

बिहारीलाल ने आँखो का भी ख़ूब वर्णन किया है। बहुत-से दोहे प्रधान अथवा गौण रूप से आँखों के विषय मे हैं। इन्होंने नेत्रों की लड़ाई का भी

कथन किया है। आँखों मे आँख लगने से आँख नही लगती, डीठि में डीठि पड़ने से डीठि किरकिरी हो जाती है, इत्यादि इनके बड़े रुचिकर विषय हैं। कई स्थानो पर इन्होने कानन (जंगल), कान और नैन का संबंध दिखाकर वर्णन किए हैं। साधारण-सी बात भी बिहारी इस तरह कहते है कि वह बहुत बढिया लगती है। इन्होंने रुखाई और चिकनाई का साथ-साथ ख़ूब वर्णन किया है—"रूखे कैसे होत ये नेह-चीकने नैन ?" दोहा एक बहुत ही छोटा छंद है, अत: उसमें यह गुण है कि थोड़ी-सी भी उत्तमता होने से वह चमक उठता है। यदि सवैया या घनाक्षरी में उतनी ही उत्तमता हो, तो शेष अंश में भरती के पद लाने पड़ेंगे, जिससे कुल छंद शिथिल हो जायगा। इस कारण भी बिहारी के दोहे बड़े भले लगते हैं, और इनका यश उज्जवल बनाए हुए है। यह असंभव समझ पड़ता है कि बिहारी ने समस्त जीवन रचना करके भी केवल ७०० दोहे बनाए हों। हमारा तो अनुमान है कि इन्होंने हज़ारों दोहे बनाए होंगे; उनमे से ये ७०० चुन लिए, और शेष साधारण या शिथिल दोहो का मोह न करके उन्हे नष्ट कर डाला। कविजन अपने बुरे पद्यों पर भी पुत्रवत् स्नेह रखते है; परंतु बुरे लड़कों की भाँति भले लड़को का भी भाग बँटाकर वे पैतृक संपत्ति छिन्न-भिन्न कर देते हैं। यदि बिहारी के चार-पाँच हज़ार दोहे होते, और उनमे से ये ७०० अच्छे होते, तो इनका उतना नाम कभी न होता, जितना केवल ७०० उत्कृष्ट दोहों के होने से हुआ। निकृष्ट पद्य बोझ की भाँति सत्कवि को भी थकाकर डुबो देते है, पर मोह-वश कविगण उस बोझ को फेक नहीं सकते। बिहारी उस बोझ को फेककर यश के समुद्र मे ऊँचे तैर रहे हैं।

इनकी कविता में काइयाँपन भरा पड़ा है, अत: उसमें इशारेबाज़ी की भी कोई हद नही। इनके पद्य इतने अच्छे है कि बहुत-से मसले-से हो गए हैं—'बातै हाथी पाइए, बातै हाथी पाँव' इत्यादि। इनके सामयिक दोहे प्राय: मौक़े-मौक़े पर कहे जाते हैं। हिंदी में केवल बिहारीलाल ने उर्दू के ढंग की कविता रची, और इन्हे उसमें कृतकार्यता भी मिली। इनके बराबर किसी ने भी चोज नहीं कहे, और इनकी कविता सब सत्य है। यह आप-बीती ख़ूब कहते और जग-बीती भी ख़ूब देखते थे। स्त्रियों के कोमल स्वभाव के विषय में इन रसिक-शिरोमणि का निष्कर्ष दर्शनीय और प्रत्येक विवाहित मनुष्य के पूर्णतया ध्यान देने योग्य है—

पति ऋतु औगुन गुन बढ़त, मान माह को सीत ;
जात कठिन ह्वै अति मृदौ, रवनी - मन - नवनीत ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार की बातों के बाहुल्य के कारण सतसई पढ़ने मे चित्त कभी

उकताता नहीं। यह बड़ा ही चित्ताकर्षक ग्रंथ है। इसके कुछ दोहे तो ऐसे है कि उनके तात्पर्य थिएटरों में ऐक्ट करने योग्य है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप वे तीन दोहे समझने चाहिए, जो ऊपर प्रकृति-पर्यवेक्षणवाले उदाहरणो के अंत मे लिखे गए है। जयपुर के आमेरगढ़ांतर्गत शीश-महल का भी इन्होने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।

प्रतिबिंबित जयसाहि - दुति - दीपति दर्पन - धाम ;
सब जग जीतन को कियो काय - ब्यूह मनु काम ॥ ९४ ॥

इस शीश-महल को हमने भी देखा है। इसमे हजारों छोटे-छोटे अंगुल-अंगुल, डेढ़-डेढ़ अंगुल के शीशे लगे है। हर ओर दर्शक का स्वरूप देख पड़ता है, और सचमुच यह जान पड़ता है कि कायव्यूह-सा बना है। यह उपमा बड़ी ही सच्ची है।

बिहारी ने बहुत-सी बातों का वर्णन किया है। स्त्री को यह सबसे अधिक चित्ताकर्षिणी समझते हैं।

यक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार ;
किते न औगुन जग किए नै बै चढ़ती बार ॥ ९५ ॥
ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाँय ॥ ९६ ॥

कुल बात सोचकर हम बिहारी को एक बड़ा सत्कवि समझते है। तुलसीदास, सूरदास और देव को छोड़कर यह महाशय हिंदी मे सर्वोत्कृष्ट कवि है। थोड़े दिन हुए, इनके २७० दोहो का एक सटिप्पण ग्रंथ 'बिहारी-सुधा' नाम से हमने निकाला है। इनकी कविता के उदाहरण-स्वरूप दोहे आगे लिखे जाते हैं—

राति - द्यौस हौसै रहै मान न ठिक ठहराय ;
जेतो औगुन ढूँढिए, गुनै हाथ परि जाय ॥ ९७ ॥
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग ;
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता - रंग ॥ ९८ ॥
अपने अँग के जानि कै जोबन - नृपति प्रबीन ;
स्तन, मन, नैन, नितंब को बड़ो इजाफा कीन ॥ ९९ ॥
अरते टरत न बर परे, दई मरक मनु मैन ;
होड़ा - होड़ी बढ़ि चले, चित चतुराई नैन ॥ १०० ॥
बाढ़त तो उर उरज - भरु भर तरुनई बिकास ;
बोझन सौतिन के हिए आवति रूँधी उसास ॥ १०१ ॥

मानहु मुख - दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग ;
सासु सदन, मन ललन हूँ, सौतिन दियो सोहाग ॥ १०२ ॥
देह दुलहिया की चढै ज्यो - ज्यो, जोवन - जोति ;
त्यो - त्यो लखि सौतिन सबै बदन मलिन दुति होति ॥ १०३ ॥
ज्यों - ज्यो जोबन जेठ - दिन कुचमिति अति अधिकाति ;
त्यो त्यों छिन - छिन कटि - छपा छीन परति नित जाति ॥ १०४ ॥
समरस समर सकोच - बस बिबस न ठिक ठहराय ;
फिरि-फिरि उझकति, फिर दुरति, दुरि-दुरि उझकति जाय ॥ १०५ ॥
छला छबीले लाल को नवल नेह लहि नारि ;
चाहति, चूमति लाय उर, पहिरति, धरति उतारि ॥ १०६ ॥
सटपटात - सी ससि - मुखी मुख घूँघट - पट ढाँकि ;
पावक - झर - सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि ॥ १०७ ॥

कोटि जतन कीजै, तऊ तन की तपनि न जाय ;
जौ लौं भीजे चीर ज्यो रहै न प्यो लपटाय ॥ १०८ ॥
दुखहायनु चरचा नहीं, आनन - आनन आन ;
लगी रहति ढूका दिए कानन कानन कान ॥ १०९ ॥
पहुँचति झट रन - सुभट - लौं, रोकि सकै सब नाँहँ ;
लाखन हूँ की भीर मैं आँखि तहीं चलि जाहिँ ॥ ११० ॥
अपनी गरजन बोलियत, कहा निहोरो तोहि ;
तू प्यारो मो जीय को, मो जिय प्यारो मोहि ॥ १११ ॥
केसर केसरि - कुसुम के रहे अंग लपटाय,
लगे जानि नख अनखुली, कत बोलत अनखाय ॥ ११२ ॥
कर मूँदरि की आरसी प्रतिबिम्ब्यो प्यो आय ;
पीठि दिए निधरक लखै इकटक डीठि लगाय ॥ ११३ ॥
मंजन करि खंजन - नयनि बैठी ब्यौरति बार ;
कच अँगुरिन - बिच दीठि दै चितवति नंद - कुमार ॥ ११४ ॥
औरै ओप कनीनिकनि, गनी धनी सिरताज ;
मनी धनी के नेह की बनी छनी पट लाज ॥ ११५ ॥
रुख रूखी मिस रोख मुख, कहत रुखौहे बैन ;
रूखे कैसे होत ये नेह - चीकने नैन ? ॥ ११६ ॥
लखि लोने लोइननु के कोयनु होय न आज ;
कौन गरीब - निवाजिबो, कित तूठ्यौ ऋतुराज ॥ ११७ ॥

फिरि-फिरि दौरत देखिए, निचले नैक रहै न;
ये कजरारे कौन पै करत कजा की नैन ॥ ११८ ॥
सन सूख्यो, बीत्यौ बनौ, ऊँखौ लई उखारि;
अरी हरी अरहरि अजौ, धरि धरहरि जिय नारि ॥ ११६ ॥
कहा कुसुम की कौमुदी, कितक आरसी जोति;
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति ॥ १२० ॥
रंच न लखियत पहिरियो, कंचन - से तन बाल;
कुम्हिलानी जानी परति उर चंपे की माल ॥ १२१ ॥
सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति;
तऊ न दुरिहै स्याम यह, दीप - सिखा - सी जाति ॥ १२२ ॥
अंग - अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह;
खरी पातरी हू, तऊ लगै भरी - सी देह ॥ १२३ ॥
चुनरी स्याम सतार नभ मुख ससि की अनुहारि;
नेह दबावत नीद - लौ निरखि निसा - सी नारि ॥ १२४ ॥
इती भीर हू भेदि के कितहू ह्वै इत आय;
फिरै दीठि जुरि दीठि सो सबकी दीठि बचाय ॥ १२५ ॥
चितई ललचौहे चखन डटि घूँघट - पट माँह;
छल - सो चली छुवाय कै छिनकु छबीली छाँह ॥ १२६ ॥
चिलक चिकनई चटक सो लफति सटक लौं आय;
नारि - सलोनी साँवरी नागिन - लौं डसि जाय ॥ १२७ ॥
मै हौ जान्यो लोयननु, जुरति बाढ़िहै जोति;
को हो जानतु डीठि को, डीठि किरकिटी होति ॥ १२८ ॥
दृगनि लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन;
ये तेरे सबते बिषम, ईछन तीछन बान ॥ १२६ ॥
कहत सबै कबि कमल - से, मो मत नैन - पखान;
नतरुक कत इन घिसि लगत, उपजत बिरह-कृसान ॥ १३० ॥
है हिय रहत हई छई, नई जुगुति जग जोय;
डीठिहि डीठि लगे दई, देह दूबरी होय ॥ १३१ ॥
इन अँखियाँ दुखियान को सुख सिरज्योई नाहिं;
देखे बनै न, देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं ॥ १३२ ॥
चकी जकी - सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि;
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की दीठि ॥ १३३ ॥

जस - अपजस देखत नहीं, देखत स्यामल गात ;
कहा करौ, लालच - भरे चपल नैन चलि जात ॥ १३४ ॥
लाज - लगाम न मानही, नैना मो बस नाहिँ ;
ये मुँहजोर - तुरंग - लौ ऐंचत हू चलि जाहिँ ॥ १३५ ॥
उड़ी गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना मॉह ;
बौरी - लौ दौरी फिरति छुवति छबीली छॉह ॥ १३६ ॥
चलत घैरु घर - घर, तऊ घरी न घर ठहराय ;
समुझि वही घर को चलै, भूलि वही घर जाय ॥ १३७ ॥
छुटन न पैयतु बसि छिनकु नेह-नगर यह चाल ;
मारयो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरै खुस्याल ॥ १३८ ॥
क्यो बसिए, क्यो निबहिए, नीति नेह-पुर नाहिँ ;
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिँ ॥ १३९ ॥
नेकौ वह न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल ;
उर ते बास छुटयो नहीं, बास छुटेहू लाल ॥ १४० ॥
जहॉ - जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर ;
बिनहूँ उन छिनु गहि रहत दृगन अजो वह ठौर ॥ १४१ ॥
सघन कुंज, छाया सुखद, सरसिज - सुरभि समीर ;
मन ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥ १४२ ॥
फिरि-फिरि बूझत कहु कहा, कह्यो सॉवरे गात ;
कहा करत, देखे कहाँ, अली चली क्यों बात ॥ १४३ ॥
मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान ;
अहे परनि पर - प्रेम की परहथ पारि न प्रान ॥ १४४ ॥
चित - बित बचत न, हरत हठि, लालन दृग बरजोर ;
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर ॥ १४५ ॥
नावक सर - से लाय कै तिलक तरुनि इत ताकि ;
पावक - झर - सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि ॥ १४६ ॥
उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली - धुनि धाय ;
हौं निकसी हुलसी सु तौ गो हुल सी उर लाय ॥ १४७ ॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजि जात ;
भरे भौन मे करत है नैनन ही सो बात ॥ १४८ ॥
जुरे दुहुन के दृग झमकि, रुके न झीनै चीर ;
हलकी फौज हरौल ज्यों परत गोल पर भीर ॥ १४९ ॥

दूर्‌यो खरे समीप को, लेत मानि मन मोद ;
होत दुहुन के दृगन हीं बतरस, हँसी - बिनोद ॥ १५० ॥
जदपि चवाइन चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन ;
तदपि न छाड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन ॥ १५१ ॥
घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि - पुंज ;
जमना - तीर तमाल तरु मिलत मालती - कुंज ॥ १५२ ॥
छ्वै छिगुनी पहुँचो गहत, अति दीनता दिखाय ;
बलि बावन को ब्योंत सुनि को बलि तुम्है पत्याय ? ॥ १५३ ॥
सहज सचिक्कन, स्याम रुचि सुचि सुगंध सुकुमार ;
गनत न मन पथ अपथ लखि बिथरे सुथरे बार ॥ १५४ ॥
वेई कर ब्योरनि वहै, ब्योरे कौन बिचार ;
जिन ही उरझ्यो मो हियो, तिन ही सुरझे बार ॥ १५५ ॥
छुटे छुटावत जगत ते सटकारे, सुकुमार ;
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार ॥ १५६ ॥
झीने पट मै झलमली झलकति ओप अपार ,
सुरतरु की मनु सिंधु मै लसी सपल्लव डार ॥ १५७ ॥
भाल लाल बेंदी छए, छुटे बार छबि देत ;
गह्यो राहु अति आहु करि, मनु ससि - सूर - समेत ॥ १५८ ॥
हा हा बदन उघारि, दृग सफल करैं सब कोय ;
रोज सरोजन के परैं, हँसी ससी की होय ॥ १५९ ॥
लोने मुँह डीठि न लगै, यो कहि दीनो ईठि ;
दूनी ह्वै लागन लगी, दिए दिठौना डीठि ॥ १६० ॥
सूर उदित हू मुदित मन, मुख - सुखमा की ओर ;
चितै रहै चहुँ ओर ते निहचल चखन चकोर ॥ १६१ ॥
तिय पिय सों हँसिकै कह्यो, लख्यो डिठौना दीन ,
चंदमुखी मुखचंद ते भलो चंदसम कीन ॥ १६२ ॥
छप्यो छबीली मुख लसै नीले अंचल चीर ;
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर ॥ १६३ ॥
छिनकु छबीले लाल वह नहिँ जौ लगि बतराति ;
ऊख, मयूख, पियूख की तौ लगि भूख न जाति ॥ १६४ ॥
नासा मोरि, नचाय दृग, करी कका की सौंहँ ,
काँटो - सी कसकति हिए गड़ी कटीली भौंहँ ॥ १६५ ॥

कर चाह सों चुटकि कै, खरे उड़ौहै मैन ;
लाज नवाए तरफरत, करत खुदी-से नैन ॥ १६६ ॥
बर-जीते सर मैन के ऐसे देखे मै न ;
हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन ॥ १६७ ॥
जोग-जुगुति सिखए सबै, मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय-अद्वैतता, सेवत कानन नैन ॥ १६८ ॥
बेसरि-मोती-दुति-झलक परी अधर पर आय ;
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट्ट पोंछ्यो जाय ॥ १६६ ॥
जटित नील-मनि जगमगति, सींक सुहाई नॉक ;
मनो अली चंपक-कली बसि रस लेत निसाँक ॥ १७० ॥
जदपि लौंग ललितौ, तऊ तू न पहिरि इक आँक ;
सदा संक बाढ़ी रहै, रहै चढ़ी-सी नाँक ॥ १७१ ॥
दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत ;
कबि ऑकन के अरथ-लौ प्रगट दिखाई देत ॥ १७२ ॥
पाँय महावर देन को नायनि बैठी आय ;
फिरि-फिरि जानि महावरी ऍड़ी मीड़ति जाय ॥ १७३ ॥
पग-पग मग अगमन परति चरन अरुन-दुति ऊलि ;
ठौर-ठौर लखियत उठै दुपहरिया-सी फूलि ॥ १७४ ॥
सरस कुसुम मड़रात अलि, न झुकि झपटि लपटात ;
दरसत अति सुकुमार तन परसत मनु न पत्यात ॥ १७५ ॥
भूषन-भार सम्हारिहै क्यों यह तन सुकुमार ;
सूधे पॉय न परत धरि सोभा ही के भार ॥ १७६ ॥
लग्यो सुमन ह्वै है सुफल, आतप-रोस निवारि ;
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता बारि ॥ १७७ ॥
तू रहि हौंही सखि लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल ;
सबहिनु बिनु ही ससि उदै दीजतु अरघ अकाल ॥ १७८ ॥
फूली-फाली फूल-सी फिरति जु बिमल बिकास ;
भोर-तरैया होहुती, चलत तोहिं पिय-पास ॥ १७६ ॥
तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर-रंग ;
नहिं सोभा को साजियतु, कहिबे ही को अंग ॥ १८० ॥
तो रस राच्यो आन बस, कहैं कुटिल मति कूर ;
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर ? ॥ १८१ ॥

नेक उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु ;
छुटी जात नह-दी छिनकु महदी सूखन देहु ॥ १८२ ॥
रहौ गुही-बेनी लख्यौ गुहिबे के त्यौनार,
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए बार ॥ १८३ ॥
राधा हरि, हरि राधिका, बनि आए संकेत ;
दंपति रति-बिपरीत-सुख सहज सुरति हू लेत ॥ १८४ ॥
चमक, तमक, हासी, ससक, मसक, झपटि लपटानि ;
ये जिहि रति, सो रति मुकुति और मुकुति अति हानि ॥ १८५ ॥
यों दलमलियत निरदई, दई कुसुम-से गात ;
कर धरि देखौ धरधरा उर को अजौं न जात ॥ १८६ ॥
मिलि परछाहीं जोन्ह सों रहे दुहुन के गात ;
हरि-राधा इक संग ही चले गलिन मे जात ॥ १८७ ॥
अपने कर गहि आप ही हिय पहिराई लाल ;
नौल-सिरी औरै चढ़ी मौलसिरी की माल ॥ १८८ ॥
औरै गति, औरै बचन, भयो बदन-रँग और ;
द्योसक ते पिय चित चढ़ी कहा चढाए त्यौर ॥ १८९ ॥
खल-बढई बल करि थके, कटै न कुबत-कुठार ;
आल-बाल उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार ॥ १९० ॥
करत जात जेती कटनि बढ़ि रस-सरिता सोतु ;
आल-बाल उर प्रेम-तरु तितौ-तितौ दृढ होतु ॥ १९१ ॥
नभ लाली, चाली निसा, चटकाली धुनि कीन,
रति-पाली आली अनत, आए बनमाली न ॥ १९२ ॥
निसि अँधियारी नील पट पहिरि चली पिय-गेह ;
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप-सिखा-सी देह ॥ १९३ ॥
अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि,
संग-लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि ॥ १९४ ॥
उठि, ठकठकु एतो कहा पावस के अभिसार ;
जानि परैगी देखि यों दामिनि घन अँधियार ॥ १९५ ॥
जुवति जोन्ह मे मिलि गई, नैन न होति लखाइ ;
सौंधे के डोरन लगी अली-चली-सँग जाइ ॥ १९६ ॥
मरकत-भाजन सलिलगत, इंदु-कला के बेख,
झीन झँगा मे झलमलै स्याम गात नख-रेख ॥ १९७ ॥

यहाँ न चलि बलि रावरी चतुराई की चाल;
सनख हिए खिन - खिन नटत, अनख बढ़ावत लाल ॥ १६८ ॥
बिथुरयो जावक सौति - पग, निरखि हँसी गहि गाँसु;
सलज हँसौही लखि, लियो आधी हँसी उसाँसु ॥ १६६ ॥
कपट मतर भौहै करी, मुख अनखौहै बैन;
सहज हँसौहै जानिकै सौंहै करत न नैन ॥ २०० ॥
हठ न हठीली करि सकै यह पावस - ऋतु पाय;
आन - गाँठि ज्यो छुटत, त्यो मान - गाँठि छुटि जाय ॥ २०१ ॥
नैना नेक न मानही, कितो कह्यो समुझाय;
तन - मन हारे हू हँसै, तिनसों कहा बसाय ? ॥ २०२ ॥
रहै निगोड़े नैन ढिग, गहै न चेत अचेत;
हौं कसु - कै रिस को करौ, ये निसिखे हँसि देत ॥ २०३ ॥
अजहुँ न आए सहज रँग, बिरह - दूबरे गात;
अबही कहाँ चलाइयत ललन चलन की बात ! ॥ २०४ ॥
रहिहै चंचल प्रान ये कहि कौन की अगोट;
ललन चलन की चित धरी, कल न पलन की ओट ॥ २०५ ॥
मिलि चलि चलि मिलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु;
भयो महूरत भोर को पौरी प्रथम मिलानु ॥ २०६ ॥
बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलौ प्यौ बेस;
प्यारी कहत लजात नहिँ, पावस चलत बिदेस ॥ २०७ ॥
रह्यो ऐंचि अंत न लहे अवधि दुसासन बीरु;
आली, बाढत बिरह ज्यों पंचाली को चीरु ॥ २०८ ॥
करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाँड़त नीचु;
दीने हूँ चसमा धरै चाहै लहै न मीचु ॥ २०६ ॥
जिहि निदाघ - दुपहर भई रहति माघ की राति;
तिहि उसीर की रावटी खरी आवटी जाति ॥ २१० ॥
सुनत पथिक - मुँह माह - निसि लुवैं चलत उहि गाम;
बिनु पूछे, बिन ही सुने, जियत बिचारी बाम ॥ २११ ॥
आड़े दै आले - बसन, जाड़े हू की राति;
साहस ककै सनेह - बस सखी सबै ढिग जाति ॥ २१२ ॥
पलनु प्रगटि बरुनीनु बढि नहिँ कपोल ठहरात;
अँसुवा परि छतियाँ छिनकु छनछनाय छपि जात ॥ २१३ ॥

नित संसो हंसो बचतु मनो सो यह उनमान ;
बिरह - अगिनि - लपट न सकै, झपटि न मीचु - सिचान ॥ २१४ ॥
कौन सुनै, कासो कहौ, सुरति बिसारी नाह ;
बदाबदी जिय लेत है ये बदरा बदराह ॥ २१५ ॥
स्याम - सुरति करि राधिका तकति तरनिजा - तीर ;
अँसुवनि करति तरोस को खिनक खरोहौं नीर ॥ २१६ ॥
हौं ही बौरी बिरहबस, कै बौरो सब गाँव ;
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव ॥ २१७ ॥
मै लै दयो लयो सु कर छुवत छिनकि गो नीरु ;
लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यो अबीरु ॥ २१८ ॥
रँगराती राते हिए पाती लिखी बनाय ;
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय ॥ २१९ ॥
कहा भयो जो बीछुरे, मा मन तो मन साथ ;
उड़ी जाहु कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ ॥ २२० ॥
तर झुरसी ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाय ;
पिय - पाती बिनु ही लिखी, बाँची बिरह बलाय ॥ २२१ ॥
रहे बरोठे मे मिलो, प्रिय प्रानन को ईसु ;
आवत आवत की भई बिधि की घरी घरीसु ॥ २२२ ॥
बाम बाहु फरकत मिलैं जो हरि जीवनमूरि ;
तौ तोही सों भेंटिहौ राखि दाहिनी दूरि ॥ २२३ ॥
जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार ;
तउ ग्वेंड़ो घर को भयो पैंड़ो कोस हजार ॥ २२४ ॥
टटकी धोई धोवती चटकीली मुख - जोति ;
लसति रसोईं के बगर जगर - मगर दुति होति ॥ २२५ ॥
पीतम - दृग मिहिचत तिया पानि - परस - सुख पाय ;
जानि पिछानि अजान - लौं नेक न होति जनाय ॥ २२६ ॥
मान - तमासो करि रही बिबस बारुनी सेय ;
झुकति, हँसति, हँसि-हँसि झुकति झुकि-झुकि हँसि-हँसि देय ॥ २२७ ॥
छकि रसाल - सौरभ सने मधुर माधवी - गंध ;
ठौर - ठौर झौरत झपत भौंर - भीर मधु - अंध ॥ २२८ ॥
फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि ;
फूल्यो देखि पलास - बन समुहे समुझि दवागि ॥ २२९ ॥

दिसि - दिसि कुसुमित देखियत उपबन बिपिन - समाज ;
मनो बियोगिन को कियो सर - पंजर ऋतुराज ॥ २३० ॥
बैठि रही अति सघन - बन पैठि सदन-तन माहँ ;
देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाहँ ॥ २३१ ॥
धुरवा होहिँ न लखि उठै धुवाँ धरनि चहुँ कोद ;
जारत आवत जगत को पावस प्रथम - पयोद ॥ २३२ ॥
तिय तरसौंहैं मन किए, करि सरसौंहैं नेह ;
घर परसौंहैं ह्वै रहे, झर बरसौंहैं मेह ॥ २३३ ॥
बरजे दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै, न सकाय ;
टूटत कटि दुमची मचकि लचकि - लचकि बचि जाय ॥ २३४ ॥
कियो सबै जग काम - बस, जीते जिते अजेय ;
कुसुम - सरहि सर धनुष कर अगहन गहन न देय ॥ २३५ ॥
मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रस - लीन ;
नूतन बिधि हेमंत सब जगत जुराफा कीन ॥ २३६ ॥
पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट - पट टारि ;
भरि गुलाल की मूठि सी गई मूठि - सी मारि ॥ २३७ ॥
रहो रुको क्यों हूँ सु चलि आधिक राति पधारि ;
हरत ताप सब दौस की उर लगि यारि बयारि ॥ २३८ ॥
चुवत स्वेत मकरंद - कन तरु - तरु तर बिरमाय ;
आवत दक्खिन तें चल्यो थक्यो बटोही - बाय ॥ २३९ ॥
बिकसत नव मल्ली - कुसुम, निकसत परिमल पाय ;
परसि पजारत बिरह तन बरसि रहे की बाय ॥ २४० ॥
रुक्यो साँकरे कुंज - मग करत झाँझि झुकरात ;
मंद - मंद मारुत - तुरँग खुदरत आवत जात ॥ २४१ ॥
लपटी पुहुप परागपट, सनी स्वेद - मकरंद ;
आवत नारि नवोढ़ - लौं सुखद बाय गति मंद ॥ २४२ ॥
रनित भृंग - घंटावली झरत दान मधु नीर ;
मंद - मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज - समीर ॥ २४३ ॥
धनि यह द्वैज, जहाँ लखौ, तज्यो दृगन दुख - दंद ;
तौ भागन पूरब उयो अहे अपूरब चंद ॥ २४४ ॥
मोरमुकुट की चंद्रिकनि यों राजत नँद - नंद ;
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत - चंद ॥ २४५ ॥

मकराकृत गोपाल के सोभित कुंडल कान ;
मनो धस्यो हिय - घर समर, ड्योढ़ी लसत निसान ॥ २४६ ॥
नीकी करी अनाकनी, फीकी परी गुहारि ;
मनो तज्यो तारन - बिरद बारक बारन तारि ॥ २४७ ॥
मोहिँ तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै ब्रजराज ;
अपने - अपने बिरद की दुहूँ निबाहन लाज ॥ २४८ ॥
कौन भाँति रहिहै बिरद, अब देखबी मुरारि ;
बीधे मोसों आनि कै, गीधे गीधहि तारि ॥ २४६ ॥
को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ;
ज्यो - ज्यो सुरझि भज्यो चहत, त्यों - त्यों उरझत जात ॥ २५० ॥
बेसरि - मोती धन्य तुहि, को पूछै कुल - जाति ?
पीबो करि तिय - अधर को रस निधरक दिन - राति ॥ २५१ ॥
मोर - चंद्रिका स्याम - सिर चढ़ि कत करति गुमान ;
लखबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा - मान ॥ २५२ ॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ;
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार ॥ २५३ ॥
बहँकि बड़ाई आपनी कत राचत मति - भूल ,
बिन मधु मधुकर के हिए गड़ै न गुड़हर - फूल ॥ २५४ ॥
जनम जलधि पानिप बिमल भौ जग आघु अपार ;
रहै गुनी ह्वै गर परयो, भलो न मुकुताहार ॥ २५५ ॥
को कहि सकै बड़ेन सो करत बड़ीयै भूल ;
दीने दई गुलाब की इन डारन ये फूल ॥ २५६ ॥
दिन दस आदर पायकै करि ले आपु बखान ;
जौं लगि काग सराधपख, तौ लगि तो सनमान ॥ २५७ ॥
मरत प्यास पिँजरा - परयो सुवा समै के फेर ;
आदर दै - दै बोलियत बायस बलि की बेर ॥ २५८ ॥
यहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल—
ऐहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वै फूल ॥ २५६ ॥
पटु - पाखैं भखु काँकरे, सपर परेई संग ;
सुखी परेवा पुहुमि मैं तू ही एक बिहंग ॥ २६० ॥
कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहै गहि मौन ;
गधी गंध - गुलाब को गवईं गाहक कौन ? ॥ २६१ ॥

वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब;
फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवई - गाँव गुलाब ॥ २६२ ॥
गोधन, तू हरष्यो हिए, निधरक लेहि पुजाय;
समुझि परैगी सीस पर परत पसुन के पाय ॥ २६३ ॥
चले जाहु, ह्याँ को करै हाथिन को ब्योपार;
नहिँ जानत, यहि पुर बसत धोबी, ओड़, कुम्हार ॥ २६४ ॥
चलत पाय निगुना गुनी, धन, मनि मुतियन माल;
भेट भए जयसाहि सों, भाग चाहियतु भाल ॥ २६५ ॥
सामा, सैन, सयान सुख, सबै साहि के साथ;
बाहुबली जयसाहिजू, फतै तिहारे हाथ ॥ २६६ ॥
अनी बड़ी उमड़ी लखे, असि - बाहक भट भूप;
मंगल करि मान्यो हिए, भो मुँह मंगल - रूप ॥ २६७ ॥
घर - घर तुरकिनि हिंदुनी देत असीस सराहि;
पतिनु राखि चादर चुरी, पति राखी जयसाहि ॥ २६८ ॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साहिबी न भूलि;
दई - दई कत करत है, दई दई सु कबूलि ॥ २६९ ॥
भजन कह्यो ताते भज्यो, भज्यो न एकौ बार;
दूरि भजन जाते कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार ॥ २७० ॥
प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर यक साथ;
सुरपति - गरब हरयो हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ ॥ २७१ ॥
मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोय,
बसत सुचित अंतर, तऊ प्रतिबिंबित जग होय ॥ २७२ ॥
दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर - चित प्रीति;
परत गाँठि दुरजन - हिए, दई नई यह रीति ॥ २७३ ॥
कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख - हजार;
मो संपति जदुपति सदा बिपति - बिदारनहार ॥ २७४ ॥
जात - जात बित होत है ज्यों चित मैं संतोष;
होत - होत त्यों होय तौ होय घरी मैं मोष ॥ २७५ ॥
या भव - पारावार के उलँघि पार को जाइ;
तिय - छबि छाया - गाहनी गहै बीच ही आइ ॥ २७६ ॥
जगत जनायो जिहिँ सकल, सो हरि जान्यो नाहिँ;
ज्यों आँखिन सब देखिए, आँखि न देखी जाहिँ ॥ २७७ ॥

तौ लगि या मन-सदन मैं हरि आवैं किहि बाट ;
बिकट जटे जौ लगि निपट खुले न कपट-कपाट ॥ २७८ ॥
कन दीबो सौंप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि ;
रूप-रहचटे लगि लग्यो, माँगतु सब जग आनि ॥ २७९ ॥
सबै सुहाए ई लगत, बसे सुहाए ठाम ;
गोरे मुख बेदी लसै अरुन, पीत, सित, स्याम ॥ २८० ॥
पायल पाँय लगी रहै, लगे अमोलक लाल ;
भोडर हू की भा लहै, बेंदी भामिनि-भाल ॥ २८१ ॥
जो चाहै चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ;
रज-राजसु न छुवाइ तो, नेह-चीकने चित्त ॥ २८२ ॥
अनियारे दीरघ दृगन किती न तरुनि समान ;
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान ॥ २८३ ॥
कैसे छोटे नरन ते सरत बड़ेन के काम :
मढ़्यो दमामो जात है कहुँ चूहे के चाम ॥ २८४ ॥
संगति सुमति न पावईं परे कुमति के धंध ;
राखौ मेलि कपूर मै, हींग न होय सुगंध ॥ २८५ ॥
समै-समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोय ;
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय ॥ २८६ ॥
जेती संपति कृपन के तेती सूमति जोर ;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यो-त्यो होत कठोर ॥ २८७ ॥
घर-घर डोलत दीन ह्वै जन-जन जाचत जाय ;
दिए लोभ-चसमा चखनु लघु तिहि बड़ो लखाय ॥ २८८ ॥
कालबूत दूती बिना जुरे न आन उपाय ;
फिरि ताके टारे बनै, पाके प्रेम लदाय ॥ २८९ ॥
बहकि न इहि बहिनापुले, जब तक बीर बिनासु ;
बचै न बड़ी सबील हू चील-घौंसुआ मासु ॥ २९० ॥
नीच हिए हुलस्यो रहत गहे गेंद को पोत ;
ज्यों-ज्यों माथे मारियत, त्यों-त्यों ऊँचो होत ॥ २९१ ॥
गुनी-गुनी सब ही कहे, निगुनी गुनी न होत ;
सुन्यो कहूँ तरु अरक को अरक-समान उदोत ? ॥ २९२ ॥
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ;
भलो भलो कहि छाँड़िए, खोंटे ग्रह जप-दान ॥ २९३ ॥

कहत सबै स्रुति, सुमृति हू, सबै पुरातन लोग ;
तीनि दबावैं नीसकै पातक, राजा, रोग ॥ २९४ ॥
ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरोहैं बैन ;
दीरघ होयँ न नेक हू पारि निहारे नैन ॥ २९५ ॥
सबै हँसत कर-तारि दै नागरता के नाउँ ;
गयो गरब गुन को सबै बसे गमेले गाउँ ॥ २९६ ॥
दुसह दुराज प्रजान को क्यों न बढ़ै दुख-दंद ;
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रबि-चंद ॥ २९७ ॥

महाकवि भूषण

बीर - भयानक - रौद्र - रस - आचारज मतिधाम ,
सिव - जस - पकज मधुप ए, भूषन सुकबि ललाम ।

(५)

त्रिपाठी-बंधु

—:०:—

(क) महाकवि भूषण त्रिपाठी

हिंदी-साहित्य-सेवियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो 'भूषण' की कविता से परिचित न हो। वीर-रस में इनकी जोड़ का दूसरा कवि हिंदी में एक भी नहीं है, वरन् यों कहना चाहिए कि इन्होंने इस रस को ऐसा अपना लिया है कि इसका नाम लेते ही बरबस भूषण का स्मरण हो आता है। इनके विषय में हमने सं० १९६३ के निकट सबसे पहले 'समालोचक'-पत्र में, जिसे जयपुर-निवासी स्वर्गवासी मिस्टर जैनवैद्य प्रकाशित किया करते थे, एक लेख लिखा था। उसके पश्चात् काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुरोध से हमने इनके सभी प्राप्य ग्रंथों का 'भूषण-ग्रंथावली' के नाम से संपादन करना आरंभ किया, और वे 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला' मे निकलने लगे। तीन वर्ष के पश्चात् वह 'ग्रंथावली' समाप्त हुई *। इस बीच मे हमने भूषण पर एक लेख कलकत्ते के 'देव नागर' मे भी निकाला, जिस पर दो-एक महाशय ने कुछ लिखा भी।

नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला मे प्रकाशित अपनी 'भूषण-ग्रंथावली' में हमने इनके विषय मे ८७ पृष्ठों की एक भूमिका लिखी, जिसमे यथाशक्ति इस कविरत्न की समालोचना की, और जीवनी भी दी। यह 'भूषण-ग्रंथावली' उक्त सभा से मिल सकती है। इस छोटे-से लेख में उसी भूमिका का साराश हम देते हैं। कुछ नई बातें भी लिखते है। जो भूषण का विशेष हाल जानना चाहे, वे 'भूषण-ग्रंथावली' देखे।

भूषण कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, कश्यपगोत्री त्रिपाठी (तिवारी) थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर बतलाया जाता है। कविवर चिंतामणि, महाकवि मतिराम और संभवत: नीलकंठ (उपनाम जटाशंकर) इनके भाई थे। चिंतामणि और मतिराम भूषण के भाई थे, ऐसा कई प्राचीन प्रमाणों से भी सिद्ध है, जैसा कि

* अब इसका चौथा संस्करण निकला है।

हमने अपने ग्रंथ सुमनोजलि मे विस्तार-पूर्वक लिखा है, किंतु जटाशंकर का इनका भाई होना केवल जनश्रुति पर अवलंबित है। संभवतः जटाशंकर सगे भाई न थे। सब भाइयो मे इनका दूसरा नंबर था। यह त्रिविक्रमपुर (वर्तमान तिकवाँपुर) मे रहते थे, जो यमुना-नदी के बाएँ किनारे पर, जिला कानपुर, परगना व डाकख़ाना घाटमपुर मे, मौज़े 'अकबरपुर-बीरबल' से दो मील की दूरी पर, बसा है। कानपुर-हमीरपुर पक्की सड़क पर कानपुर से ३०वें एवं घाटमपुर-तहसील से ७व मील पर 'सजेती'-नामक एक ग्राम है, जहाँ से 'तिकवाँपुर' केवल दो मील रह जाता है। 'अकबरपुर-बीरबल' का हवाला 'शिव ाज-भूषण' के छंद नंबर २७ मे है।

कहते है, रत्नाकर देवीजी के बड़े भक्त थे। भूषण के कई छंदो मे सं० १७८० तक की घटनाएँ कथित है, और एक मे सं० १७६७ तक की घटना है, यद्यपि यह छद संदिग्ध है। सुमनोंजलि मे इसका सविस्तर कथन है। इनके भाई मतिराम के प्रपौत्र ने इन तीनो भाइयों का वथन करके इनका कश्यपगोत्री तिवारी एवं तिकवाँपुर के निावसी होना लिखा है। अब हमको भूषण का जन्म-काल संवत् १६९२ के आस-पास और संवत् १७९७ के लगभग इनका स्वर्गवास होना मालूम होता है। भूषण प्राय: २० वर्ष तक बिलकुल अपढ तथा निकम्मे थे, और अपने बड़े भाई चितामणि की कमाई से बसर करते थे। कहते हैं, एक दिन इनकी बड़ी भावज ने इन्हे भोजन करते समय नमक माँगने पर ऐसा कटु वाक्य कहा कि यह भोजन छोड़ तत्काल चल दिए। इसी समय बाहर जाकर इन्होंने पढ़ने-लिखने मे विशेष श्रम किया। आठ-दस वर्षों मे ही यह अच्छे विद्वान् और कवि हो गए। जान पड़ता है, सं० १७२३ के लगभग आप हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी चित्रकूटाधिपति के यहाँ थे। उन्ही के यहाँ इन्होने अपनी भद्र कविता के कारण 'कवि-भूषण' की उपाधि पाई। इन सोलंकियो का राज्य सं० १७२८ के लगभग महाराजा छत्रसाल ने छीन लिया। अतएव यह घटना सं० १७२८ से पूर्व की होगी।

कुल सुलंकि चितकूट पति साहस सील-समुद्र;
कबि - भूषन पदवी दई हृदयराम-सुत रुद्र।

(शिवराज-भूषण, छंद २८)

उस समय भी इनकी कवित्व-शक्ति जैसी बढ़ी-चढ़ी थी, उसका परिचय नीचे-लिखे छंद से मिल जायगा—

वाजि-बंब चढ़्यो साजि वाजि जब कलाँ भूप,
गाजी - महाराज राजी 'भूषन' बखानते;

चंडी की सहाय महि - मंडी तेजताई, ऐंड़
छंडी राय-राना जिन दंडी - औनि आन-ते।
मंदीभूत - रबि, रज बंदीभूत हठधर,
नंदी भूतपति - भो अनंदी अनुमान ते,
रंकीभूत दुवन, करंकीभूत दिगदंती,
पंकीभूत - समुद सुलंकी के पयान ते॥ १ ॥
(स्फुट काव्य, छंद २)

भूषण का वास्तविक नाम कुछ और था। भूषण तो इनकी उपाधि है, पर अब वास्तविक नाम का कही पता तक नही लगता।

कुछ लोग रुद्रराम सोलंकी के यहाँ से इनका दिल्लीश्वर औरंगज़ेब के यहाँ जाना लिखते हैं, पर इसका कुछ भी दृढ प्रमाण नही, वरन् अनेक विचारों से यह बात अग्राह्य सिद्ध होती है। जो कहानियाँ इनके औरंगज़ेब के दरबार मे होने और उनसे झगड़कर चले जाने के विषय मे प्रसिद्ध है, उनका समर्थन चिटणीस बखर से होता है, किंतु वे बहुत कुछ अग्राह्य-सी है। यह बखर भी नया है।

रुद्रराम के यहाँ से भूषण सीधे शिवाजी के यहाँ, सं० १७२४ के अंत तक, पहुँचे होगे। भूषण ने अवधूतसिह का एक कवित्त कहा है (स्फुट काव्य, छंद ४)। यह महाशय सं० १७५७ से १८१२ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे। आप केवल छ मास की अवस्था मे गद्दी पर बैठे थे।

संवत् १७२४ के अंत में, प्राय: ३२ वर्ष की अवस्था मे, भूषण शिवाजी के यहाँ पहुँचे, और अचानक एक देवालय पर महाराज से इनकी भेंट हो गई। इन्होने शिवाजी को पहचाना नही, पर उनके कहने पर अपना एक छंद (शि० भू० छंद ५६) १८ बार पढ़कर सुनाया। इस पर महाराज ने इन्हे १८ लक्ष मुद्रा, १८ हाथी, १८ ग्राम इत्यादि पुरस्कार मे दिए, और बड़े सम्मान के साथ अपना राजकवि बनाया, ऐसा कहा जाता है। सुनते हैं, इसी अवसर पर भूषण ने अपनी भावज के पास एक लाख रुपए का लवण भेज दिया। इसी समय से, सं० १७३० तक, भूषण ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराज-भूषण' बनाया। भूषण के समकालीन सं० १७६०वाले लोकनाथ कवि ने इनका केवल ५२ हाथी पाना लिखा है। जान पड़ता है, भूषण ने ५२ हाथी तथा प्रचुर धन पाया होगा। सं० १७३१ के लगभग यह कुछ दिन के लिये अपने घर आए, पर रास्ते मे छत्रसाल बुंदेला के यहाँ भी हो लिए। महाराज छत्रसाल ने इनका बड़ा सम्मान किया, यहाँ तक कि चलते समय इनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषणजी अत्यंत प्रसन्न होकर पालकी से कूद पडे, और उन्होने चार-

पाँच परमोत्कृष्ट छंद महाराज की प्रशंसा मे तत्काल बनाए या पढे (छत्रसाल-दशक के छंद ४ और ५) होगे। कुछ दिन घर पर रहकर आपने कुमाऊँ-महाराज के यहाँ जाकर उनकी प्रशंसा का एक छंद पढ़ा (स्फुट काव्य, छंद ६)। महाराज ने इन्हे एक लाख रुपया भेंट करना चाहा, पर इनकी विशेष ख़ातिर न की। इस पर रुष्ट होकर विना रुपए लिए ही यह चल दिए। यह किंवदंती भी बहुत प्रसिद्ध है।

कुछ दिन बाद भूषणजी महाराज शिवाजी के यहाँ फिर गए, और समय-समय पर उनकी प्रशंसा के छंद बनाते रहे। उनमे 'शिवाबावनी' के भी छंद हैं। भूषण का यहाँ वहाँ जो आना-जाना लिखा गया है, वह अनुमान पर अवलंबित है। उनका दो बार शिवाजी के यहाँ जाकर दोनो बार कुछ काल रहना चिटणीस बखर मे लिखा है। अन्यत्र जाना प्रायः इनके छंदो से सोचा गया है। महाराजा छत्रसाल के यहाँ आप दो-तीन बार गए होगे, ऐसा समझ पड़ता है। शायद इन्होने दो-चार और ग्रंथ भी बनाए हो, पर उनका ठीक पता नही चलता। 'शिवसिह-सरोज' मे इनके अन्य तीन ग्रथो के नाम दिए है—भूषण-हज़ारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास। हज़ारे का होना कविवर कालिदास त्रिवेदी ने भी लिखा है, पर इन ग्रंथो का ठीक पता अब तक कही नही चला है। इसमें संदेह नहीं कि भूषण के और कई ग्रथ होगे अवश्य, पर उनमे से किसी का पता नही है। हाल ही मे भूषण के प्रायः १०० नवीन छंद प्रकाशित हुए हैं। इनके विषय मे और भी बहुत कुछ कथोपकथन लोगो ने किए है। सं० १७३७ मे, शिवाजी का स्वर्गवास होने पर, भूषण कदाचित् छत्रसाल के यहाँ होते हुए फिर घर लौट आए हों। कभी-कभी छत्रसाल के यहाँ यह बराबर आते-जाते रहे होगे। सं० १७६४ मे साहूजी का दिल्ली से छुटकारा हुआ। उस अवसर पर यह अवश्य ही उनके यहाँ गए होंगे। साहूजी-विषयक इनका एक उत्कृष्ट कवित्त प्रसिद्ध है (स्फुट काव्य, छंद ७)। छत्रसाल की प्रशंसा करते समय तक यह साहूजी को नही भूले। यथा—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद, दिग्गजन उर साल को,
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज, तुरी, पैदर कतार दीन्हे,
'भूषन' भनत ऐसो दीन-प्रतिपाल को ?

और राव-राजा एक मन मैं न ल्याऊँ अब
साहू को सराहौं कैं सराहौं छत्रसाल को ॥ २ ॥
(छत्रसाल-दशक, छंद १०)

नाती को हाथी दियो जापैं ढरकति ढाल ;
साहू के जस-कलस पै ध्वज बाँधी छतसाल ।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साहूजी ने भी भूषण की ख़ातिरदारी की होगी ।

समझ पड़ता है, सं० १७६७ के निकट भूषण अपने भाई मतिराम की प्रेरणा से बूँदी-नरेश 'राव-राजा बुद्धसिंह' के दरबार में गए, और उनके वृद्ध प्रपितामह महाराज छत्रसाल हाड़ा के संबंध मे दो कवित्तों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कवित्त भी पढ़ा—

रहत अछक, पै मिटै न धक - पीवन की,
निपट जु नाँगी डर काहू के डरै नहीं ;
भोजन बनावै नित चोखे खान-खानन के,
सोनित पचावै, तऊ उदर भरै नहीं ।
उगिलत आसौ, तऊ सुकल समर - बीच,
राजै राव - बुद्ध - कर, बिमुख परै नहीं ;
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं ॥ ३ ॥

कदाचित् राव बुद्धसिंह ने इनकी वैसी ख़ातिर-बात न की, जैसी यह चाहते थे । अतः थोड़े ही दिनों मे यह वहाँ से लौट पडे होंगे । राह मे महाराज छत्र-साल बुँदेले के यहाँ पहुँचने पर इन्होंने बुँदेला-महाराज का जो छंद पढ़ा, उसमें 'राव-राजा बुद्धसिंह' की साफ़ शिकायत है । ऊपर उद्धृत छत्रसाल-दशक का छंद-नंबर १० देखिए । स० १७७२ के लगभग जब महाराज साहूजी ने उत्तर का धावा किया था, तब भूषणजी ने उनकी प्रशंसा मे निम्न-लिखित छंद बनाया—

बलख - बुखारे - मुलतान लौं कहर पारै,
कपि - लौं पुकारै, कोऊ धरत न सार है ;
रूम रूँदि डारै, खुरासान खूँदि मारै, खाक
खादर लौं झारै, ऐसी साहु की बहार है ।
कक्कर लौं, बक्खर लौं, मक्कर लौं चलो जात,
टक्कर लेवैया कोऊ वार है न पार है ;

'भूपन' सिरोज लौं परावने - परत फेरि
दिल्ली पर परति परिंदन की छार है ॥ ४ ॥
(स्फुट काव्य, छंद ७)

इस समय भूषण की अवस्था प्रायः ६८ वर्ष की होगी, पर उनमे उद्दंडता वही भरी हुई थी। इसके पीछे भी उनके जीवित रहने के कई प्रमाण मिलते है। भूषण के अन्य आश्रयदाता भी कई थे, जेसा कि इनके स्फुट छंदो से प्रकट है। उनके नाम यहाँ दिए जाते है—

हृदयराम-सुत रुद्र सुरकी महोबा-निवासी (सं० १७२३), महाराजा अवधूतसिह रीवाँ-नरेश (सं० १७५७-१८१२), कुमाऊँ-नरेश ज्ञानचंद्र (सं० १७५७-६५), फ़तेहशाह गढ़वाल-नरेश (सं० १७४१-७३), सवाई जयसिह जयपुर-नरेश (सं० १७६५-१८००), साहूजी भोसला (सं० १७६५-१८०५), बाजीराव पेशवा (सं० १७७७-९७), चितामणि (चिमनाजी) (सं० १७९०), महाराजा छत्रसाल महेवा पन्ना (सं० १७२८-८८), राव-राजा बुद्धसिह बूँदी-नरेश (१७६४-१८०५), दाराशाह (सं० १७१६ तक) और भगवंतराय खीची असोथर-नरेश (स० १७८०-९७)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूषण-कृत सबसे पीछे का छंद १७९७ मे महाराजा भगवंतराय खीची की मृत्यु पर शोक है। अतएव इनका संवत् १७९७ तक जीना निकलता है। इसी संवत् के आस पास भूषण का शरीरात हुआ होगा। यह छंद कुछ संदिग्ध भी है। भूषण के घरेलू चरित्रों का हाल प्रायः कुछ भी विदित नहीं हे। यह पुत्रवान् थे, क्योकि तिकवाँपुर में पता लगाने से हमें विदित हुआ है कि ज़िला फ़तेहपुर और कही मध्य-प्रदेश में इनके वंशज अब भी वर्तमान है। सीतल कवि भी इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध है। भूषण पूर्णतया धन-संपन्न हो गए थे, और बडे आदमियो की भाँति रहते थे। देश-भर में और राजों-महाराजो मे इनका सदैव बड़ा मान रहा। इनकी कविता मे सैकड़ों स्थानों एवं तत्कालीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम और वर्णन आए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होने देशाटन भी ख़ूब किया था। यह बड़े ही प्रभावशाली कवि हो गए है। इनका-सा सम्मान अथवा धन केशवदास के अतिरिक्त, कविता से, किसी हिंदी-कवि ने अद्यापि नही प्राप्त किया।

हमने 'भूषण'-ग्रंथावली में शिवराज-भूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट काव्य नाम के चार ग्रंथ प्रकाशित करवाए हैं। प्रायः ये सभी ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके थे, पर अशुद्ध और विकृत रूप मे। हमने १७ ग्रंथो को इस संबंध में देखकर और अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों को मिलाकर 'ग्रंथावली' को टिप्पणी-सहित संशोधित करके काशी की नागरी-प्रचारिणी

ग्रंथमाला मे छपवाया। शिवराज-भूषण की पहलेवाली मुद्रित प्रतियों मे प्रायः तीन सै छंद हैं, पर हमारी प्रति मे ३८२ छंद दिए गए है। शेष तीन ग्रंथों के कवित्त हमने जगह-जगह एक ग्रंथ से दूसरे मे अदल-बदल कर दिए है, एवं उनका क्रम भी समुचित रूप से संशोधित कर दिया है। इससे आशा है, वे ग्रंथ अब ठीक रूप मे आ गए है। उनका चौथा संस्करण और भी उन्नत है। भूषण-संबंधी हमारे सविस्तर विचार 'भूषण-ग्रथावली' तथा सुमनोंजलि मे मिलेगे। इस ग्रंथ मे वे बहुत संक्षेप से दिए गए है। शुद्ध अंतिम कथन केवल चौथे संस्करण मे है। उनमे ऐतिहासिक घटनाओं की भी विशेष खोज है।

भूषण की कविता मे तत्कालीन इतिहास की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का पता भली भाँति लग जाता है। इतना ही नही, वरन् इनके अत्यंत सत्यप्रिय होने के कारण इनके ग्रंथो से इतिहास को भी अच्छी सहायता मिल सकती है। इन्होने उस समय की प्रचलित काव्य-प्रणाली छोड़कर वीर-रस की ओर ध्यान दिया, और एक नवीन प्रकार की कविता का प्रचार किया। इससे हमारा यह तात्पर्य नही है कि इनके पहले वीर-काव्य था ही नही, परंतु इसमे संदेह नहीं कि उक्त रस पर इतना अनुराग अन्य कवियो ने नही प्रकट किया था, और न उसमे इतनी सफलता ही किसी ने प्राप्त की थी। 'हिंदी-नवरत्न' मे वीर-रस के पूर्ण प्रतिपादक एकमात्र यही महाकवि हैं। अवश्य ही वीर-रस में हम रौद्र और भयानक-रसों को सम्मिलित मानते है। यह कवि एक और बात में भी बड़े भाग्यशाली थे। इनके शेष दोनो भाई भी अच्छे कवि थे। मतिराम तो नवरत्नो में ही सम्मिलित है। चितामणि भी बडे नामी कवि हो गए है। हिंदी मे ऐसा दूसरा उदाहरण तो है ही नहीं, शायद अन्य भाषाओ मे भी न मिले! कोई दो भाई किसी अन्य भाषा के सर्वोच्च कवियो की श्रेणी मे न पहुँचे होगे। उस पर तुर्रा यह कि शेष भी सत्कवि! ये भ्रातृ-वर्ग धन्य है!

भूषण के ग्रंथो पर विचार

(१) शिवराज-भूषण। यह ग्रंथ इन कविरत्न के प्राप्य ग्रंथो मे सबसे बड़ा है, वरन् इसी को ग्रंथ कहा जा सकता है, क्योंकि शेष तीन ग्रंथ अधिकाश मे बहुत छोटे और संग्रह-मात्र है। इसमे भूषण ने अलंकारों का पूर्ण-क्रम रखते हुए भी सभी पद्य शिवाजी की ही प्रशंसा मे कहे है। हिंदी में किसी एक ही व्यक्ति की प्रशंसा मे कोई दूसरा नामी अलंकार-ग्रंथ हमने नही देखा। केवल मिश्र नंदकिशोर (उपनाम लेखराज) कवि ने, जिनका हाल शिवसिह-सरोज एवं डॉक्टर ग्रियर्सन के The Modern Vernacular Literature of Hindustan मे भी लिखा है, श्रीगंगाजी की स्तुति मे 'गंगा-भूषण'-नामक

एक अलंकार-ग्रंथ बनाया। शिवराज-भूषण को भूषण ने शिवाजी के यहाँ आते ही, सं० १७२४ से, बनाना आरंभ कर दिया होगा। प्रस्तुत क्रम से ही यह उसे १७३० तक बनाते रहे, परंतु कुछ-कुछ अलंकारो के उदाहरण पीछे से जोड़े गए, एवं अन्य हेर-फेर समय समय पर होते रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ग्रंथ के आरंभ मे श्रीभगवती की, एक बडे ही प्रभावोत्पादक छंद द्वारा, स्तुति की गई है। फिर राज-वंश-कथन मे रायगढ का चमत्कार-पूर्ण वर्णन है। पीछे कवि-वंश मे भूषण ने अपना भी ठीक पता दे दिया है। इसके पीछे अलंकारो का क्रम आरंभ हो जाता है। इसमे भी भूषण ने तत्कालीन मनुष्यो के वास्तविक चित्र खींच देने में ख़ूब ही कृतकार्यता प्राप्त की है। इनके अलंकारो के उदाहरण भी बडे स्पष्ट है। कुछ थोड़े-से अलंकारों को छोड़कर सभी के लक्षण और उदाहरण इन्होंने दिए है। भूषण ने 'परिणाम' और 'दीपक' अलंकारों के उदाहरण अन्य कई आचार्यों से अच्छे कहे हैं, पर 'विकल्प' एवं सामान्य के उदाहरण किसी कारण से अशुद्ध हो गए हैं। कभी-कभी इनके लक्षण अन्य कवियो के लक्षणो के विरुद्ध हो गए है, पर इन्होने पद्य नंबर ३७६ मे लिख दिया है कि मैने यह ग्रंथ "लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत" बनाया है। भूषण भयानक-रस के वर्णन मे बहुत विशेषता रखते हैं। इन्होंने शिवाजी की शूरता और उनके दल का उतना वर्णन नही किया, जितना शत्रुओं पर उनकी धाक का। शिवराज-भूषण एक बड़ा ही प्रशंसनीय ग्रंथ है। वह संवत् १७३० में, सुदी १३, बुध को समाप्त हुआ, पर महीना नही लिखा है। उक्त संवत् के श्रावण और कार्त्तिक-मास मे शुक्ल-पक्ष की त्रयोदशी बुध के दिन पड़ती है। जान पड़ता है, कार्त्तिक सुदी १३, बुधवार, संवत् १७३० को यह ग्रंथ समाप्त हुआ; कारण यह कि कुवाँर-कार्त्तिक तक की घटनाओं का भी इसमें कथन है। यह बड़ा ही अच्छा ग्रंथ है, और हिंदी में इसका पूर्ण मान है। इसमें १७३० के पीछे की कोई घटना नहीं है।

(२) शिवा-बावनी। यह भूषण के शिवाजी-विषयक ५२ छंदों का एक संग्रह है। ज़ोरदारी और गौरव मे यह ग्रंथ बहुत ही उच्च कोटि का है। इसके छंद शिवराज-भूषण के छंदों से भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निस्संदेह इसके बहुतेरे कवित्त शिवराज-भूषण समाप्त होने के पीछे बने। इस बात को हमने अपनी 'भूषण-ग्रंथावली' की भूमिका में सप्रमाण लिखा है। यह एक अति उत्कृष्ट पुस्तक है। हिंदी में इसकी जोड़ के बहुत ग्रंथ नही मिलेंगे। उदाहरण में हम इसके केवल तीन पद्य यहाँ देते हैं—

गढ़न - गजाय गढ़धरन - सजाय करि
छाँड़ि दीन्हें धरम - दुवार दै भिखारी - से ;
साहि के सपूत - पूत बीर सिवराजसिंह,
केते गढ़धारी किए बन - बन - चारी - से ।
'भूषन' बखानै केते दीन्हे बँदीखाने, सेख,
सैयद, हजारी गहे रैयत - बजारी - से ;
महता - से मुगल, महाजन - से महाराज,
डाँड़ि लीन्हें पकरि पठान पटवारी से ॥ ५ ॥
दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा-सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड - मुंड फरके ;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे
सारे करनाटी - भूप सिंहल को सरके ।
मारे सुनि सुभट पनारे - वारे उद्भट
तारे लागे फिरन सितारे - गढ़धर के;
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम - से दरके ॥ ६ ॥
दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी-सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस, हद्द - हिंदुवाने की ;
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की ।
'भूषन' भनत दिल्ली - पति दिल धक-धका,
धाक सुनि - सुनि सिवराज मरदाने की ;
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की ॥ ७ ॥

(३) छत्रसाल-दशक । इस छोटे-से ग्रंथ में दो दोहे और आठ कवित्त महाराज छत्रसाल बुंदेला के विषय मे हैं, और वे ही दोनो दोहे और दो अन्य कवित्त छत्रसाल हाड़ा बूँदी-नरेश के विषय में । इतना छोटा ग्रंथ होने पर भी यह हिंदी भाषा का एक नामी ग्रंथ है, और इसे निकाल डालने से हिंदी-साहित्य में एक प्रकार की कमी आ जायगी ! बस, इसी से पाठक इसकी बहुमूल्यता का अनुमान कर सकते है । यह ग्रंथ भाषा-साहित्य में एकदम अद्वितीय है, क्योंकि इसका एक भी पद्य किसी प्रकार से हीन नही कहा जा सकता । इस ग्रंथ के पद्य स्फुट रूप में, समय-समय पर, सं० १७३१ से लेकर १७६७ तक बने, और बाद

को ग्रंथ-रूप मे परिणत कर दिए गए, ऐसा समझ पड़ता है। भूषण सच्चे ब्राह्मण थे, यह उन्होंने अपनी कविता से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। उन्हे मान से जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी धन-प्राप्ति से नही। इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जितना धन इन्हे शिवाजी ने दिया, उसका दशमाश भी छत्रसाल बुँदेला ने नही दिया होगा, पर बुँदेला महाराज ने इनका मान बहुत विशेष किया, यहाँ तक कि स्वयं अपने कंधे पर पालकी का डंडा उठाकर रख लिया! वैसे ही भूषण ने जैसे-जैसे भड़कीले, रोमांचकारी छद छत्रसाल के विषय में कहे, वैसे कवित्त शिवाजी के विषय में शायद ही दो-चार मिल सकें! धन्य भूषणजी, धन्य! कुछ लोगो का कहना है कि इसके दो-तीन छंद अन्य कवियों के है। यह विचार संदिग्ध, वरन् अमान्य है। इस ग्रथ-रत्न के भी केवल दो उदाहरण हम यहाँ देते हैं—

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु की-सी,
फारै तम-तोम-से गयंदन के जाल को;
लागति लपटि कंठ-बैरिन के नागिनि-सी,
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को।
लाल-छितिपाल छत्रसाल महाबाहु-बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को?
प्रति-भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को॥ ८॥

रैया-राय चंपति को चढ़ो छत्रसालसिंह,
'भूषन' भनत समसेरैं जोम जमकै,
भादौं की घटा-सी उठी गरदैं गगन घेरैं,
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनि-सी दमकैं।
खान उमरावन के, आन राज-रावन के,
सुनि-सुनि उर लागै घन को-सी घमकैं;
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥ ९॥

(४) स्फुट काव्य मे से भूषण के पंद्रह-बीस स्फुट छंद, जो हमे मिल सके, लिखे गए है। इसमें भी बड़े ही प्रभावशाली छंद है। इसमें दो छंद शिवाजी के, एक रुद्रराम सोलंकी का, एक राव बुद्धासिह बूँदी-नरेश का और एक अवधूत-सिह के विषय में हैं, और कई शृंगार-रस के है। भूषण की रचना में इस रस के बहुत थोड़े छंद मिलते है। एक कुमाऊँ-नरेश के, एक साहूजी के और एक

शंभाजी के ऊपर तथा कुछ और लोगों के हैं। इनके प्राय: १०० स्फुट छंद और मिले है। स्फुट छंदों मे से भी दो पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं—

जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुवन डाटियतु है;
प्रलै के-से धराधर धमकै नगारा, धूरि-
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है;
काँच-से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-से बाँटियतु है॥ १०॥

मेचक-कवच साजि, वाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के;
'भूषन' भनत समसेर सोई दामिनि है,
हेतु नर, कामिनी के मान के कदन के।
पदरि बलाका, धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूते ही सदन क;
न करु निरादर, पिया सो मिलु सादर, ये
आए बीर बादर बहादर मदन के॥ ११॥

भूषण की कविता का परिचय

भूषण महाराज ने उपयोगी वर्णनो के साथ भारत-मुखोज्ज्वलकारी शिवाजी, बाजीराव पेशवा और छत्रसाल-सदृश महाराजों का यशोवर्णन करके हिंदी और देश का भारी उपकार किया। यदि इनमें कोई वैसे बड़े काव्य के गुण न होते, तो भी इनका मान इसी कारण से अवश्य होता; पर यहाँ तो "सोने में सुगंध" की कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती है। भूषण कविता के विचार से भी हिंदी के सर्वोच्च कवियो तक में उच्च आसन के अधिकारी हैं। इनकी कविता से हिंदी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति हुई है। इनका नाम हिंदी के साथ अमर हो गया है। जातीयता की अद्वितीय उमंग प्रदर्शित करने से उच्च भावो के कथन में यह हिंदी-साहित्य मे एकदम अद्वितीय है।

इनकी भाषा विशेषत: व्रज-भाषा है, पर कहीं-कहीं इन्होंने प्राकृत, बुंदेलखंडी एवं खड़ी बोली के-से शब्दों का भी प्रयोग किया है। यत्र-तत्र फारसी और अरबी-भाषाओं के भी असाधारण शब्द तक लिखे है, पर दो-चार स्थानो पर उनका अशुद्ध प्रयोग भी हो गया है। इन्होने बहुत कम असाधारण एवं विकृत

शब्द लिखे है। इन कविवर का शब्द-समूह अधिकाश नामी कवियो से भी बढ़ा-चढा है। भूषण ने कुल मिलाकर केवल दस प्रकार के छंदो का व्यवहार किया है। इनकी भाषा और शब्द-योजना की रीति बहुत प्रशंसनीय है। यह महाशय अन्य कवियो की भाँति ऐसे पद्य प्राय: नहीं बनाते थे, जो केवल नायक का नाम बदल देने से किसी भी व्यक्ति की प्रशंसा के हो सकते हों। इनके कवित्तों में सैकड़ों विशेष घटनाओ का समावेश है। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इनकी सत्यप्रियता बहुत प्रशंसनीय है। इनमे स्वतंत्रता की मात्रा अधिक थी। शिवाजी, छत्रसाल, कुमाऊँ-नरेश एवं राव बुद्ध तक से इन्होने पूर्ण स्वतंत्रता का व्यवहार रक्खा, और उनकी त्रुटियों तक को प्रकट कर दिया। सत्य घटनाओं के साथ ख़याली और भड़कीले वर्णन इन्होंने बहुत कम किए हैं। इतिहास मे शिवाजी भवानी के भक्त लिखे हैं, पर भूषण उन्हे शिव-भक्त भी बतलाते हैं। कुछ बखरों मे वह शिव-भक्त भी कहे गए है। इन्होने शिवाजी को विष्णु का अवतार माना है, और बार-बार इस मत पर ज़ोर दिया है। यह ठकुरसोहाती भी हो सकती थी, पर संभव है, भूषण का मत यह हो कि राम-कृष्ण इत्यादि सभी 'अवतार' बहुत बड़े मनुष्य-मात्र थे। भूषण की कविता के ओज और उद्दंडता दर्शनीय है। उसमे उत्कृष्ट पद्यों की संख्या बहुत है। हमने इनके प्रकृष्ट कवित्तों की गणना की, और उन्हें केशवदास एवं मतिराम के पद्यो से मिलाया, तो उनकी कविता मे वैसे पद्यों की संख्या या उनका औसत अधिक रहा। इसी से हमने भूषण का नंबर बिहारी के बाद और इन दोनो के ऊपर रक्खा है। वास्तव मे अब हम इन्हें बिहारी से भी कम नहीं समझते। इनकी रचना में आरोचन अद्वितीय है। यह जातीय कवि हैं। उधर बिहारी मे केवल नायिकाओं आदि की साधारणी चेष्टा कथित है।

भूषण में जातीयता का एक बहुत भारी गुण है। इन्हें हिंदू-जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना हमने भारतेंदु के अतिरिक्त हिंदी के किसी भी दूसरे महाकवि में नही पाया। वर्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित-सी प्रतीत होती हैं, पर उस समय दोनो जातियों में औरंगज़ेब के नीच व्यवहार के कारण भयंकर शत्रुता थी, सो जातीयता-वश भूषण ने मुसलमानों के विषय मे जो बहुतेरे कठोर वाक्य लिखे, वे एक प्रकार से क्षम्य हो सकते है। कवियों की बात जाने दीजिए, उस समय के मुसलमान इतिहासकारों तक ने हिंदुओ के विषय मे भूषण की कटूक्तियो से कहीं बढकर अनुचित बाते लिखी है। भूषण को हिंदुओं का इतना ध्यान था कि चाहे जिसकी प्रशंसा हो, सबमे वह हिंदुओ की बात ज़रूर ही रख देते थे।

वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं, न छत्रसाल, न राव बुद्ध है, न अवधूतसिंह, न शंभाजी है, न साहूजी; इनके सच्चे नायक है हिंदू। अन्य नायक 'हिंदुआन को अधार', 'ढाल हिंदुआने की' इत्यादि है। मतलब यह कि भूषण की कविता हिंदूमय हो रही है।

इनकी कविता में कोई कहने योग्य दूषण नहीं है। सब मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि भूषण की कविता वास्तव में हिंदी साहित्य की भूषण है, और यह सचमुच महाकवि है। यदि भूषणजी के विषय में अधिक जानने की इच्छा हो, तो हमारी 'भूषण-ग्रंथावली' का चतुर्थ संस्करण (जो नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ है) देखिए, तथा बेलवेडियर-प्रेस में प्रकाशित हमारे सुमनोजलि-ग्रंथ का अवलोकन कीजिए। अब हम इनकी रचना के कुछ मुख्य सद्‌गुणों का कथन करते हैं।

भूषण की भाषा सशक्त, भाव-प्रकाशन मे प्रभाव-युक्त और सुव्यवस्थित है। शब्द चयन विषय के अनुरूप और आह्लाददायक है। वीर-काव्य के लेखक होकर प्रसाद और माधुर्य गुणो को भी आप बहुतायत से लाए है। अर्थ-व्यक्त गुण बहुत अच्छा पाया जाता है। प्रशंसा-कथन मे कविगण प्राय: अत्युक्ति से काम लेते है, किंतु भूषण मे स्वाभाविकता का भी बल है। अपने समय के आप प्रति-निधि कवि थे। भारत मे उस काल स्वराज्य-स्थापन का प्रचुर प्रयत्न हो रहा था। आपने उमंग-वृद्धि द्वारा उस कार्य मे अनमोल सहायता पहुँचाई। रचना मे शौर्य की मूर्ति खड़ी है। संयत कथन करके भी आप जातीयता-विवर्द्धक हुए। तत्कालीन प्राय: सभी प्रशंस्य नरेशो का उत्साह आपने अपने उमंग-पूर्ण साहित्य से बढ़ाया, तथा हिंदुओ के शत्रुओं की प्रचंड भर्त्सना की। धर्म एवं जातीयता का अनादर आपसे कभी देखा नही जाता था। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता रचना मे बराबर प्रस्तुत रहती है। धारावाहिता, भावुकता, प्रकृति-रंजन, लालित्य, मौलिकता, कला, मर्मस्पर्शी अनुभूति की व्यंजना, लोक-स्वीकृति के योग्य उमंग-पूर्ण कथन-रंगो के निरीक्षण एवं शुद्ध वर्णन, हाव-युक्त सजीवन मूर्तियाँ, खेलवाड़, चेष्टाओं के सम्यक् चित्रण, लोकोक्तियों के विशद उपयोग, भाषा-सौष्ठव, विचार-स्वातंत्र्य वर्णनो मे विदग्धता आदि-आदि इनके ग्रंथों मे प्राचुर्य से उपलब्ध हैं। छंदों से रस टपका पडता है। कला का महत्त्व होते हुए भी स्वाभाविकता का पूर्ण चमत्कार है। आचार्य और उद्दंड कवि, दोनो की महत्ता का मान रक्खा गया है। कला-पक्ष और हृदय-पक्ष दोनो मे चकाचौंध करनेवाला चमत्कार-कौशल दिखलाई देता है। हास्य-विनोद भी भरा पड़ा है। शब्दों मे फड़कानेवाली झंकार बहुधा सुन पड़ती है। कविता वीर-दर्प-पूर्ण सेन-संचालन का-सा स्वाद दिखलाती

है। स्वाभाविक वर्णन के साथ ऊहा का भी चमत्कार भूषण ने रक्खा है। प्रबंध-कौशल और भावावेश के साथ तथ्य कथन भी मिला हुआ है। कल्पना में कोमलता वर्तमान है, और हिंदू-साम्राज्य का भावी रूप अभी से देख पड़ता है। तत्कालीन देशीय जाग्रति मे आपका भी विशेष हाथ है। मुसलमानो को प्रचंड भर्त्सना तो की है, किंतु केवल देश-द्रोहियो की। देश-प्रेमी किसी मुसलमान की निंदा आपने नही की। अब हम इनकी रचना के कुछ उदाहरण देते हैं।

उदाहरण—

पावक-तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को;
आनँद भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माहिँ बली सिवराज भो, 'भूषन' भाषत सत्रु सुधा को;
बंदन तेज त्यों चंदनि कीरति, साधे सिँगार बधू-बसुधा को॥ १२॥

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढत प्रताप दिन-दिन अति जंग मे;
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खग्ग खुलि चढ़ति है अरिन के अंग मै।
भौंसिला के हाथ गढ़-कोट हैं चढ़त अरि-
जोट ह्वै चढत एकु मेरु-गिरि संग मै;
तुरकान-गन ब्योम-यान हैं चढ़त विनु
मान ह्वै चढ़त बदरंग नवरंग मे॥ १३॥

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस-घेघ घटा सों;
कीरति दान सो, सुरति ज्ञान सो, प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन-देव-प्रभा सों;
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिँदुआन खुमान सिवा सों॥ १४॥

अटल रहे हैं दिगअंतन के भूप, धरि
रैयति को रूप निज देस पेस करिकै;
राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को,
बाना तजि 'भूषन' भनत गुन भरिकै।
हाड़ा, रायठौर, कछवाहे और गौर रहे
अटल चकत्ता को चगाऊ धरि डरिकै;
अटल सिवाजी रह्यो दिल्ली को निदरि धीर—
धरि, ऐंड़ धरि, तेग धरि, गढ भरिकै॥ १५॥

काज मही सिवराज-बली हिंदुआन बढ़ाइबे को उर ऊटै ;
'भूषन' भू निरम्लेछ करी चहै म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै।
हिंदु बचाय-बचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ टूटै ;
चंद अलोक ते लोक सुखी यह कोक अभाग जो सोक न छूटै ॥ १६ ॥
यो सिर पै छहरावत छार है जाते उठैं असमान बगूरे,
'भूषन' भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि-धक्कन यो बल रूरे।
ते सरजा सिवराज दिए कबिराजन को गजराज गरूरे ;
सुंडन सो पहिले जिन सोखिकै फेरि महामद सो नद पूरे ॥ १७ ॥

दान समै द्विज देखि मेरु हू कुबेर हू की
संपति लुटाइबे को हियो ललकत है ;
साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।
'भूषन' जहान हिंदुआन के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है ;
साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आनि,
सरजा के दृगन उछाह छलकत है ॥ १८ ॥

जै जयंति, जै आदि-सकति, जै कालि, कपर्दिनि ;
जै मधुकैटभ-छलनि, देबि, जै महिष-बिमर्दिनि।
जै चमुंड जै चंड-मुंड-भंडासुर-खंडिनि ;
जै सुरक्त जै रक्तबीज-बिड्डाल-बिहंडिनि।
जै-जै निसुंभ-सुंभद्दलनि, भनि 'भूषन' जै-जै भननि ;
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि बिजै, जै जग-जननि ॥ १९ ॥

आए दरबार, बिललाने छरीदार देखि,
जापता करनहारे नेक हू न मनके ;
'भूषन' भनत भौंसिला के आय आगे ठाढ़े
बाजे भए उमराय तुजुक-करन के।
साहि रह्यो जकि, सिवसाहि रह्यो तकि, और
चाहि रह्यो चकि, बने ब्योंत अनबन के ;
ग्रीषम के भानु सो खुमानु को प्रतापु देखि,
तारे-सम तारे गए मूँदि तुरकन के ॥ २० ॥

चंदन मै नाग, मद-भरयो इंद्र-नाग, बिष-
भरो सेस नाग, कहै उपमा अबस को ;

चोर ठहरात, न कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात, बात लागे दिसि दल को।
संभु नीलग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन 'भूषन' सरस को;
छीरधि मै पंक, कलानिधि मै कलंक, याते
रूप एक टंक ये लहै न तुव जस को॥ २१॥

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन-सदंभ पर रघुकुल राज है;
पौन बारिबाहु पर, संभु रतिनाहु पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृगराज है;
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है॥ २२॥

साहि-तनै सरजा सिवा की सभा जा मधि है,
मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है;
'भूषन' भनत जाके एक-एक सिखर ते
केते धौं नदी-नद की रेल उतरति है।
जोन्ह को हँसति जोति ह रा-मनि-मंदिरन,
कंदरन मै छबि कुहूकि उछरति है;
ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को, जामैं
नखतावली सों बहस दिपावली करति है॥ २३॥

सिंह-थरि जाने बिन जावली जंगल-भठी,
हठी गज-एदिल पठाय करि भटक्यो;
'भूषन' भनत देखि भभरि भगाने सब,
हिम्मत हिए में धरि काहुवै न हटक्यो।
साहि के सिवाजी गाजी सरजा समत्थ महा
मदगल अफजलै पंजा-बल पटक्यो;
ता बिगिरि ह्वै करि निकाम निज धाम कहुँ
आकुत महाउत सु आँकुस लै सटक्यो॥ २४॥

जेते हैं पहार, भुव माहिँ पारावार, तिन
सुनिकै अपार कृपा गहे सुख फैल है;

'भूषन' भनत साहि-तनै सरजा के पास,
आइबे को चढ़ी उर हौंसनि की ऐल है।
किरबान बज्र सों बिपच्छ करिबे के डर,
आनि कै कितेक आए सरन की गैल है,
मघवा मही मै तेजवान सिवराज बीर,
कोट-करि सकल सपच्छ किए सैल है॥ २५ ॥

एक कहै कलपद्रुम है, इमि पूरत है सबकी चित चाहै;
एक कहै अवतार मनोज को, यो तन मै अति सुंदरता है।
'भूषन' एक कहै महि-इंदु यों राज बिराजत बाढ़्यो महा है;
एक कहैं नरसिंह है संगर, एक कहै नरसिंह-सिवा है॥ २६ ॥

कबि कहै करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माहिँ कीन्ह्यो इमि छेव है;
कहत धरेस सब धराधर सेस, ऐसो
और धराधरन को मेट्यो अहमेव है।
'भूषन' भनत महाराज सिवराज, तेरो
राज-काज देखि कोऊ पावत न भेव है;
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुब कहै,
बहरी निजाम के जितैया कहै देव है॥ २७ ॥

पैज-प्रतिपाल, भूमि-भार को हमाल, चहूँ
चक्क को अमाल भयो दंडक जहान को;
साहिन को साल भयो, ज्वाल को जवाल भयो,
हर को कृपाल भयो हार के बिधान को।
बीर-रस ख्याल सिवराज भुवपाल, तुव
हाथ को बिसाल भयो 'भूषन' बखान को;
तेरो करबाल भयो दच्छिन को ढाल, भयो
हिंदु को दिवाल, भयो काल तुरकान को॥ २८ ॥

आवत गुसुलखाने ऐसे कछु त्योर ठाने,
जाने अवरंगजू के प्रानन को लेवा है;
रस-खोट भए ते अगोट आगरे में, सातौ
चौकी डाँकि आनि घर कीन्हीं हद्द रवा है।
'भूषन' भनत वह चहूँ चक्क चाहि कियो
पातसाहि चकता की छाती माहिँ छेवा है,

जान्यो न परत ऐसे काम है करत, कोऊ
गंधरब देवा है कि सिद्ध है कि सेवा है ॥ २६ ॥

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगै भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरख समाज को;
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभी दराज को।
भोसिला के डरन डरानी रिपु-रानी, कहैं
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को;
घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे,
'भूषन' भनत आया सैन सिवराज को ॥ ३० ॥

तेरे ही भुजान पर भूतल को भार,
कहिबे को सेस-नाग, दिगनाग हिमाचल है;
तेरो अवतार जग-पोसन-भरनहार,
कछु करतार को न ता मधि अमल है।
साहिन मैं सरजा समत्थ सिवराज कवि
'भूषन' कहत जीबो तेरोई सफल है;
तेरो करवाल करै म्लेच्छन को काल, बिन
काज होत काल बदनाम धरातल है ॥ ३१ ॥

दानव आयो दगा करि जावली, दीह भयारो महामद भारथो;
'भूषन' बाहुबली सरजा, तेहि भेंटिबे को निरसंक पधारथो।
बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि ऊपर ही सिवराज निहारथो;
दाबि यों बैठो नरिंद अरिंदहि, मानो मयंद गयंद पछारथो ॥ ३२ ॥

साहि-तनै सिवसाहि निसा मैं, निसांक लियो गढ़सिंह सोहानो;
राठिवरो को सँहार भयो, लरिकै सरदार गिरथो उदैभानो।
'भूषन' यो घमसान भो भूतल, घेरत लोथिन मानो मसानो;
ऊँचे सु छज्ज छटा उछटी, प्रगटी परभा परभात कि मानो ॥ ३३ ॥

लूट्यो खान-दौरा जोरावर सफजंग अरु
लूट्यो कारतलबखाँ मनहुँ अमाल है;
'भूषन' भनत लूट्यो पूना मैं सइस्तखान,
गढन मैं लूट्यो त्यों गढ़ोइन को जाल है।
हेरि-हेरि कूटि सलहेरि-बीच सरदार,
घेरि-घेरि लूट्यो सब कटक कराल है;

मानो हय, हाथी, उमराव करि साथी,
अवरंग डरि सिवाजी पै भेजत रिसाल है ॥ ३४ ॥
बासव-से बिसरत, बिक्रम की कहा चली,
बिक्रम लखत बीर बखतबुलंद के,
जागे तेजबृंद सिवाजी नरिंद मसनंद,
माल - मकरंद कुलचंद साहिनंद के।
'भूषन' भनत देस - देस बैरि - नारिन मैं
होत अचरज घर - घर दुख - दंद के;
कनक-लतानि इंदु, इंदु माहिं अरबिंदु,
झरै अरबिंदन ते बुंद मकरंद के ॥ ३५ ॥
उद्धत अपार तुव दुंदुभी - धुकार साथ,
लँघै पारावार बाल - बृंद रिपुगन के;
तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे - रज
साथ ही उड़ात रज - पुंज है परन के।
दच्छिन के नाथ सिवराज, तेरे हाथ चढ़ै,
धनुष के साथ गढ़ - कोट दुरजन के;
'भूषन' असीसैं, तोहिं करत कसीसैं,
पुनि बानन के साथ छूटै प्रान तुरकन के ॥ ३६ ॥
गढ़नेर, गढ़, चाँदा, भागनेर, बीजापूर,
नृपन कि नारी रोय हाथन मलति है;
करनाट, हबस, फिरंग हू, बिलायत,
बलख, रूम अरि - तिय छतियाँ दलति है।
'भूषन' भनत साहि - तनै सिवराज, एते
मान तुव धाक आगे दिसा उबलति हैं;
तेरी चमू चलिबे की चरचा चले ते
चक्रवर्तिन की चतुरंग - चमू बिचलति है ॥ ३७ ॥
मद - जलधरन दुरद - बल राजत,
बहु जल - धरन जलद छबि साजै;
पुहुमिधरन फनि - नाथ लसत अति,
तेज - धरन ग्रीषम - रबि छाजै।
खरग - धरन सोभा तहँ राजत,
रुचि 'भूषन' गुनधरन - समाजै;

दिल्लि - दलन, दक्खिन - दिसि - थंभन,
ऐंड़ - धरन सिवराज बिराजै ॥ ३८ ॥
उत्तर पहार, बिधनोल, खँड़हर,
झारखंड हू प्रचार चारु केली है बिरद की ;
गोर, गुजरात अरु पूरब, पछाँह ठौर,
जंतु जंगलीन को बसति मारि रद की ।
'भूषन' जो करत न जाने बिनु घोर सोर,
भूलि गयो आपनी उँचाई लखे कद की ;
खोइयो प्रबल मद - गल गजराज एक,
सरजा सो बैर कै बड़ाई निज मद की ॥ ३९ ॥
जाहिर जहान जाके धनद समान,
पेखियतु पासबान, यों खुमान चित चाय है ;
'भूषन' भनत देखे भूख न रहति, सब
आप ही सों जात दुख, दारिद बिलाय है ।
खीझे ते खलक माहिँ खलभल पारत है,
रीझे ते पलक माहिँ कोन्हे रंक राय हैं ;
जंग - जुरि अरिन के अंग को अनंग कीबो,
दीबो सिव साहेब के सहज सुभाय हैं ॥ ४० ॥
देखत सरूप को सिहात न मिलन काज,
जंग जीतिबे की जामें रीति छल-बल की ;
जा के पास आवै, ताहि निधन करति बेगि,
'भूषन' भनत जाकी संगति न फल की ।
कीरति कामिनि राच्यो सरजा सिवा को एक,
बस कै सकै न बस करनी सकल की ;
चंचल, सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका - समान दुनेदारी दिली - दल की ॥ ४१ ॥
महाराज सिवराज, तेरे बैर देखियतु,
घन बन ह्वै रहे हरम हबसीन के ;
'भूषन' भनत तेरे बैर रामनगर,
जवारि पर बहबहे रुधिर नदीन के ।
सरजा समत्थ बीर, तेरे बैर बीजापुर,
बैरी - बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के ;

तेरे रोस देखियत आगरे, दिली मै बिनु
सिंदुर के बुंद मुख - इंदु जमनीन के ॥ ४२ ॥

श्रीसरजा सिव, तो जस सेत सो, होत है बैरिन के मुँह कारे ;
'भूषन' तेरे अरुन्न प्रताप, सपेद लखे कुनबा नृप सारे।
साहि - तनै, तव कोप - कृसानु ते बैरि गरे सब पानिपवारे ;
एक अचंभव होत बड़ो, तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥ ४३ ॥

दच्छिन - नायक एक तुही, भुव - भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै ;
दीनदयाल न तो-सो दुनी, पर म्लेच्छ के दीनहि मारि मिटावै।
श्रीसिवराज, भनै कबि, 'भूषन' तेरे सरूप को कोऊ न पावै ;
सूर-सु - बंस मै सूर - सिरोमनि ह्वै करि तू कुल - चंद कहावै ॥ ४४ ॥

बीर बड़े - बड़े मीर, पठान, खरो रजपूतन को गन भारो ;
'भूषन' जाय तहाँ सिवराज लियो हरि औरँगजेब को गारो।
दीन्हौ कुज्वाब दिलीपति को अरु कीन्हो वजीरन को मुँह कारो ;
नायो न माथहि दक्खिन-नाथ, न साथ मै फौज न हाथ हथ्यारो ॥ ४५ ॥

ता दिन अखिल खलभलै खल खलक मै,
जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं ;
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की
दारगन भाजत, न बार परखत है।
छूटे बार - बार, छुटे बारन ते लाल, देखि
'भूषन' सुकबि बरनत हरखत है ;
क्यो न उतपात होहिँ बैरिन के झुंडन मे,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरखत हैं॥ ४६ ॥

साहि-तनै सिव, तेरो सुनत पुनीत नाम
धाम-धाम सब ही को पातक कटत है ;
तेरो जस काज आज सरजा निहारि कबि-
मन भोज - बिक्रम - कथा ते उचटत है।
'भूषन' भनत तेरो दान - संकलप - जल,
अचरज सकल मही मै लपटत है ;
और नदी - नदन ते कोकनद होत, तेरो
कर - कोकनद नदी - नद प्रगटत है ॥ ४

जसन के रोज यों जलूस गहि बैठो जोऽब,
इंद्र आवै, सोऊ लागै औरँग की परजा ;

'भूषन' भनत, तहाँ सरजा सिवाजी गाजी,
तिनको तुजुक देखि नेक हू न लरजा।
ठान्यो न सलाम, भान्यो साहि को इलाम, धूम-
धाम कै न मान्यो रामसिंह हू को बरजा;
जासो बैर करि भूप बचै न दिगंत, ताके
दंत तोरि तखत तरे ते आयो सरजा॥ ४८॥

महाराज सिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जाति नै करि गनीम अति बल की;
'भूषन' चलत सरजा की सैन भमि पर,
छाती दरकति है खरी अखिल खल की।
कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिली - दल की;
सूरत - जराई कियो दाहु पातसाहु - उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी॥ ४६॥

जावलि बार सिँगारपुरी औ' जवारि को राम के नैरि को गाजी
'भूषन' भौंसिला भूपति ते सब, दूरि किए करि कीरति ताजी।
बैर कियो सिवजी सों खवासखाँ डौंड़िए सैन बिजैपुर बाजी;
बापुरो एदिल-साहि कहाँ, कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी॥ ५०॥

दारहिं दारि, मुरादहि मारिकै, संगर साहिसुजै बिचलायो;
कै कर मै सब दिल्लि कि दौलति औरहु देस घने अपनायो।
बैर कियो सरजा सिव सों, यह नौरँग के न भयो मन - भायो;
फौज पठाई हुती गढ़ लेन को, गाँठिहु के गढ-कोट गँवायो॥ ५१॥

तो कर सो छिति छाजत दान है, दानहु सों अति तो कर छाजै;
तैं ही गुनी की बड़ाई सजै अरु तेरी बड़ाई गुनी जन साजै।
'भूषन' तोहि सों राज बिराजत, राज सों तू सिवराज, बिराजै;
तो बल सों गढ़ - कोट गजैं अरु तू गढ-कोटन के बल गाजै॥ ५२॥

सिवाजी खुमान सलहेरि मैं दिलीप - दल,
कीन्हो कतलाम करवाल गहि कर मैं;
सुभट सराहे चंदावत, कछवाहे,
मुगलौ, पठान ढाहे, फरकत परे फर मैं।
'भूषन' भनत भौंसिला के भट उदभट,
जीति घर आए, धाक फैली घर - घर मैं;

मारु के करैया अरि अमर-पुरै गे, तऊ
अजौं मारु-मारु सोर होत है समर मैं ॥ ५३ ॥
अति मतवारे जहाँ दुरदै निहारियत,
तुरगन ही मैं चंचलाई परकीति है;
'भूषन' भनत जहाँ पर लगैं बानन मैं,
कोक-पच्छिनहि माहिँ बिछुरन-रीति है।
गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के, लोक
बँधे जहाँ एक सरजा की गुन प्रीति है;
कंप कदली मै, बारि-बुंद बदली मै,
सिवराज अदली के राज मै यों राजनीति है ॥ ५४ ॥
बैर कियो सिव चाहत हो, तब लौं अरि बाह्यो कटार कठैठो;
यो ही मलिच्छहि छोंडै नही सरजा मन तापर रोस मै पैठो।
'भूषन' क्यों अफजल्ल बचै, अठपॉव कै सिह को पाँव उमैठो;
बीछू के घाय धुक्योई घरक है, तौ लगि धाय धराधर बैठो ॥ ५५ ॥
माँगि पठायो सिवा कछु देस, वजीर-अजानन बोलहु गहे ना;
दौरि लियो सरजा परनालो यों 'भूषन' जो दिन दोय लगे ना।
धाक सों खाक बिजैपुर भो, मुख आय गो खान खवास के फेना;
भै भरकी करकी धरकी दरकी दिल एदिल-साहि कि सेना ॥ ५६ ॥
साहि-तनै सरजा समरत्थ, करी करनी धरनी पर नीकी;
भूलिगे भोज-से, बिक्रम-से औ' भई बलि, बेनु कि कीरति फीकी।
'भूषन' भिच्छुक भूप भए, भलि भीख लै केवल भौंसिला ही की;
नैसुक रीझि धनेस करै, लखी ऐसियै रीति सदा सिवजी की ॥ ५७ ॥
मानसर-बासी हंस बंस न समान होत,
चंदन सों घस्यो घनसारऊ घरीक है;
नारद कि सारद कि हासी मै कहॉ सी आभा
सरद की सुरसरी कौन पुंडरीक है?
'भूषन' भनत छक्यो छीरधि मै थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करी कहै?
कयलास-ईस, ईस-सीस रजनीस, वहौ
अवनीस सिवा के न जस को सरीक है ॥ ५८ ॥
पंपा मानसर आदि अगन-तलाब लागे,
जेहिके परन मै अकथ जुत गथ के;

'भूषन' यों साज्यो राय गढ़ सिवराज, रहे
देव चक चाहि कै बनाए राजपथ के।
बिन अवलंब कलिकानि आसमान मैं है,
होत बिस्राम जहाँ इंदु औ' उदथ के;
महत - उतंग मनिजोतिन के संग, आनि
कैयौ रंग चकहा गहत रबि - रथ के ॥ ५९ ॥
ब्रह्म के आनन ते निकसे त, अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी;
राम जुधिष्ठिर के बरने, बलमीकिहु ब्यास के अंग सुहानी।
'भूषन' यो कलिके कबिराजन राजन के गुन पाय नसानी;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजा-जस न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥ ६० ॥
श्रीसरजा सलहेरि के जूझ, घने उमरावन के घर घाले;
कुंभ, चँदावत, सैद, पठान, कबंधन धावत भूधर हाले।
'भूषन' यो सिवराज कि धाक, भए पियरे अरुने रँगवाले;
लोह कटे लपटे अति लोहु, भए मुँह मीरन के पुनि लाले ॥ ६१ ॥
यो कबि 'भूषन' भाषत है, यक तौ पहिले कलिकाल कि सैली;
तापर हिंदुन की सब राहन, नौरँग-साह करी अति मैली।
साहि-तनै सिव के डर सों तुरकौ गहि बारिधि की गति पैली;
बेद-पुरानन की चरचा, अरचा द्विज-देवन की फिरि फैली ॥ ६२ ॥
दीन-दयाल, दुनी-प्रतिपालक, जे करता - निरम्लेच्छ मही के;
'भूषन' भूधर उद्धरिबो सुने, और जिते गुन ते सब जी के।
या कलि मैं अवतार लियो, तऊ तेई सुभाय सिवाजि बली के;
आनि धरयो हरि ते नर-रूप, पै काज करै सिगरे हरि ही के ॥ ६३ ॥
इंद्र निज हेरत - फिरत गज - इंद्र अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुगध नदीस को;
'भूषन' भनत सुरसरिता को हंस हेरै,
बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को।
साहि - तनै सिवराज, करनी करी है तैं जु,
होत है अचंभो देव कोटियौ तैंतीस को;
पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को ॥ ६४ ॥
अहमदनगर क थान किरवान लैके,
नवसेरी - खान तैं खुमान भिरयो बल ते;

प्यादन सों प्यादे, पखरैतन सों पखरैत,
बखतरवारे बखतरवारे हलते।
'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते ;
सम-बेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके,
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते ॥ ६५ ॥

साहि-तनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं ;
झूलत झलमलात झूलैं जरबाफन की,
जकरे जँजीर, जोर करत किरिरि हैं।
'भूषन' भँवर भननात, घननात घंट,
पग झननात मनो घन रहे घिरि हैं;
जिनकी गरज सुने दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आब गड़काब होत गिरि है ॥ ६६ ॥

आजु यहि समै महाराज सिवराज, तू ही
जगदेव, जनक, जजाति, अंबरीक-सो।
'भूषन' भनत तेरे दान-जल-जलधि मै,
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक-सो ;
चंद-कर, किंजलक, चाँदनी, पराग, उड़-
बृंद, मकरंद-बुंद पुंज के सरीक-सो ;
कुंदसम कयलास, नाक गंग-नाल, तेरे
जस-पुंडरीक को अकास चंचरीक-सो ॥ ६७ ॥

चित अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
बीबी कहैं बैन, मियाँ, कहियत काहिनै ?
'भूषन' भनत बूझे आए दरबार ते
कँपत बार-बार क्यों सँभार तन नाहिनै ?
सीनो धकधकत पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ-दाहिनै ;
सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय, तुम्है
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै ॥ ६८ ॥

अंझा-सी दिन कि भई संझा-सी सकल दिसि,
गगन लगन रही गरद छवाय है ;

चील्ह, गीध, बायस-समूह घोर रोर करैं,
ठौर-ठौर चारौ ओर तम मड़राय है।
'भूषन' अँदेस देस-देस के नरेस-गन,
आपुस मै कहत यों गरब गॅवाय है;
बड़ो बड़वा को, जितवार चहुँघा को दल
सरजा सिवा को जानियत इत आय है॥ ६९॥

तुरमुती तहखाने, तीतर गुसुलखाने,
सूकर सिलहखाने, कूकत करीस हैं;
हिरन हरमखाने, स्याही हैं सुतुरखाने,
पाढे पीलखाने औ' करंजखाने कीस हैं।
'भूषन' सिवाजी गाजी खग्ग सो खपाए खल,
खाने-खाने खलन के खेरे भए खीस है;
खड़गी खजाने, खरगोस खिलवतखाने,
खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं॥ ७०॥

साजि चतुरंग बीर-रंग मै तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
'भूषन' भनत नाद बिहद-नगारन के,
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल-फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल,
गजन कि ठेल पेल सैल उसलत है;
तारा-सो तरनि धूरि-धारा मैं लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥ ७१॥

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्हीं सिवराज बीर अकह कहानियाँ;
'भूषन' भनत तिहुँ लोक मै तिहारी धाक,
दिल्ली औ' बिलाइति सकल बिललानियाँ।
आगरे अगारन ह्वै, फाँदती पगारन छ्वै,
बाँधती न बारन, मुखन कुम्हिलानियाँ;
कीबी कहैं कहा औ' गरीबी गहे भागी जाहिं,
बीबी गहे सूथनी सु नीबी गहे रानियाँ॥ ७२॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे;

जानि गैर - मिसिल गुसीले गुसा धरि मन,
कीन्ह्यो न सलाम, न बचन बोले सियरे।
'भूषन' भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे ;
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भए
स्याह - मुख नौरँग सिपाह - मुख पियरे ॥ ७३ ॥

केतिक देस दल्यौ दल के बल, दच्छिन चंगुल-चापि कै चाख्यो ;
रूप-गुमान हर्यो गुजरात को, सूरत को रस चूसि कै नाख्यो।
पंजन पेलि मलिच्छ मले सब, सोई बच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो ;
सो रँग है सिवराज बली, जेहि नौरँग मे रँग एक न राख्यो ॥ ७४ ॥

बिज्जपूर बिदनूर - सूर सर - धनुष न संधहिँ ;
मंगल बिनु मल्लारि-नारि धम्मिल नहिँ बंधहिँ।
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजा डर ;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संका - उर।
'भूषन' प्रताप सिवराज तव, इमि दच्छिन दिसि संचरइ ;
मधुराधरेस धकधकत सो, द्रबिड़ निबिड़ डर दबि डरइ ॥ ७५ ॥

अफजलखान को जिन्होने मयदान मारा,
बीजापुर, गोलकुंडा मारा जिन आज है ;
'भूषन' भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि,
हबसी, तुरुक डारे उलटि जहाज है।
देखत मै रुसतमखाँ को जिन खाक किया,
साल की सुरति आजु सुनी जो अवाज है ;
चौंकि - चौंकि चकता कहत, चहुँधा ते यारो,
लेत रहौ खबरि, कहाँ लौं सिवराज है ॥ ७६ ॥

फिरँगाने फिकिरि औ' हद्द सुनि हबसाने,
'भूषन' भनत कोऊ सोवत न घरी है ;
बीजापुर बिपति बिडरि सुनि भाज्यौ सब,
दिल्ली - दरगाह बीच परी खरभरी है।
राजन के राज, सब साहिन के सिरताज,
आज सिवराज पातसाही चित धरी है ;
बलख - बुखारे कसमीर लौं परी पुकार,
धाम - धाम धूमधाम रूम - साम परी है ॥ ७७ ॥

चकित चकत्ता चौंकि - चौंकि उठै बार - बार,
दिल्ली दहसति चित - चाहै खरकति है ;
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर - पति,
फिरत फिरंगिन कि नारी फरकति है।
थर - थर काँपत कुतुबसाहि, गोलकुंडा,
हहरि हबस - भूप भीर भरकति है ;
राजा सिवराज क नगारन कि धाक सुनि,
केते पातसाहन कि छाती दरकति है ॥ ७८ ॥
मालवा, उजैन, भनि 'भूषन' भेलास, ऐन,
सहर सिरोज लौं परावने परत है ;
गोंडवानो, तिलगानो, फिरगानो, करनाट,
रुहिलानो, रुहिलन हिए हहरत हैं।
साहि के सपूत सिवराज, तेरी धाक सुनि,
गढपति - बीर तेऊ धीर ना धरत हैं ;
बीजापुर, गोलकुंडा, आगरे, दिली के कोट,
बाजे - बाजे रोज दरवाजे उघरत हैं ॥ ७९ ॥
मारि करि पातसाही खाकसाही कीन्ही जिन,
जेर कीन्हो जोर सों लै हद्द सब मारे की ;
खिसि गई सखी, फिसि गई सूरताई सब,
हिसि गई हिम्मति हजारों लोग सारे की।
बाजत दमामे लाखो धौंसा आगे घहरात,
गरजत मेघ, ज्यों बरात चढे भारे की ;
दूलहो सिवाजी भयो, दच्छिनी दमामेवारे,
दिली दुलहिनि भई सहर सितारे की ॥ ८० ॥
बेद राखे बिदित, पुरान राखे सारजुत,
राम - नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं ;
हिंदुन कि चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेउ राख्यो, माला राखी गर मैं।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर मैं ;
राजन की हद्द राखी, तेग - बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं ॥ ८१ ॥

भुज - भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी - सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के ;
बखतर पाखरिन बीच धसि जाती मीन
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के ।
रैया - राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखानि यौं बलन के ;
पच्छी पर - छीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने है खलन के ॥ ८२ ॥

हैबर हरट्ट साजि, गैबर गरट्ट, सम
पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की ;
'भूषन' भनत राय चंपति को छत्रसाल
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिंदुवाने की ।
कैयक हजार एक बार बैरी मार डारे,
रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की ;
सैदअफगन - सैन सगर - सुतन लागी,
कपिल - सराप - लौं तराप तोपखाने की ॥ ८३ ॥

चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर,
चाक - सी फिरति धाक चंपति के लाल की ;
'भूषन' भनत पातसाही मारि जेर कीन्ही,
काहू उमराव ना करेरी करबाल की ।
सुनि - सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की,
थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की,
जंग जीतिलेबा, ते वै ह्वै ह्वै दंडदेवा-भूप,
सेवा लागे करन महेवा - महिपाल की ॥ ८४ ॥

कीबे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यौ, आन पै
निदान दान - जुद्ध मै न कोऊ ठहरात है ;
पंचम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि,
भागिबे को पच्छी लौं पठान थहरात है ।
संका मानि सूखत अमीर दिलीवारे, जब
चंपति के नंद के नगारे घहरात हैं,
चहूं ओर चकित चकत्ता के दलन पर
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं ॥ ८५ ॥

उलदत मद - अनुमद ज्यों जलधि जल,
बल - हद, भीम - कद, काहू के न आह के ;
प्रबल प्रचंड, गंड - मंडित मधुप - बृंद
बिंध्य - से बुलंद, सिंधु सातहू के थाह के।
'भूषन' भनत झूल - झंपति झपान झुकि,
झूमत झुलत झहरात रथ डाह के ;
मेघ - से घमंडित मजेजदार तेजपुंज
गुंजरत कुंजर कुमाऊँ - नरनाह के ॥ ८६ ॥
सारस - से सूबा, करवानक - से साहिजादे,
मोर - से मुगुल मीर धीर मैं धचै नहीं ;
बगुला - से बंगस, बलूचियौ बतक - ऐस,
काबिली कुलंग, याते रन मैं रचै नहीं।
'भूषनजू' खेलत सितारे मैं सिकार संभा
सिवा को सुवन, जाते दुवन सँचै नहीं ;
बाजी सम बाज को चपेटैं चंग चहूँ ओर,
तीतर तुरुक दिल्ली - भीतर बचै नहीं ॥ ८७ ॥
राखी हिंदुवानी, हिंदुवान को तिलक राख्यौ,
स्मृति औ' पुरान राखे वेद - बिधि सुनी मैं ;
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा मैं धरम राख्यौ, राख्यौ गुन गुनी मैं।
'भूषन' सुकबि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस - देस कीरति बखानी तव सुनी मैं ;
साहि के सपूत सिवराज, समसेर तेरी
दिल्ली-दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं ॥ ८८ ॥
अजौं भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है ;
'भूषन' भनत अजौं काटे करबालन के
कारे कुंजरन परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो
कियो कतलाम दिली-दल को सिपाह है ;
नदी रन - मंडल रुहेलन - रुधिर अजौं,
अजौं रबि - मंडल रुहेलन की राह है ॥ ८९ ॥

सूबन साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी;
औरँग आपनि दुग्ग-जमाति बिलोकत तेरियै फौज दरेरी।
साहि-तनै सिवसाहि भई, भनि 'भूषन' यो तुव धाक घनेरी;
रातिहु-दौस दिलीप तकै तुव सैन कि सूरति सूरति घेरी ॥ ९० ॥

बानर, बरार, बाघ, बैहर, बिलार, बिग,
बगरे बराह, जानवरन के जोम हैं;
'भूषन' भनत भारे भालुक, भयानक हैं,
भीतर भवन भरे लीलगऊ, लोम हैं।
ऐड़ायल गज-गन, गैंड़ा गररात फिरैं,
गेहन मै गोहन गरूर गहे गोम हैं;
सिवाजी की धाक मिले खलकुल खाक, बसे
खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं ॥ ९१ ॥

ऐसे बाजिराज देत महाराज सिवराज
'भूषन' जे बाज की समाजै निदरत है;
पौन-पायहीन, दृग-घूँघट मै लीन, मीन
जल मै बिलीन क्यों बराबरी करत हैं।
सबते चलाक चित तेऊ कुलि आलम के,
रहैं उर अंतर मे, धीर न धरत हैं;
जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर, तीर
एब भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं ॥ ९२ ॥

× × ×

कुछ दिन हुए, काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने भूषण और मतिराम के समय तथा संबंध पर कुछ संदेह प्रकट किया। मामला इस प्रकार है कि वृत्तकौमुदी-नामक एक नवीन ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की खोज (सन् १९२०-२२) मे प्राप्त हुआ। उसमे लिखा है कि किसी मतिराम ने उसे संवत् १७५८ मे रचा। यह मतिराम अपने को वत्सगोत्री त्रिपाठी, विश्वनाथ का पुत्र तथा श्रुतिधर का भतीजा बतलाते है। भूषण आदि के विषय मे आप अपना कोई संबध प्रकट नही करते। वृत्तकौमुदी ग्रंथ हमने नही देखा, उसके केवल कतिपय छप्पय तथा दोहे देखे है। छंदोभंग प्राय: प्रत्येक छप्पय मे है। साहित्य-प्रौढ़ता के विचार से वृत्तकौमुदी के जो छंद हमने देखे हैं, वे रसराज-लेखक की गरिमा के चतुर्थांश को भी नही पाते। इसी प्रकार इन छंदों में ओज-गुण का प्राधान्य तथा प्रसाद-गुण का नितात शैथिल्य वर्तमान

होने से कहना ही पड़ता है कि यह रचना-शैली रसराज के लेखक मतिराम की नहीं। यद्यपि ललित ललाम के कुछ छंद ओज-पूर्ण अवश्य हैं, तथापि उनमे प्रसाद-गुण का सौंदर्य विद्यमान है, जो वृत्तकौमुदी के पद्यों मे अप्राप्य-सा है। ललित ललाम संवत् १७३८ के पूर्व का ग्रंथ है, तथा रसराज संवत् १७६७ के लगभग का माना गया है। उपर्युक्त दोनो ग्रंथों म गुण विषयक पृथ्वी-आकाश का अंतर है। ललित ललाम के उत्कृष्ट छंद रसराज के साधारण छंदों के समान है। यह नहीं कहा जा सकता कि मतिराम ने क्रमोन्नति नही की, वरन् संवत् १७६७ के लगभग उन्होंने एकबारगी प्रचंड कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली। वृत्तकौमुदी के छंद हमे ललित ललाम के चुने हुए छंदो से हीनतर समझ पड़ते है। अतएव यदि रसराज के लेखक का संवत् १७५८ मे वृत्तकौमुदी ग्रंथ बनाना माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह ललित ललाम के पीछे तेरह-चौदह वर्ष (अर्थात् संवत् १७५८) पर्यंत उन्नति न करके अवनति की ओर गए, तथा तत्पश्चात् संवत् १७६७ के लगभग उन्होने अद्वितीय कवित्व शक्ति प्राप्त कर ली। अत: समझ पड़ता है कि यह वृत्तकौमुदी ललित ललाम एवं रसराज के लेखक मतिराम की रचना नही। हाल में प्राप्त संवत् १ २७ मे छंद-रचना करनेवाले मतिराम के एक प्रपौत्र ने अपने पूर्व-पुरुषों के नाम लिखे हैं, और यह भी कहा है कि मतिराम कश्यपगोत्री तिवारी थे। इधर वृत्तकौमुदीकार मतिराम वत्सगोत्री तिवारी थे। अतएव वृत्तकौमुदीकार मतिराम रसराजकार मतिराम से पृथक् व्यक्ति पूर्णतया प्रमाणित होते है। मतिराम के उपर्युक्त वंशधर ने यह भी लिखा है कि नृप हम्मीर से सम्मान पाकर चितामणि, भूषण और मतिराम टिकमापुर मे रहते थे।

संवत् १८११ के एक बिलग्रामी मुसलमान लेखक ने कुछ मुसलमान कवियों का हाल अपने ग्रंथ 'तज़किरए-सर्वे आज़ाद' मे लिखा। उसम उन्होंने लिखा है कि भूषण और मतिराम चिंतामणि के भाई थे। इन कथनों तथा जनश्रुति से इन तीनो का भाई होना निर्विवाद प्रमाणित होता है, और इनके ममेरे, फुफेरे आदि भाई होने का भी अनुमान लड़ाना नहीं पड़ता।

वर्तमान प्रसिद्ध ऐतिहासिक सर यदुनाथ सरकार तथा केलूसकर और तकाखव महाशयों ने शिवाजी-संबंधी इतिहास पर प्रचुर परिश्रम किया है। इन तीनो महाशयों ने हमारी भूषण-ग्रंथावली का भी हवाला देकर भूषण को शिवाजी का राजकवि माना है। सभा के मंत्री महाशय ने 'हस्त-लिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नाम से हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में पूर्वोक्त मंतव्य लिखा है। उसमें भूषण के समय तथा शिवाजी के यहाँ राजकवि होने

के विषय में भी संदेह प्रकट किया गया है। इसमें शिवराज-भूषण के निर्माण-कालवाले दोहे को ज्योतिष के आधार पर अशुद्ध बताने का भी उपक्रम किया गया है। सभा द्वारा प्रकाशित भूषण-ग्रंथावली में हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि शिवराज-भूषण संवत् १७३० में कार्त्तिक-शुक्ला त्रयोदशी, बुधवार को समाप्त हुआ। शिवराज-भूषण के निर्माणकाल विषयक एक भ्रष्ट पाठवाले दोहे के आधार पर यह कहा गया है कि "शिवराज-भूषण ग्रंथ संवत् १७३७ में आषाढ़-बदी तेरस को समाप्त हुआ, जिस रोज ज्योतिष गणना से वस्तुत: रविवार आता है, और दोहे के पाठ मे बुधवार है, अत: दोहा कल्पित है।" यह युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। उस दोहे में बुधवार लिखा भी नहीं है। दोहे का शुद्ध रूप भूषण-ग्रंथावली में छपा है, जो विना उचित कारणो के अशुद्ध नहीं माना जा सकता। शिवराज भूषण ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट होता है कि इस ग्रथ मे भूषण ने संवत् १७१६ से संवत् १७३० तक की ही शिवाजी के सबंध की घटनाएँ लिखी है। शिवाजी यद्यपि संवत् १७३० के पश्चात् सात वर्ष और जीते रहे, तथा इन सात वर्षों मे भी अनेकानेक महती घटनाएँ सघटित होती रही, तथापि उनके विषय मे शिवराज भूषण का मौनावलंबन एवं शिवा-बावनी मे उन घटनाओ का भी प्रचुर कथन साफ़ प्रकट करता है कि प्रथम ग्रंथ संवत् १७३० मे ही समाप्त हो चुका था। इसी प्रकार ग्रंथ मे शिवाजी-सबंधी वर्तमान कालिक कथन, उनका रायगढ-वास वर्तमान काल मे कहना, अनेक स्थानों पर उनको मंगल-वृद्धि के तथा अन्यान्य आशीर्वाद देना भूषण का शिवाजी का राजकवि होना सिद्ध करते हैं, नकि साहूजी का। यदि साहू के आदेशानुसार ग्रथ बनता, तो ऐसा कथन उसमे अवश्य होता, तथा यत्र तत्र साहू की शिवाजी के साथ प्रशसा एवं कथन अवश्य होते। परंतु ग्रंथ मे साहू का नाम निशान तक नही है। यदि यह कहा जाय कि साहूजी के समय मे भूषण ने शिवाजी को नायक मानकर ग्रंथ बनाए, तो क्या यह संभव हो सकता है कि भूषण-जैसा महाकवि शिवाजी की मृत्यु के ३४ वर्ष पीछे उनको चिरंजीवी होने तथा मंगल-वृद्धि प्राप्त करने का आशीर्वाद देता? भूषणजी ने एक दोहे में लिखा है कि मै शिवाजी के दरबार मे गया, और दूसरे दोहे मे लिखा है कि शिवाजी के चरित्र देखकर मेरे मन मे यह हुआ कि भाँति-भाँति के अलंकारों से भूषित करके कविता करूँ, और इसी विचार के होने से शिवराज-भूषण ग्रथ की रचना की गई।

सभा भूषण का संवत् १७९७ के लगभग तक जीवित रहना कहती है, जिसके प्रमाण मे भगवंतराय खीची की मृत्यु पर भूषण का बनाया हुआ एक छंद कहा

जाता है। यह छंद यशवंतराय के वर्णन में है, जो भगवंतराय से इतर समझ पड़ते हैं। कारण, उनके जूझने से मध्य भारत में, न कि संयुक्त-प्रांत में, तुर्कों का समूह फैलना छंद बतलाता है। उसमें भगवंतराय खीची का नाम भी नहीं है, वरन् यशवंत का है। यह छंद भूधर कवि-कृत है, न कि भूषण-कृत। यदि भूषण का संवत् १७६७ तक अवस्थित रहना सिद्ध हो जाए, तो भी हमारा जन्म-काल मानने से उनका लगभग १०५ वर्ष की आयु पाना समझ पड़ेगा, जो असंभव नहीं। जहाँ तक सभा के ग्रंथ में प्रमाण दिए गए है, वहाँ तक भूषण का सं० १७७२ के आगे तक जीवित रहना सिद्ध नहीं होता। पीछे से भूषण-कृत सं० १७८० तक की घटनाओं के कई छंद मिले हैं। हमने भूषण-ग्रंथावली के प्रथम संस्करण में भूषण का जन्म-काल सं० १६६२ के लगभग माना था। वही अब फिर हमको ठीक जँचता है।

मतिराम

हिंदी-भाषा जिन करी रुचिर माधुरी-धाम ,
जात चले शिष्यन-सहित ए, नउ मतिराम ।

गंगा-फाइनआर्ट प्रेस, लखनऊ

(ख) महाकवि मतिराम त्रिपाठी

मतिराम तिवारी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है, इनके पिता का नाम रत्नाकर था। यह महाराज तिकवाँपुर, ज़िला कानपुर के रहनेवाले थे। इनका जन्म संभवत: संवत् १६६६ वि० के इर्द-गिर्द हुआ होगा। मतिराम के किसी ग्रंथ से इनके विषय में प्राय: कुछ भी ज्ञात नही होता, परंतु भूषण की कविता से इनकी बहुत-सी बातें ज्ञात हुई हैं। भूषण की जीवनी लिखने मे हमने लिखा कि उनका जन्म सं० १६६२ वि० के लगभग हुआ। मतिराम उनके छोटे भाई थे। अत: अनुमान से जाना जाता है कि इनका जन्म सं० १६६६ के लगभग हुआ होगा।

मतिराम बूँदी के महाराज राव भाऊसिह के यहाँ रहते थे। महाराज भाऊसिह सं० १७१६ वि० मे सिहासनारूढ हुए, और सं० १७३८ वि० तक उन्होंने राज्य किया। उसी समय मतिराम ने अपना ग्रंथ ललित ललाम बनाया होगा, क्योकि ललित ललाम ख़ासकर राव भाऊसिह के वास्ते बनाया गया, और उसमे इन्ही महाराज की प्रशंसा के प्राय: सौ पद्य है। मतिराम महाराजा शंभुनाथ के यहाँ भी रहे, और इन्हीं के नाम से आपने 'छंदसार-पिगल'-नामक एक ग्रंथ रचा। शिवसिह सेंगर ने कुमाऊँ नरेश उद्योतसिह के यहाँ भी इनका रहना बतलाया है। उन्होंने इनका कोटा में भी रहना कहा है, परंतु यह माननीय नहीं। शिवसिह समझते थे कि राव भाऊसिह कोटा के राजा थे, परंतु वास्तव में वह केवल बूँदी-पति थे। ललित ललाम मे मतिराम ने राव भाऊसिह के पूर्वजों का इस प्रकार वंश-वर्णन किया है—

बूँदी-नरेश सुरजा राव के पुत्र भोजसिह, उनके रतनसिह और उनके गोपीनाथ हुए। गोपीनाथ के पुत्र हुए छत्रसाल, और उनके भाऊसिह। बूँदी के महाराजा रघुवीरसिह ने, सन् १८६७ ई० मे, ललित ललाम की टीका, गुलाब कवि से, बनवाई। गुलाब कवि ने अपनी टीका की भूमिका मे भाऊसिह के पीछेवाले बूँदी-नरेशों के नाम लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—भाऊसिह के पुत्र कृष्णसिंह, उनके अनिरुद्धसिंह, उनके रावराजा बुद्धसिह और उनके उम्मेदसिह हुए। उम्मेदसिह के पुत्र अजीतसिंह, उनके विष्णुसिह, उनके रामसिह और

उनके महाराजा रघुवीरसिंह हुए। हिंदोस्तान में सिवा चित्तौर के और कहीं के नरेश वीरता, राजभक्ति और न्याय में बूँदी-नरेशों से बढ़कर नहीं हुए।

मतिराम ने ये ग्रंथ रचे—ललित ललाम, रसराज, साहित्य-सार, लक्षण-शृंगार, छंद-सार और मतिराम-सतसई। फूल-मंजरी-नामक एक सं० १६८४ के पहले का रचा हुआ ग्रंथ हाल में प्राप्त हुआ है, जो किसी मतिराम-कृत है। संभव है, उसे वृत्तकौमुदीकार या किसी अन्य मतिराम ने रचा हो। हमारे मतिराम के समय से उस ग्रंथ का समय कुछ-कुछ नहीं मिलता है।

ललित ललाम अलंकारों का ग्रंथ है, वह बूँदी-नरेश की आज्ञा से, संभवतः सं० १७३१ में, बना। दूसरे बूँदी-नरेश की आज्ञा से गुलाब कवि ने १९५४ में उसकी टीका रची। इसके छापने में भी ऐसी सावधानी से काम लिया गया है कि प्रायः कोई अशुद्धि या दोष नहीं रहा। मतिराम ने भाऊसिंह की प्रशंसा में कितने ही उत्कृष्ट छंद कहे। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

सूबनि उमेंड़ि दिली - दल दलिबे को चमू
सुभट - समूहनि सिवा की उमहति है;
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे को संगर मैं
काहू के न हिम्मति हिए मैं उलहति है।
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
गरबी गनीम बरगीन को दहति है;
पति पातसाह की, इज्जति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है॥ १॥

मतिराम ने भाऊसिंह के हाथियों का वर्णन बहुत किया है। जान पड़ता है, उनके यहाँ हाथी बहुत-से और अच्छे थे। बूँदी के वंश-भास्कर ग्रंथ में लिखा है कि मतिराम को उस दरबार से ४०००) तथा ३२ हाथी और रिड़ी-चिड़ी नामक दो गाँव मिले। इतना पाने पर भी इनका नाम कमाऊ कवियों में भूषण के सामने कुछ भी न हुआ, सो जान पड़ता है, उन्हें इससे बहुत अधिक धन मिला होगा। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४०४ पद्य हैं। अतः यह भूषण-कृत शिवराज-भूषण से, आकार एवं अलंकारों की संख्या में, कुछ बड़ा है। बहुत ही बढ़िया ग्रंथ है। मतिराम ने 'रसराज' में भी इसके अच्छे अच्छे पद्य उठाकर रख दिए हैं। यदि कोई मनुष्य विना गुरु की सहायता के अलंकार पढ़ना चाहे, तो हम उसे शिवराज-भूषण, कविकुल-कंठाभरण और ललित ललाम पढ़ने की सम्मति देंगे। कंठाभरण कुछ कठिन है, किंतु हमने उसकी एक टीका छपवा दी है। ग्रंथ छोटा,

केवल ८० पद्यों का है। ललित ललाम मे शृंगार का बाहुल्य नहीं है। यह मतिराम का पहला ग्रंथ है।

रसराज। इसमे मतिराम ने भावों का वर्णन किया है, परंतु नायिका-भेद से ग्रंथ शुरू किया है, और उसे कहकर अंत मे कह दिया है कि भाव-भेद मे यह आलंबन-विभाग में आता है। सिवा भावों के इसमे रसों का वर्णन नही हुआ, केवल शृंगार-रस का नाम आ गया है, किंतु उसका स्वरूप नही दरसाया गया। भावो का वर्णन पूरा हुआ है। मतिराम ने जृंभा को नवॉ सात्त्विक भाव माना है। रसराज प्रसाद-गुण से पूर्ण बहुत ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। नायिका-भेद के ग्रंथों मे इसका बहुत ऊँचा स्थान है। देव-कृत ग्रंथों के अतिरिक्त रसराज से अच्छा भाव-भेद किसी अन्य उत्कृष्ट ग्रंथ मे नहीं वर्णित है। इसमें ४२६ पद्य हैं। नायिका-भेद पढ़नेवाले लोग इस ग्रंथ को सबसे पहले पढ़ते है। इसमे बहुत सुगम एवं स्पष्ट रीति से वह वर्णित भी है। यह ग्रंथ संभवत: स० १७६७ के लगभग बना होगा। उस समय, जान पड़ता है, बूँदी-नरेशो से इनका सबंध टूट चुका था, क्योंकि ललित ललाम की भाँति यह ग्रंथ किसी के नाम पर नहीं बना। समझ पड़ता है, सं० १७६७ के कुछ ही पहले मतिराम के कहने से इनके बड़े भाई भूषण महाराज बूँदी-नरेश के यहाँ जाकर अप्रसन्नता के साथ लौटे। उसी समय से मतिराम ने भी बूँदी-दरबार से अपना संबंध तोड़ दिया होगा। १७६७ के बाद मतिराम के जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं है। जान पड़ता है, सं० १७७३ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ।

छंदसार-पिंगल। यह हमारे पास नहीं है। इसके आदि के दो चार पृष्ठ पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय मे है, जिनके पढ़ने से विदित होता है कि यह ग्रंथ बड़ा होगा, क्योंकि इसका उत्थान बड़े विस्तार से हुआ है। जैसी कविता मतिरामजी करते थे, वैसी ही इस ग्रंथ मे भी पाई जाती है। यह ग्रंथ महाराज शंभुनाथ के नाम पर बनाया गया। यह महाराज कविता मे बड़े पटु थे। इनका बनाया हुआ मुद्रित नख-शिख हमारे पास है। काव्य मे यह अपना नाम 'नृप शंभु' रखते थे। मतिराम-कृत साहित्य-सार-नामक एक और ग्रंथ खोज मे मिला है।

महाकवि मतिराम की भाषा बहुत ही सुव्यवस्थित और परिपक्व है। इनकी इच्छा के अनुसार वह हर ओर लच जाती और हर प्रकार के भाव परम सुगमता-पूर्वक व्यक्त करती है। इनका शब्द-चयन उत्कृष्ट हिंदी का रूप खड़ा किए हुए है। वह न तो संस्कृतपन की ओर जाता, न प्रांतिकता के फेर मे पड़ता है। वाक्य-विन्यास माधुर्य और प्रसाद का जामा पहने हुए है। पदावली अलंकृत, प्रांजल और भाव-व्यंजन मे पूर्णतया समर्थ है। कोमलता, कांति, अर्थव्यक्ति आदि

गुण मानो आप ही के लिये बने हैं। कथन मे मार्मिकता, भाव-व्यंजना में स्वाभाविकता और वर्णन मे पूर्णता है। शाखा-चक्रमण निकट नहीं आने पाता। जो भाव उठाते है, उसी को छंद के प्रत्येक शब्द से पुष्ट करते चले जाते हैं। कर्कशता निकट नहीं फटकने पाती। कथनों मे चारुता और कुशलता है। सच्ची अनुभूति की कमी नही है। छंद धारा-प्रवाह से चलते हैं। उनके पढने में जिह्वा के लिये अटकाव नही है। प्राकृतिक रंजन के साथ भावुकता का मिश्रण है। शब्दो मे चित्र खीच देते है। कोमल पद माधुरी सब कहीं वर्तमान है। अनुभूति की मर्मस्पर्शी व्यंजना, प्रभावशाली शब्द, हावो के मनोहर विधान, चेष्टाओ के सजीव चित्रण, सचारियों की चमत्कृत कल्पना, पदावली में स्निग्धता, अनुस्वारो की झंकार, रसार्द्रता आदि मतिराम की रचना मे पूर्णता से प्राप्त है। आप जातीय कवि भी थे। छत्रपति के शत्रुओ की प्रशंसा में भी न केवल शिवाजी की निदा न की, वरन् प्रकारांतर से उन्ही की मुख्य प्रशंसा की।

भाषा इनकी विशेषतया श्लाघ्य है। सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसी मधुर भाषा लिखने में समर्थ नही हुआ। इनकी कविता मे संयुक्त वर्ण बहुत ही कम आने पाए हैं। इनको अनुप्रास आदि का इष्ट न था, परंतु उचित रीति पर भाषा-संबंधी प्राय: सभी गुण इन्होंने अपनी कविता मे रक्खे है। माधुर्य और प्रसाद मानो इन्ही के वास्ते रचे गए थे। भाषा की इन महाकवि ने ऐसी उन्नति की है कि सभी लोग मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा करते हैं। हिंदी मे सर्व-सम्मति से माधुर्य और लालित्य गुण प्रधान है। इन सद्गुणों की नीव मतिराम ही के द्वारा पड़ी। हिंदी के आचार्यों में कुछ को छोड़ प्राय: सभी ने अधिकांश संयुक्त अक्षरों को श्रुति-कटु माना है। मधुर अक्षरो का प्रयोग मतिराम ने प्राय: सबसे अच्छा किया है। इनके पृष्ठ के-पृष्ठ पढते चले जाइए, फिर भी श्रुति-कटु शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं मिले। इनसे पूर्व इनकी-सी भाषा का प्रयोग कोई हिंदी-कवि नही कर सका। इनके पीछे भी सिवा देव के और कोई कवि इनकी-सी भाषा नहीं लिख सका। इस गुण में यदि कोई और इनके कुछ समीप पहुँचा, तो वह केवल प्रतापसाह था। इनके पीछे इनकी देखा-देखी भाषा-संबंधी सभी गुणों में बहुत उन्नति हुई। इस एक ही गुण से यह मनुष्य-जाति के बड़े उपकारक हुए; क्योकि जातियों की उन्नति पर भाषा बहुत बड़ा प्रभाव डालती है। इनकी भाषा के उदाहरण मे यहाँ हम एक पद्य लिखते हैं—

बेलिन सों लपटाइ रही हैं तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल कूक, कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँदवारी।

सोच करै जनि, होहु सुखी, 'मतिराम' प्रवीन सबै नर-नारी ,
मंजुल बंजुल-कुंजन के, घन-पुंज सखी, ससुरारि तिहारी ।। २ ।।

इन्होंने उपमाएँ, उत्प्रेक्षादि भी कहीं-कहीं बहुत अच्छी रक्खी हैं—

पिय आयो, नव-बाल तन बाढ़यो हरष-बिलास ;
प्रथम बारि - बूँदन उठै ज्यो बसुमती - सुबास ॥ ३ ॥

आपने मानुषी प्रकृति के अतिरिक्त सासारिक प्रकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया, परंतु मानुषी प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है । उदाहरण लीजिए—

ह्याँ मिलि मोहन सो 'मतिराम', सुकेलि करी अति आनँदवारी ;
तेई लता, द्रुम देखतै दुःख चले अँसुआ अँखियानि ते भारी ।
आवति हौं जमुना - तट को, नहिं जानि परै बिछुरे गिरिधारी ;
जानति हौं सखि, आवन चाहत कुंजन ते कढ़ि कुंजबिहारी ॥ ४ ॥

मतिराम ने प्राकृतिक वर्णन को इतना नहीं बढाया कि तसवीर खींच सके हों; फिर भी कहीं-कहीं ख़ूब कहा है—

अंजन दै निकसै नित नैननि, मंजन कै अति अंग सँवारै ;
रूप-गुमान - भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै ।
जोबन के मद सों 'मतिराम' भई मतवारिनि, लोग निहारै ;
जात चली यहि भाँति गली, बिथुरी अलकैं, अचरा न सँभारै ॥ ५ ॥

इन्होंने जैसे उत्कृष्ट कवित्त और सवैए कहे हैं, वैसे ही यह दोहे भी बनाने में समर्थ हुए है—

तिय को मिल्यो न प्रानपति, सजल जलद तन मैन;
सजल जलद लखि कै भए सजल जलद - से नैन ॥ ६ ॥

मतिराम ने केवल तीन चार अच्छे ग्रंथ बनाए हैं, फिर भी इनकी कविता म सैकड़ों बढ़िया छंद है। देव की भाँति यह महाकवि भी बहुत ही विशद छंद बनाने मे समर्थ हुए है । श्लाघ्य पद्यों को गिनने से जान पड़ेगा कि इनकी कविता में भी देव की भाँति ऐसे पद्यो का बाहुल्य है । उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

वैसेई चितै कै मेरे चित को चुरावती हौ,
बोलती हौ वैसियै मधुर मृदु बानि - सों ;
कबि 'मतिराम' अंक भरत मयंक - मुखी,
वैसे ही रहति गहि भुज लतिकानि सों ।
चूमत कपोल, पान करत अधर - रस ,
वैसियै निहारी रीति सकल कलानि सों ;

कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, तेरो
भान जानियत रूखी मुख मुसकानि सों ॥ ७ ॥

इनकी रचना मे भाषा के अतिरिक्त अर्थ-गाभीर्य का बहुत बड़ा गुण है। एक-एक छंद से कितने ही अच्छे वाग्यांग निकलते है—

जानति सौति अनीति है, जानत सखी सुनीति,
गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति ॥ ८ ॥

इस एक दोहे से कई अर्थ, अलंकार तथा नायिका भेद के अंग निकलते हैं, और मुख्य भाव की बराबर एक-एक शब्द से पुष्टि होती चली गई है। आपने जिस छंद में जो भाव उठाया, उसके एक-एक शब्द से उसी की पुष्टि की। भरती के पद या शब्द यह प्राय: कभी नहीं रखते थे, बल्कि सदैव मुख्य आशय को दृढ़ करते जाते थे—

दूसरे कि बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ
कोकिल, कपोतन की धुनि सरसाति है;
पूरि रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि 'मति-
राम' अलि-कुलनि अँधेरी अधिकाति है।
नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन
कुंजन मैं होति जहाँ दिनहू मैं राति है;
ता बन की बाट, कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ॥ ९ ॥

यहाँ कवि को सहेट स्थान के योग्य सूनापन आदि दिखाना अभीष्ट था, सो यह उसने प्रतिभाव से दिखलाया। इतनी कोकिला और कपोत बोलते हैं कि दूसरे की बात नहीं सुन पड़ती। इससे प्रकट हुआ कि वहाँ कोकिला और कपोत निर्विघ्न विहार करते हैं, अर्थात् उन्हें सतानेवाला कोई मनुष्य नहीं है। पेड़ बेलियों से मिले हैं, जिससे अँधेरा रहता और भौंरों से मिलकर वह अंधकार बढ़ जाता है। कुंज बहुत घने हैं, और उनके सब ओर फूल नखत-से छाए हैं कि दिन में अँधेरी रात-सी बनी रहती है। यदि लोग वहाँ जाते-आते होते, तो फूल झड़ जाते और नखत के समान घने न रहते। फिर वह स्थान जंगल के बीच में है, नायिका के साथ कोई सखी नहीं है; कोई दूसरी दधि बेचनेवाली भी नहीं है; अत: उसे अकेली ही जाना पड़ता है। ऐसे भाव-पूर्ण पद्य बहुत कवियों ने नहीं रचे। मतिराम की कविता में ऐसे ही पद्य भरे पड़े हैं—

तरुन-अरुन एड़ान की किरनि-समूह उदोत;
बेनी-मंडन मुकुत के पुंज गुंज-दुति होत ॥ १० ॥

पिय-बियोग तिय दृग-जलधि जल तरंग अधिकाय ;
बरुनि - मूल - बेला परसि बहुरयो जात बिलाय ॥ ११ ॥
बिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं ;
कहौ लाल, इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं ? ॥ १२ ॥
पीतम को मनभावती मिलति बाँह दै कंठ ;
बाही छुटै न कंठ तें, नाही छुटै न कंठ ॥ १३ ॥

इन दोहों में इन कविवर ने कितने ही उत्कृष्ट भाव दिखलाए हैं। बेनी और एँड़ियों के रंग के प्रभाव से मोती घुँघची-से हो गए। वियोग में आँसुओं का उठना एवं लज्जा के कारण उनका फिर लुप्त हो जाना मुग्धा के रूप को ख़ूब प्रकट करता है। लक्षिता का उदाहरण भी देखने ही योग्य है—

आई हौ पाइँ दिवाय महाउर कुंजन तें करिकै सुख-सैनी ;
साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करती अब भौंह तनेनी ;
मूँदी न राखति प्रीति अली यह गूँदी गोपाल के हाथ की बेनी ॥ १४ ॥

इस छंद में सखी ने महावर, अंजन और बेनी देखकर ताड़ लिया कि ये सब नायक के हाथ की रचनाएँ हैं। चतुर कवि ने इन बातों के कारण समझने के लिये पाठक से भी कुछ बुद्धि-बल दिखाने की आशा की है। नायक के लक्षण ही में उसका गुणी होना आता है, अतः उसमें कोई मूर्खता नहीं दिखाई जा सकती। फिर सखी ने इन तीनों पदार्थों को नायक के कार्य कैसे जाने ? महावर फैला हुआ है, तो क्या वह अच्छा महावर नहीं लगा सकता था ? अवश्य लगा सकता था, पर बात यह है कि उसके स्पर्श से नायिका के स्वेद-संचार हुआ, और महावर फैल गया। अंजन कैसा है ? आँख को देखकर मृगी लजाती है। मृगी की आँख के समीप कालिमा फैली रहती है। अतः ज्ञात हुआ कि अंजन नायिका के भी फैला हुआ है। वह अच्छा अंजन लगा सकता था, परंतु प्रेमाधिक्य के कारण उसे उँगली के आँख में गड़ जाने का भय हुआ, जिससे अंजन फैल गया। बेनी ढीली बँधी है। सखी ज़ोर से कसकर बाँध देती, परंतु नायक प्रेमाधिक्य के कारण नायिका को इतनी भी पीड़ा नहीं देना चाहता था, जितनी बेनी के समुचित प्रकार से कसकर बाँधने में होती। इस छंद में कोमलता, प्रेमाधिक्य और प्रकृति-निरीक्षण के उदाहरण कवि ने दिखलाए हैं।

राव भाऊसिंह की प्रशंसा में भी इन कविवर ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं, जिनमें से कुछ कविता के उदाहरणों में आगे मिलेंगे। आपने रचना में प्रायः सभी उत्कृष्ट साहित्य-संबंधी गुणों का बहुतायत से प्रयोग किया है।

अनेक स्थलों पर छंदों में ऐसी तसवीरें खींच दी हैं, जिनसे अच्छे चित्र बन सकते हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

कुल बातों पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि मतिराम भाषा के बहुत बड़े कवि थे। सिवा चार-छ परमोत्कृष्ट कवियों के और किसी हिंदी-कवि की रचना आपकी कविता की समता नहीं कर सकती। यदि कोई कवि देवजी के पार्श्ववर्ती होने का अधिकार रखता है, तो वह यही है। मतिराम के सवैयों तथा घनाक्षरियों से देव का और दोहों से बिहारीलाल का स्मरण हो आता है। शृंगारी कवियों में इनकी वीर कविता बहुत अच्छी है। ललित ललाम में आपने भूषण का भाई होना सार्थक कर दिखाया है। भाषा-सौंदर्य तथा भाव-गांभीर्य आपकी रचना के प्रधान गुण हैं।

उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

रसराज

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई;
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लखे मुसुकानि-मिठाई;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥ १॥

जाल-रंध्र-मग ह्वै कढ़त तिय-तन-दीपति-पुंज;
झिँझिया को-सो बट भयो दिन ही में बन-कुंज॥ २॥

रचि बिरंचि निकाई मनोहर, लाज कि मूरतियंत बनाई;
ता पर ता अति भाग बड़े, 'मतिराम' लसै पति-प्रीति सुहाई।
तेरे सुसील सुभाव भटू, कुल-नारिन को कुल-कानि सिखाई;
तोहि जनौ पति-देवत के गुन गौरि सबै गुनगौरि पढ़ाई॥ ३॥

लाल, तिहारे संग में खेलै खेल बलाइ;
मूँदत मेरे नैन हौ करन कपूर लगाइ॥ ४॥

ज्यों-ज्यों परसै लाल तन, त्यों-त्यों राखै गोइ;
नवल-बधू डर-लाज ते इंद्र-बधू-सी होइ॥ ५॥

केलि कै राति अघाने नहीं, दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी, कोउ पानी दै जाउ यों भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल मे कान न दीन्हों, सुगेह की देहरी लौं धरि आई॥ ६॥

चित्त मैं बिलोकत ही लाल को बदन बाल,
जीते जेहि कोटि चंद सरद-पुनीन के;

मुसक्यात अमल कपोलनि के रुचि बूंद,
चमकैं तरयौननि के रुचिर चुनोन के।
पीतम निहार्‌यो बाँह गहत अचानक ही,
जाम 'मतिराम' मन सकल मुनीन के;
गाढे गही लाज, मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन-बारि बरुनीन के॥ ७॥
केलि-भवन की देहरी खरी बाल छबि नौल;
काम कलित हिय को लहै, लाज ललित दृग-कौल॥ ८॥
कोऊ नही बरजै 'मतिराम', रहौ तित ही जित ही मन भायो,
काहे को सौहै हजार करौ, तुम तौ कबहू अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमें दुख, यों ही कहा रस-बाद बढ़ायो;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सु मानै मनायो॥ ९॥
बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच कुंकुम छाप!
तितै जाहु मन भावते, जितै बिकाने आप॥ १०॥
आवत उठि आदर कियो बोली बोल रसाल;
बाँह गहत नँदलाल के भए बाल-दृग लाल॥ ११॥
क्यों इन आँखिन सो निरसक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै;
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै?
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै;
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै॥ १२
बिछुरत रोवत दुहुँन के सखि यह रूप लखै न;
दुख-अँसुआ पिय-नैन है, सुख-अँसुआ तिय-नैन॥ १३॥
लाज छुटी, गेहौ छुट्यो, सुख सों छुट्यो सनेह;
सखि, कहियो वा निठुर सो, रही छूटिबे देह॥ १४॥
कोऊ करै कितेक हूँ, तजौ न टेक गोपाल;
निसि औरनि के पग परौ, दिन औरनि के लाल॥ १५॥
पीतम आए प्रभात, प्रिया मुसुकात उठी, दृग सों दृग जोरे;
आगे ह्वै, आदर कै 'मतिराम', कहे मृदु बैन सुधा-रस-बोरे।
ऐसे सयान सुभायन ही सो मिली मनभावन सों मन-भोरे;
मान गो जानि तबै, छतिया अगिया की तनी न छुटी जब छोरे॥ १६॥
रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसरायो;
डारि दियो गुरुलोगन को डरु, गाँव चवाव मै नाँव धरायो।

हेत कियो हम जेतो कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबै बिसरायो ;
कोऊ कितेक उपायौ करौ, कहुँ होत है आपनो पीउ परायो ॥ १७ ॥
पाँयन आइ परे तौ परे रहे, केती करी मनुहारि सहेली ;
काह कहौं सखि वा निज मान, अयान मैं सीखी न पीय पहेली।
मान्यो मनायो न मै 'मतिराम' गुमान मैं ऐसी भई अलबेली ;
आजु तौ ल्याउ मनाइ कन्हाई कौ, मेरो न लीजियो नाम सहेली ॥ १८ ॥

जो तू कहु तौ राधिके, पियहि मनावन जाउँ ;
उहाँ कहौंगी जाइकै सखी तिहारो नाउँ ॥ १९ ॥

जोरत हू सजनी बिपति, तोरत तपत समाज ;
नेह कियो बिनु काज ही, तेह कियो बिनु काज ॥ २० ॥

जाके लये गृह-काज तज्यो, न सिखी सखियान की सीख सिखाई ;
बैर कियो सिगरे ब्रज - गाउँ मै, जाके लये कुल - कानि गंवाई।
जाके लये घर - बाहर हू 'मतिराम' रहे हँसि लोग चवाई ;
ता हरि सो हित एकहि बार गँवारि मैं तोरत बार न लाई ! ॥ २१ ॥

सकल सिँगार साजि, संग लै सहेलिन कौ,
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद को ;
कबि 'मतिराम' बाल करति मनोरथनि,
पेख्यो परजंक पै न प्यारे नँदनंद को।
नेह ते लगी है देह दारुन दहन, गेह
बानक बिलोकि द्रुम-वेलिन के बृंद को ;
चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद अब
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख-चंद को ॥ २२ ॥

साहस करि कुंजन गई, लख्यो न नंदकिसोर ;
दीप - सिखा - सी थरहरी लगे बयारि - झकोर ॥ २३ ॥

मोहिँ पठायो कुंज मैं, सठ आयो नहिँ आपु ;
आली औरहु मीत को मेरो मिटयो मिलापु ॥ २४ ॥

बीत गई जुग जाम निसा, 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई ;
जानति हौ कहुँ और तिया सो रम्यो रस मैं हँसिकै रसिकाई।
सोचत सेज परी यो नवेला, सहेली सों जात न बात सुनाई ;
चंद चढ्यो उदयाचल पै, मुख-चंद पै आनि चढ़ी पियराई ॥ २५ ॥

कत न कंत आयो अली लाजन बूझि सकै न ;
नवल बाल पलका परी, पलक न लागै नैन ॥ २६ ॥

पीतम को धरि ध्यान घरीक करै मन-ही-मन काम-कलोलै;
पातहु के खरके 'मतिराम' अचानक ही अँखिया पुनि खोलै।
पीतम ऐहै अजौं सजनी, अँगिराइ, जम्हाइ घरीकु यो बोलै;
गावै घरीकु हरे-ई-हरे अरु गेह के बाग हरे-हरे डोलै॥ २७॥
मो जुग नैन-चकोरन को यह रावरो रूप-सुधा हि को नैबो;
कीजै कहा, कुल-कानि की आनि परयो अब रावरो प्रेम छिपैबो।
कुंजन मैं 'मतिराम' कहूँ निसि-द्यौसहु घात परे मिलि जैबो;
लाल, सयानी अलीन के बीच निवारिए ह्याँ की गलीन को ऐबो॥ २८॥

अली चली नवलाहि लै पिय पै साजि सिँगार;
ज्यो मतंग-अड़दार को लिए जात गड़दार॥ २९॥

साँझि ही सिँगार साजि, प्रानप्यारे पास जाति,
बनिता बनक बनी बेलि-सी अनंद की;
कबि 'मतिराम' कल किंकिनि की धुनि बाजै,
मंद-मंद चाल ज्यों विराजत गयंद की।
केसरि रँगे दुकूल, हाँसी मै झरत फूल,
केसन मै छाई छबि फूलन के बृंद की;
पाछे-पाछे आवति अँध्यारी-सी भँवर-भीर,
आगे-आगे फैलति उज्यारी मुख चंद की॥ ३०॥

गुच्छन को अवतंस लसै, सिखि-पच्छन अच्छ किरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी, कर-पल्लव मो 'मतिराम' सुहायो।
गुंजन को उर मंजुल हार निकुंजन ते कढ़ि बाहर आयो;
आजु को रूपु लखे ब्रजराज को आजु ही आँखिन को फलु पायो॥ ३१॥

मलै को पवन मंद-मंद कै गवन, लाग्यो
फूलन के बृंदन मै मकरंद ढारने;
कबि 'मतिराम' चित चोरे चारो ओर चाहि,
लाग्यो चैत चंद चारु चाँदनी पसारने।
अलिनि की आली आली मैन के-से मंत्र पढ़ि,
लागी मानिनीन के मनन मान झारने;
सुमन-सिँगार साज सेज सुख-साज करौ,
लाज करौ आज ब्रजराज पर वारनें॥ ३२॥

कत सजनी है अनमनी अँसुआ भरत ससंक;
बड़े भाग नँदलाल सों झूँठहु लगत कलंक॥ ३३॥

गौने के द्यौस कहै 'मतिराम' सहेलिनि को मिलिकै गन आयो,
कंचन के बिछियाँ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायो।
पीतम-स्रौन-समीप सदा बजैं यों कहिकै पहिले पहिरायो;
कामिनि कज चलावन को कर ऊँचो कियो, पै चल्यो न चलायो॥ ३४॥

प्रभा तरयोना लाल की परी कपोलन आनि;
कहा छिपावति चतुर तिय कंत-दंत-छत जानि॥ ३५॥

चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई, जहाँ
फूले-फूले फूलनि बिछायो परजंक है;
भार के डरन सुकुमारि चारु अंगन मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कवि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप, मलिन होत बदन-मयंक है;
कैसे वह बाल लाल, बाहर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकति लंक है॥ ३६॥

रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजनाथ!
ज्यों सिंधुर की इंदिरा क्यो करि आवै हाथ?॥ ३७॥

पाय कुंज एकांत मैं अंक भरी ब्रजनाथ;
रोकन को तिय करति है कह्यो करत नहिं हाथ॥ ३८॥

लाल-बदन लखि बाल के कुचन कंप रुचि होति;
चपल होत चकवा मनौ चाहि चंद की ज्योति॥ ३९॥

छुअत परसपर हेरिकै राधा नंदकिसोर;
सब मैं दो ही होत हैं, चोरमिहीचनि चोर॥ ४०॥

मेरे सिर कैसी लगै, यो कहि बाँधी पाग;
सुंदरि रति-बिपरीत मैं कियो प्रकट अनुराग॥ ४१॥

वारने सकल एक रोरि ही की आड़ पर,
हा-हा न पहिरि आभरन और अंग मैं;
कबि 'मतिराम' जैसे तीछन कटाच्छ तेरे
तैसे कहाँ सर हैं अनंग के निषंग मैं?
सहज सरूप, सुघराई रीझो मनु मेरो,
लोभि रह्यो देखि रूप अमल तरंग मैं;
सेत सारी ही सों सब सौतैं रँगी स्याम रँग,
सेत सारी ही मैं स्याम रँगे लाल रंग मैं॥ ४२॥

नथुनी गज - मुकुतान की लसति चारु सिगार ;
जनि पहिरै सुकुमार तन और आभरन - भार ॥ ४३ ॥
अति आतुर ह्वै चलि भई अली कौन के भाग ;
उलटी कंचुकि कुचन पर कहे देत अनुराग ॥ ४४ ॥
लालन बाल के द्वै ही दिना मैं परी मन आइ सनेह कि फाँसी ;
काम-कलोलनि मैं 'मतिराम', लगी मनो बाँटन मोद कि आँसी ।
पीतम के उर बीज भयो, दुलही के बिलास मनोज कि गाँसी ;
सेद बढ़यो तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसु, कपोलन हाँसी ॥ ४५ ॥
फूलि रहे द्रुम बेलिन सों मिलि, पूरि रही अँखियाँ रतनारी ;
मोहिं अकेली बिलोकि इहाँ कछु औरई - सी भई दीठि तिहारी ।
जैसे हुती हमसों तुमसो, अब होयगी तैसियै प्रीति निहारी ,
चाहत जो चित मै हित, तौ जनि बोलिए कुंजन बीच बिहारी ॥ ४६ ॥
झूठे ही जग मै लग्यो मोहिं कलंक गोपाल !
सपनेहुँ कबहूँ हिए लगे न तुम नँदलाल ॥ ४७ ॥
सोने की-सी बेली अति सुंदरि नबेली बाल
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ ;
'मतिराम' आँखिन सुधा की बरसा - सी भई,
गई तब दीठि वाके मुख - चंद पहियाँ ।
नेकु नीरे जाइ करि, बातनि लगाइ हरि,
कछू मन पाइ करि आइ गही बहियाँ ,
सैन मै चरचि लई, गौन मै थकित भई,
नैननि मै चाह रही, बैननि मै 'नहियाँ' ॥ ४८ ॥
मानहुँ आयो है राज कहूँ, चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े ;
गुंज गरे, सिर मोर-पखा, 'मतिरामजू' गाय चरावत चोढ़े ।
मोतिन को मेरो तोरयो हरा, गहे हाथनि सों रही चूनरी पोढ़े ;
ऐसे ही डोलत छैल भए, तुम्है लाज न आवति कामरि ओढ़े ॥ ४९ ॥
प्रानपियारो पग परयो, तू न लखत यहि ओर ;
ऐसो उर जु कठोर तौ न्यायहि उरज कठोर ॥ ५० ॥
बिरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि ;
तन कंचन के आभरन, नीठि परे पहिंचानि ॥ ५१ ॥
सकल सहेलिन के पीछे - पीछे डोलति है ;
मंद - मंद गौन आजु हिय को हरतु है ;

सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जबै
पौन लागे घूँघट को पट उघरतु है।
जमुना के तट, बंसीबट के निकट, नंद-
लाल पै सकोचनि तै चाह्यो न परंतु है,
तन तौ तिया को बर - भाँवरैं भरत, मन
साँवरे बदन पर भाँवरैं भरतु है॥ ५२॥

रूप साँवरो बदन पर, सुधा - सिंधु में खेल;
लखि न सकैं अँखियाँ सखी, परी लाज की जेल॥ ५३॥

निरख्यो नेह दुहून को, नई दई यह बात;
सूखति देह दुहून की, त्यों पानिप सरसात॥ ५४॥

मान जनावति सबन को मन न मान को ठाट;
बाल मनावन को लखै, लाल, तिहारी बाट॥ ५५॥

सखि, नायक सों बात मै मान भलो न सयान;
दुख - सागर मै बूड़िहै बाँधि गरे गुरु मान॥ ५६॥

चलत लाल के मैं कियो सजनी हियो पखानु;
कहा करौं, दरकत नहीं, इते बियोग - कृसानु॥ ५७॥

काम कहा कुल - कानि सों, लोक - लाज किन जाय;
कुंजबिहारी कुंज मै मिलैं मोहिँ मुसुकाय॥ ५८॥

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मे, कंठ बनी बनमाल सुहाई;
मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल लोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई!
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई॥ ५९॥

कहियो सँदेसो प्रानप्यारी सों गवन कीन्हे,
बिक्रम बिलास जे वै आपने परस के;
चंद कर - बरछीनि छेदि - छेदि हारयो, तीर
तीछन मनोज के कछूक करि न सके।
कबि 'मतिराम' या कुलिस-कैसे घाइ कहूँ,
मानत न कोकिल की कूकनि के कसके;
कैसे दरकत, मेरो हियो सदा सहि रह्यो
तेरे कुच निपट कठोरनि के मसके॥ ६०॥

ललित ललाम

जंग मैं अंग कठोर महा, मद - नीर झरैं झरना सरसे हैं;
झूलनि रंगघने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं।
सुंदर सिंदुर-मंडित कुंभनि, गैरिक शृंग समान लसे हैं;
भाऊ दिवान उदार अपार, सजीव पहार करी बकसे हैं॥ ६१ ॥

छाँह करैं छिति-मंडल पै सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं;
पानिप को सरसावत हैं, सिगरे जग के मिटि ताप गए हैं।
भूमि-पुरंदर भाऊ के हाथ पयोदन ही सब काज ठए हैं;
पंथिन के पथ रोकन को घने बारिद-बूंद बृथा उनए हैं॥ ६२ ॥

सजल जलद जिमि झलकत मद - जल,
छिति - तल हलत चलत मंद गति मै;
कहै 'मतिराम' बल बिक्रम बिहद सुनि
गरजनि परैं दिगबारन बिपति मै।
सता के सपूत भाऊ तेरे दिए हलकनि,
बरनी उँचाई कबिराजनि की मति मै;
मधुकर - कुल करटीनि के कपोलन तैं
उड़ि - उड़ि पियत अमिय उडुपति मैं॥ ६३ ॥

बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
बारि-चर बिरची इलाज जयकाज की;
कबि 'मतिराम' बलवंत जल - जंतु जानि,
दूरि भई हिम्मत दुरद - सिरताज की।
असरन - सरन - चरन की सरन ताकी,
त्यों हीं दीनबंधु निज नाम की सुलाज की;
दौरे एते मान अति आतुर उताल - मिली
बीच ब्रजराज को गरज गज़राज की॥ ६४ ॥

समर के सिंह, सत्रुसाल के सपूत,
सहजहि बकसैया सद - सिंधुर - मदंध के;
'मतिराम' चारिहू समुद्रनि के कूलनि लौं,
फैलत समूह तेरे सुजस - सुगंध के।
जगत बखानी, चहुवानी सुलतानी और
नाहीं अवनी मै अवनीप समकंध के;

तो मैं दोऊ देखिए दिवान भावसिंह,
चहुँवान - कुल - भानु सुलतान बला-बंध के ॥ ६५ ॥

मतिराम-सतसई

तिरछी चितवन स्याम की लसत राधिका ओर,
भोगनाथ को दीजिए वह मन सुख बरजोर ॥ ६६ ॥

मेरी मति मैं राम है, कबि मेरे मतिराम;
चित मेरो आराम मैं, हित मेरे आराम ॥ ६७ ॥

मो मन - तम - तोमहिं हरौ राधा को मुख - चंद;
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नँदनंदन - आनंद ॥ ६८ ॥

मंजु गुंज को हार उर, मुकुट मोर - पर - पुंज;
कुंजबिहारी बिहरिए मेरेई मन - कुंज ॥ ६९ ॥

सखिन करत उपचार अति. परति बिपति उत रोज;
झुरसत ओज मनोज के परस उरोज सरोज ॥ ७० ॥

जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात;
पापर होत पुरैन के चंदन - पंकिल गात ॥ ७१ ॥

बिरह-तचे तिय - कुचनि लौं अँसुआस कत न आय;
गिरि उड़ुगन ज्यों गगन ते बीचहि जात बिलाय ॥ ७२ ॥

अँसुअनि के परवाह मैं अति बूड़िबे डेराति;
कहा करै, नैनानि को नींद नहीं नियराति ॥ ७३ ॥

बाल अलप जीवन भई ग्रीषम - सरित - सरूप;
अब रस - परिपूरन करौ तुम घनस्याम अनूप ॥ ७४ ॥

बैठ्यो आनन-कमल के अरुन अधर - दल आय;
काटन चाहत भावते, दीजै भौंर उड़ाय ॥ ७५ ॥

भली लगै उर भावते, करी भावती आप;
काम नसैनी - सी बनी यह बेनी की छाप ॥ ७६ ॥

बाल - लाल मुख सौति को सुनो नाम परकास;
बरखै बारिद रैन पर उड्यो हंस - सम हास ॥ ७७ ॥

अनिमिख नैन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान;
निरखे मोर - पखान के भई पखान - समान ॥ ७८ ॥

सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझ्यो सरस सवाद;
कढ़ी अधर की माधुरी है मुरली के नाद ॥ ७९ ॥

अटा ओर नँदलाल उत निरखौ नैक निसंक;
चपला चपलाई तजी, चंदा तज्यो कलंक ॥ ८० ॥
लगी रहै हरि-हिय यहै करि ईरखा बिसाल;
परिरंभन मै बल्लरी भली दली बनमाल ॥ ८१ ॥
अली, तिहारे अधर मै सुधा-भोग को साज;
दुजराजिनि जुत न्योतिए लाल बदन दुजराज ॥ ८२ ॥
करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष;
नाह - सनेह - समुद्र मैं बूड़ि जात सब दोष ॥ ८३ ॥

(६)

महाकवि केशवदास

—:०:—

महाकवि केशवदास ने सत्रहवी शताब्दी में कविता की। इन्होंने कवि-प्रिया के द्वितीय प्रभाव मे अपने कुल का इस प्रकार वर्णन किया है—

"ब्रह्मा के सनकादि मानसिक पुत्र थे, जिनके वैसे ही पुत्र सनाढ्य हुए। परशुराम ने सनाढ्यो के पैर पखारकर बहुत-से ग्राम दिए। रामचंद्र ने उन्हें मथुरा-मंडल में ७०० ग्राम दिए। श्रीकृष्णचंद्र ने उन्हे फिर वही देश दिया। सनाढ्यों के कुंभवार उद्देश कुल मे देवानंद हुए। उनके जयदेव और जयदेव के दिनकर पुत्र हुए। इनसे अलाउद्दीन बादशाह बहुत ख़ुश रहता था। इन्होंने गया-तीर्थ की यात्रा की। दिनकर के पुत्र गया-गदाधर, उनके जयानंद और उनके त्रिविक्रम मिश्र हुए। गोपाचल-क़िले के राजा ने इन महाराज के पैर पूजे। त्रिविक्रम के पुत्र भावशर्म और उनके सुरोत्तम मिश्र हुए। इनकी मानसिह से अनबन थी। राना ने इन्हें बीस गाँव दिए। इन सुरोत्तम मिश्र के पुत्र हरिहरनाथ हुए। यह महाशय तोमर-पति के यहाँ रहे। हरिहर के पुत्र कृष्णदत्त हुए। महाराज रुद्र ने इनको पुराण की वृत्ति दी। कृष्णदत्त के पुत्र काशिनाथ हुए। इन्हीं काशिनाथ के पुत्र बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास थे।"

केशवदास के जन्म का संवत् ज्ञात नहीं। स्वयं ओड़छे में आकर हमने केशवदास के विषय में सब तरह से पूछ-ताछ की, परंतु शोक है कि वहाँ कोई इनके विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानता। बहुत देर पूछ-ताछ के पीछे लोगों ने एक इमली का वृक्ष दिखाकर कहा कि यहीं केशवदास का मकान था। इससे अधिक उनके विषय में, ओड़छे में, कुछ भी नही मालूम हुआ। केशवदास का एक साधारणतया बड़ा चित्र ओड़छा-नरेश के टीकमगढ़वाले महल में लगा है। इन दिनों वहाँ इनके विषय में कुछ काम भी हुआ।

केशवदास ने संवत् १६४८ वि० में रसिकप्रिया बनाई। यह एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। आपने केवल सात ग्रंथ बनाए। अतः विदित होता है, यह महाशय

केशवदास

करत राज-मो मान लहि इंद्रजीत के राज ,
पहिलो आचारज लखौ केशव कबि सिरताज ।

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

ग्रंथ धीरे बनाते थे। इससे विचार यह उठता है कि संभवतः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह ग्रंथ बनाया होगा। कवि होने के अतिरिक्त आप संस्कृत के अच्छे पंडित भी थे। इनके पिता काशिनाथ ने शीघ्रबोध-नामक ज्योतिष का एक ग्रंथ बनाया। इससे जान पड़ता है, उन्होंने केशवदास को भी ज्योतिष अवश्य पढ़ाया होगा। फिर इनके पितामह को ओड़छे में पुराण की वृत्ति मिली थी, सो वही वृत्ति इनकी भी होगी। अतः यह पुराण भी ख़ूब पढ़े होंगे। केशवदास की कविता से भी प्रकट होता है कि यह संस्कृत के पंडित थे। इंद्रजीतसिंह इनको गुरुवत् समझते थे। इस बात से भी मालूम होता है कि यह महाशय संस्कृत के ज्ञाता होंगे। विज्ञान-गीता देखने से विदित होता है कि इनका दर्शन-शास्त्र पर भी अधिकार था। इन सब बातों से ज्ञात हुआ कि केशवदास ने विद्या प्राप्त करने में पूरा श्रम करके तब काव्य करना प्रारंभ किया होगा। अतः अनुमान से जान पड़ता है कि इनका जन्म संवत् १६०८ वि० के लगभग हुआ होगा। अतः सूरदास की मृत्यु के समय केशवदास की अवस्था ३४ वर्ष के लगभग होगी।

भूषण के सिवा किसी भी भाषा-कवि का, केवल कविता से, केशवदास के समान सत्कार नहीं हुआ। यह महाशय ओड़छे मे रहते थे। उस समय से अब तक वहाँ गहरवार-वंशीय क्षत्रिय राज्य करते हैं। ये क्षत्रिय महाराज रामचंद्र के वंश मे उत्पन्न हैं। इनके पुरखों में पंचमसिंह बड़े प्रतापी हुए। पंचमसिंह के पुत्र बुँदेल थे, जिनके कारण गहरवार ठाकुर बुँदेला कहलाने लगे। इन्ही के बसाए हुए देश को बुँदेलखंड कहते है, और यहाँ इसी कुल के क्षत्रिय बहुतायत से अब भी राज्य करते है। इस कुल मे भारतीचंद बड़े पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए। इन्हीं भारतीचंद ने कालिंजर के क़िले पर धावा करते हुए हिंदोस्तान के बादशाह शेरशाह सूर का वध किया। भारतीचद के कुल में राजा मधुकरशाह ओड़छे के नरेश हुए। इन्होंने अकबरशाह के गढ़ छीन लिए, और स्वयं मुरादशाह इनसे लड़कर हार गया। मधुकरशाह के दूलहराम, वीरसिंहदेव, इंद्रजीतसिंह आदि बारह पुत्र हुए। बड़े पुत्र दूलहराम राजा हुए। केशवदास मधुकरशाह के रामसिंह नामक किसी पुत्र का होना नहीं लिखते, परतु यह रामसिंह ही को राजा और इंद्रजीतसिंह का भाई कहते है। मधुकरशाह के बड़े पुत्र दूलहराम थे, सो उनका राजा होना अनुमान-सिद्ध है। जान पड़ता है, इन्ही का उपनाम रामसिंह होगा।

जहाँ अकबर के दरबार मे और सब राजा खड़े रहते थे, वहाँ उन्होंने रामसिंह को बैठक दी। रामसिंह के राज्य का प्रबंध इंद्रजीत के हाथ मे रहता था।

उन्होंने इंद्रजीतसिंह को कछौवा-कमल-नामक गढ़ दिया। इंद्रजीत के यहाँ संगीत का अखाड़ा था, जिसमें निम्न-लिखित छ पातुरें थीं—रायप्रबीन, नवरँगराय, विचित्रनयना, तानतरंग, रंगराइ और रंगमूरति।

रायप्रबीन इंद्रजीत की प्रेमिका थी। यह कवयित्री जाति की लोहारिन थी, ऐसा उस राज्य में प्रसिद्ध है। गणिका होने पर भी वह पतिव्रता थी। एक बार उसके रूप-लावण्य का वर्णन सुनकर अकबर ने उसे बुला भेजा। उस समय रायप्रबीन ने, जो अच्छी कविता भी करती थी, इंद्रजीतसिंह की सभा में जाकर यह कवित्त पढ़ा—

आई हौं बूझन मंत्र तुम्हें निज सासन सों सिगरी मति गोई;
देह तजौं कि तजौं कुल-कानि, हिए न लजौं, लजिहै सब कोई।
स्वारथ औ परमारथ को पथ चित्त बिचारि कहौ अब सोई;
जामैं रहै प्रभु की प्रभुता, अरु मोर पतिव्रत भंग न होई।

इस बात पर इंद्रजीत ने उसे अकबर के यहाँ न भेजा। तब अकबर ने क्रोध करके उन पर एक करोड़ रुपए का जुरमाना किया। तब उस समय केशवदास ने आगे जाकर बीरबल द्वारा यह जुर्माना माफ़ कराया, और रायप्रबीन ने अकबर के यहाँ किसी मौक़े पर निम्न-लिखित दोहा पढ़कर अपना पतिव्रत-धर्म बचाया—

बिनती रायप्रबीन की सुनिए साहि सुजान;
जूठी पातरि भखत है बारी, बायस, स्वान।

अब हम स्वयं केशवदास का जीवन-चरित्र, जहाँ तक हमें उनके काव्य या कहावतों द्वारा ज्ञात हुआ है, नीचे लिखते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इनका जन्म ओड़छे में, सं० १६०८ के आस-पास, हुआ होगा। आपने संभवतः ३५ वर्ष की अवस्था में कविता का प्रारंभ किया। इनके जन्म-स्थान ओड़छे होकर बेतवै-नदी बही है। ओड़छे के राजमहल अब भी दर्शनीय हैं। बेतवै बड़ी ही मनोरम नदी है। हम एक बार आध घंटे तक खड़े-खड़े उसे देखते ही रहे, तो भी हमें तृप्ति नहीं हुई। केशवदास ने ओड़छे और बेतवै का बड़ा विशद वर्णन किया है। उदाहरणार्थ तीन छंद यहाँ दिए जाते हैं—

नदी बेतवै तीर जहँ तीरथ तुंगारन्य;
नगर ओड़छो बहु बसै धरनी-तल मैं धन्य॥ १॥
केसव तुंगारन्य मैं नदी बेतवै-तीर;
नगर ओड़छो बहु बसै पंडित-मंडित भीर॥ २॥

ओड़छे-तीर तरंगिनि बेतवै, ताहि तरै नर 'केसव' को है;
अर्जुन-बाहु-प्रबाहु-प्रबोधित, रेवा ज्यों राजन की रज मोहै।

जोति जगै जमुना-सी लगै, जग लाल बिलोचन पाप बियो है ;
सूर-सुता सुभ संगम तुंग तरंग तरंगित गंग-सी सोहै ॥ ३ ॥

प्रायः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने रसिक-प्रिया-नामक अपना प्रथम ग्रंथ, सं० १६४८ मे, कार्त्तिक-शुक्ला ७, सोमवार को समाप्त किया। यह ग्रंथ इंद्रजीत के कहने से बना। इस समय तक केशवदास का पूर्ण आदर ओड़छे में नहीं हुआ था, पर इन्होंने रसिक-प्रिया में लिखा है—

तिन कवि केसवदास सों कीन्हों धरम सनेहु ;
सब सुख दै कै यह कही, रसिक-प्रिया करि देहु ॥ ४ ॥

इससे प्रकट होता है कि इंद्रजीत इस समय से प्रथम इनके शिष्य हो चुके थे। यहाँ 'तिन' से इंद्रजीत का प्रयोजन है। इसी के कुछ दिन पीछे केशवदास को जुर्माना माफ़ कराने के लिये आगरे जाना पड़ा। वहाँ जाकर यह महाराज बीरबल से मिले, और उनकी प्रशसा में इन्होने यह छंद पढ़ा—

पावक, पंछी, पसू, नर, नाग, नदी, नद, लोक रचे दसचारी ;
'केसव' देव, अदेव रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी।
कै बरबीर बली बलबीर, भयो कृतकृत्य महाब्रतधारी ;
दै करतापन आपन ताहि दई करतार दुवौ कर तारी॥ ५ ॥

इस छंद को सुनकर महाराज बीरबल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने एक करोड़ का जुर्माना अकबर से माफ करा दिया, और छ लाख रुपए की हुंडियाँ, जो उनकी जेब मे थीं, निकालकर केशवदास को तुरंत दे दीं। तब केशवदास ने परम प्रसन्न होकर यह छंद पढ़ा—

केसवदास के भाल लिख्यो बिधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो,
छोरे छुट्यो नहिं धोए धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पखारयो।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं, जब बीर-बली बलबीर निहारयो ;
भूल गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो ॥ ६ ॥

तब बीरबल ने परम प्रसन्न होकर इनसे फिर कहा कि 'माँगु'। इसको केशवदास ने यों कहा है—

यों हीं कह्यो जु बीरबल माँगु जु माँगन होय ;
माँग्यो तुव दरबार मैं मोहिं न रोकै कोय॥ ७ ॥

जब केशवदास जुर्माना माफ़ कराकर ओड़छे गए, उसी समय से इनका बड़ा भारी मान होने लगा होगा, और तभी इन्होने लिखा—

भूतल को इंद्र इंद्रजीत जीवै जुग-जुग,
जाके राज केसोदास राज सो करत है।

यदि इसके प्रथम इनका इतना मान होता, तो बीरबल के यहाँ यह अपने को रंक न कहते। शायद इसी समय इंद्रजीत ने इन्हें इक्कीस गाँव दिए, और एक बार प्रयाग में गंगाजी में खड़े होकर इनसे कहा कि जो चाहिए, माँग लीजिए—

इंद्रजीत तासों कह्यो माँगन मध्य प्रयाग ;
माँग्यो सब दिन एक रस कीजै कृपा सभाग ॥ ८ ॥

इससे विदित होता है कि इस समय इनकी पूरी महिमा थी। अतः इन्होंने उसका केवल स्थिर रहना माँगा। इंद्रजीत के कारण महाराजा रामसिंह भी केशवदास पर बड़ी कृपा करते थे, और इनको मंत्री तथा मित्र की भाँति मानते थे।

केशवदास के वर्णन से प्रकट होता है कि इन्होंने वरदान माँगने में धनादि की तृष्णा कभी नहीं की, और केवल प्रतिष्ठा-वर्द्धक वर माँगे। इसी समय महाराजा बीरबल काबुल के युद्ध में मारे गए। तब उनकी उदारता का वर्णन केशवदास ने यों किया—

पाप के पुंज पखावज 'केसव', सोक के संख सुने सुषमा मे ;
झूठ के झालरि झाँझ अलीक के, आवझ जूथन जानि जमा में।
भेद के भेरी, बड़े डर के डफ, कौतुक भा कलि के कुरमा में ;
जूझत ही बलबीर बजे बहु दारिद के दरबार दमामें ॥ ९ ॥

केशवदास ने कवि-प्रिया में सिवा अमरसिंह तथा बीरबल के और किसी समकालीन का दान नहीं वर्णन किया, यद्यपि उसमें बहुत-से देवतों का दान कथित है। इससे जान पड़ता है, केशवदास अमरसिंह के यहाँ भी गए होंगे। अमरसिंह का हाल अभी हमें पूरा नहीं मालूम हुआ। एक अमरसिंह महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र थे। संभव है, यह कवि उनके यहाँ उदयपुर गए हों, क्योंकि इनके पूर्व-पुरुषों का भी चित्तौर के महाराणा से संबंध था।

केशवदास सं० १६४८ से १६५८ तक कवि-प्रिया तथा रामचंद्रिका बनाते रहे, और कार्त्तिक-सुदी ५, संवत् १६५८ वि० को बुध के दिन इन्होंने कवि-प्रिया और बुधवार, कार्त्तिक-सुदी १२, को रामचंद्रिका समाप्त की। फिर संवत् १६६७ में विज्ञान-गीता समाप्त हुई। केशवदास ने कवि-प्रिया में रामचंद्रिका और विज्ञान-गीता के बहुत-से छंद रक्खे हैं। इससे प्रकट होता है कि इन्होंने या तो कवि-प्रिया समाप्त करने के पीछे भी उसमें छंद बढ़ाए, या विज्ञान-गीता भी उसी पुस्तक के साथ बनती रही, और समाप्त बहुत दिन पीछे हुई।

हमको सं० १६६७ के पीछे केशवदास के जीते रहने का कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला है। एक किंवदंती है कि इंद्रजीतसिंह के चित्त में यह भावना उठी

कि उनका दरबार बहुत ही उत्तम था, परंतु लोगो के मर जाने से वह क्षीण हो जायगा। वह सोचने लगे कि किस प्रकार यह मंडली चिरस्थायिनी हो। इस पर कहा जाता है, केशवदास ने उनको प्रेत-यज्ञ करने की सलाह दी, क्योंकि प्रेतों की आयु दस हज़ार वर्ष की होती है। कहते है, फिर वहाँ प्रेत-यज्ञ किया भी गया, और उसमें सब लोगों के साथ मरकर केशवदास भी प्रेत हो गए। इसी कारण इनको कविजन कभी-कभी 'कठिन काव्य के प्रेत' भी कहते है। यथा—"एकै दल-सहित बिलाने एक पल ही मे, एक भए प्रेत, एक मीजि मारे हाथी ने।" इसका कारण यह भी है कि इनके प्रेत होने के अतिरिक्त इनका काव्य कठिन भी है। प्रेत-योनि मे केशवदास का जी नही लगता था। एक बार यह महाशय एक कुएँ में बैठे थे। उसी मे गोस्वामी तुलसीदास पानी भरने गए। कहते है, केशवदास ने उनका लोटा पकड़ लिया। जब तुलसीदास ने छोड़ने के लिये बहुत कुछ कहा-सुना, तब इन्होने कहा कि हमे किसी प्रकार प्रेत-योनि से छुड़ाओ, तो हम लोटा छोड़ें। इस पर तुलसीदास ने इनसे कहा कि तुम अपनी बनाई हुई रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ कर डालो, तो तुम्हारी प्रेत-योनि छूट जाय। केशवदास को रामचंद्रिका का पहला कवित्त ही नहीं स्मरण आता था। तुलसीदास ने इन्हें वह याद दिलाया, और केशव रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ करके मुक्त हुए। इंद्रजीतसिह का प्रेत-यज्ञ करना किसी इतिहास मे नही लिखा है। अत: यह कथा केवल मनगढ़ंत जान पड़ती है। यह विख्यात बहुत है, इसी कारण हमने लिख दी। इन सब बातो का निष्कर्ष इतना ही है कि केशवदास तुलसीदास के पहले मरे। गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् १६८० है। अत: केशवदास ने संवत् १६७४ के लगभग शरीर छोड़ा होगा।

केशवदास के विषय मे हम लोगों को इतना अवश्य ज्ञात है कि यह महाशय बुड्ढे होकर मरे थे, क्योकि यह स्वयं कहते है—

'केसव' केसनि असि करी, जैसी अरि न कराहिँ;
चंद्रबदनि, मृगलोचनी 'बाबा' कहि - कहि जाहिँ॥ १०॥

केशवदास पंडित होने पर भी पंडितों की भाँति रूखे न थे, वरन् बुढ़ापे को इस कारण बुरा समझते थे कि चंद्रवदनी स्त्रियाँ इनको नायक की दृष्टि से न देखकर बूढ़े बाबा समझती थीं। फिर इंद्रजीतसिह इनको गुरु की भाँति मानते थे, परंतु इन्होंने उनकी गणिकाओ तक का बड़े आदर के साथ वर्णन किया है, यहाँ तक कि उनका रायप्रबीन के साथ संपर्क तक वर्णन करने से इन्होंने मुँह नहीं मोड़ा। उसी गणिका को इन्होंने रमा, सरस्वती और शिवा तक की समता कहने मे कोई दोष न समझा—

नाचत, गावत, पढ़त सब, सबै बजावत बीन ;
तिनमें करति कवित्त यक रायप्रवीन प्रवीन ॥ ११ ॥
रतनाकर - पालित सदा परमानंदहिं लीन ,
अमल कमल कमनीय कर रमा कि रायप्रवीन ॥ १२ ॥
रायप्रवीन कि सारदा सुचि रुचि राजित अंग ;
बीना - पुस्तक - धारिनी राजहंससुत संग ॥ १३ ॥
बृषभ - बाहिनी अंग उर बासुकि लसत प्रवीन ;
सिव सँग सोहति सर्वदा सिवा कि रायप्रवीन ॥ १४ ॥
सविता जू कविता दई ता कहँ परम प्रकास ;
ताके कारन कवि - प्रिया कीन्हीं केसवदास ॥ १५ ॥

रसिक होने के अतिरिक्त केशवदास कोरे भक्त भी न थे। इन्होंने कृष्ण की शनि से उत्प्रेक्षा कही है। यथा—"राहु मनो शनि अंक लिए" रसिक-प्रिया ; और रामचंद्र के विषय में यह संदेह उपस्थित कराया कि "कैधो कोऊ ठग हौ ठगोरी कीन्हें कैधो तुम हरिहर श्री हौ शिवा चाहत फिरत हौ।" कोरा भक्त राम की ठग से, कृष्ण की शनि से और एक गणिका की शिवा, रमा तथा शारदा से समता कभी न करता। फिर भी केशवदास को रामचंद्र का इष्ट था। यथा—"केसवदास तही करयो रामचद्र जू इष्ट।"—रामचंद्रिका।

केशवदास ने कुल मिलाकर सात ग्रंथ बनाए। इन ग्रंथों के अतिरिक्त भी इनके कुछ स्फुट छंद मिलते हैं। रसिक-प्रिया, विज्ञान-गीता, कवि-प्रिया, राम चंद्रिका, वीरसिंहदेव-चरित्र, जहाँगीर-चंद्रिका और नख-शिख-नामक केशव-कृत ग्रंथ अब तक ज्ञात हुए हैं।

रसिक-प्रिया। यह ग्रंथ सोमवार, कार्त्तिक-सुदी, संवत् १६४८ वि० को समाप्त हुआ। यह इंद्रजीतसिंह के इच्छानुसार बनाया गया, जैसा इसका नाम प्रकट करता है। इस ग्रंथ में रसिकों का रुचिकर वर्णन हुआ है, यहाँ तक कि वीर, रौद्र, बीभत्स, शांत आदि रसों तक में शृंगार-रस का पीछा नहीं छोड़ा गया। इन्होंने प्रच्छन्न और प्रकाश प्रायः सभी उदाहरणों में दिखाए।

नव-रस-कथन से मुख्य ग्रंथ का प्रारंभ हुआ है। फिर संयोग और वियोग एवं प्रच्छन्न और प्रकाश-शृंगार का वर्णन है। तदनंतर नायिका-जाति (पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी) दिखाकर केशवदास ने चारो प्रकार के नायकों का वर्णन किया है। आपने फिर कर्मानुसार नायिका-भेद कहा है। जैसे अधिक तर कविजनों ने इस कर्म-भेद को कहा है, वैसे विस्तार के साथ आपने नहीं कहा। फिर चारो प्रकार के दर्शन (साक्षात्, श्रवण, चित्र, स्वप्न) कहकर इन्होंने हाव-

भावों का कथन किया, और इसके पश्चात् वियोग-शृंगार कहकर शेष आठो रसों का शृंगार से मिला हुआ वर्णन दिया। यह अच्छा नही है। अंत मे चारो वृत्तियों (कैशिकी, भारती, आरभटी, सात्विकी) को दिखाकर कवि ने सोलहवॉ अध्याय भी समाप्त कर दिया। कवि ने गणिका को अति निंद्य समझकर उसका वर्णन इस ग्रंथ मे नहीं किया। इसमे आपने कविता के कुल अंगो का वर्णन न करके केवल भाव-भेद और रस-भेद का किया है, और वह भी विस्तार-पूर्वक नही। जहॉ तक हो सका है, शृंगार-रस का ही अवलंब लिया गया है। आकार मे यह पद्माकर-कृत जगद्विनोद के बराबर होगा। यह केशवदास का प्रथम ग्रंथ है, अतः इसे बहुत उत्कृष्ट पाने की आशा करनी उचित नही। तो भी ख़राव नही है, और इनका प्रथम ग्रंथ होने पर भी भाषा के श्रेष्ठ ग्रंथो मे इसकी गणना है।

विज्ञान-गीता। यह ग्रंथ संवत् १६६७ वि० मे बना। समय के अनुसार यह केशवदास का चौथा ग्रंथ है, परंतु शोक है कि उत्तमता मे यह उनके अच्छे ग्रंथो मे सबसे घटकर है। इसमे इक्कीस अध्याय है, जिनमे बारह तक महामोह और विवेक की लड़ाई का वर्णन है। शेष नव मे ज्ञान कहा गया है। प्रथम मे कवि-वंश तथा राजवंश संक्षेप से है, और एक प्रकार से ग्रंथ की प्रस्तावना भी इसी अध्याय मे आ गई है। दूसरे में काम और रति की बातचीत होती है। तीसरे में दंभ और अहंकार काशी-विजय का विचार करते है। इसमे पेट के दो पद्य अच्छे है। चौथे मे महामोह सेना सजकर चलता है, और सातो द्वीपो (जिनका वर्णन विष्णुपुराण में हुआ है) एवं अवतारो को देखता है। इन अंतिम तीनो अध्यायों की कविता शिथिल है। पॉचवें मे कलिनाथ और उसकी रानी की बहस होती है। छठे मे कलिनाथ अपनी विजयों और चमू का वर्णन करता है, तथा रानी काशी का माहात्म्य कहती है। सातवे मे चार्वाक * की कलि से बातचीत हुई है। आठवे मे शांति एवं करुणा का वर्णन है। नवे मे राजधर्म द्वारा महामोह युद्ध का उद्योग करता है, परंतु वर्षा-ऋतु के कारण लड़ाई का प्रारंभ नहीं करता। दसवे में वर्षा एवं शरद् का अच्छा वर्णन है। ग्यारहवे में तीन स्तोत्र, पुराने संस्कृत के कवियों के ढंग पर, है, जो श्लाघ्य है। उनकी टेकें निम्न-लिखित हैं—

प्रबोधो उदो देहि श्रीबिंदुमाधो।
राखि लेहु, राखि लेहु, राखि लेहु विश्वनाथ।
नमो देवि गंगे, नमो देवि गंगे।

इन तीनो स्तोत्रो द्वारा विवेक अपने देवतों को प्रसन्न करता है। बारहवें अध्याय मे महामोह से विवेक का युद्ध होता है, जिसमें उसकी पराजय कथित

* चार्वाक वास्तव में बृहस्पति-कृत दर्शन था, न कि व्यक्ति।

है। यह युद्ध बहुत ही संक्षिप्त रीति से कहा गया है। इन बारह अध्यायों में प्रथम, दशम और एकादशम को छोड़कर शेष प्रशंसनीय नहीं हैं। इनकी कथा का भाव संस्कृत के प्रबोधचंद्रोदय-नाटक से लिया गया है। तेरहवें अध्याय मे माया और चौदहवें मे शुकदेवजी के वर्णन हैं। पंद्रहवे मे मन, शुद्धि, विवेक तथा पूजा का हाल है। यह अध्याय औरो की अपेक्षा कुछ अच्छा है। सोलहवे मे राजा शिखिध्वज और उसकी रानी चुड़ाला की कथा योगवाशिष्ठ से लेकर कही गई है। सत्रहवे मे ज्ञान-विज्ञान की भूमिका है। अठारहव अध्याय मे प्रह्लाद की कथा, उन्नीसवे मे बलि-चरित्र एवं विप्र-महिमा और बीसवें में योग की सात भूमिकाएँ लिखी गई हैं। केशवदास ने अपने अंतिम (इक्कीसवे) अध्याय मे सीधा-सादा काम-काजू योग कहा है। यह अध्याय भी बहुत ही मनोहर है। उदाहरण स्वरूप एक छंद नीचे लिखा जाता है—

> निसि - बासर वस्तु बिचारहि कै मुख-सॉचु हिए करुना - धनु है;
> अघ - निग्रह, सग्रह - धर्म - कथानि, परिग्रह साधुनि को गनु है।
> कहि 'केसव' भीतर जोग जगै अति बाहेर भोगनि सों तनु है;
> मन हाथ सदा जिनके, तिनको बनु ही घरु है, घरु ही बनु है॥ १६॥

विज्ञान-गीता के प्रथमार्द्ध मे रूपक द्वारा मनुष्य के मोह और विवेक का युद्ध दिखाया गया है। इसम विशेष गुण बहुत कम हैं, और इसका मुख्यांश या तो शिथिल काव्य है, या साधारण। उत्कृष्ट काव्य तीन ही अध्यायों में पाया जाता है। इस ग्रंथ का द्वितीयार्द्ध प्रकाश-रूप से ज्ञान और वैराग्य का कथन करता है। केशवदास ने संस्कृत के ज्ञान-संबंधी मुख्य-मुख्य भेदों को सूक्ष्मतया कहा है, परंतु पूर्णतया किसी विभाग का वर्णन नहीं किया। इसमें साफ़-साफ़ और क्रम-बद्ध रीति से न तो गीता का ज्ञान कहा गया है, और न योगवाशिष्ठ का। कहना पड़ता है कि श्रीमद्भगवद्गीता पढने में जो अकथनीय और अलौकिक आनंद प्राप्त होता है, उसका चतुर्थांश आनंद भी विज्ञान-गीता में नहीं मिलता। यह कहा जा सकता है कि इस विज्ञान-गीता द्वारा संस्कृत से अनभिज्ञ पाठको को लाभ हो सकता है, परंतु केशवदास-जैसे पंडित को ज्ञान का अधिक क्रम-बद्ध वर्णन करना चाहिए था। इनकी गीता पढ़ने से यह ध्यान मे आता है कि केशवदास और व्यासदेव की कवित्व-शक्ति मे पृथ्वी और आकाश का अंतर है। यदि केशवदास ने केवल विज्ञान-गीता बनाई होती, तो हम उन्हें दूसरे दर्जे का कवि कहते। भगवद्गीता पढ़ने में ज्ञान के साथ-साथ काव्य का भी पूरा आनंद आता है। फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि विज्ञान-गीता में सदोष काव्य नहीं है।

कवि-प्रिया। यह ग्रंथ संवत् १६५८ वि० की कार्त्तिक-सुदी ५, बुधवार, को समाप्त हुआ। इसमें केशवदास ने अपने कुल एवं राजकुल का वर्णन दिया है। यह इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। यह विचारणीय विषय है कि रामचंद्रिका इनके सब ग्रंथों मे उत्तम है, या कवि-प्रिया ? ये दोनो ही ग्रंथ उत्कृष्ट हैं, परंतु हम रामचंद्रिका को कवि प्रिया से श्रेष्ठ समझते हैं, क्योंकि इसमे आरोचन की विशेषता है। कवि-प्रिया मे सत्रह अध्याय हैं। इसमे केशवदास ने साहित्य के दूषण, कवियों के गुण-दोष, कविता की जाँच, अलंकार, बारहमासा, नख-शिख और चित्र-काव्य लिखे हैं।

प्रथम अध्याय मे राजवंश एवं द्वितीय मे कवि-वंश कहा गया है। तृतीय मे दोषों का वर्णन है। इन्होंने लिखा है कि—

> विप्र न नेगी कीजिए, मूढ़ न कीजै मित्त ;
> प्रभु न कृतघ्नी सेइए, दूषन - सहित कबित्त ॥ १७ ॥

केशवदास ने पाँच मुख्य और बारह अमुख्य दूषण कहे हैं। पाँच मुख्य दूषणों में अंध (पंथ-विरोधी), वधिर (शब्द-विरोधी), पंगु (छंद-विरोधी), नग्न (अलंकार-हीन) और मृतक (अर्थ-हीन) की गणना है। द्वादश साधारण दोष ये हैं—

अगण, हीनरस, यति-भंग, व्यर्थ (अर्थ-विरोधी), अपार्थ (मतवालों अथवा बच्चों की-सी निरर्थक बात), कर्ण-कटु, पुनरुक्ति, देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध और आगम विरुद्ध।

चतुर्थ अध्याय में आपने काव्य को तीन प्रकार का कहा है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन्होंने देव-काव्य को उत्तम, नर-काव्य को मध्यम और सदोष को अधम माना है।

केशव ने सत्यभाषिणी, असत्यभाषिणी और सत्यासत्यभाषिणी, तीन प्रकार की कवि-मति स्थिर की है। फिर इन्होंने कविता के नियम कहे है। पंचम अध्याय से अलंकारों का वर्णन आरंभ हुआ है। इन्होंने अलंकारों के सामान्य और विशिष्ट, दो भेद किए हैं। सामान्य अलंकारों मे आपने रंग, चित्र, गति और राजश्री का वर्णन किया है। इन सामान्य अलंकारों एवं समस्त कवि-प्रिया मे इन्होंने अपना आचार्यत्व प्रकट किया है। सफ़ेद बालों के तीन छ्द उत्कृष्ट हैं। छठे अध्याय में सीता के मुख की प्रशंसा में तीन भावो मे घटित होनेवाला निम्न-लिखित छंद बहुत ही बढ़िया है—

> हरि - कर - मंडन, सकल दुख - खंडन,
> मुकुर महि-मंडल को कहत अखंड मति ;

परम सुबास, पुनि पीउष - निवास,
　　परिपूरन प्रकास, 'केसौदास' भू-अकास गति।
बदन मदन - कैसो, श्रीजू को सदन जिहि
　　सोदर सुधोदर दिनेसजू को मीत अति,
सीताजू के मुख - सुषमा की उपमा को कहि
　　कोमल न कमल, अमल न रजनिपति॥ १८ ॥

सातवें अध्याय मे समुद्र, नगर, सूर्योदय, षट्ऋतु आदि के बहुत-से प्रकृष्ट वर्णन है। आठवें मे राजश्री का समीचीन वर्णन किया गया है। इससे जान पड़ता है, यह राजो के बीच रहे है।

नवें अध्याय से विशिष्ट अलंकारो का प्रारंभ होता है। प्रायः सभी कवियों ने अलंकारो के कथन मे इसी विशिष्ट विभाग का वर्णन किया है। केशवदास ने अलंकारो मे अन्य कवियो की भॉति क्रम नही कहा, और न सब अलंकार ही कहे है। तेरहवें अध्याय तक इन्ही का वर्णन हुआ है। इसमें, बहुत स्थानों मे, एक-एक अलंकार को बहुत बढ़ाकर कहा है, और उसके साथ कितने ही अलंकारों के नाम ही नही लिए गए। बहुतो मे अन्य कवियों के कहे हुए नामों के प्रतिकूल नाम इन्होने कहे है। दशम अध्याय के आक्षेपालंकार में बारहमासा भी है। पंद्रहवें अध्याय मे नख-शिख और सोलहवें में यमक है। इनका नख-शिख बहुत विशद बना है। सत्रहवें अध्याय में केशवदास ने चित्र-काव्य लिखा, और उसको बड़े परिश्रम से बनाया। कवि-प्रिया केशवदास का बहुत श्लाघ्य ग्रंथ है, और उन्होंने इसे वैसा ही माना भी है। आपने कहा है—

सगुन पदारथ, अरथ जुत, सुबरनमय सुभ साज;
कंठमाल ज्यों कबि - प्रिया कंठ करौ कबिराज॥ १९ ॥
सुबरन - जटित पदारथनि भूषन भूषित मानि;
कबि - प्रिया है कबि - प्रिया कबि - संजीवनि जानि॥ २० ॥

केशवदास ने अपने किसी और ग्रंथ की इतनी प्रशंसा नहीं की। जैसे रसिक प्रिया वास्तव मे रसिक-प्रिया है, वैसे ही कवि-प्रिया भी सचमुच कवि-प्रिया है। केशवदास ने अपना पूरा आचार्यत्व इस ग्रंथ में प्रकट कर दिया है। इसको पढ़ने से मनुष्य कविता का विषय बहुत कुछ जान सकता है। कविता के जिज्ञासुओं को काव्य सीखने में यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है। यह इंद्रजीत की गणिका रायप्रबीन के लिये बना। इसमे श्रृंगार रस को कवि ने बहुत कम रक्खा, और बहुत-से विषयों पर कविता की। फिर भी इसे प्रधानतः अलकारों का ग्रंथ कहना चाहिए; क्योंकि अलंकारों के अतिरिक्त इसमें गुण-दोष, षट्ऋतु और नख-शिख

के सिवा कुछ नही कहा गया। केशवदास के पूर्व हिंदी मे केवल कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति-कविता की थी, सो भी इनकी महत्ता से बहुत पीछे। रीति-काव्य में आपने दडी तथा रुय्यक का अनुसरण किया था, न कि अप्पय्य और विश्वनाथ का, जैसा कि इनके पीछेवाले बहुतेरे आचार्यों ने किया। विश्वनाथ ने १५वीं शताब्दी मे साहित्य-दर्पण रचा। आप पूर्वी बंगाली थे। कवि-प्रिया ग्रंथ कुल मिलाकर बहुत विशद बना, और इसी से केशवदास को भाषा-काव्य मे आचार्य की पदवी मिली है।

रामचंद्रिका। इस ग्रंथ को केशवदास ने सं० १६५८ वि०, कार्त्तिक-सुदी १२, बुधवार को समाप्त किया। इसे इंद्रजीतसिह ने बनवाया। कवि-प्रिया की भाँति रामचंद्रिका भी बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमे इन्होने रामचंद्र की कथा कही। यह ग्रंथ उंतालीस अध्यायों में समाप्त हुआ है। केशवदास ने रामचंद्र की उत्पत्ति के उपरांत कथा का आरंभ किया है। इन्होंने राम की बाल-लीला बिलकुल नहीं कही। आपको वाल्मीकि ने स्वप्न में राम-यशोगान करने का उपदेश दिया। उसी समय से इन्होंने रामचंद्र को इष्टदेव माना। विश्वामित्र के अयोध्या-प्रवेश के साथ केशवदास ने अयोध्या का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। इसको पढ़ने से जान पडता है कि राजों की सभा कैसी होती है। तुलसीदास ने महाराजा और साधारण राजा की सभा में बहुत कम अंतर रक्खा है, परंतु केशवदास नित्य सभाएँ देखते थे। वह इसमें ग़लती कैसे करते? इन्होंने विमति से सीता-स्वयंवर में एक शंका उठवाई है, परंतु उसका कोई उत्तर नहीं दिलवाया—

> रावन, बान महाबली, जानत सब संसार;
> जो दोऊ धनु कर्षि है, ताको कहा बिचार? ॥ २१ ॥

यह शंका उठनी न चाहिए थी, क्योंकि जो व्यक्ति पहले धनुष चढ़ाता, जनकवाले प्रण के अनुसार, उसी को जानकीजी ब्याह दी जातीं, और प्रण पूर्ण हो जाता। फिर उसके पीछे चाहे सैकड़ों मनुष्य धनुष चढ़ाया करते, परंतु उनसे और राजा जनक के प्रण से कोई संबंध न होता। रावण के धनुष न उठा सकने पर उसका बाण से यह बहाना करना कि "मैं तो इसे आजमा चुका, और पल-भर मे उठा लूँगा, अब कुछ आप भी तो उठाकर देखिए," बड़ा ही अच्छा है। वैसे ही बाण का बहाना भी देखने योग्य है। केशवदास कथा के अमुख्य वर्णनों के लिये न ठहरकर तुरंत मुख्य कथा का वर्णन करने लगते है। यह इनमे बड़ा गुण है। इन्होंने जेवनार में गाली बड़ी ही चटकीली गवाई, परशुराम से राम के झगड़े का महादेव को बुलाकर बहुत अच्छा निबटारा करा दिया, और जब भरत

राम को वन से फेरने गए, उस समय उनको भागीरथी से समझवा दिया। यह भी झगड़ा मिटाने का अच्छा ढंग है, यद्यपि इस स्थान पर तुलसीदास का काव्य अपूर्व आनंद देता है। केशवदास ने विभीषण की कठोर बातों पर रावण को क्रोधित कराया है। जब अंगद रावण वसीठी करने गए थे, उस समय रावण ने उन्हे मिला लेने का पूरा प्रयत्न किया। रावण के योद्धाओं का बड़ा अच्छा परिचय दिया गया है। जब उसने कुंभकर्ण से कठोर बात कही, तब मंदोदरी ने अपने तीनो लड़को को पुकारकर कहा कि "तुम्हारे पिता भाइयो से भिड़ते हैं, तुम उन्हे क्यों नहीं समझाते?" इसके पीछे उसने कुंभकर्ण की बड़ी प्रशंसा की। यह वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक और मनोरम है। मंदोदरी का वानरों से डरकर चित्रशाला मे भागना तथा अंगद द्वारा उसकी दुर्गति होने पर रावण का यज्ञ छोड़ देना, परम स्वाभाविक है। इन सब वर्णनो की उत्तमता देखकर केशवदास की अपूर्व कवित्व-शक्ति की जितनी बड़ाई की जाय, थोड़ी है। सीता का अग्नि के अंक मे रामचंद्र के पास जाना भी खूब बढ़िया है। रामचंद्र ने वानरो आदि का वशिष्ठ से परिचय कराने मे भी बहुत विशद रीति का अनुगमन किया है। हनुमान् के विषय मे उन्होंने कहा—

> सीता पाई, रिपु हत्यो, देख्यो तुम अरु गेहु,
> रामायण जय - सिद्धि की कपि सिर टीका देहु॥ २२॥

इसके पीछे रामचंद्रिका की कविता कुछ शिथिल पड़ गई है। रामचंद्र ने दो अध्यायो मे राजश्री की निंदा की। इसके पीछे उनका राज्याभिषेक हुआ। ऐसे समय राजश्री की निंदा अयुक्त जान पड़ती है। अभिषेक में केशवदास ने राजसी ठाट अच्छा दिखाया है। अभिषेक के पीछे अंगद ने रामचंद्र से कहा कि "अब मैं रघुवंशियो से लड़कर अपने बाप का बदला लेना चाहता हूं।"

रामचंद्र ने कहा—

> कोऊ मेरे बंस में तोसों करिहै जुद्ध;
> तब तेरो मन होइगो अंगद मोसों सुद्ध॥ २३॥

केशवदास ने भी गोसाईंजी की भाँति भरत का स्वभाव एवं उनका पद बहुत ऊँचा दिखलाया है। चौगान का वर्णन अच्छा है। केशवदास ने ओड़छे के नौचौकिया-महल के मुक़ाबले में रामचंद्र के यहाँ पाँच चौके लिखी है। राजप्रासाद के वर्णन में भी इन्होंने दिखा दिया है कि कवि ऐसे-ऐसे पदार्थ देखता रहा है। केशव की कविता में राम के राजसी गुण खूब प्रकट हुए है। जल-केलि, उपवन आदि के वर्णन एवं दूत की कटु बात का साफ़-साफ़ न कहलाना अच्छा हुआ। श्वान की फ़र्याद मे मठपतियो की निंदा है। सीता-त्याग से कथा और

कविता फिर बहुत उत्कृष्ट हो गई है। इसके पीछे लवणासुर का वध कहा गया है। वह ब्राह्मणो को सताता था, अर्थात् हिंदू सभ्यता का विरोधी था। शत्रुघ्न ने उसे युद्ध-घोषणा के प्रथम अंतिम संदेश यह कहला भेजा—

महाराज श्रीराम हैं क्रुद्ध तोसो ;
तजौ देस को कै सजौ जुद्ध मोसों ॥ २४ ॥

लवणासुर यदुवशी-नरेश मधु का पुत्र था न कि असुर। उसका नर-भक्षी होना बेजा कहा गया है। यह भूल केशव की ही न होकर पुराणकारो की भी है।

जब रामचंद्र ने लव-कुश को युद्धोन्मुख देखा, तब अंगद से कहा—

अंगद जीति इन्है गहि ल्याओ ;
कै अपने बल मारि भगाओ।
बेगि बुझावहु चित्त-चिँता को ;
आज तिलोदक देहु पिता को ॥ २५ ॥

अगद की मनोकामना भी बडी ही स्वाभाविक थी। इसी प्रकार गुरु गोविद-सिह को पितृहंता समझकर उनके दो मुसलमान विश्वास-पात्र सैनिकों ने उन पर प्रहार किया।

जब लव-कुश लक्ष्मण तक को जीत चुके, और हनुमान् भरत के साथ युद्ध को गए, तब उन्होने बड़ा ही स्वाभाविक आश्चर्य प्रकट किया—

नाम बरन लघु, बेष लघु, कहत रीझि हनुमंत ;
इतो बड़ा बिक्रम कियो, जीत्यो समर अनंत ॥ २६ ॥

यहाँ शत्रु पर भी हनुमान् का रीझना बड़ा ही स्वाभाविक है, क्योंकि सच्चा शूर ही सच्चे शूर के विक्रम पर रीझ सकता है, और वह अवश्य रीझेगा, उसका चाहे जितना बड़ा अपकार हो गया हो।

शायद विना विभीषण की लेथाडबाजी के कोई रामायण पूर्ण नही कही जा सकती, परंतु खेद है कि हमारे यहाँ केशव के सिवा संस्कृत तक के कवियो को यह न सूझा कि विभीषण ने कोई बुरा काम भी किया, या नही। सब कवियों ने उसकी इसी कारण बड़ी भारी प्रशंसा की कि वह रामचंद्र का भक्त था, परंतु उसके प्रचंड दोष पर उन्होने ध्यान न दिया। यह सत्य है कि यदि कोई उसके राक्षसी कर्म की तीव्र आलोचना करता, तो शायद थानेश्वर और पानीपत मे पृथ्वीराज और राणा साँगा को अपने अनुयायियों के उसी राक्षसी व्यवहार के कारण पराजय का असह्य और घातक दुःख न सहना पड़ता। जब आर्यों और अनार्यों का घोर युद्ध होने को था, उस समय यह क्षुद्र-हृदय विभीषण रावण के थोड़े-से अनादर से न केवल उसको, वरन् सब राक्षसों (द्रविड़ो)

के पक्ष को छोड़कर उन्हीं के मूलोच्छेदन में प्रवृत्त हुआ! फिर अपने सगे भाई-भतीजों तक को अपने सम्मुख मरवा डालने में भी इस राक्षसाधम को तनिक पश्चात्ताप न आया। यह बराबर उनके मारे जाने की तरकीबें रामचंद्र को बताता गया। केशवदास राजों में रहते थे, और प्रत्येक मनुष्य के अपने देश तथा कुल की रक्षा के कर्तव्य एवं धर्म को खूब समझते थे। अतः उन्होंने लव द्वारा विभीषण का इन शब्दों में उपहास कराया—

तब दौरिकै बान बिभीषन लीन्हों;
लव ताहि बिलोकत ही हँसि दीन्हो॥ २७॥
लव—आउ विभीषन तू रन-दूषन;
एक तुही कुल को कुल-भूषन॥ २८॥
जूझि जुरे, जे भले भए जी के;
सत्रुहि आइ मिले तुम नीके॥ २९॥
देवबधू जबहीं हरि ल्यायो;
क्यों तबहीं तजि ताहि न आयो?॥ ३०॥
यों अपने जिय के डर आए;
छुद्र, सबै कुल-छिद्र बताए॥ ३१॥
जेठो भैया, अन्नदा, राजा, पिता-समान;
ताकी तैं पतिनी करी पतिनी मातु-समान॥ ३२॥
को जानै कै बार तू कही न ह्वै है माय;
सो तैंने पतिनी करी सुनु पापिन के राय॥ ३३॥
सिगरे जग माँझ हँसावत है;
रघुबंसिन पाप नसावत है॥ ३४॥
धिक तो कहँ, तू अजहूँ जु जियै;
खल, जाय हलाहल क्यों न पियै?॥ ३५॥
कछु है अब तो कहँ लाज हिए;
कहि कौन बिचार हथ्यार लिए॥ ३६॥
अब जाइकै रोष कि आगि जरौ;
गरु बाँधिकै सागर बूड़ि मरौ॥ ३७॥
कहा कहौं हौं भरत को जानत हैं सब कोइ;
तो सो पापी संग मैं, क्यों न पराजय होइ॥ ३८॥

अंत में राम ने आठो पुत्रों और भतीजों को अपना सब राज्य बाँटकर उनको नीति का उपदेश दिया। केशवदास ने रामचंद्र की स्वर्ग-यात्रा का

वर्णन नहीं किया। रामचंद्रिका वास्तव मे महाकाव्य है, और उसके लक्षण भी उसमें मिलते है।

केशवदास ने पात्रो के शील-स्वभाव का भी अच्छा वर्णन किया है। इन्होंने भरत को विलकुल दब्बू भाई नही दिखलाया। जैसे सब छोटों मे वह बड़े थे, वैस ही उनका महत्त्व भी अच्छा दिखाया गया है। जब राम ने भरत से सीता को छोड़ आने के लिये कहा, तब उन्होंने स्वयं रामचंद्र से यह कहा—

वै माता, वैसे पिता, तुम - सो भैया पाइ;
भरत भए अपवाद को भाजन भूतल आइ ॥ ३९ ॥

जब लव-कुश ने उनके दो भाइयों को मार डाला, तब भरत ने कहा—

बालक रावन के न सहायक;
ना लवनासुर के हित लायक।
हैं निज पातक-वृच्छन के फल;
मोहत है रघुबंसिन के दल ॥ ४० ॥
सत्रुघ्न तज्यो तन सोदर - लाजनि;
पूत भए तजि पाप समाजनि।
हमहूँ तेहि तीरथ जाइ मरैंगे;
सतसंगति-दोष असेष हरैंगे ॥ ४१ ॥

इतना जानना ही चाहिए कि लव-कुश का राम के प्रतिकूल युद्ध अनैतिहासिक है।

रामचंद्रिका ग्रंथ भाषा-काव्य का शृंगार है। हिंदी-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण के सिवा ऐसा रोचक ग्रंथ एक भी नहीं है। इस ग्रंथ में, गणना में, कवि-प्रिया से अधिक प्रकृष्ट छंद नहीं है; परंतु इसमे एक पूज्य कथा भी वर्णित है, इसी कारण इसकी रोचकता बहुत बढ़ गई है। इसे एक बार उठा लेने से रामचंद्र के लंका जीतकर अयोध्या लौटने तक का हाल पढ़ लिए विना पुस्तक रख देने को चित्त ही नहीं चाहता। इस ग्रंथ में केशवदास छंद इतनी शीघ्रता से बदलते गए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते। हिंदी-साहित्य में कथा-प्रसंग-वर्णन करने की छंदानुसार दो प्रणालियाँ हैं, एक तो गोसाईंजी की भाँति दोहे-चौपाइयोंवाली, और दूसरी केशवदास की भाँति विविध छंदोंवाली। प्रथम प्रकार मे काव्य बहुत उत्कृष्ट न होने पर वर्णन रोचक नही रहता, परंतु द्वितीय प्रथा में, साहित्य की विशेष उत्तमता न होने पर भी, कथा उतनी शीघ्र अरुचिकर नही होती। यह द्वितीय प्रथा केशवदास ने इसी ग्रंथ द्वारा चलाई है।

केशवदास मध्यकालीन हिंदी-कविता के प्रायः अरुणोदय-काल में हुए।

अतः इन्होंने एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पीछे रीति-ग्रंथ बनाने की भी परिपाटी-सी चल पड़ी। हाल ही में यह छूट भी गई है।

कथा-वर्णन करने की भी दो प्रथाएँ हैं; एक तो संस्कृत के कवियों की भाँति, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति। इन दोनो का अंतर हम एक उदाहरण द्वारा दिखलावेंगे। संस्कृत के कवि यदि भुजा का कथन करेंगे, तो वे उसकी लंबाई का, बजुल्ले का, कलाई की गठन का और अँगूठियों का वर्णन करके उसे छोड़ देंगे, किंतु यदि गोसाईंजी भुजा का कथन करेंगे, तो शायद इन बातों का वर्णन न हो, परंतु बाहु-मूल से लगाकर उँगलियों के नखो तक का, बिना उपमा-रूपक आदि के, सीधा-सादा रूप, एक-एक रोम-पर्यंत, दिखा देंगे। संस्कृत के कवि मुख्य कथा को छोड़कर रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि पर विशेष ध्यान देंगे, सूर्योदय, समुद्र, गंगा की तरंगों आदि पर अधिक रुझान रक्खेंगे, नायकों के काव्य-संबंधी चुटीले भाव सुझानेवाले छोटे-छोटे कर्मों तथा भावों को कहकर उनके सहारे काव्य की छटा दिखावेंगे, और सूक्ष्म रीति पर कथा का भी सूत्र लिए रहेंगे। इधर गोस्वामीजी इन बातो पर विशेष ध्यान न देंगे, किंतु मुख्य कथा को सांगोपांग, बड़े विस्तार से, कहेंगे। यदि नैषध को पढिए, तो कहीं-कहीं यह भूल जाता है कि हम कोई कथा पढ रहे हैं। जान पड़ता है, यह कोरा काव्य है; परंतु तुलसीदास की कृति में यह कहीं नहीं भूलता कि हम कथा पढ रहे हैं। संक्षेपतः हम इन दोनो को काव्य-संबंधी और कथा-संबंधी प्रथाएँ कहेंगे। महाकवि केशवदास ने इसी काव्य-प्रथा में रामचंद्रिका कही है। ये हिंदी में भी स्थिर है, और अपने-अपने ढंग पर दोनो अच्छी है। रामचंद्रिका में संस्कृत के बहुतेरे श्लोकों के अनुवाद होने से इसकी मौलिकता में कमी है। आपके यहाँ अलंकारो, विचित्र कथनो आदि का तो प्राचुर्य है, किंतु रस-परिपाक बहुत ऊँचे दरजे का नही है। बहुत स्थानो पर आपने हनुमन्नाटक, कादंबरी, अनर्घ राघव आदि के अनुवाद रख दिए हैं। कथा में भी बहुत जगहों पर उसकी डोर छोड़कर कूद-सा गए है, जिससे सामंजस्य यथोचित न होकर ग्रंथ विविध विषयों के वर्णनो का संग्रह-सा देख पड़ने लगता है। तो भी रामचंद्रिका में आरोचन की मात्रा का अच्छा प्राचुर्य है।

केशवदास का बनाया हुआ वीरसिंहदेव पर भी एक ग्रंथ है। जहाँगीर-चंद्रिका और नख-शिख, ये इनके और दो ग्रंथ हैं।

वीरसिंहदेव-चरित्र देखा गया, तो प्रायः दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रणाली का ग्रंथ पाया गया। इसकी रचना उत्तमता में साधारण है। प्रकाशित भी हो चुका है।

अब हम यथाशक्ति केशवदास की कविता के गुण-दोष दिखाने का प्रयत्न करते है—

आप गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालीन कवि थे। उस समय तक भाषा-साहित्य स्थिर नही हुआ था। इसी कारण पंडित-समाज मे इसकी कविता आदर की दृष्टि से नही देखी जाती थी। अत: ये दोनो कवि (हिंदी) 'भाषा' मे काव्य करते कुछ हिचकते या शरमाते-से थे। गोस्वामीजी ने लिखा है—

भाषा भनिति मोरि मति थोरी; हँसिबे जोग, हँसे नहिं खोरी।

इसी प्रकार केशवदास ने कहा है—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति सठ कबि केसवदास;
रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास॥ ४२॥
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास,
भाषा-कबि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास॥ ४३॥

शायद इसी भाषा-कवि होने की ग्लानि के कारण इन दोनो कवियो ने यत्र-तत्र श्लोक भी बनाए है। केशवदास की भाषा व्रज-भाषा थी, परंतु कही-कही बुँदेलखंडी शब्द भी इसमे मिल गए हैं। आपकी कविता मे संस्कृत के शब्द बहुतायत से आते थे। इसी कारण उसमे कहीं-कही श्रुति-कटु शब्द भी आ गए हैं। संस्कृत-शब्दों मे मिलित वर्ण बहुत-से होते है, किंतु हिंदी मे अधिकतर ऐसे ही वर्ण श्रुति-कटु समझे जाते है। केशवदास शब्दो की योजना मे कर्ण-कटु नही मानते। इनके मत मे जब अर्थ-योजना ऐसी हो कि वह कहने मे अच्छी न लगे, तब कर्ण-कटु दूषण होता है। यथा—

कहत न नीको लागई सो कहिए कटु-कर्न;
केसवदास कबित्त में भूलि न ताको बर्न॥ ४४॥
बारन बन्यो बनावतनि सुबरन बली बिसालु;
चढ़िए राज मँगाइ कै मानौ राजतु कालु॥ ४५॥

इस उदाहरण मे एक भी शब्द कर्ण-कटु नही है, परंतु अर्थ मे श्रुति-कटु दोष अवश्य है। इस बात के होते हुए भी केशवदास की भाषा बहुत श्लाघ्य है। दो चार चुने-चुने आचार्यों को छोड़कर और किसी की भी भाषा इनसे श्रेष्ठ नही है। बहुत लोग समझते हैं कि इनकी कविता मे ओज-गुण अधिकता से है, परंतु इनकी प्राय: समस्त कविता पढ़कर हम यही कहेगे कि उसमे माधुर्य और प्रसाद गुणो की ही प्रधानता है। इनकी भाषा के उदाहरण-स्वरूप एक छंद हम नीचे देते है—

सोभित मंचन की अवली गज - दंतमयी छबि उज्ज्वल छाई ;
ईस मनौ बसुधा में सुधारि सुधाधर - मंडल मंडि जुन्हाई ।
ता महँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई ;
देवन सों मिलि देव-सभा जनु, सीय स्वयंवर देखन आई ॥ ४६ ॥

आपने कथावाले ग्रंथों में छंद बहुत शीघ्र बदले । इस कारण इनकी रामचंद्रिका और भी सुहावनी हो गई है । रीति और रस-ग्रंथो मे इन्होंने प्राय: लक्षण आदि दोहों मे और उदाहरण सवैयो अथवा दंडको में कहे । यह रीति इन्हीं की चलाई हुई है । बाद को भाषा के प्राय: सभी कवियों ने इनका अनुकरण किया । केवल कथा-प्रसंगवाले कवियो मे से बहुतो ने गोस्वामी तुलसीदास के मार्ग पर चलकर दोहे-चौपाइयो मे ही कविता की ।

इन्होंने तुकांत में बड़ी कड़ाई नहीं रक्खी । कई स्थानो पर सवैए के दो पदों में एक प्रकार के तुकात रक्खे हैं, और शेष दो मे बिलकुल दूसरे प्रकार के (रामचंद्रिका, अध्याय सातवाँ, छंद चौंतीसवाँ, अध्याय चौबीसवाँ, छंद बाईसवाँ; अध्याय उंतालीसवाँ, छंद छब्बीसवाँ देखिए) । विज्ञान-गीता मे भी एक स्थान पर 'साधु' का दूसरा तुकात 'कराधु' रक्खा (पृष्ठ १९वाँ देखिए) । इसी प्रकार कई स्थानों में किया । इससे प्रकट होता है कि आप तुकांत को अधिक नहीं मानते थे, परंतु इनके पीछे बहुतेरे कवियों ने इस स्वच्छंदता को स्थिर नहीं रक्खा । भाषा मे तुकात-हीन पद लिखने मे कोई दोष नहीं, परंतु अभी इसे बहुत कम लोग मानते हैं । हाल में हमारे यहाँ तुकांत हीन कविता भी होने लगी है।

केशवदास को अनुप्रास का इष्ट न था, जैसा कि इनके बनाए हुए पूर्वोक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा, परंतु कभी-कभी एक-आध अनुप्रास-पूर्ण पद्य भी यह लिख देते थे । यथा—

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ;
निघटी रुचि मीचु घटीहू घटी, जग-जीव जतीन की छूटी तटी ।
अघ-ओघ कि बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी ;
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी जटी पंचबटी ॥ ४७ ॥

इस छंद को इन्होने 'एषा पंचवटी' इत्यादि श्लोक देखकर बना दिया होगा। आपकी कविता मे अलंकार बहुतायत से आए है, परंतु पूर्ण रसों के उदाहरण इनकी या बहुत, से कवियों की कविता मे अधिकता से नहीं पाए जाते हैं । इन्होंने परिसंख्यालंकार बहुत स्थानो पर लिखा है ('मूलनं ही को जहाँ अधोगति केसव गाइय' इत्यादि) । राम-राज्य का वर्णन विशेषकर परिसंख्यालंकार ही में हुआ है।

उपमा, रूपक और दृष्टांत भी अधिकता से इनके काव्य में पाए जाते हैं। विज्ञान-गीता में रसों और अलंकारों के साफ़ उदाहरण बहुत कम आए है।

केशवदास की कविता में उत्तमोत्तम छंदों का बाहुल्य है। प्रायः प्रत्येक विषय पर इन्होंने उत्कृष्ट कविता की, और वह हरएक विषय पर सराहनीय है। केशवदास को भाषा का 'मिल्टन' कहना चाहिए। इन दोनो कवियों का पांडित्य और काव्य अत्यंत सराहनीय है, परंतु शेक्सपियर और तुलसीदास एवं सूरदास की कविता के बराबर इनकी कविता नही पहुँचती। जहाँ केशवदास ने प्रत्येक विषय पर विशद काव्य किया है, वहाँ यह भी कहना पड़ता है कि इनकी कविता किसी स्थान पर ऐसी नही है कि वैसी रचना कोई दूसरा कवि न बना सका हो। कोई भी विना तन्मय हुए अद्वितीय काव्य नहीं बना सकता। हमारे कवियों में सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारीलाल, भूषण आदि एक-एक विषय में आसक्त थे। अतः उस-उस विषय पर उन्होंने ऐसी उत्तम, सच्ची कविता की है, जैसी किसी भाषा का कोई भी कवि उस विषय पर नही लिख सका। केशवदास किसी विषय मे तल्लीन होकर आत्मविस्मरण नहीं कर सकते थे, अतः इनकी कविता ऐसी कही नही हुई, जिससे जान पड़े कि मानो कवि तन्मय होकर कह रहा है। यह महाशय बड़े पंडित और बुद्धिमान् थे, परंतु स्वभाव से कवि न थे। तो भी, अद्वितीय न होने पर भी, इनकी कविता ऊँचे दरजे की है, और हम सूरदास, तुलसीदास, भूषण, बिहारी और देव के अतिरिक्त इनको किसी हिंदी-कवि से नीचा पद नही दे सकते।

केशवदास ने बहुत बातों के बड़े ही हृदयग्राही कथन किए है। निम्न-लिखित विषयों के वर्णन विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं—

अयोध्या, स्वयंवर, सूर्योदय, राम-विवाह, परशुराम और राम का संवाद, भरत की सेना, वर्षा, लंकादाह, उपवन, रामाश्वमेध की चमू (रामचंद्रिका में) तथा वर्षा और शरत् का वर्णन (विज्ञान-गीता मे)।

केशवदास सदैव महाराजों मे रहे, अतः इन्होने बड़े आदमियो की बातचीत और उनके साज-सामान का बहुत ही ठीक, यथा-योग्य, वर्णन किया। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र और दशरथ का, विश्वामित्र और जनक का, सीता और रावण का (इसमें स्त्रियों के ऊँचे पद का पूरा विचार रहा है), सीता और हनुमान् का इत्यादि। केशवदास ने केवल रावणागद-संवाद ऐसा कराया है, जैसा राजों की सभाओं मे होना असंभव है। इस विषय मे वाल्मीकिजी की कविता दर्शनीय है। केशवदास ऋषियो और राजों की बातचीत में ऋषियों के मान पर सदैव

ध्यान रखते थे।। इन्होंने कहीं-कहीं अनुपयुक्त कथन भी कर दिए है। रावण का दूत रामचंद्र से कुछ कहने के लिये उनके पास भेजा गया था। उसने लौटकर रावण से रामचंद्र का वर्णन निम्न-लिखित दंडक द्वारा किया—

भूतल के इद्र भूमि बैठे हुते रामचंद्र
मारिच-कनक-मृगछालहिँ बिछाए जू;
कुंभहर कुंभकर्न-नासाहर गोद-सीस
चरन अकंप-अच्छ-अरि-उर लाए जू।
देवांतक, नरांतक त्यों ही मुसक्यात बीर
बिभीषन बैन तन कान रुख बाए जू;
मेघनाद मकराच्छ महोदर-प्रानहर
बान त्यों बिलोकत परम सुख पाए जू॥ ४८॥

यह छंद सुनकर केशवदास के रावण को कुछ भी क्रोध नहीं आया। ऐसे कटु वाक्य केशवदास भले ही कहे, परंतु स्वयं रावण का दूत रावण ही से ऐसा कहकर अपने प्राण गँवाए बिना कभी न बचता। ऐसी-ऐसी बातें हमारे कवियों ने भक्ति-भाव के कारण, रावण को ज़लील करने के लिये, कहलाई हैं; परंतु उन्होंने यह नहीं सोचा कि ये बातें संभव और संगत भी हैं, या नहीं?

केशवदास ने, जहाँ तक हो सका है, सनाढ्यों की बड़ी बड़ाई की है। ये बातें इनके-से महाकवि के मुख से शोभा नहीं पातीं।

आपने सीता के छोड़े जाने के कुछ ही पहले जो सीता और राम का वार्तालाप कराया है, उसमें काल-विरुद्ध दूषण है। वह ऐसी ही बातचीत है, जैसी आजकल की यहाँ की स्त्रियाँ अपने पतियों से करती हैं, परंतु उस समय स्त्रियों का पद यहाँ भी वैसा ही था, जैसा आजकल योरप में है। इस विषय में भवभूति-कृत उत्तर-राम-चरित्र देखने योग्य है।

केशवदास ने कवि-प्रिया में पृथ्वी को त्रिकोण कहा है (छठा अध्याय)। वास्तव में यह आकार भारत का है। जैसा कि सब जानते हैं, पृथ्वी गोल है। इससे अनुमान होता है कि केशवदास ज्योतिष अच्छी तरह नहीं जानते थे।

महर्षि विश्वामित्र का राक्षसों द्वारा यज्ञ में विघ्न करने से पीड़ित होना एक आश्चर्य की बात है। यह संदेह उठता है कि ऋषि लोग तो शाप से ही अपना काम चला लेते थे, तब विश्वामित्र शाप से काम न लेकर अयोध्या क्यों दौड़े आए? इसका उत्तर कुछ प्राचीन ग्रंथों ने दे दिया है। विश्वामित्र ने कई बार क्रोध करके अपनी तपस्या का फल खो दिया था, अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि क्रोध न करेंगे। बिना क्रोध के शाप नहीं दिया जा सकता, इस कारण

वह शाप भी नहीं दे सकते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने इस बात को बचाकर विश्वामित्र को क्रोध के वश नही कराया, परंतु केशवदास ने कह दिया—

जान्यो बिस्वामित्र के क्रोध बस्यो उर आय;
राजा दसरथ सों कह्यो बचन बसिष्ठ बनाय॥ ४९ ॥

आजकल हमारे यहाँ तीर्थ-स्थान और प्रतिमा बहुत माननीय है, परंतु केशवदास संभवतः इन दोनो बातों के कुछ प्रतिकूल थे। इन्होंने गोदावरी के विषय में लिखा है—

रीति मनो अबिबेक कि थापी; साधुन की गति पावत पापी।

इन्होने रामचंद्रिका मे गंगासागर से सत्संग को बड़ा बतलाया है, और विज्ञान-गीता में लिखा है—

चित्त न तजत बिकार न्हात जद्यपि नर गंगा।

फिर इसी ग्रंथ में कहा है कि प्रतिमा-पूजन शूद्र को करना चाहिए। इन्होंने मठपतियों की इतनी निंदा की कि उनके छूने मे भी पाप बतलाया। केशवदास ने असली देव की व्याख्या रामचंद्रिका के पचीसवे अध्याय में रामचंद्र से इस प्रकार कराई—

राम रमापति देव नहिं रंग न रूप न भेव,
देव कहत ऋषि कौन को सिखऊँ जाकी सेव॥ ५० ॥
सत चित प्रकास प्रभेव, तेहि बेद मानत देव।
तेहि पूजि ऋषि रुचि मंडि; सब प्राकृतन को छंडि॥ ५१ ॥

इसी प्रकार विज्ञान-गीता के पंद्रहवे अध्याय मे लिखा है—

अजन्मु है, अमनु है; असेष अंत सुन्न है;
अनादि, अंत-हीनु है; जु नित्य ही नबीनु है।
अरूप है, अज्ञेय है; अमाप है, अमेय है;
निरीह, निर्बिकार है; सुमध्य अध्यहार है॥ ५२ ॥
अकृत्य है, अखंडितवै; असेष जीव मंडितवै;
समस्त सक्ति-जुक्त है; सु देव देव मुक्त है।
ताकी पूजा करहु ऋषि; कृत्रिम देवन छंडि;
मनसा - बाचा - कर्मना, निपट कपट को खंडि॥ ५३ ॥

इसी अध्याय मे इन्होने कहा कि वासना छोड़कर प्राणायाम साधना अच्छा है। इन कथनो से प्रकट है कि केशवदास भी सूरदास की भाँति केवल एक परमेश्वर को मानते और शेष देवतो को कृत्रिम समझते थे। वासना छोड़ना एवं प्राणायाम साधना गीता का आशय है। विज्ञान-गीता का, उदाहरण-स्वरूप,

जो छंद ऊपर कहा गया है, वह भी गीता के आशय पर है, और उसी पर बिज्ञानगीतावाला जीवन्मुक्त का यह लक्षण भी है—

लोक करै सुख दुःखनि कै जनि राग बिरागनि या मँह आनै ;
डारै उपारि समूल अहतरु, कंचन - काँच न जो पहिचानै ।
बालक ज्यों भँवे भूतल मे, भव आपुन सं जड़ जगम जानै ;
केसव बेद - पुरान प्रमान तिन्है सब जीवनमुक्त बखानै ॥ ५४ ॥

इन्होने विज्ञान गीता के इस दोहे मे अद्वैत मत का बड़ा ही हृदयग्राही उदाहरण दिया है—

देव अरूप, अमेय है कहे निरीह प्रकास ;
सर्व - जीवमंडित कहौ कैसे 'केसवदास' ? ॥ ५५ ॥

ज्यों अकास घट-घटनि मै पूरन लीन न होइ ;
यों पूरन सब देह मैं रहै कहै मुनि लोइ ॥ ५६ ॥

केशवदास कहते हैं कि मनुष्य नित्यप्रति लौट-लौट कर वही कर्म करता है, परंतु आश्चर्य कि इससे वह ऊबता नहीं। इनके मत में ससार और स्वर्ग-नरक के लक्षण यो हैं—

जोही जानौ कर्म अब सबै जगत के कंत ;
आदि सरस मध्यम बिरस, अति नीरस है अंत ॥ ५७ ॥
जोई करै सु भोगवै यह समुझौ नृपनाथ ;
स्वर्ग-नरक, बंधन, मुकुत, मानो मन की गाथ ॥ ५८ ॥

इस प्रकार गूढ कहकर इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये स्थूल ज्ञान भी कहा है। केशवदास ने दान दो प्रकार के कहे हैं—एक सुपात्रों को और द्वितीय कुपात्रों को। इनके मत में कुपात्रों को दान देने से दानी को पुण्य के बदले घोर पाप होता है। सुपात्रों के लिये दान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस।

पूजिए द्विज आपने कर नारिसंजुत जानिए ;
देवदेवहि थापिकै पुनि बेद-मंत्र बखानिए।
हाथ लै कुस, गोत्र उच्चरि, स्वर्नजुक्त प्रमानिए ;
दान दै कछु और दीजहि दान सात्त्विक जानिए ॥ ५९ ॥

देत नहीं अपने कर दानै ; औरन हाथ जु मंगल जानै।
दानहि देत जु आरसु आवै ; सो वह राजस दान कहावै।
बिप्रन दीजत हीन बिधानै ; सो वह जानहु तामस दानै ॥ ६० ॥

द्विज धाम देहिँ जु जाय ; बहु भाँति पूजि सुराय।
कछु नाहिनै परिमान ; कहिए सु उत्तम दान ॥ ६१ ॥
द्विज कौ जु देत बुलाय ; कहिए सु मध्यम राय।
गुनि जाँचना मिस दानु , अति हीन ता कहँ जानु ॥ ६२ ॥

दान-पात्रों का क्रम इन्होंने यों कहा है—

पहिले निज वर्गिन देहु अबै ; फिरि पावहिँ नागर लोग सबै।
फिरि देहु सबै निज देसिन को ; उबरो धनु देहु बिदेसिन को ॥ ६३ ॥

दान सकाम तथा अकाम एवं दक्षिण (धर्म-निमित्त) और वाम (धर्म-विरुद्ध) भी होते हैं। केशवदास ने भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ माना है। इन्होंने दान-पात्र ब्राह्मणों को ही कहा है, और उन्हीं में न्यूनाधिक गुणों के कारण उत्तमता की न्यूनाधिकता कर दी है। इन्होंने भूखों, कंगालों आदि का दान से अधिक संबंध नहीं माना, और न देश-हितकारक दानों का वर्णन किया है।

केशवदास ने हर स्थान पर ब्राह्मणों की महिमा गाई है। उदाहरणार्थ दो-चार छंद नीचे लिखे जाते है—

द्विज दोषी न बिचारिए, कहा पुरुष, कह नारि ;
राम, बिरामन कीजिए, बाम ताड़का तारि ॥ ६४ ॥

× × ×

ब्रह्म दोष के अग्निकन सब समूल जरि जात।

× × ×

ज्यो द्विज-दोष ते संतति नासति, त्यों गुन भाजत लोभ के आगे।

× × ×

बिप्र न जानहु ये जग-रूपै, जानहु ये सब बिष्नु-स्वरूपै।
साचारो वा निराचारो साधुर्वासाधुरेव च ;
अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणा मामकी तनुः।

× × ×

जिनके पूजे तुम भए अंतर्जामी श्रीप ;
तिनकी बात हमैं कहा बूझत त्रिभुवन-दीप ॥ ६५ ॥

× × ×

गाय, द्विज, राज, तिय काज न गोहारि लागै
भोगवै नरक घोर चोर को अभय दानि।

परंतु इसके साथ ही केशवदास शत्रु पर आनेवाली दया को भी निंद्य समझते थे—

दया धिक ओर पै आवै।

अंत मे आपने सब धर्मों का सार निम्न-लिखित कलि-धर्म कहा है—

जब बेद - पुरान नसैहै ; जप तीरथ मध्य बसैहै।
उपदेस जु मोर किवारे ; कलि केवल नाम उघारे॥ ६६॥

स्त्रियो के वास्ते इन्होंने केवल पति-भक्ति धर्म कहा है—

कुबजै, कनही, काहली, कुटिल, कृतघ्न, कुरूप ;
सपने हू न तजै तरुनि कोढ़ी हू पति भूप॥ ६७॥
नारी तजै न आपनो सपने हू भरतार ;
पंगु, गुंग, बोरा, बधिर, अंध, अनाथ अपार॥ ६८॥

इन्होंने अपने सब ग्रंथों मे अन्य ग्रंथों के छंद बराबर लिखे हैं। इनकी कविता कुछ कठिन भी होती है, यहाँ तक कि कवियों में यह बात प्रसिद्ध है—

कबि कहँ दीन न चहै बिदाई, पूछै केसव की कविताई।

केशवदास सर्वव्यापिनी दृष्टि के कवि (Poet of general vision) थे। इन्होंने रामचंद्रिका मे रामचंद्र की ठग से भी समता कराई है। इसका यह प्रयोजन नही कि कवि उन्हे ठग कहता है, वरन् जंगल में ऐसे लोग भी मिलते थे, जो उन्हे ठग समझ बैठते थे। इसी भाँति उन्होंने हनुमान् के विषय में विभीषण से रावण को यह सलाह दिलवाई कि—

एक रंक मारि क्यों बड़ो कलंक लीजई ;
बुंद सोखिगो, कहा महासमुद्र छीजई ?॥ ६९॥

केशवदास ने एक महाकाव्य भी बनाया, क्योंकि रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और महाकाव्य के लक्षण भी इसमे मिलते है। इनके मतानुसार भी यह उत्तम काव्य है।

केशवदास भाषा-काव्य के एक बड़े भारी कवि थे, और देवजी आदि ने भी इनको महाकवि माना है। यथा 'केसव आदि महाकबिन' इत्यादि। यह महाशय भाषा में भामह-मम्मट के समान थे।

हम अब इस प्रबंध को केशवदास-कृत रचना के कुछ उदाहरणों के साथ समाप्त करते हैं। हिंदी के अनेक रसिक सूर तथा तुलसी के अतिरिक्त केशव को ही सर्वश्रेष्ठ कवि समझते हैं। हमारी समझ मे इनका नंबर छठा है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनके पीछे मतिराम का नंबर आता है।

उदाहरण—

रामचंद्रिका

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को ;

बिपति हरत हठि पदुमिनि-पात-सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को।
दूरि कै कलंक अंक भव-सीस-ससि-सम,
राखत हैं 'केसौदास' दास के बपुष को;
साँकरे की साँकरनि सनमुख होत ही त्यों
दसमुख मुख जोवै गजमुख मुख को॥ ७० ॥

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाइ,
ऐसी मति कहो धौं उदार कौन की भई?
देवता, प्रसिद्ध, सिद्ध, ऋषिराज तप-बृद्ध,
कहि-कहि हारे सब, कहि न केहूँ लई!
भावी, भूत, बर्तमान जगत बखानत हैं,
'केसौदास' कहूँ न बखानी काहू पै गई;
पति कहै चारि मुख, पूत कहै पाँच मुख,
नाती कहै षटमुख, तदपि नई-नई॥ ७१ ॥

पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान परि-
पूरन बतावै न बतावै और उक्ति को;
दरसन देत जिन्हैं दरसन समुझै न,
नेति-नेति कहै बेद छाँड़ि भेद जुक्ति को।
जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम-राम,
रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को;
रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि नाम देहि मुक्ति को॥ ७२ ॥

× × ×

बोलि न बोल्यो बोल, दयो फिरि ताहि न दीन्हों;
मारि न मारयो सत्रु, क्रोध मन बृथा न कीन्हो।
जुरि न मुरे संग्राम, लोक की लीक न लोपी;
दान, सत्य, सनमान, सुजस दिसि-बिदिसा ओपी।
मन लोभ, मोह, मद, कामबस भयो न 'केसवदास' भनि;
सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं, अवतारी अवतारमनि॥ ७३ ॥

गाधिराज को पुत्र साधि सब मित्र सत्रु-बल;
दान कृपान बिधान बस्य कीन्हो भुवमंडल।

के मन अपने हाथ, जीति जग इंद्रियगन अति ;
तप-बल याही देह भए छत्रिय ते ऋषिपति।
तेहि पुर प्रसिद्ध 'केसव' सुमति काल अतीतागतनि गुनि ;
तहँ अद्भुत गति पगु धारियो बिस्वामित्र पवित्र मुनि ॥ ७४ ॥

पुनि आए सरजू सरित तीर ;
तहँ देखे उज्जल अमल नीर।
नव निरखि-निरखि दुति गति गँभीर ;
कछु बरनन लागे सुमति धीर ॥ ७५ ॥
अति निपट कुटिल गति जदपि आप ;
वह देत सुद्ध गति छुवत आप।
कछु आपुन अध-अध गति चलंत ;
फल पतितन कहँ ऊरध फलंत ॥ ७६ ॥
मदमत्त जदपि मातंग संग ;
अति तदपि पतित-पावन तरंग।
बहु न्हाइ-न्हाइ जेहि जल सनेह ;
सब जात स्वर्ग सूकर सदेह ॥ ७७ ॥

देखी बन-बारी, चंचल-भारी, तदपि तपोधन मानी ;
अति तपमय लेखी, गृह-थित पेखी, जगत दिगंबर जानी।
जग जदपि दिगंबर, पुष्पवती नर, निरखि-निरखि मन मोहै ;
पुनि पुष्पवती तन, युत अति पावन, गर्भ-सहित सब सोहै ॥ ७८ ॥
पुनि गर्भ सँजोगी, रति रस-भोगी, जग जनलीन कहावै ;
गुनि जगजनलीना, नगर प्रबीना, अति पति के चित भावै।
अति पतिहि रमावै, चित्त भ्रमावै, सौतनि प्रेम बढ़ावै ;
अब यों दिन-रातिन अद्भुत भाँतिन कबि-कुल-कीरति गावै ॥ ७९ ॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति 'केसव' गाइय ;
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुर्गति दुर्गन ही, जु कुटिल गति सरितन ही मैं ;
श्रीफल को अभिलाष प्रकट कबिकुल के जी मैं।
अति चंचल जहँ चलदलै, बिधवा बनी न नारि ;
मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि ॥ ८० ॥

× × ×

जिन हाथन हठि हरषि हनत हरिनी नृपनंदनि ;
तिन न करत संहार कहा मदमत्त - गयंदनि ?
जिन बेधत सुख लच्छ-लच्छ नृपकुँअर, कुँअरमनि ;
तिन बाननि बाराह, बाघ मारत नहिं सिंहनि ?
नृप-नाथ नाथ दसरथ, सुनिय अकथ कथा यह मानिए ;
मृगराज राज - कुल - कलस अब बालक बृद्ध न जानिए ॥ ८१ ॥

× × ×

तरु तालीस, तमाल, ताल, हिताल, मनोहर ;
मंजुल बंजुल, तिलक, लकुच-कुल, नारिकेर बर ।
एला, ललित लवंग, संग पुंगीफल सोहैं ;
सारो, सुक-कुल कलित, चित्त कोकिल, अलि मोहैं ।
सुभ राजहंस, कलहंस-कुल, नाचत मत्त मयूरगन ;
अति प्रफुलित, फलित सदा रहै 'केसवदास' बिचित्र बन ॥ ८२ ॥

× × ×

सोभित मंचन की अवली गजदंतमई छबि उज्जल छाई ;
ईस मनौ बसुधा मैं सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जुन्हाई ।
तामहँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई ;
देवन सों जनु देव - सभा मिलि सीय-स्वयंबर देखन आई ॥ ८३ ॥

× × ×

कुंडल परसन मिस कहत, कहौ कौन यह राज ;
संभु - सरासन - गुन करौं करनालंबित आज ? ॥ ८४ ॥

रावण—

बज्र को अखर्ब गर्ब गंज्यो जेहि पर्बतारि,
जीत्यो है सुपर्ब सर्ब भाजे लै-लै अंगना ;
खंडित अखंड आसु कीन्हो है जलेस-पासु,
चंदन सों चंद्रिका सों कीन्हीं चंद-बंदना ।
दंडक में कीन्हो कालदंड हू को मान खंड,
मानो कीन्ही काल ही की कला-खंड-खंडना ;
'केसव' कोदंड बिस-दंड ऐसे खंडे अब,
मेरे भुज - दंडन की बड़ी है बिडंबना ॥ ८५ ॥

बाण—

हौं जब ही जब पूजन जात पिता - पद - पावन पाप - प्रनासी ;
देखि फिरौं तब ही तब रावन सातौ रसातल के जे बिलासी।
लै अपने भुजदंड अखंड करौं छिति - मंडल छत्र - प्रभा - सी ;
जानै को 'केसव' केतिक बार मैं सेस के सीसन दीनी उसासी ॥ ८६ ॥
कैटभ-सो, नरकासुर - सो पल मैं मधु - सो, मुर-सो जिहि मारयो ;
लोक चतुर्दस - रच्छक 'केसव' पूरन बेद - पुरान बिचारयो।
श्री - कमला - कुच - कुंकुम - मंडित पंडित देव अदेव निहारयो ;
सो कन माँगन को बलि पै करतारहु ने कर तार पसारयो ॥ ८७ ॥

रावण—

भौंर ज्यों भँवत भूत बासुकी गनेस - जुत,
मानौ मकरंद - बुंद माल गंगजल की ;
उड़त पराग पट - नाल - सी बिसाल बाहु,
कहा कहौं 'केसौदास' सोभा पल-पल की।
आयुध सकल सर्बमंगलासमेत सर्ब,
पर्बत उठाय गति कीन्ही है कमल की ;
जानत सकल लोक, लोकपाल, दिगपाल,
जानत न बान, बात मेरे बाहु-बल की ! ॥ ८८ ॥

× × ×

खंडित मान भयो सबको नृप - मंडल हारि रह्यो जगती को ;
ब्याकुल बाहु, निराकुल बुद्धि, थक्यो बल-बिक्रम लंकपती को।
कोटि उपाव किए, कहि 'केसव' केहुँ न छाँड़त भूमि रती को ;
भूरि बिभूति प्रभाव सुभावहि ज्यों न चलै चित जोगि - जती को ॥ ८९ ॥

× × ×

प्रभात-वर्णन

ब्योम मैं मुनि देखिए रवि लाल श्री-सुख साजहीं ;
सिंधु मैं बड़वागि की जनु ज्वाल - माल बिराजहीं।
पद्मरागनि की किधौं दिबि धूरि - पूरित सोहई ;
सूर बाजिन की खुरी अति तिच्छता तिनकी हई ॥ ९० ॥
चढ़यो गगन-तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख ;
दीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन ॥ ९१ ॥

× × ×

राम-जनकपुर-गमन—

सातहु दीपनि के अवनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने ;
बीस बिसे ब्रत-भंग भयो सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने ?
सोक कि आगि लगी परिपूरन, आइ गए घनस्याम बिहाने ;
जानकि के, जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुण्य पुराने ॥ ९२ ॥

× × ×

सब छत्रिन आदि दै काहू छुई न छुए बिजनादिक बात डगै ;
न घटै न बढ़ै निसिबासर 'केसव' लोकन को तम-तोम भगै ।
भवभूषन भूषित होत नहीं, मदमत्त गजादि-मषी न लगै ;
जलहू थल हू परिपूरन श्रीनिमि के कुल अद्भुत जोति जगै ॥ ९३ ॥

आपने-आपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुव-पालैं सदाई ;
केवल नाम ही के भुवपाल कहावत है, भुव पालि न जाई ।
भूपन की तुमही धरि देह बिदेहन मै कल कीरति गाई ;
'केसव' भूषन की भव-भूषन भू-तन ते तनया उपजाई ॥ ९४ ॥

एक सुखी यहि लोक बिलोकिए, हैं वहि लोक निरै-पगधारी ;
एक इहाँ दुख देखत 'केसव', होत उहाँ सुरलोक बिहारी ।
एक इहाँ-ऊ-उहाँ अति दीन, सु देत दुहूँ दिसि के जन गारी ;
एकहि भाँति सदा सब लोकन है प्रभुताई मिथिलेस, तिहारी ॥ ९५ ॥

× × ×

परशुराम-संवाद—

बर बान सिखीन असेष समुद्रहि सोखि सखा सुख ही तरिहौं ,
पुनि लंकहि औटि कलंकित कै फिरि पंक कलंकहि की भरिहौं ।
भल भूँजिकै राकस खाकस कै दुख दीरघ देवन को हरिहौं ;
सितिकंठ के कंठन को कठुला दसकंठ के कंठन को करिहौं ॥ ९६ ॥

प्रचंड हैहयादि राज दंड - मान जानिए ;
अखंड कीर्ति लेय भूमि देयमान मानिए ।
अदेव, देव जे अभीत रच्छमान लेखिए ;
अमेय तेज भर्ग भक्त भार्गवेस देखिए ॥ ९७ ॥

टूटै टूटनहार तरु बायुहि दीजत दोष ;
त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष ।

हम पर कीजत रोष, काल-गति जानि न जाई;
होनहार ह्वै रहै, मिटै मेटे न मिटाई।
होनहार ह्वै रहै, मोह-मद सबको छूटै;
होय तिनूका बज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै॥ ९८॥

'केसव' हैहयराज को मासु हलाहल कौरन खाय लियो रे;
ता लगि मेद महीपन को घृत घोरि दियो न सिरानो हियो रे।
खीर षड़ानन को मद पूरन, सो पल मै करि पान लियो रे;
तौ लौं नही सुख जौ लौं न तू रघुबंस का सोनु-सुधा न पियो रे॥ ९९॥

कंठ कुठार जसै अबहार कि फूलो असोक ससोक समूरो;
कै चितसारी चढै कि चिता तन चंदन चित्र कि पावक पूरो।
लोक मै लोक बड़ो अपलोक सु 'केसवदास' जु होउ सु होऊ;
बिप्रन के कुल को भृगुनंदन, सूरज के कुल सूर न कोऊ॥१००॥

सुनि सकल लोकगुरु जामदग्नि;
तप बिसिख असेपन की जु अग्नि।
सब बिसिख छोंड़ि सहिहौं अखंड;
हर-धनुष करयो जिन खंड-खंड॥ १०१॥

भगन भयो हर-धनुष साल तुमको अब सालै;
बृथा होइ बिधि-सृष्टि, ईस आसन ते चालै।
सकल लोक संहरहुँ, सेप सिर ते धर डारो;
सप्तसिंधु मिलि जाहिँ, होहि सब ही तम भारो।
अति अमल जोति नारायनी कहि 'केसव' बुझि जाहि बरु;
भृगुनंद, सँभारु कुठार, मैं कियो सरासनजुक्त सरु॥ १०२॥

राम-राम जब कोप करयो जू; लोक-लोक भय भूरि भरयो जू;
बामदेव आपुन तब आए; रामदेव दोनो समुझाए॥ १०३॥

× × ×

भरत-चित्रकूट-गमन—

सब सारस हंस भए खग खेचर बारिद ज्यों बहु बारन गाजे;
बन के नर, बानर, किन्नर बालक लै, मृग ज्यों मृगनायक भाजे।
तजि सिद्ध समाधिन 'केसव' दीरघ दौरि दरीन में आसन साजे;
सब भूतल भूधर हाले अचानक आए भरत्थ के दुंदुभि बाजे॥ १०४॥

कुद्ध को आसु भरत्थ चढे धुनि दुंदुभि की दसहू दिसि धाई;
प्रात चली चतुरंग-चमू बरनी सु न 'केसव' कैसेहुँ जाई।

यों सबके तनआननि पै झलकी अरुनोदय की अरुनाई;
अंतर ते जनु रंजन को रजपूतनि की रज ऊपर आई॥ १०५॥

उठिकै धर धूरि अकास चली;
बहु चंचल बाजि खुरीन दली।
भुव हालति जानि अकास हिए;
जनु थंभित ठौर-हि-ठौर किए॥ १०६॥

रन राजकुमार अरूझहिँगे जू;
बहु सम्मुख घायनि जूझहिँगे जू।
जनु ठौरनि-ठौरनि भूमि नबीने;
तिनके चढ़िबे कहँ मारग कीने॥ १०७॥

रहि पूरि बिमाननि ब्योमथली;
तिनको जनु टारन धूरि चली।
परिपूरि अकासहि धूरि रही;
सु गयो मिटि सूर-प्रकास सही॥ १०८॥

अपने कुल को कलह क्यों देखहिँ रबि भगवंत;
यहै जानि अंतर कियो मानौ मही अनंत॥ १०९॥

बहु तामहँ दीह-पताक लसैं;
जनु धूम मै अग्नि की ज्वाल बसैं।
रसना किधौं काल कराल घनी;
किधौं मीचु नचै चहुँ ओर बनी॥ ११०॥

देखि भरत की चल धुजा धूरिन मै सुख देति;
जुद्ध-जुरन को मनहुँ प्रति जोधन बोले लेति॥ १११॥

× × ×

स्फुट

कच स्वेत बिराजैं, कीरति राजैं, जनु 'केसव' तप-बल की;
तनु बलित पलित जनु सकल बासना निकरि गई थल-थल की।
कंपित सुभ-ग्रीवा, सब अँग सीवा, देखत चित्त भुलाहीं;
जनु अपने मन प्रति, यह उपदेसति, या जग मैं कछु नाहीं॥ ११२॥

× × ×

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी;
निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी।

अघ ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रगटी गुरु - ज्ञान - गटी ;
चहुँ ओरन नाचत मुक्ति नटी गुन धूरजटी जटी पंचबटी ॥११३।

× × ×

लंका में सीता

हिमांसु सूर - सो लगै, सु बात बज्र - सी बहै ;
दिसा लगैं कृसानु ज्यों, बिलेप अंग को दहै ।
बिसेष कालराति - सी कराल राति मानिए ;
बियोग सीय को न, काल लोकहार जानिए ॥ ११४ ॥

पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मंद ;
चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिनि चंद ॥ ११५ ॥

× × ×

कहूँ किन्नरी किंगरी लै बजावैं ;
सुरी, आसुरी बाँसुरी गीत गावैं ।
कहूँ जच्छिनी पच्छिनी लै पढावैं ;
नगीकन्यका पन्नगी को नचावैं ॥ ११६ ॥

पियैं एक हाला, गुहैं एक माला ;
बनी एक बाला नचैं चित्रसाला ।
कहूँ कोकिला कोक की कारिका को ;
पढ़ावैं सुआ लै सुकी सारिका को ॥ ११७ ॥

फिरयो देखिकै राजसाला सभा को ;
रह्यो रीझिकै बाटिका की प्रभा को ।
फिरयो बीर चौहूँ चितै सुद्ध गीता ;
बिलोकी भली सिसुपा - मूल सीता ॥ ११८ ॥

आँसु बरषि, हियरे हरषि, सीता सुखद सुभाइ ;
निरखि - निरखि पिय - मुद्रिकहि बरनति हैं बहु भाइ ॥ ११९ ॥

यह सूर - किरन तम - दु.ख - हारि ;
ससि - कला किधौं उर - सीतकारि ।
कल कीरति - सी सुभ सहित नाम ;
कै राज सिरी यह तजी राम ॥ १२० ॥

कै नारायन - उर सम बसंति ;
सुभ अंकन ऊपर श्री - बसंति ।

बर बिद्या - सी आनंद दानि ;
जुत अष्टापद मनु सिवा मानि ॥ १२१ ॥

जनु माया अच्छर - सहित देखि ,
कै पत्री निश्चयदानि लेखि ।
प्रिय - प्रतीहारिनी - सी निहारि ;
'श्रीरामोजय' उच्चारकारि ॥ १२२ ॥

पिय पठई मानौ सखि सुजान ;
जगभूषन को भूषन - निधान ।
निजु आई हमको सीख देन ;
यह किधौं हमारो मरमु लेन ॥ १२३ ॥

सुखदा, सिखदा, अर्थदा, जसदा, रसदातारि ;
रामचंद्र की मुद्रिका किधौं परम गुरुनारि ॥ १२४ ॥

बहुबरना, सहजप्रिया, तमगुनहरा प्रमान ;
जग मारग दरसावनी सूरजकिरन समान ॥ १२५ ॥

श्रीपुर मैं, बन - मध्य हौं, तू मग करी अनीति ;
कहि मुँदरी, अब तियन की को करिहै परतीति ? ॥ १२६ ॥

कहि कुसल मुद्रिके, रामगात ;
पुनि लछिमन - सहित समान तात ।
यह उत्तर देति न बुद्धिवंत ;
केहि कारन धौं हनुमंत संत ? ॥ १२७ ॥

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम ;
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम ॥ १२८ ॥

दीरघ दरीन बसै 'केसौदास' केसरी ज्यों,
केसरी को देखि बन - करी ज्यो कँपत हैं ;
बासर की संपति उलूक ज्यो न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चपत हैं ।
केकी सुनि ब्याल ज्यों बिलात जात घनस्याम,
घनन के घोरन जवासे ज्यों तपत है ;
भौंर ज्यों भँवत बन, जोगी ज्यो जगत रैनि,
साकत ज्यों राम नाम तेरोई जपत हैं ॥ १२९ ॥

× × ×

लंका-दहन—

जटी अग्नि-ज्वाला अटा स्वेत है यों ;
सरत्काल के मेघ संध्यासमै ज्यों ।
लगी ज्वाल - धूमावली नील राजै ;
मनो स्वर्न की किंकिनी नाग साजै ॥ १३० ॥

लसै पीत छत्री मढो ज्वाल मानौ ;
ढके ओढ़नो लंक बच्छोज जानौ ।
जरै जूह - नारी चढीं चित्रसारी ;
मनौ चेटका मै सती सत्वधारी ॥ १३१ ॥

कहूँ रैनिचारी गहे जोति गाढे ;
मनो ईस - रोषाग्नि में काम डाढे ।
कहूँ कामिनी ज्वाल - मालानि भोरै ;
तजैं लाल सारो, अलंकार तोरैं ॥ १३२ ॥

कहूँ भौन - राते रचे धूमछौंहीं ;
ससी-सूर मानौ लसै मेघ माहीं ।
जर सस्त्रसाला मिली गंधमाला ;
मलै अद्रि मानो लगो दाव - ज्वाला ॥ १३३ ॥

चलीं भागि चौहूँ दिसा राजधानी ;
मिली ज्वालमाला फिरैं दुःखदानी ।
मनौ ईस - बानावली लाल लोलैं ;
सबै दैत्य - जायान के संग डोलैं ॥ १३४ ॥

लंक लगाइ दई हनुमान बिमान बचे अति उच्चरुखी है ;
पाच्छि फटैं उचटैं बहुधा मनि, रानी रटैं बहु पानी दुखी है ।
कंचन को पघिल्यो पुर पूर, पयानिधि मै पसरेति सुखी है ;
गंग हजारमुखी गुनि 'केसौ' गिरा मिली मानौ अपारमुखी है ॥ १३५ ॥

× × ×

स्फुट

भार के उतारिबे को औतरे हो रामचंद्र,
किधौं 'केसौदास' भूरि भारत प्रबल दल ;
टूटत हैं तरुबर, गिरे गन - गिरिबर,
सूखे सब सरबर, सरिता सकल जल ।

उचकि चलत हरि दचकनि - दचकत,
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल - थल ;
लचकि - लचकि जात सेष के असेष फन,
भागि गई भोगवती अतल - बितल - तल ॥ १३६ ॥

× × ×

राघव की चतुरंग चमू चय धूरि उठी जल हू थल छाई,
मानौ प्रताप - हुतासन - धूम सु 'केसवदास' अकासन माई।
मेटिकै पंच प्रभूत किधौ बिधि रेनुमई नव रीति चलाई ;
दु:ख-निवेदन को भव-भार को भूमि किधौ सुरलोक सिधाई ॥ १३७ ॥
दीनदयालु कहावत हौ हरि, हौ अति दीन दसा गहि गाढ़ो ;
रावन के अघ-ओघ मै 'केसव' बूड़त हौ बरही गहि काढ़ो।
ज्यो गज की, पहलाद कि कीरति, त्यो ही बिभीषन को जस बाढ़ो,
आरत बंधु पुकार सुनो किन, आरत हौ तौ पुकारत ठाढ़ो ॥१३८॥
'केसव' आपु सदा ही सह्यो दुख, दासन देखि सके न दुखारे ;
जाको भयो जेहि भाँति जहाँ दुख, ताहि तहाँ तिहि भाँति उधारे।
मेरियै बार अबार कहा, कहुँ नाहिन दास के दोष बिचारे ;
बूड़त हौ महामोह - समुद्र मै, राखत काहे न राखनहारे ॥१३९॥

× × ×

इनको बिलगु न मानिए कहि 'केसव' पल आधु ;
पानी, पावक, पौन, प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु ॥ १४० ॥

× × ×

महामीचु दासी सदा पाइँ धोवै ;
प्रतीहार ह्वैकै सदा सूर सोवै।
छपानाथ लीन्हे रहै छत्र जाको ;
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको ? ॥ १४१ ॥
सका - मेघमाला, सिखी - पाककारी ;
करै कोतवाली महादंडधारी।
पढ़ैं बेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके ;
कहा बापुरो सत्रु सुग्रीव ताके ? ॥ १४२ ॥
पेट चढ्यो, पलना, पलिका चढ़ि पालकि हू चढ़ि मोद मढ़्यो रे ;
चौक चढ़्यो, चितसारी चढ्यो, गज-बाजि चढ़्यो, गढ़ गर्ब गढ्यो रे।

ब्योम बिमान चढ्योई रहै, कहि 'केसव' सो कबहूँ न पढ्यो रे ;
चेतत नाहिँ रह्यो चढि चित्त, सु चाहत मूढ चिता हू चढ्यो रे ॥ १४३ ॥

× × ×

लंका-युद्ध

जाके रथाग्र पर सर्प - ध्वजा बिराजै ;
श्रीसूर्य - मंडल - बिडंबन जोति साजै ।
आखंडलीय बपु जो तनत्रानधारी ;
देवांतकै सो सुरलोक बिपत्तिकारी ॥ १४४ ॥
जो हंसकेतु भुजदंड निषंगधारी ;
संग्राम - सिंधु बहुधा अवगाहकारी ।
लीन्हीं छँड़ाइ जेहि देव - अदेव - बामा ,
सोई खरात्मज बली मकराच्छ - नामा ॥ १४५ ॥

× ×

हन्यो बिघ्नकारी बली बीर बामै ;
गयो सीघ्रगामी गए एक जामै ।
चल्यो लै सबै पर्बतै कै प्रनामै ;
न जान्यो बिसल्यौषधी कौन तामै ॥ १४६ ॥
लसैं ओषधी चारु भो ब्योमचारी ;
कहै देखि यों देवदेवाधिकारी ।
पुरी भौम की - सी लिए सीस राजै ;
महामंगलार्थी हनूमंत गाजै ॥ १४७ ॥
किधौं प्रात ही काल जी में बिचारयो ;
चल्यो अंसु लै अंसुमाली सँहारयो ।
किधौं जात ज्वालामुखी जोर कीन्हें ;
महामृत्यु जामें मिटै होम लीन्हे ॥ १४८ ॥

× × ×

भगी देखिकै संकि लंकेस - बाला ;
दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला ।
तहाँ दौरि गो बालि को पूत फूल्यो ;
सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो ॥ १४९ ॥
गहै दौरि जाको, तजै ताकि ताको ;
तजै जा दिसा को, भजै बाम ताको ।

भली कै निहारी सबै चित्रसारी ;
लहै सुंदरी क्यों दरी को बिहारी ? ॥ १५० ॥

तजै दृष्टि को चित्र की सृष्टि धन्या ;
हँसी एक ताको तहीं देव - कन्या ।
तहीं हास ही देव - कन्या दिखाई ,
गही संकिकै लंक - रानी बताई ॥ १५१ ॥

सु - आनी गहे - केस लकेसरानी ;
तम - श्री मनो सूर सोभा-निसानी ।
गहे बाँह ऐंचै चहूँ ओर ताको ;
मनौ हंस लीन्हे मृनाली - लता को ॥ १५२ ॥

छुटी कंठमाला, लरैं हार टूटे ;
खसैं फूल फूले, लसैं केस छूटे ।
फटी कंचुकी, किंकिनी चारु छूटी ,
पुरी काम की - सी मनौ रुद्र लूटी ॥ १५३ ॥

बिना कंचुकी स्वच्छ बच्छोज राजैं ;
किधौं साँच हू श्रीफलै सोभ साजैं ।
किधौं स्वर्न के कुंभ लावन्य - पूरे ;
बसीकर्न के चूर्न सपूर्न रूरे ॥ १५४ ॥

मनो इष्टदेवै सदा इष्ट ही के ;
किधौं गुच्छ द्वै काम - संजीवनी के ।
किधौं चित्त - चौगान के मूल सोहै ;
हिए हेम के हाल गोला बिमोहैं ॥ १५५ ॥

सुनी लंक - रानीन की दीन बानी ,
तहीं छाँड़ि दीन्हों महामौनमानी ।
उठ्यो सो गदा लै जदा लंक - बासी ,
गए भागिकै सर्ब साखा-बिलासी ॥ १५६ ॥

× × ×

जुद्ध जोई जहाँ भाँति जैसी करै, ताहि ताही दिसा रोकि राखै तहीं ;
आपने अस्त्र लै सस्त्र काटै सबै, ताहि केहू कहूँ घाव लागै नही ।
दौरि सौमित्र लै बान को दंड ज्यों खड खंडी धुजा धीर छत्रावली ;
सैल-सृंगावली छोड़ि मानौ उड़ी एक ही बेर कै हंस - बंसावली ॥१५७॥

लच्छन सुभ लच्छन बुद्धि - बिचच्छन रावन सों रिस छोड़ि दई,
बहु बाननि छंडै जे सिर खंडै ते फिरि मंड सोभनई।
जद्यपि नर पंडित गुन - गन - मंडित रिपुबल-खंडित भूलि रहे,
तजि मन - बच - कायक सूर - सहायक रघुनायक सों बचन कहे ॥१५८॥
ठाढ़ो रन गाजत केहुँ न भाजत तन - मन लाजन सब लायक;
सुनि श्रीरघुनंदन मुनिजन - बंदन दुष्ट - निकंदन सुखदायक।
अब टरै न टार्‌यो, मरै न मार्‌यो, हौं हठि हार्‌यो धरि सायक;
रावन नहिँ मारत, देव पुकारत ह्वै अति आरत जगनायक ॥१५९॥

× × ×

जेहि सर मधु, मुर मरदि महासुर मर्दन कीन्हेउ;
मारेहु कर्कस नरक, संख हति सख जु लीन्हेउ।
निष्कंटक सुर - कटक कर्‌यो, कैटभ - बपु खंड्यो;
खर, दूषन, त्रिसिरा, कबंध, तरुखंड बिहंड्यो।
सह कुंभकर्न ज्यहि संहर्‌यो, पल न प्रतिज्ञा ते टर्‌यो;
तेहि बान प्रान दसकंठ के कंठ दसौ खंडित कर्‌यो ॥ १६० ॥

× × ×

सिगरे तन भूषन भूषित कीने;
धरिकै कुसुमावलि अंग नवीने।
द्विज, देवनि बंदि पढ़ी सुभ गीता;
तब पावक - अंक चली चढ़ि सीता ॥ १६१ ॥
सबस्त्रा सबै अंग सिगार सोहै;
बिलोके रमा, देव, देवी बिमोहैं।
पिता - अंक ज्यों कन्यका सुभ्र गीता;
लसैं अग्नि के अंक त्यों सुद्ध सीता ॥ १६२ ॥
महादेव के नेत्र की पुत्रिका - सी;
कि संग्राम की भूमि मैं चंडिका-सी।
मनो रत्न - सिंहासनस्था सची है;
किधौं रागिनी राग पूरे रची है ॥ १६३ ॥
गिरा पूर में है पयो - देवता - सी;
किधौं कंज की मंजु सोभा प्रकासी।
किधौं पद्म ही में सिफाकंद सोहै;
किधौं पद्म के कोस पद्मा बिमोहै ॥ १६४ ॥

कि सिदूर - सैलाग्र मैं सिद्ध - कन्या ;
किधौं पद्मिनी सूर - संजुक्त धन्या ।
सरोजासना है मनौ चारु बानी ;
जपा - पुष्प के बीच बैठी भवानी ॥ १६५ ॥

मनौ ओषधी - बृंद मै रोहिनी - सी ;
कि दिग्दाह मै देखिए जोगिनी-सी ।
धरा-पुत्र ज्यों स्वर्न - माला प्रकासै ,
मनौ जोति - सी तच्छका भोग भासै ॥ १६६ ॥

आसावरी मानिक - कुंभ सोभै
असोक - लग्ना बन - देवता - सी ;
पालास - माला - कुसुमालिमध्ये,
बसत - लक्ष्मी सुभ - लच्छना - सी ।
आरक्त - पत्रा सुभचित्र - पुत्री,
मनौ बिराजै अति चारु बेखा ;
संपूर्न सिदूर - प्रभास कैधौं,
गनेस - भाल - स्थल चंद्र - रेखा ॥ १६७ ॥

× × ×

विज्ञान-गीता

लोग लगे सिगरे अपमारग, पोच, भलो - बुरो जानि न जाई ;
चंचल हस्तिन को सुखदा अचला बिच दामिनि को दुखदाई ।
हंस, कलानिधि, सूर प्रभा हत, खंड सिखंडन की अधिकाई ;
'केसव' पावसकाल, किधौं अबिबेक महीपति की ठकुराई ॥१६८॥

× × ×

कवि-प्रिया

नारायन कीन्ही मनि उर अवदात गनि,
कमला कि बानी भनि सोभा सुभ सारु है ;
'केसव' सुरभि केस सारदा सुबेस बेस,
नारद को उपदेस बिसद बिचारु है ।
सौनक ऋषि बिसेषि सीरष सिखानि लेखि,
गंगा की तरंग देखि बिमल बिहारु है ;
राजा दसरथ - सुत सुनो राजा रामचंद्र,
रावरो सुजस सब जग को सिंगारु है ॥ १६९ ॥

सीतल समीर टारु, चंद्र - चंद्रिका निवारु,
　　ऐसे ही तौ 'केसौदास' हरष हेरातु है ;
फूलनि फैलाइ झारि डारु घनसारु चट,
　　चंदन को ढारु चित चौगुनो पिरातु है।
नीर-हीन मीन मुरझाइ जीवै नीर ही ते,
　　छीर के छिरीके कहा धीरज धिरातु है ;
पाइहै तो पीर किधौं यों हीं उपचारु करै,
　　आगि ही को डाढ़ो अंग आगि ही सिरातु है ॥ १७० ॥

को है दमयंती, इंदुमती, रति राति - दिन,
　　होहि न छबीली छिन इन जो सिँगारिए ;
'केसव' लजात जलजात जातबेद यौंऽब,
　　जातरूप बापुरो बिरूप - सो निहारिए।
मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो,
　　चंद बहुरूप अनरूपक बिचारिए ;
सीताजू के रूप पर देवता कुरूप को हैं,
　　रूप हू को रूप सो लै वारि - वारि डारिए ॥ १७१ ॥

सारिका खात न माखन दाख न दाड़िम हू मह मेटि इठाई ;
'केसव' ऊख, मयूखहु दूखत, आई हौं तो पहँ छोड़ि जिठाई।
तो रदनच्छद को रस रंचक चाखि गए करि केहूँ ढिठाई ;
ता दिन ते उन राखी उठाइ समेत सुधा बसुधा की मिठाई ॥ १७२ ॥

बालि बध्यो, बलिराउ बिध्यो, कर सूली के सूल कपाल थली है ;
काम जरयो जग काम परयो बँधि सेष धरयो बिष हालाहली है।
सिंधु बँध्यो किल काली नथ्यो कहि 'केसव' इंद्रकुचालि चली है ;
राम हू की हरी रावन बाम, तिहूँ पुर एक अदृष्ट बली है ॥ १७३ ॥

'केसौदास' ओरछे के आस-पास तीस कोस,
　　तुंगारन्य नाम बन बैरी को अजीत है ;
बिधि - कैसौ बंध बरबारन बलित बाघ,
　　बानर, बराहु बहु भिल्ल को अभीत है।
जम की जमाति-सो कि जामवंत - कैसो दल,
　　महिषसुखद स्वच्छ रिच्छनि को मीत है,
अचल अनलवंत सिंधु - सो सरितजुत,
　　संभु "- कैसो जटाजूट परम पुनीत है ॥ १७४ ॥

भूति बिभूत पियूषहु की बिषईस सरीस को पाप बियो है ;
है किधौं 'केसव' कस्यप को घरु देव-अदेवनि के मन मोहै।
सत हियो कि बसैं हरि संतत सोभ अनंत कहै कबि को है ;
चंदन-नीर-तरंग-तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै ॥ १७५ ॥

नीके कै केँवार देहौ द्वार-द्वार 'केसौदास',
मेरे घर आस - पास सूरजौ न छावैगो ,
छिन मे छवाय लैहौं ऊपर अटानि आजु,
आँगन पटाय लैहौं जैसे मोहिँ भावैगो।
न्यारे-न्यारे नापदान मूँदिहौं झरोखा-जाल,
पाय है न पैड़ो पौन आवन न पावैगो ,
माधव, तिहार बिन मोपहिँ मरन मूढ़,
आवन कहत, सु तो कौन पैंडे आवैगो ? ॥ १७६ ॥

'केसव' सरिता सकल मिलत सागर मन मोहै ;
ललित लता लपटानि तरुन तन तरुबर सोहै।
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन ;
मनभावन कहँ भेटि भूमि कूजत मिस मोरन।
इहि रीति रमन रमनीन सों रमन लगे मन भावने ;
पिय, गमन करन की को कहै, गमन न सुनियत सावने ॥ १७७ ॥

धिक मंगन बिनु गुनहिँ, गुनहिँ धिक सुनत न रीझिय ;
रीझबु धिक बिनु मौज, मौज धिक देत जु खीजिय।
दीबो धिक बिनु साँचु, साँचु धिक धरम न भावै ;
धरम सु धिक बिनु दया, दया धिक अरि पहँ आवै।
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति ,
मति धिक 'केसव' ज्ञान बिनु, ज्ञान सुधिक बिनु हरि-भगति ॥ १७८ ॥

कर्न-से दुष्ट ते पुष्ट हुते भट पाय सपुष्टन सासन टारे ,
सोदर सेन दुसासन-से सब साथ समर्थ भुजा उसकारे।
हाथी हजारन के बल 'केसव' खैंचि थके पट को डर डारे ;
द्रौपदी को दुरजोधन पै तिल अंग तऊ उघरयो न उघारे ॥ १७९ ॥

× × ×

रसिक-प्रिया

'केसव' एक समै हरि-राधिका आसन एक लसैं रस-भीने ;
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यों दुति दीने।

बाल के भाल में लाल विलोकत ही भरि लोचन लालन लीने ;
सासन पीय सबासन सीय हुतासन में मनो आसन कीने ॥ १८० ॥

कानन के रँगे रंग, नैनन के डोलौ संग,
नासाग्र रसना तें रस ही समाने हौ,
और कहा कहौ गूढ मूढ हौ जू जानि जाहु,
'केसोदास' प्रौढ रूढ़ नीके करि जाने हौ।

तन आन, मन आन, कपट-निधान कान,
साँची कहौ मेरी आन काहे को डराने हौ ;
वे तो है बिकानी हाथ मेरे, हौं तुम्हारे हाथ,
तुम ब्रजनाथ, हाथ कौन के बिकाने हौ ? ॥ १८१ ॥

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैंचो हाथ,
सोवै नीके नारिकाऊ सुक तो सोवायो जू ;
मंद करौ दीप-दुति, चंद मुख देखियतु,
दौरिकै दुराय आऊँ द्वार ते दिखायो जू।

मृगज, मराल-बाल बाहिरै बिडारि देउ,
भयो तुम्हे 'केसव' सु मोहू मन भायो जू,
छल के निवास ऐसे बचन-बिलास सुनि,
सौगुनो सुरति हू ते स्याम सुख पायो जू॥ १८२ ॥

तोरि तनी, टकटोरि कपोलन, जोरि रहे कर हौं न रहौंगी,
पान खवाइ, पिआइ सुधा-रस, पाइँ गहे तस हौं न गहौंगी।
'केसव' चूक सबै बकसी, मुख चूमि चले यह पै न सहौंगी :
कै मुख चूमन दे फिरि मोहिं कै आपनी धाइ सों जाइ कहौंगी ॥ १८३ ॥

पहिले तजि आरसु आरसी देखि घरीक घस्यो घनसारहि लै ;
पुनि पोछि गुलाब तिलोंछि फुलेल अँगौछे में आछे अँगौछनि कै।
कहि 'केसव' मेद-जवादि लै माँजि इते पर आँजे मैं आँजन दै ;
बहुरो दुरि देखौं तौ देखौं कहा सखि, लाज तौ नैनन लागियै है ॥ १८४ ॥

भाल गुही गुन लाल लटै लपटी लर मोतिन की सुख-दैनी ;
ताहि बिलोकति आरसी लै कर आरस सौं यक सारस-नैनी।
'केसव' स्याम दुरे दरसी परसी उपमा मुख की अति पैनी,
सूरज-मंडल मैं ससि-मंडल मद्धि धसी मनो धार-त्रिबैनी ॥ १८५ ॥

सौंह दिवाइ सखी पहिँ बारक कानन कानन आनि बसाए;
जानै को 'केसव' कानन तें कित ह्वै कब नैनन माँहि सिधाए।
लाज के साज धरेई रहे सब, नैनन लै मन को सु मिलाए;
कैसी करौं अब, क्यों निकसै, यों हरे-ई-हरे हियरे हरि आए॥ १८६॥

जिन न निहारे, ते निहारत निहारिबे को,
काहू न निहारे जिन कैसे कै निहारे हैं;
सुर - नर - नाग नव - कन्यन के प्रानपति,
पति देवतानि हू के हिय मैं बिहारे है।
याही बिधि 'केसौराय' रावरे असेष अंग,
उपमा न उपजे, बिरंचि पचि हारे है;
मान-मद मोचन मदन मन - मोचन को,
तिय - ब्रत - मोचन ए लोचन तिहारे है॥ १८७॥

भाँति भली बृषभान-लली जब सों अँखिया अँखियान सो जोरी;
भौंह चढ़ाइ कछू डरपाइ बोलाइ लई हँसिकै इत भोरी।
'केसव' क्यों हूँ सु ता दिन ते रुचि कै न निहारत केती निहोरी;
लीलत है सबही के सिँगार अँगारन ज्यों बिन चंद चकोरी॥ १८८॥

है तरुनाई तरंगिनि पूर अपूरब पूरब राग रँगे पय;
'केसवदास' जहाज मनोरथ संभ्रम बिभ्रम भूरि भरे भय।
ताके तरंग तरंगति तुंग तिमिंगल सूल बिसालन के चय;
कान्ह कछू करुनामय हे, सखि तैं ही किए करुना बरुनालय॥ १८९॥

सिखै हारी सखी, डरपाइ हारी सेवकिनि,
दामिनि दिखाइ हारी निसि अधरात की;
कूकि-कूकि हारी रति, मारि-मारि हारयो मार,
हारी उर कीरति बिगत स्रम बात की।
दई निरदई, दई वाहि कहा ऐसी मति,
जरत ज्यों रैनि - दिन ऐसे सम गात की;
कैसेहू न मानति मनाइ हारी 'केसौदास'
बोलि हारी कोकिला, बोलाइ हारी चातकी॥ १९०॥

ब्रज की कुमारिका वै लीने सुक-सारिका,
पढ़ावैं कोक-कारिकानि 'केसव' सबै निबाहि;

गोरी-गोरी-भोरी - भोरी, थोरी-थोरी बैसन की,
फिरैं देवता-सी दौरी-दौरी चोरा-चोरी चाहि।
बिन गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाच्छ - बान यहै अचरजु आहि;
एते मान ईठ ढीठ मरे को अडीठ मनु,
पीठि दै-दै मारति, सो चूकति न एकौ ताहि ॥ १९१ ॥
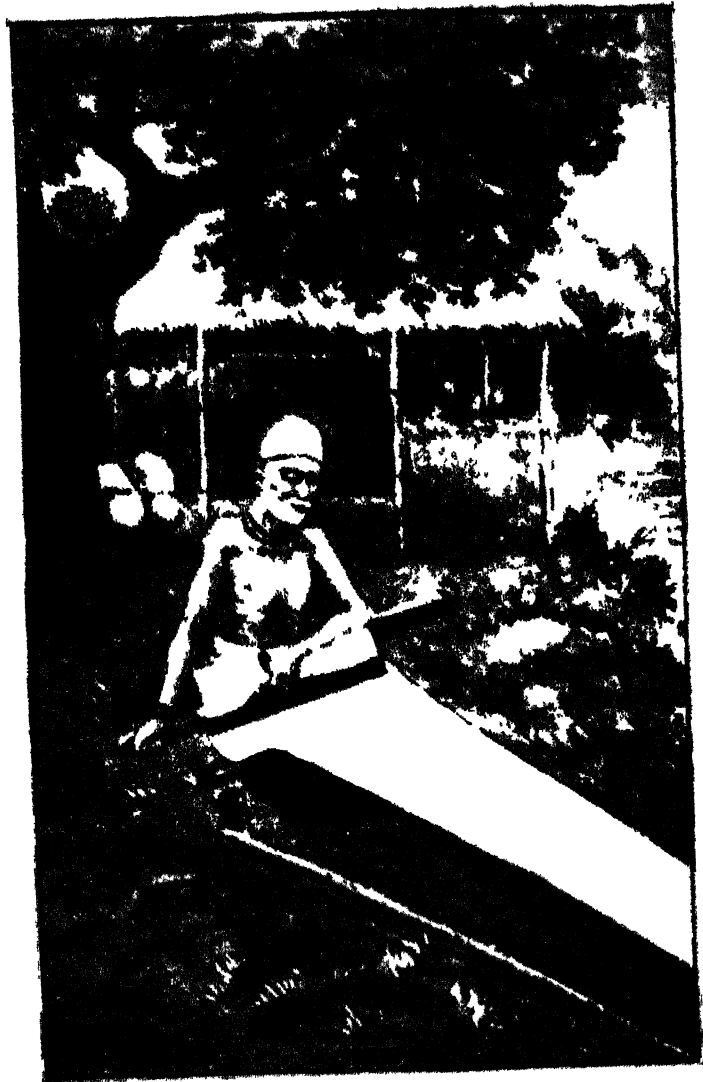
महात्मा कबीरदास

करत मुखर करघा सत्या, ज्ञान-ध्यान मन-लीन
निरभय सुकवि कबीर धनि, सत्य कथन-पन पीन।

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

(७)

महात्मा कबीरदासजी

महात्मा कबीरदास का जन्म एवं मृत्यु-काल विविध ग्रंथों मे अनेक प्रकार से लिखा हुआ है। कबीर-कसौटी में ये काल संवत् १४५५ तथा १५७५ माने गए हैं; भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद में संवत् १४५१ तथा १५५२ और कबीर संप्रदाय में संवत् १२०५ तथा १५०५। डॉ० हंटर ने जन्म-काल संवत् १४३७ माना है, और विल्सन ने मृत्यु-काल संवत् १५०५ बतलाया है। वेस्कट महाशय ने 'कबीर ऍंड दि कबीर-पंथ' मे ये काल सवत् १४५७ और १५७५ लिखे हैं। पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने जन्म-काल कबीर-कसौटी का माना है, और मृत्यु-काल भक्ति सुधा-बिंदु-स्वाद का। कबीर साहब बादशाह सिकंदर लोदी के समय में थे। इनकी अवस्था कही-कही १२० वर्ष की मानी गई है। कबीर-कसौटी में जन्म और मृत्यु-काल साफ़-साफ संवत् १४५५ की ज्येष्ठ-शुक्ला पूर्णिमा और १५७५ लिखे हैं। यही ठीक जॅचते हैं।

आपकी माता और पिता के नाम नीमा और नीरू थे। वे जाति के जुलाहे काशीधाम में रहते थे। किसी-किसी का यह भी कथन है कि नीमा और नीरू कबीर साहब के पालक-मात्र थे, और इनका जन्म एक हिंदू विधवा (ब्राह्मणी) के गर्भ से हुआ था, जिसने लोक-लाज के भय से इन्हे लहरतारा तालाब के पास डाल दिया था। नीमा और नीरू ने इन्हें वहाँ से उठाकर पाला। हमको समझ पड़ता है कि यह कथा मनगढ़ंत है। कबीर साहब वास्तव मे नीमा और नीरू के ही पुत्र होंगे। इन्होंने अपने को काशी का जुलाहा बार-बार कहा, किंतु ब्राह्मणी का मातृत्व कहीं नहीं वर्णित किया। यथा—

> तू बाम्हन, मैं कासी का जुलहा, बूझौ मोर गियाना।
>
> कासी में हम प्रगट भए है, रामानंद चेताए।

इन तथा ऐसे-ही-ऐसे सैकड़ों पदों से कबीर साहब वास्तविक जुलाहे समझ पड़ते है। आप लड़कपन से ही धार्मिक थे, और उपदेश सुनने का चाव रखते थे। आप तिलक इत्यादि लगाकर राम-नाम जपा करते थे। कहते है, लोगों ने

इनसे कहा कि जब तक तुम निगुरे रहोगे, तब तक तिलक-जाप आदि से पूरा फल न होगा। इसी विचार से आपने प्रसिद्ध महर्षि स्वामी रामानंद को अपना गुरु बनाया। एक जुलाहे को शिष्य बनाने से स्वामीजी की महानुभावता प्रकट होती है।

कबीर साहब के धार्मिक सिद्धांतों में बहुत-सी बातें ऐसी भी निकलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आपको सूफ़ी-मत का अच्छा ज्ञान था। इसलिये, अथवा अन्य कारणों से, मौलवी ग़ुलाम-सरवर ने ख़ज़ीनतुल-आसफ़िया में आपको झाँसीवाले शैख़ तक़ी का शिष्य कहा है। यह महाशय सूफ़ी-मत के पूर्ण ज्ञाता थे। सरवर महाशय का कथन है कि कबीर साहब को हिंदू लोग 'भगत कबीर' और मुसलमान 'पीर कबीर' कहते थे। कबीर महाशय ने अपनी कविता में शैख़ तक़ी का नाम अवश्य लिया, किंतु उन्हें अपना गुरु नहीं कहा, वरन् 'सुनहु तकी तुम सेख' में आप उनसे अपना मत मनवा-सा रहे हैं। इधर कबीर साहब ने स्वामी रामानंद को कई बार साफ़-साफ़ गुरु कहा है। इससे शैख़ तक़ी का गुरुपन अग्राह्य है। स्वामी रामानंद का पांडित्य अगाध था, और उनका सूफ़ियों से प्रायः वाद हुआ करता था। इसलिये उनके पट्ट शिष्य कबीर का सूफ़ी-सिद्धांत जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी रामानंद महात्मा रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में थे। महात्माजी वैष्णव थे। उन्होंने द्विज मात्र को अपने शिष्यत्व में लिया, किंतु शूद्रों को रामानुजीय संप्रदाय में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं दिया। स्वामी रामानंद ने यह त्रुटि दूर करके शूद्रों को भी शिष्य बनाया, और इस प्रकार रामानुजीय संप्रदाय के अंतर्गत रामानंदी शाखा-संप्रदाय चलाया। आपने प्रसिद्ध भक्त रैदास-नामक चमार को भी शिष्य बना लिया। इतना करने पर भी स्वामी रामानंद एक जुलाहे मुसलमान को शिष्य बनाने पर तैयार न थे, और इधर कबीरदास को उन्हीं का शिष्य होने की लौ लगी थी। इसलिये आपने स्वामीजी का शिष्य बनने की एक अनोखी युक्ति निकाली। स्वामी रामानंद सूर्योदय के पूर्व मणिकर्णिका-घाट पर नित्य स्नान करने जाया करते थे। एक दिन कबीरदास उनके मार्ग की सीढ़ी पर लेट गए, और उनका पैर इनके सिर पर पड़ गया। बेचारे स्वामीजी 'राम-राम' कहकर अलग हो गए, किंतु कबीर ने तुरंत उठकर कहा—"आपने मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे राम-नाम का मंत्र दिया है, अतः मैं आपका शिष्य हो चुका।" स्वामीजी ने कबीर की शिष्यता पर ऐसी भक्ति देखकर उन्हें हृदय से लगाया, और शिष्य भी मान लिया। इस प्रकार कबीर साहब महात्मा रामानंद के शिष्य हुए।

कबीर साहब अशिक्षित थे। आपने जितनी कविता बनाई, वह मौखिक थी। बीजक में आप स्वयं लिखते हैं—

मसि - कागज छूयो नहीं, कलम गही नहिँ हाथ ,
चारिउ जुग का महातम कबिरा मुखहिँ जनाई बात।

हज़ारो पद बनाने और अविचल भक्त होने पर भी आपने कपड़ा बुनने का अपना पैतृक व्यवसाय कभी नहीं छोड़ा, यद्यपि सुना जाता है कि वह यह भी कहा करते थे—

कासी का मै बासी बाँभन, नाम मेरा परबीना ,
एक बार हरि-नाम बिसारा, पकरि जोलाहा कीना।
माई, मेरे कौन बिनैगो ताना।

रचना मे भी आपने बार-बार जुलाहेपन की बातों का उल्लेख किया है, जिसके उदाहरण आगे दिए जायँगे। आपका विवाह बनखंडी बैरागी की पालिता कन्या लोई के साथ हुआ था, जिससे आपके कमाल और कमाली-नामक पुत्र और कन्या उत्पन्न हुई। लोई बड़ी सुंदरी थी, और उसने कबीर के सद्गुणो पर रीझकर इनका साथ पसंद किया था। कबीर साहब संत-सग को बहुत पसद करते थे। एक बार इनके यहाँ कुछ सत ऐसे समय मे आए, जब आतिथ्य करने को इनके पास कुछ भी न था। इस पर यह बड़े संकट मे पड़े। तब लोई ने कहा—यदि आपकी इच्छा हो, तो एक साहूकार के उस बेटे से धन लाऊँ, जो मुझ पर मोहित है। कबीर ने सत-समादर के विचार से यह भी स्वीकार कर लिया, और लोई ने रात को उसके पास जाने का वचन देकर धन प्राप्त किया, जिससे संतों का आतिथ्य हुआ। रात को जाने के समय बड़े ज़ोर से पानी बरसने लगा। तब भी कबीर साहब वचन रखने के लिये अपने कंधे पर चढ़ाकर लोई को साहूकार के पुत्र के यहाँ ले गए। जब उसने यह जाना, तब कबीर साहब के पैरो पर गिरकर क्षमा माँगी, और इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। ऐसे माता-पिता पाकर भी कमाल उत्तम आचरण न प्राप्त कर सका। उसके विषय मे स्वयं कबीरदास लिखते है—

बूड़ा बंस कबीर का, उपजे पूत कमाल ;
हरि का सुमिरन छोड़के घर ले आया माल।

कबीर साहब जो कपड़ा बनाकर बाज़ार मे बेचने ले जाते थे, उसे कभी-कभी बेचने के स्थान पर साधुओं को दे देते, और ख़ाली हाथ घर लौट आते थे। ऐसे पुरुष को पुत्र की धन पर आसक्ति बुरी लगा ही चाहे।

कबीर साहब ने देश-देश घूमकर लौकिक ज्ञान का उपार्जन किया। आप बलख़ तक गए। सत्य के इतने पक्षपाती थे कि जो बात असत्य जँचती थी, उसकी तीव्र शब्दों मे आलोचना अवश्य करते थे, चाहे इनके मत से उससे थोड़ा ही-सा

अंतर क्यों न हो। स्वयं संत और योगी थे, किंतु गृह-त्याग को पसंद न करने के कारण ऐसे लोगों की आपने निम्न-लिखित शब्दों द्वारा निंदा की है—

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा;
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा।

इसी भाँति हिंदू और मुसलमानों के सैकड़ों धार्मिक आचार-विचारों पर आपने शुद्ध भाव से तीव्र कटाक्ष किए हैं। 'झूठा रोज़ा, झूठी ईद'-जैसे वाक्य आपके मुख पर सदैव रहते थे। इन कारणों से बादशाह सिकंदर लोदी तक आपकी शिकायत पहुँची, और उसने इन्हें ज़ंजीरों से बँधवाकर गंगाजी में फेंकवा दिया, किंतु यह किसी प्रकार बच गए। आपने स्वयं लिखा है—

गंग - लहर मेरी टूटी जँजीर; मृगछाला पर बैठे कबीर।
कहु कबीर काउ संग न साथ; जल-थल राखत है रघुनाथ।

इनके माहात्म्य-विषयक बहुत-से अन्य उपाख्यान भी प्रचलित हैं, जिनमें अप्राकृतिक घटनाओं का कथन है। उनका यहाँ समावेश नहीं किया जाता। धार्मिक विरोध से ही समझ पड़ता है कि अंत में आपको अपने जन्म-स्थान तथा आजन्म के निवास-स्थान काशी को छोड़ना पड़ा, यद्यपि आपके काशी छोड़ने का एक कारण यह भी था कि आप वहाँ मरने के कारण स्वर्ग प्राप्त करना निंद्य समझते थे। कहते हैं, काशी में मरने से मनुष्य स्वर्ग को अवश्य जाता है, और मगहर में शरीर छोड़ने से नरक को। इसी से कबीर साहब यह कहकर काशी से मगहर चले गए कि 'जो कबिरा कासी मरै, तो रामै कौन निहोर?' भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद का कथन है कि आपने संवत् १५४९ में मगहर पधारकर तीन वर्ष के अनंतर शरीर छोड़ा। कबीर-कसौटी में इस घटना का वर्णन निम्न लिखित है—

पंद्रह सौ पचहत्तर किय मगहर को गौन;
माघ-सुदी एकादसी रहो पौन म पौन।
(कबीर-कसौटी)

इनका शरीरांत होने पर हिंदू तथा मुसलमान शिष्यों में इनके अंतिम संस्कार के विषय में झगड़ा होने लगा, किंतु जब शव पर से चद्दर उठाई गई, तब उसके स्थान पर फूलों का ढेर मिला। इस पर फूलों के दो भाग करके एक भाग से हिंदुओं ने काशी में कबीर-चौरा बनाया, और दूसरा भाग मुसलमानों ने गाड़कर मगहर में क़ब्र बनाई, जो अब तक मौजूद है। ये दोनों स्थान अब भी आपके पंथवालों के द्वारा पूजे जाते हैं। शव के स्थान पर फूलोंवाली कथा महात्मा नानक तथा चित्तौर-वाले बाप्पा रावल के विषय में भी प्रचलित है। समझ पड़ता है, किसी ने शव

हटाकर फूल रख दिए होगे। महात्मा कबीरदास सिद्ध योगी थे। आपके धार्मिक विचार बहुत ऊँचे थे। इन बातो का कथन कुछ विस्तार के साथ आपके गुण-प्रदर्शन मे किया जायगा।

कबीर साहब के बहुत मे शिष्य इनके जीवन-काल ही मे हो गए थे। इनक पीछे कबीर-पंथ अब तक चल रहा है। भारत मे अब भी आठ-नव लाख मनुष्य कबोर-पंथी हैं। इनमें मुसलमान बहुत थोड़े है, और हिंदू बहुत अधिक। कबीर साहब का मान रीवाँ-नरेश ने बहुत किया। रीवॉ-नरेश महाराजा विश्वनाथसिह ने बीजक, की टीका भी रची। कबीरदास के पीछे इनके मत की बारह शाखाएँ स्थापित हुई, जिनके नेता निम्न-लिखित थे—श्रुतगोपाल, भग्गूदास, नारायणदास, चूड़ामणिदास, जग्गूदास, जीवनदास, कमाल, टाकशाली, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंद और कमलानंद। कबीर-पंथियों मे त्यागी और गृहस्थ, दोनो हैं। इनका कोई दूसरा धर्म नही है, वरन् हिंदू कबीर-पंथी हिंदू है, और मुसलमान कबीर-पंथी मुसलमान। कबीर-पंथ उनका विश्वास-मात्र है। हिंदू कबीर-पंथी अधिकतर नीच जातियों के है, और इस पंथ के कई गुरु भी ऐसे ही है। वास्तव मे तो कोई नीच जाति है ही नही, और सब हिंदू बराबर है, किंतु जैसा लोग प्राय: समझते है, उन विचारो से समझाने-भर को हिंदुओं मे यहाँ ऊँची-नीची जातियों के कथन किए गए है।

कबीरदास ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, वरन् केवल मुख से भाखे। इनके शिष्यों ने उन्हे लिपि-बद्ध किया। ऐसी दशा में उनमे बहुत कुछ अदल-बदल हो जाना संभव है। बीजक ग्रंथ को भग्गूदास लेकर भागे थे। तभी से उनका नाम भगवानदास से भग्गूदास हो गया। विचार किया जाता है कि जब भग्गूदास ग्रंथ को लेकर भागे थे, तब उन्होंने उसमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया होगा। वेस्कट महाशय का विचार है कि इस बात पर विश्वास करने के लिये दलीलें है कि कबीर की अधिकतर शिक्षाएँ धीरे-धीरे हिंदू-धर्म के साँचे में ढल गई हैं। हमको समझ पड़ता है कि कुछ घटाने-बढ़ाने से इन महात्मा के उपदेशों मे अंतर डालना कठिन था। आपने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है, और सबमे एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है। आप राम-नाम की महिमा गाते थे, एक ही ईश्वर को मानते थे, कर्मकाड के घोर विरोधी और सखी-भाव के अविचल भक्त थे। अवतार, मूर्ति, रोज़ा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को नही मानते थे। अहिसा, मनुष्य-मात्र की समता तथा संसार की असारता को इन्होने बार-बार गाया है। यह उपनिषदों के विचारवाले ईश्वर को मानते थे, और साफ़ कहते थे कि वही शुद्ध ईश्वर है, चाहे उसे राम कहो या अल्ला। ऐसी दशा मे शिष्यों

द्वारा पाठ-परिवर्तन से इनकी शिक्षाओं का प्रभाव उलटा नहीं जा सकता था। उन्हें उलटने के लिये इनके पूरे ग्रंथ लुप्त कर देने और नए बनाने पड़ेंगे।

थोड़ा-सा उलट पुलट करने से केवल इतना फल हो सकता था कि राम-नाम अधिक न होकर सत्य नाम अधिक हो। यह निश्चित बात है कि यह राम-नाम और सत्य-नाम, दोनों को भजनों में रखते थे। इन शब्दों के व्यवहार की मात्राओं में थोड़ा-सा घट-बढ़ हो जाने से शिक्षा उलट नहीं सकती। इसी प्रकार कुछ बदलने से दो-चार स्थानों पर प्रतिकूल शिक्षाएँ दिखाई जा सकेंगी, किंतु और कोई अंतर न पड़ेगा। प्रतिमा-पूजन इन्होंने निंदनीय माना तथा अवतारों का विचार सदा त्याज्य लिखा है। दो-चार स्थानों पर कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनसे अवतार-महिमा भी व्यक्त होती है। वे हमारी समझ में अवश्य प्रक्षिप्त हैं। कबीर साहब के मुख्य विचार उनके ग्रंथों में सूर्यवत् चमक रहे हैं। उन्हें कोई बदल नहीं सकता। असली विरोध हमको केवल आवागमन-सिद्धांत पर समझ पड़ता है, और यह नहीं जान पड़ता कि इस विषय में यह हिंदू-मत को मानते थे कि मुसलमानी को। अन्य बातों पर कोई वास्तविक विरोध कबीर की शिक्षाओं में नहीं देख पड़ता। इसलिये समझ पड़ता है कि उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपि-बद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिक्षाएँ हमको उपलब्ध नहीं है। जब तक इन महात्मा का एक भी मुख्य ग्रंथ विद्यमान है, तब तक इनकी वास्तविक शिक्षाएँ संसार से हट नहीं सकतीं। आपने उन्हें प्रत्येक ग्रंथ में सौ-सौ बार दुहराकर कहा है।

महात्मा कबीरदास के ग्रंथ बहुत-से मिलते हैं। जो ७५ ग्रंथ अब तक खोज से प्राप्त हुए हैं, उनके नाम यहाँ लिखे जाते हैं—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) उग्रज्ञानमूलसिद्धांत, (४) ब्रह्मनिरूपण, (५) हंसमुक्तावली, (६) कबीर-परिचय की साखी, (७) शब्दावली, (८) पद, (९) साखियाँ, (१०) दोहे, (११) सुखनिधान, (१२) गोरखनाथ की गोष्ठी, (१३) कबीरपंजी, (१४) बलक की रमैनी, (१५) विवेक-सागर, (१६) विचारमाला, (१७) कायापंजी, (१८) रामरक्षा, (१९) अठपहरा, (२०) निर्भयज्ञान, (२१) कबीर और धर्मदास की गोष्ठी, (२२) रामानंद की गोष्ठी, (२३) आनंदराम, (२४) सागरमंगल, (२५) अनाथमंगल, (२६) अक्षर-भेद की रमैनी, (२७) अक्षर-खंड की रमैनी, (२८) अलिफ़-नामा, (२९) अर्ज़नामा, (३०) आरती, (३१) भक्ति का अंग, (३२) छप्पय, (३३) चौकाघर की रमैनी, (३४) ज्ञान-गूदड़ी, (३५) ज्ञानसागर, (३६) ज्ञान-सरोदय, (३७) कबीराष्टक, (३८) करमखंड की रमैनी

(३९) मुहम्मदबोधनाम-माहात्म्य, (४०) पिया पहिचानवे को अंग, (४१) पुकार कबीर-कृत, (४२) शब्द अलहटुक, (४३) साधु को अंग, (४४) सत-संग को अंग, (४५) स्वाँस गुंजार, (४६) तीसा-जंत्र, (४७) जन्मबोध, (४८) ज्ञानसंबोध, (४९) मखमोह, (५०) निर्भयज्ञान, (५१) सतनाम या सतकबीर, (५२) बानी, (५३) ज्ञान-स्तोत्र, (५४) सतकबीर बंदीछोरो, (५५) शब्द-वंशावली, (५६) उग्रगीता, (५७) वसंत, (५८) होली, (५९) रेखता, (६०) झूलना, (६१) खसरा, (६२) हिंडोला, (६३) बारहमासा, (६४) चाँचरा, (६५) चौंतीसा, (६६) रमैनी, (६७) बीजक, (६८) आगम, (६९) रामसागर, (७०) सोरठा, (७१) कबीरजी को कृत, (७२) शब्द पारखा, (७३) आदि ग्रंथ, (७४) ज्ञान-बत्तीसी और (७५) ज्ञान-तिलक। उपर्युक्त ग्रंथों मे बहुत-से संदिग्ध भी हैं। कई ऐसे भी नाम हैं, जो अन्य ग्रंथों के भाग-मात्र समझ पड़ते हैं। हमने खोज मे मिले हुए ग्रंथों के नाम यहाँ लिखे हैं। खोज से इतर दो-ही-चार नाम उपर्युक्त नामावली में हैं। आपके मुख्य ग्रंथ बीजक और आदि-ग्रंथ हैं। इनके सभी ग्रंथों मे प्राय: वे ही धार्मिक विचार प्रस्तुत हैं। इस ग्रंथ के लिखते समय हमने बेलवेडियर-प्रेस की छपी हुई चारो भाग शब्दावली, अखरावती, ज्ञान-गुदड़ी, रेखते और झूलने देखे हैं। इनके अतिरिक्त महात्मा पूर्णदास-कृत टीका-सहित बीजक तथा मनोरंजन-पुस्तकमाला की कबीर-वचनावली भी देखी गई है। पंडित अयोध्यासिहजी उपाध्याय ने वचनावली को ऐसे परिश्रम और चातुरी से संग्रहीत किया है कि यदि इसमें कुछ उल्टवाँसी और कठिन पद भी लिखे गए होते, तो पाठकों को इस एक ही ग्रंथ से कबीरदास की पूरी कविता का अच्छा परिचय मिल जाता। इन दो बातों के न लिखने पर भी संग्रह बहुत ही अनमोल है, और उपाध्यायजी की गुण-ग्राहकता की साक्षी देता है। बीजक मे ८४ रमैनी, ११५ शब्द, ३५३ दोहों की साखी तथा ज्ञानचौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसत, चाँचरा, बेलि बिरहुली और हिंडोल सम्मिलित है। उपर्युक्त तीन भागों के अतिरिक्त शेष भाग बहुत छोटे-छोटे है। कबीर साहब के जो ग्रंथ हमने देखे है, उन सबका विषय एक ही-सा है। किसी मे कोई कथा-प्रसंग नहीं, और सबमें मुक्तकों द्वारा कबीर के सिद्धांतों का कथन है। सबमें नए-नए छंदों द्वारा वे ही विचार सैकड़ों बार दुहराकर आए हैं। अत: जो पाठक केवल धार्मिक विचार जानने अथवा काव्यानंद के लिये इनके ग्रंथ पढ़ेंगे, उनके लिये इन सबका पढ़ना बड़े धैर्य का काम होगा। इसलिये इनके सब ग्रंथों से पढ़ने योग्य छंदों को उठाकर एक संग्रह-ग्रंथ बनाना इनके और लोक के साथ बड़ा उपकार करना है।

ऐसा ही ग्रंथ बनाकर पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय धन्यवादार्ह हुए है। कबीर महाशय के बहुत-से छंद नानक-पंथ के ग्रंथ साहब में संगृहीत हैं। अब हम इन महात्मा के भावों को इन्ही के शब्दो मे कहकर उनके विषय में अपने विचार लिखगे।

ईश्वर

कबीर साहब ने अपने ग्रंथों में सबसे अधिक ईश्वर का वर्णन किया है। इसलिये इनके ईश्वर-संबंधी विचार-प्रदर्शक कुछ छंद यहाँ लिखे जाते हैं—

(१) मोको कहाँ ढूँढता बंदे, मैं तो तेरे पास मे ;
ना मैं छगरी, ना मै भेड़ी, ना मैं छुरी-गँड़ास में।
नहीं खाल में, नही पूँछ में, ना हड्डी, ना मास में ;
न मैं देवालय, ना मै मसजिद, ना काबे-कैलास में।
ना तो कौनो क्रिया-कर्म में, नहीं जोग-बैराग में ;
खोजी होय, तो तुरतै मिलिहौं पल-भर की तालास में।
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, सब साँसों की साँस में।

(२) कहूँ उस देस की बतियाँ ; जहाँ नहिँ होत दिन - रतियाँ।
नहीं रबि, चंद औ तारा ; नहीं उजियार अँधियारा।
नहीं तहँ पौन औ पानी ; गए वहि देस जिन जानी।
नहीं तहँ धरनि-आकासा ; करे कोइ संत तहँ बासा।
वहाँ गम काल की नाहीं ; तहाँ नहिँ धूप औ छाहीं।
न जोगी जोग से ध्यावै ; न तपसी देह जरवावै।
सहज में ध्यान से पावै ; सुरत का खेल जेहि आवै।
सुरंग नाद नहिँ भाई ; न बाजै संख - सहनाई।
निहच्छर जाप तहँ जापै ; उठत धुन सुन्न से आपै।
मँदिर मे दीप बहु बारी ; नयन बिन भई अँधियारी।
'कबीरा' देस है न्यारा ; लखै कोइ नाम का प्यारा।

(३) ताकर कौन रूप औ रेखा ; दूसर कौन आइ जो देखा।
औ ओंकार आदि नहिँ बेदा ; ताकर कहूँ कौन कुल भेदा।
सुन्न सहज मन सुमिर ते प्रगट भई एक जोत ;
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी निरालंब जो होत।
तहिया होत पवन नहिँ पानी ; तहिया सृष्टि कौन उतपानी।

तहिया होत कली नहिँ फूला ; तहिया होत गर्भ नहिँ भूला।
तहिया होत बिद्या नहिँ बेदा ; तहिया हुते सब्द नहिँ स्वादा।
तहिया हुते पिंड नहिँ बासू ; नहिँ घर, घरनि, न पवन अकासू।
तहिया होत गुरू नहिँ चेला ; गम्य अगम्य न पंथ दुहेला।
अबिगति की क्या गति कहौं, जाके गाँव न ठाँव ;
गुनो बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव।

(४) साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय ;
दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय।
एक कहों तो है नही, दोय कहों तो गारि ;
है जैसा तैसा अहै, कहै 'कबीर' बिचारि।
चार भुजा के भजन मे भूलि परे सब संत ;
'कबिरा' सुमिरै ताहि को, जेहि की भुजा अनंत।
सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान ,
निरगुन सरगुन के परे रहै हमारा ध्यान।
साहिब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहिँ ;
राई ते परबत करे, परबत राई माहिँ।
जाको राखै साँइयाँ, मारि सकै नहिँ कोय ;
बारु न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय।
भूला-भूला क्या फिरै, सिर पर बँध गइ बेल ;
तेरा साईं तुज्झमें ज्यों तिल माही तेल।
मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर,
तेरा तुझको सौपते क्या लागत ह मोर।
साधू मोरे सब बड़े अपनी-अपनी ठौर ;
सब्द बिबेकी पारखी सो माथे को मौर।
समझा का घर और है, अनसमझा का और ;
जा घर मे साहब बसै, बिरला जानै ठौर।
अच्छर घट मे ऊपजे ब्याकुल संसय सूल ;
किन अंडा निर्मायिया कहा अंड का मूल।
पानी हू ते पातला, धूवाँ हू ते झीन ;
तिन हूँ ते अति ऊतला दोस्त 'कबीरा' कीन।
गुरू झरोखे बैठिकै सबका मुजरा लेय ;
जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देय।

भवसागर जल बिख भरा मन नहिं बाँधे धीर ;
सबद सनेही पिउ मिला उतरा पार 'कबीर' ।

(५) मेरी नजर में मोती आया है ;
कोइ कहे हल्का, कोइ कहे भारी, दोनो भूल-भुलाया है ।
ब्रह्मा, बिष्नु, महेस्वर थाके, तिनहू खोज न पाया है ;
सेस, सारदा पढ़ि रटि हारे, संकर बहु गुन गाया है ।
है तिल के तिल के तिल भीतर, बिरले साधू पाया है ;
चहुँ दल कमल तिरपुटी साजे ररंकार दरसाया है ।
ररंकार पद सेत सुभ्र मध खटदल कमल बताया है ;
पारब्रह्म महँ सुभ मंझारा सोइ निःह अच्छर रहाया है ।
भँवरगुफा में सोऽहं राजै मुरली अधिक बजाया है ;
सत्तलोक सतपुरुष बिराजै अलख अगम दोउ भाया है ।
पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्महुँ पार जो गाया है ;
यह सब बातैं देही मंदिर प्रतिबिंब अंड जु पाया है ।
प्रतिबिंब पिंड ब्रह्मांड है नकली असली पार बताया है ;
कह 'कबीर' सतलोक सार है पुरुष नियारा पाया है ।

(६) संतो बीजक मत परमाना ;
कैयक खोजी खोजि थके, कोइ बिरला जन पहिंचाना ।
चारिउ जुग औ निगम चार औ गावैं ग्रंथ अपारा ;
बिष्नु, बिरंचि, रुद्र, ऋषि गावैं, सेस न पावैं पारा ।
कोइ निरगुन-सरगुन ठहरावैं, कोई जोति बतावैं ;
नाम धनी का सब ठहरावैं, रूप को नहीं लखावैं ।
कोउ सूछम असथूल बतावैं, कोउ अच्छर निज साँचा ;
सतगुरु कहँ बिरला पहिचानै, भूला फिरा असाँचा ।
लोभ के भक्ति सरे नहिं कामा साहिब परम सयाना ;
अगम, अगोचर धाम धनी का, सबै कहैं ह्वाँ जाना ।
दिखै न पंथ, मिलै नहिं पंथी, ढूँढत ठौर-ठिकाना ;
कोउ ठहरावै सून्यक कीन्हा जोति एक परमाना ।
कोउ कह रूप-रेख नहिं वाके, धरत कौन को ध्याना ;
रोम रोम में परगट करता, काहे भरम भुलाना ।
पच्छ, अपच्छ, सबै पचि हारे, करता कोइ न बिचारा ,
कौन रूप है साँचा साहब नहिं कोई निरधारा ।

बहु परचय परतीति दृढ़ावै, साँचे को बिसरावै ;
कलपत कोटि जनम जुग बीतै, दरसन कतहुँ न पावै।
परमदयालु, परमपुरुषोत्तम, तेहि चीन्है ना कोई ;
ततहर हाल निहाल करत है रीझत है निज सोई।
बधिक कर्म करि भक्ति दृढ़ावै नाना मत का ज्ञानी ;
बीजक - मत कोइ बिरला जानै, भूलि फिरै अभिमानी।
कह 'कबीर' करता में सब हैं, करता सकल समाना ;
भेद बिना सब भरम परे कोउ बूझै संत सुजाना।

उपर्युक्त दोनो पदों मे कबीरदास ने थोड़े मे बहुत कुछ कहा है। चहुँदल कमल, तिरपुटी, सेत सुन्न, षट्दलकमल, भँवरगुफा, मुरली (अनहद नाद), प्रतिबिंब (जीव), पिंड (शरीर), पार (परे, परब्रह्म) आदि योग तथा वेदांत-संबंधी शब्द हैं, जो कबीर का इन शास्त्रोंवाला ज्ञान प्रकट करते हैं। ररंकार से रम्-रम् आकार अर्थात् राम-राम का प्रयोजन है। इसमे योग संबंधी नादवाले विचार भी आ जाते है। निर्गुण, सगुण, ज्योति, सूक्ष्म, स्थूल, अक्षर (अविनाशी), अगम, अगोचर, रेख, रूप आदि भी ईश्वर-संबंधी पक्षापक्ष-विचारों मे आए हैं। इनमे बहुत-से अभावात्मक विचार है, और उनके संबंध में भावात्मक शब्द पक्षापक्ष-विचार में दिखाए गए हैं। मुख्यता अभावात्मक (Negative) विचारों की ही रही है। यही उपनिषदों का ढंग है। परमदयालु, परमपुरुषोत्तम से सगुणवाद चल पड़ता है। कर्ता मे सबका होना और सबमें कर्ता का होना अद्वैत विचार दिखलाता है। इन शब्दों से कबीरदास की बहुज्ञता प्रकट होती है। साहित्य-गौरव मे भी ये दोनो पद बहुत अच्छे हैं।

(७) एकै काल सकल संसारा ; एक नाम है जगत पियारा।
त्रिया पुरुष कछु कहो न जाई , सर्बरूप जग रहा समाई।
रूप, अरूप जाइ नहिं बोली ; हलुका गरुआ जाय न तोली।
भूख न तृखा, धूप नहिं छाँहीं ; दुख-सुख-रहित रहै तेहि माहीं।

अरस-परस कुछु रूप गुन, नहिं तहँ संख्या आहि ;
कहै कबीर पुकारि कै अदभुत कहिए ताहि।

कुसलै-कुसल कहत जग बिनसै, कुसल काल की फाँसी हो ;
कह 'कबीर' सब दुनिया बिनसल, रहल राम अबिनासी हो।

बाबा अगम अगोचर कैसा ;
ताते कहि समझाऊँ ऐसा।

जो दीसै सो तो है नाहीं, है, सो कहा न जाई ;
सैना - बैना कहि समझाऊँ गूँगे का गुर भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहिँ नियारा ;
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करौ बिचारा।
बिन देखे परतीति न आवै, कहे न कोउ पतियाना ;
समझा होइ सो सबदै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावै साकारा ;
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जानै जाननहारा।
काजी कथै कतेब कुराना, पंडित बेद - पुराना ;
वह अच्छर तौ लखो न जाई मात्रा लगै न काना।
नादी - बादी पढ़ना - गुनना बहु चतुराई थीना ;
कह 'कबीर' सो परै न परलै, नाम - भक्ति जिन चीना।

अबधू कुदरत की गति न्यारी ;
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी।
एते लवँगे फल नहिँ लागै, चंदन फूल न फूलै ;
मच्छ सिकारी रमै जँगल में सिंघ समुद्रहिँ झूलै।
रेँड़ा रूख भया मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटी बासा ;
तीन लोक ब्रह्मंड खंड में देखै अंध तमासा।
गुरु मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै ;
गूँगा ज्ञान - बिज्ञान प्रकासै, अनहद बानी बोलै।

(८) रूप - सरूप कछू तहँ नाहीं ; ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं।
अरज तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूं सुमारा है।
नहिँ निरगुन, नहिँ सरगुन-भाई, नहिँ सूछम-अस्थूल ;
नहिँ अच्छर, नहिँ अबिगत भाई, ये सब जग की भूल।
जहाँ करम की गति कछु नाहीं, कह 'कबीर' हम जाना;
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरबाना।
सहज कमल में झिलमिल दरसै, आपुइ बसत अपारा ;
जोति-सरूप सकल जग व्यापी, अघट पुरुष है पारा।
सुन्न सहर मे बास हमारा, जहँ सरबंगी जावै ;
साहब 'कबिर' सदा के संगी, सब्द महल लै आवै।
किँगरी, सारँग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा ;
द्वादस भानु उए उजियारा, खटदलकँवलमँझारसब्द ररँकारा है।

कोटिन भानु उदय जो होई, एते ही पुन-चंद्र लखोई;
पुरुस रोम सम एक न होई, ऐस पुरुष दीदारा है।
प्रथम एक जो आवे आप, निराकार, निरगुन, निरजाप;
नहिं तब भूमि, पवन, आकासा, नहिं तब पावक, नीर निवासा।

कहै 'कबीर बिचारि कै, जाके बर्न न गाँव;
निराकार औ निर्गुना है पूरन सब ठाँव।

आगे सून्य, स्वरूप अलख नहिँ लखि परै;
तत्त्व निरंजन जान, भरम जनि चित धरै।
जाके दरसन साहब दरसै अनहद सबद सुनावै;
माया के सुख दुख करि जानैसरगुनसुपनचलावै।

घूरि रह्यो असमान, धरनि मे, जित देखो, तित साहब मेरा;
तसबी एक दिया मेरे साहब, दास 'कबीर' दिलहि बिच फेरा।

अनहद नाद (ईश्वर-सबंधी)

पाँच तत्त्व कर पूतरा, जुक्ति रची मै कीव;
मैं तोहिँ पूछौं पंडिता, सब्द बड़ा की जीव।
सत्त सब्द परमान, अनहद बानी जो दृढ़ै;
और झूठ सब ज्ञान, कहै 'कबीर' बिचारि कै।
सत्रह संख्या पर अधर दीप जहँ सब्दातीत बिराजै;
निरतै सखी बहू बिधि सोभा, अनहद बाजा बाजै।

सहस औ द्वादसै रूह हैं संग में, करत कल्लोल अनहद बजाई।
वह तीन लोक ते भिन्न राज, तहँ अनहद धुनि चहुँ पास बाज।
मुरली बजत अखंड सदा ये तहँ सोऽहं झनकारा है।
खोड़स भानु हंस को रूप; बीना-सम धुनि बजै अनूप।

सबद-भेद जो जानहीं, सो पूरा कँड़हार;
कह 'कबीर' धूमच्छ है सोऽहं सबदहिँ पार।

यहि घट चंदा, यहि घट सूर; यहि घट गाजै अनहद तूर।
यहि घट बाजै तबल निसान; बहिरा सबद सुनै नहिँ कान।

अद्वैत (ईश्वर-संबंधी)

तत्त्वमसी इनके उपदेसा; ई उपनिषत कहैं संदेसा।

साधो एक रूप सब माहीं;

अपने मनहिँ बिचारि कै देखो, और दूसरा नाहीं।
एकै त्वचा, रुधिर पुनि एकै बिप्र, सूद्र के माहीं;

कही नारि, कहिँ नर होइ बोलैं, गैब पुरुष वह आही;
आपै गुरु होइ मंत्र देत है, सिष होइ सबै सुनाही;
जो जस गहै, लहै तस मारग, तिनके सत गुरु आहीं।
सब्द पुकार सत्त मै भाषौं, अंतर राखौ नाहीं;
कहै 'कबीर' ज्ञान जेहि निर्मल, बिरले ताहि लखाही।

दया कौन पर कीजिए, का पर निर्दय होय;
साँईं के सब जीव हैं कीरी, कुंजर दोय।

बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसे, बिरछा मद्धे छाया,
परमातम मे आतम तैसे, आतम मद्धे माया।
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिए, सुन्न अंड आकारा,
निह अन्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा।
ज्यों रबि मद्धे किरन देखिए, किरन मध्य परकासा;
परमातम में बीज ब्रह्म इमि, जीव मध्य तिमि स्वासा।
स्वासा मद्धे सबद देखिए, अर्थ सबद के माहीं;
ब्रह्म ते जीव, जीव ते मन इमि न्यारा, मिला सदाहीं।
आपहि बीज, बृच्छ, अंकूरा, आप फूल, फल, छाया;
आपहि सूर, किरन, परकासा, आप ब्रह्म, जिव, माया।
अंडाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया,
निहअच्छर अन्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया।
आतम मे परमातम दरसै, परमातम में झाँईं;
झाँईं में परछाईं दरसै, लखै 'कबीरा' साँईं।
ज्ञान के कारन करम कमाय; होय ज्ञान तब करम नसाय।
फल-कारन फूलै बनराय; फल लागे पर फूल सुखाय।
मिरग पास कस्तूरी बास; आपु न खोजै, खोजै घास।
पारैं पिंड मीन लै खाई; कह 'कबीर' लोगन बौराई।

साधो, एक आपु जग माहीं;
दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाहीं।
जल-तरंग जिमि जल ते उपजै, फिरि जल माहिँ रमाई;
काया झाँईं पाँच तत्त्व का बिनसे कहाँ समाई।

आप ही भक्त, भगवंत है आप ही और नहि दूसरा, अर्ज सुने री;
मुक्त होवै छुटै बँधन सेती तबै कौन सो मरै तिसै कौन मारै;
अहँकार तजै, भय रहित होवै, तबै कौन तरै तिसै कौन तारै।

हुब्बाब तो है उठनेहि में जी है बैठने में मतलब्ब खुदा ;
हुब्बाब दरयाव 'कबीर' है जो दुजा नाम बोलै सोइ बुद्बुदा।
सुन्न का बुदबुदा, सुन्न उतपत भया, सुन्न ही माहिँ फिरि गुप्त होई,
जाप अजपा जपो, अलख आपै लखो, बाहरे-भीतरे एक सोई।
चोट कापै करौं, उलटि आपै डरौं, जहाँ देखौं, तहाँ प्रान मेरा।
भजूँ, तो को है भजन को, तजूँ तो को है आन ;
भजन-तजन के मध्य मे सो 'कबीर' मन मान।
वह तत यह तत एक है, एक प्रान, दुइ गात ;
अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात।

उपर्युक्त छंदों मे महात्मा कबीर के ईश्वर-संबंधी विचारों का सारांश लिखा गया है। इन पर विचार करने के पूर्व इस विषय से मिलते-जुलते उपनिषदों आदि में लिखित हिंदू सिद्धांतों का कुछ कथन आवश्यक समझ पड़ता है। ईश्वर की पूजा एक साकार रूपादि-संबंधी है, और दूसरी निराकार अलख की। इन्हें दार्शनिक शब्दों मे व्यक्त और अव्यक्त मार्ग कहते हैं। उपासक मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे, जो मुख्यतया केवल ज्ञान से काम लेते हैं, और दूसरे वे, जो प्रेम की प्रधानता रखते हैं। ये दो शुद्ध तार्किक विभाग हैं। वास्तव मे प्रत्येक मनुष्य ज्ञान और प्रेम, दोनो रखता है। उपासक लोगों मे अंतर इतना ही रहता है कि बुद्धि तथा प्रेम की मात्राएँ उनमे घट-बढ़ रहती है, अर्थात् किसी में प्रेम की न्यूनाधिक प्रधानता रहती है और किसी में बुद्धि की। ऋषियो ने पृथक्-पृथक् स्वभाववाले मनुष्यो के योग्य पृथक्-पृथक् विद्याएँ रची हैं, जिन्हे उपासना भी कहते है। ये निर्गुणात्मिका तथा सगुणात्मिका होती हैं। इनके दो-दो भाग हैं—सात्त्विक तथा राजस।

राजस मे कुछ-न कुछ स्वार्थ लगा रहता है, किंतु सात्त्विक में नहीं। इसीलिये उपनिषदे राजसिक विद्याओं का वर्णन न करके सात्त्विक का करती हैं। सात्त्विक उपासना दो प्रकार की होती है—अहंग्रह और प्रतीक। प्रतीक शब्द प्रतिमा से संबंध रखता है, और अहंग्रह आत्मा से। अद्वैतवाद का मूलाधार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) है। यहाँ वह से प्रयोजन ईश्वर का है, और तू से जीवात्मा का। इस वाक्य का लक्ष्य ब्रह्म है। बृहदारण्यक मे 'अयमस्मि' से यही भाव निकलता है। अद्वैतवाद दोनो को एक मानता है, और ऐसा मत प्रकट करता है कि जीवात्मा का अविद्या-जन्य अहंकार ही उसे दिखलाने-भर को परमात्मा से पृथक् करते हुए समझ पड़ता है। अद्वैतवाद मे प्रकृति या जीवात्मा सत् नहीं है; जो है, सो परमात्मा-ही-परमात्मा है। यह वाद उपनिषदों से

निकलता है, और शंकराचार्य ने इसे पुष्ट किया। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-नामक चार और प्रधान मत है, जो ईश्वर के अतिरिक्त जीवात्मा तथा प्रकृति को न्यूनाधिक रीति से सत् अथवा सत् के समान मानते है।

मानुष-शरीर मे सोलह चक्र माने गए है, जिनका योग-शास्त्र से संबंध है। योग मे अभ्यास की प्रधानता है। अभ्यास ही से योगी की अधिकाधिक वृद्धि होती है। योगी समाधि मे जो कुछ देखता या सुनता है, उससे इस वृद्धि की जाँच करता है। इसी देखने और सुनने का संबंध ईश्वर-संबंधी ज्योति और अनहद नाद से है। जब समाधि की अवस्था में योगी की चौदहो इंद्रियाँ निश्चल हो जाती है, अर्थात् वह पाँचो ज्ञानेंद्रियों, पाँचो कर्मेंद्रियों और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) से कुछ काम नही लेता, तब उसको त्रिपुटी (भौहो के बीचवाले स्थान) मे एक ज्योति देख पड़ती है। अभ्यास के साथ यह ज्योति क्रमशः १६ रूपों मे दिखाई देती है, जिनके प्रथम नौ रूप निम्न-लिखित हैं—नीहार (ओस), धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), तडित् (बिजली), स्फटिक और चंद्र। ये नाम केवल समता-प्रदर्शन के लिये कहे गए है। ज्योति के इनसे ऊँचे जो और सात रूप हैं, वे केवल योगियो को ज्ञात है, सर्व-साधारण को नहीं बतलाए जा सकते। सुनने से संबंध शब्द (अर्थात् अनहद नाद) का है। ओ३म् की सोलह कलाएँ अथवा मात्राएँ होती है। इन सोलहो पर क्रमशः पूर्ण अधिकार करने पर योगी प्रणव को समझता है। प्रणव ईश्वर का वाचक है। इसी को नाद भी कहते है। संसार की सब शक्तियों का मिलकर जो स्फुरण होता है, वही प्रणव या नाद है। यह नाद निरंतर हुआ करता है, इसीलिये इसे अनहद (अनाहत) कहते है। इसी को दशनादम् भी कहा है, जिन्हें योगी लोग सुनते हैं। नादबिंदु - उपनिषत् मे ११ नाद कहे गए हैं, जिनकी उपमा इन नादो से दी गई है—१. जलधि-तरंग, २. घन-गरज, ३. भेरी, ४. निर्झर (पहाड़ी नदी), ५. मृदंग, ६. घंटा, ७. वेणु, ८. किंकिणी, ९. वंशी, १० वीणा, ११. भ्रमर।

जो-जो पदार्थ यहाँ लिखे गए है, उनके शब्दों से प्रयोजन है। इस ध्वनि-संबंधी उन्नति की तीन कक्षाएँ हैं। उपर्युक्त पहली चार ध्वनियाँ प्रथम कक्षा से संबंध रखती हैं। इसी तरह नंबर ५ से ७ तक दूसरी कक्षा से और अंतिम चार तीसरी कक्षा से संबद्ध है। इनके आगे भी अन्य ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं, जिनका कथन शब्दों में नही हो सकता। सात शब्द नीचे प्रकार के माने गए है, तथा इनसे ऊपर कुछ और उच्च प्रकार के शब्द कहे गए है। जैसे दर्शन-संबंधी १६ प्रकार ऊपर दिखलाए गए हैं, वैसे ही श्रवण-संबंधी १८ शब्द समझ पड़ते है।

षोडश कला-युक्त पुरुष ब्रह्म है। जब ब्रह्म का पूर्ण ध्यान होता है, तब कलाओं का विचार नहीं होता, और वे (कलाएँ) मिली हुई समझी जाती है। ऐसी दशा मे ईश्वर को निष्कल कहते है। जब कलाओ पर ध्यान रखकर ईश्वर पर विचार होता है, तब उसको सकल कहते है। परब्रह्म निष्कल है, और अपरब्रह्म सकल। इन सोलहो कलाओ की उपमा चंद्रमा की सोलहो कलाओ से दी जाती है, यहाँ तक कि ईश्वरीय और चाद्र कलाओ के नाम भी एक ही है, यथा—अमृत, मानत, पूष, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिना, चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रृति, अगदा, पूर्ण और पूर्णामृत। इसी उपासना को षोडशकल-पुरुष-विद्या कहते है, जिसमे निर्गुण-ध्यान और सगुणोपासना, दोनो सम्मिलित है।

अवतारों, पैग़ंबरो, सिद्धो आदि के प्रति पूजन अथवा मान प्रतीक-उपासना से ही संबंध रखता है, क्योंकि मनुष्य भी एक प्रकार की प्रतिमा-मात्र है। निर्गुण-उपासना प्रतीक-उपासना से ऊँची है, किंतु उसमे भी सगुणत्व एवं प्रतीकत्व लगा है; सो वह भी बुद्धि की अपेक्षा प्रधानतः प्रेम-मार्ग से ही संबंध रखती है। सबसे पहले प्रतीक-उपासना का दर्जा है। उससे बढकर सगुण-उपासना की पात्रता आती है, और उससे भी आगे निर्गुण का पद है, जो प्रेम से विशेष संबध न रखकर प्रधानतः निर्विशेष ज्ञान का विषय है : निर्विशेष ज्ञान को ही प्रेमी लोग तल्लीनता कहते है। इसीलिये स्थूल प्रकार से सगुण की उपासना तथा निर्गुण का ज्ञान कहा गया है। वास्तविक ईश्वर इन दोनो से ऊपर है। ये दोनो सिखलाने-भर को हैं। जब रेखागणित सिखलाया जाता है, तब यह पढ़ाया जाता है कि रेखा मे लंबाई है, किंतु चौड़ाई बिलकुल नहीं। यह बतलाने को बोर्ड पर एक रेखा भी खींची जाती है, किंतु वह स्वयं अशुद्ध है; क्योंकि विना चौड़ाई के रेखा सोची तो जा सकती है, खींची नही जा सकती। फिर भी विना इसके रेखागणित समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान देने के निर्गुण और सगुण-विचार साधन-मात्र है। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोज़ा ने कहा है कि ईश्वर को निर्गुण बतलाने ही में हम उसमे एक गुण स्थापित करते है, अर्थात् यह कहते है कि उसमे अमुक बात का अभाव है। यह भी एक गुण ही है, यद्यपि भावात्मक न होकर अभावात्मक है। इसीलिये कहा गया है कि ईश्वर का विचार पूर्णतया शब्दों मे कहा नही जा सकता, वरन् इशारे से समझाया जा सकता है। अतएव कहते है कि ईश्वर का असली अहंग्रह भाव सगुण और निर्गुण, दोनो से ऊपर है। उपासना और ज्ञान निर्गुण और सगुण, दोनो ही मे होते है।

निर्गुण-सगुण-विचारों का अपने यहाँ मनोरंजक इतिहास है। वेदों मे तेंतीस देवताओं की मुख्यता है, और उन्हीं को यज्ञों से प्रसन्न किया जाता था। फिर भी

इतना कहा गया कि वे केवल ईश्वरीय शक्ति से सबल हैं, अपनी से नही। वह ईश्वर कैसा है, सो वेदों में बहुत करके अकथित है । पीछे से ब्राह्मण तथा सौत्र कालीन सभ्यता में कर्मकाडीय यज्ञो का तो पूरा प्रचार रहा, किंतु ज्ञानकाड के संबंध में यह भाव उठा कि जिन इंद्रादि देवताओं में अपना निजी बल नहीं है, वे महान् कैसे ? इस प्रकार औपनिषत् ज्ञान एक ईश्वर की ओर झुका, विशेषतया उसके निर्गुण भाव पर। उपनिषदो ने बहुधा उसे अव्यय, अलोहित, अस्नाविर, अरूप आदि कहा। अनंतर यह भाव उठने लगा कि जो ईश्वर अपने से कोई विशिष्ट संबंध रखता ही नही, वह आराध्य नही है । इस प्रकार बृहस्पति के अनीश्वरवादी चार्वाक सिद्धांत से लोक-रक्षा करने को महर्षि कपिल, जैमिनि और गौतम बुद्ध के उपदेशो ने जन्म लिया, किंतु समय पर उन्हीं से बढ़कर भारत मे अनीश्वरवाद चलने लगा, जिसका समाज मे प्रतिकार परमसत्य-किंतु शुष्क निर्गुणवाद न कर सका । तब महर्षि बादरायण व्यास ने श्रीभगवद्गीता द्वारा पहलेपहल कुछ स्थूल सगुणवाद का दृढ़ प्रचार किया। इसमें प्रतीकत्व आधिक्य से नहीं है । गंगा की महत्ता है, किंतु उनमे स्नान से कोई फल नहीं कथित है। प्रतिमा-पूजन भी गीता मे नहीं है। हरप्पा और मोहजोदड़ो मे ३३वी तथा २८वी शताब्दी संवत् पूर्व की सभ्यता निकली है। उसमें शिवलिंग पाए गए हैं, किंतु 'न तस्य प्रतिमास्ति' द्वारा वेद ने आर्यों मे प्रतिमा-पूजन न आने दिया। बौद्ध-काल के पूर्व तक अनार्यों मे तो प्रतिमा-पूजन मिलता है, किंतु आर्यों में नही । प्रतिमा भी केवल लक्ष्मी की मिली है, सो भी सांकेतिक, और उसके पूजन का वर्णन नहीं है। बुद्ध भगवान् के पीछे यहाँ प्रतिमा-पूजन चला, जो तुर्कों, शकों, हूणों आदि के हिंदू बनाने से और बढ़ा। इन्हीं लोगों के प्रभाव से पाप-स्वीकृति, तौबा आदि की नक़्ल पर अपने यहाँ भी तीर्थ-स्नान आदि द्वारा पाप-विमोचन की प्रणाली चली । वेदादि मे भी पाप - विमोचन पर बिनतियाँ सवितर आदि से की गई, किंतु पीछे की भाँति उसमे भारी सुगमता न थी। अब तीर्थ-स्नान, प्रतिमा-पूजन आदि के ही सहारे से हिंदू-धर्म चल रहा है। भक्ति इन्ही पर बहुधा अवलंबित रहती है। भारत मे गीता के पूर्व स्वल्प सगुणत्व के साथ निगुण ब्रह्म का प्रचार था, और पीछे मुख्यतया सगुणत्व का हुआ। अनंतर मोटिया सगुणत्व दिनोदिन बढता आया है। दार्शनिकों का विचार है कि योग द्वारा जो ज्योति और शब्द का ज्ञान होता है (जिसका कथन ऊपर हो चुका है), वह एक प्रकार से अप्राकृतिक है। वैज्ञानिको का कथन है कि अनहद नाद और ज्योति के ज्ञान, जो समाधि से प्राप्त होते है, वे भी अप्राकृतिक न होकर प्राकृतिक-मात्र है, और जैसा साधारण शब्दों तथा रूपों का

ईश्वर से संबंध है, वैसा ही उनका भी, उससे विशेष कुछ भी नहीं; अर्थात् उन ज्योतियों तथा नादों मे कोई विशेष ईश्वरीय सत्ता नही है, जो कुछ है, वह साधारणी सत्ता-मात्र है । उनका विचार है कि कर्णेंद्रिय को सदैव काम करने का अभ्यास है; अतः जब हम उससे कोई भी काम नही लेना चाहते, जैसा समाधि-अवस्था में होता है, तब वह ऐसे शब्दों को पकड़ती है, जो हमारी इच्छा-शक्ति की जाग्रत् अवस्था मे उस(कर्णेंद्रिय)के लिये अति सूक्ष्म होने के कारण सुन नही पड़ते । ज्यों-ज्यों इसका अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यो शक्ति बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि समाधिस्थ मनुष्य अंत मे ऐसे-ऐसे शब्द सुनने लगता है, जो उसे अप्राकृतिक और ईश्वरीय समझ पड़ते हैं। इसी प्रकार नेत्र बंद करके समाधि लगाने से आँख मे जो देखने के स्नायु हैं, उनका प्राकृतिक स्फुरण होने से उन्हे त्रिपुटी में ज्योति देख पड़ने लगती है, जिसके रूप अभ्यास-वृद्धि के साथ बदलते जाते हैं। इन्ही रूपो को योगी ईश्वरीय ज्योति का साक्षी मानने लगता है, यद्यपि सूक्ष्मता का विचार छोड देने से इनमे साधारण पदार्थों के देखने से बढ़कर कोई भी मुख्य ईश्वरीयता नहीं है । यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों मे इस विषय पर कोई वास्तविक भेद है भी नही, क्योंकि दार्शनिक भी इन्हे वास्तव मे अप्राकृतिक नही मानते । वे केवल इनकी सूक्ष्मता पर ज़ोर देते है। इस विषय पर अपने को मत-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना हर तरह से मानना पड़ता है कि योगी जो ज्योति देखता और शब्द सुनता है, उसके आकार-प्रकार साधारण ज्ञान से सूक्ष्मतर है। जब सभी बातो मे ईश्वरीय शक्ति है, तब सूक्ष्म बातो में उसकी कुछ अधिकता अवश्यमेव होगी।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होगा कि हिंदू-मत मे ईश्वरीय भाव बहुत ही ऊँचा है। अब हम कबीर साहब के ईश्वर-संबधी कथनो पर विचार करते है। आपने कहा है कि ईश्वर मे सब शक्तियाँ हैं, और वह सभी कुछ कर सकता है, किंतु बंदा (आदमी) नहीं कर सकता। इससे ईश्वर ही मे शक्ति है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। कबीर ने उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आदि माना है, और एकेश्वरवाद पर बहुत बड़ा ज़ोर दिया है। 'सैना बैना' से 'गूँगे के गुड़' की भाँति समझाने मे आपने शून्य, ज्योति और शब्द या अनहद नाद, इन तीन बातों पर विशेष ज़ोर दिया है। शून्यवाद अनीश्वरवाद को कहते है, और ईश्वरवाद मे भी शून्य का वर्णन आता है। ईश्वर को बार-बार शून्य शहर का वासी आदि कहकर कबीर साहब ने यह व्यक्त किया है कि अद्वैतवाद सत्य है, अथच ईश्वर के अतिरिक्त प्रकृति, जीवात्मा आदि कुछ भी सत् नही है, क्योंकि यदि वे सत् होते, तो

ईश्वर के अतिरिक्त और भी पदार्थ होते, और वह शून्य का निवासी न होता। योग में इंद्रियों के शून्यप्राय कर देने से ही ज्योति का दर्शन होता है। इससे कबीर साहब ने शून्य का अधिक वर्णन करके यह भी दिखलाया है कि इंद्रियों की अकर्मण्यता अर्थात् लय द्वारा ज्योति-दर्शन होनेवाला योग का विचार सत्य है।

इस प्रकार 'शून्य' के कथन द्वारा कबीर साहब ने, हमारी समझ में, अद्वैत मत, अथच योग की ज्योति एवं शब्द-संबंधी विचारों को पुष्ट किया है। शब्द, नाद आदि से आपका प्रयोजन अनहद नाद से है, जैसा आपने कहा भी है। आपने अनहद ढोल, अनहद घंट और नाद, इन तीनो बातों का इस संबंध में विशेष कथन किया है। ये सब बातें योग-शास्त्र के विचारों तथा अनुभवों से पूरी-पूरी मिल जाती हैं, जैसा ऊपर वर्णित है। शब्द को आप ररंकार-मूलक मानकर राम-नाम को पूज्य समझते हैं। इतनी ही गोप-लीला आपके कथनों में है, या यों कहें कि समझ पड़ती है। योग के चार स्थूल विभाग हैं—राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग और लययोग। कबीर साहब का सिद्धांत प्रधानतः लययोग समझ पड़ता है।

ईश्वर के संबंध में आपका विचार बहुत ही ऊँचा है। इससे ऊँचा भाव आज तक शायद किसी भारी हिंदी-कवि ने नहीं प्रकट किया। आपने साफ़ कह दिया है कि ईश्वरीय विचार सगुण और निर्गुण, दोनो से ऊँचा है। यह भी प्रकट रूप से कहा गया है कि भक्ति सगुण ईश्वर की करे, और ज्ञान के लिये निर्गुण ईश्वर पर विचार करे; किंतु ये दोनो बातें समझाने-भर को हैं, क्योंकि असली ईश्वर इन दोनो से परे है। प्रतीक-उपासना की आपने पूरे बल के साथ निंदा की है। प्रतिमा, अवतार, पैग़ंबर, मुल्ला, क़ाज़ी, ब्राह्मण आदि में से आप किसी को पूज्य नहीं मानते, और सद्गुण पर ही ज़ोर देते हैं। यह महात्मा उपनिषदों की सच्ची संतान थे। इन्होंने सिवा सच्चे, चोखे ज्ञान के और कुछ भी नहीं कहा, और समझाने-बुझाने आदि के लिये किसी प्रकार ईश्वरीय विचार की सत्यता में तिल-मात्र असत्यता नहीं घुसने दी। सत्य-कथन का इस महात्मा को इतना चाव था कि चाहे भद्दा-पन भी आ जाय, विरोध हो जाय, स्त्री का सतीत्व तक भ्रष्ट हो जाय, किंतु मुख से असत्य बात न निकले, और कर्मों में असत्यता का आवेश न हो। हिंदू दार्शनिक सिद्धांतों में आपने अद्वैतवाद को पूर्ण बल के साथ अपनाया, किंतु, फिर भी, उसमें कहे हुए प्रत्येक विचार को नहीं माना। अद्वैत में आपने ईश्वर की अद्वैतता-मात्र पर ज़ोर दिया है। इतना और कहना पड़ता है कि यद्यपि कबीर साहब ने भक्ति के लिये सगुण ईश्वर की उपासना ठीक कही है, तो भी इनकी

रचना मे उसका बहुत कम समावेश है। भक्ति का उपदेश आप अवश्य करते है, किंतु ईश्वर मे तार्किक सत्यता स्थिर रखने के लिये उसके सगुण-वर्णन को दृढ़ नही करते, जिससे भक्ति के लिये कोई अवलंब कम मिलता है। ईश्वर की भक्ति क्यो की जाय? इस प्रश्न का उत्तर जो आपने दिया है, वह बहुत चित्ताकर्षक नही है। ईश्वर की दयालुता, कोमलता आदि के भाव आपकी रचना मे कम आए है। आप निर्वाण आदि के ही लिये भक्ति का उपदेश करते है; यह कम दिखलाते है कि दुःखो का दमन ईश्वर ने किया, अथवा वह हमारे लिये बड़ा उत्सुक है, या हमारे कष्टो, दुःखो, दुराचरणों आदि के हटाने मे तत्पर है। आपकी रचना मे आत्मा की उत्सुकता परमात्मा की ओर विशेष है, किंतु परमात्मा की उत्सुकता बहुत कम है, बल्कि कुछ भी नही। जो थोड़ी-सी है, वह पर्याप्त नही। यह नही समझ पड़ता कि आत्मा परमात्मा के लिये क्यो इतना उत्सुक हो! केवल मुक्ति की चाट यथेष्ट नही है। प्रेम करने के योग्य बहुत-सी बाते कबीर के ईश्वर में नहीं मिलता। इनके ईश्वर के संबंध मे उदासीन भाव से भक्ति ठीक या योग्य समझ पड़ती है (उदासीन भाव से भक्ति शात भाव के अंतर्गत कही जा सकती है)। इसका कारण तार्किक शुद्धता ही दिखाई देती है। ईश्वरीय विचार जितना शुद्ध कबीर साहब ने कहा है, उतना हमारे किसी अन्य भारी भाषा-कवि ने नही कहा। स्वामी दयानंद तक ने सब कुछ छोड़कर वेदों का सहारा अवश्य ढूँढ़ा, किंतु कबीर ने कोई सहारा नही लिया, केवल सच्चा-सीधा ईश्वर कहा। इसीलिये उसमें कुछ शुष्कता आ गई है।

चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जाये बुद्धि, बल, बानी।
यह बिचारि जे चतुर बिरागी, रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी।

महात्मा तुलसीदास को अनन्य भक्त होकर भी ऊपर-लिखी बात कहनी पड़ी; किंतु आप राम-भक्ति को तर्क-हीन बतलाते है, और इतना होने पर भी संशय न होने का उपदेश एवं 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी विश्वासात्मिका भक्ति के बल पर देते है। कबीरदास के कथनों में संशयात्मक के लिये ठौर ही नही है। वह कहते ही नही कि अमुक पुस्तक ईश्वर की आज्ञा है; फिर संशय क्या किया जाय? वह ईश्वरीय कृपाओं के उदाहरण ही नही देते कि कोई उन पर संदेह प्रकट करे। वेद, क़ुरान, बाइबिल आदि का अधिकार उन ग्रंथों के ईश्वरीय संबंध पर ही अवलंबित है। यदि कोई इस संबंध को न मान सके, तो उन पुस्तकों पर विश्वास कैसे करे? कबीरदास के कथनों मे ऐसे विश्वासों को आवश्यकता ही नही है। अन्य बहुतेरे उपदेशक कहते है कि हमारे कथन अमुक ग्रंथ में कथित होने, हमसे ईश्वर का अमुक संबंध होने एवं ऐसे-ही-ऐसे अन्य कारणों

से मान्य हैं ; किंतु महात्मा गौतम बुद्ध की भाँति कबीर साहब मानो यही कहते है कि हमारे कथन ठीक होने के कारण ठीक हैं ; जो उनमें भूल निकाल सकें, वे निकाले। वह स्वयं सबकी भूलें निकालने का बीड़ा उठाए बैठे थे। उनके कथनों मे कोई भूल न निकाल सका। योगियो के कथन होते हैं कि हमने अमुक बात योग-बल से देखी है, इसलिये तुम्हे माननी चाहिए। यदि संदेह हो, तो 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी रक्खी हुई है; परंतु बाबा, सारे प्राकृतिक नियमों और अध्ययनों के फलों को किस कोने में ठूँसे, जो अंध-विश्वास के अनुयायी बने ? उत्तर यही मिलेगा कि कौन अंध-विश्वास करने को कहता है ? ख़ुद योग साधन कर देख न लो। पर साठ बरस तक श्रम करने को समय किसके पास है ? फल यह है कि आप अपना योग-बल लिए बैठे रहिए, और हम अपने अविश्वास पर दृढ रहे। कबीर के कथनों मे ऐसी बातों की आवश्यकता नही। आपके छंदों तथा जीवन के चरित्रो से जान पड़ता है कि आप योगी, सिद्ध, ब्रह्मानंदी और समाधिस्थ थे। आपकी गणना पैग़ंबरों और मिस्टिक (Mystic) महापुरुषों में हो सकती है। फिर भी आपने किसी को अपने ऊपर अनुचित विश्वास करने का उपदेश नहीं दिया, और सारी चितावनियाँ तथा विचार बुद्धि-ग्राह्य लिखे। इसलिये यदि इनका ईश्वर-प्रेम मोहक न हो, तो भी सत्यता की मात्रा विशेष होने से हम उसको योग्य समझते है, और इन्हे बहुत भारी धर्मोपदेशक मानते हैं। इतना तो भी कहना पड़ेगा कि अपनी भक्ति शुष्क देखकर ही शायद आपने उल्टबाँसी आदि कहकर अपने धार्मिक उपदेश जनता तक पहुँचाने चाहे हों, किंतु इन अंतिम प्रयत्नों मे केवल मूर्ख-मोहनी विद्या है।

उदासीन भक्ति का यह प्रयोजन हमने माना है कि ईश्वर की महत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार करें, उसके नियमों को दयामय समझें, किंतु नियमातिरिक्त दया को न्याय के प्रतिकूल मानकर असाधारण व्यक्तिगत दया की आशा उससे न करें। ऐसी भक्ति का मुख्य अंग कर्तव्य-पालन है। ईश्वर से कोई विशिष्ट व्यक्तिगत संबंध असंभव है।

अवतार

(१) तेहि साहब के लागौ साथा ; दुइ दुख मेटिकै होहु सनाथा।
दसरथ-कुल अवतरि नहिं आया, नहीं लंक के राय सताया।
नहिँ देवकि के गरभहि आया ; नहीं जसोदा गोद खेलाया।
पृथिवी रमन दमन नहिँ करिया ; पैठि पताल नहीं बलि छरिया।
नहिँ बलिराय सों माँड़ी रारी ; ना हरनाकुस बधल पछारी।
रूप बराह धरनि नहिँ धरिया; छत्री मारि निछत्र न करिया।

गंडक सालग्राम न सीला ; मच्छ-कच्छ ह्वै नहिँ जल हीला ।
द्वारावती सरीर न छाड़ा ; लै जगनाथ पिंड नहिँ गाड़ा ।

(२) संतौ, आवै जाय सो माया;
है प्रतिपाल काल नहिँ वाके, ना कहिँ गया, न आया ।
क्या मकसूद मच्छ - कच्छ होना, संखासुर न सँहारा ;
अहै दयालु, द्रोह नहिँ वाके, कौन कहौ को मारा ।
वे करता, न बराह कहावैं, धरनि धरैं नहिँ भारा ;
ई सब काम नही साहेब के, झूठ कहै संसारा ।
खंभ फारि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ;
हिरनाकुस नख उदर बिदारै, सो नहिँ करता होई ।
बावन - रूप न बलि को जाँचै, जो जाँचै, सो माया ;
बिना बिबेक सकल जग जड़ है, माया जग भरमाया ।
परसुराम छत्री नहिँ मारा, ई छल माया कीन्हा ;
सतगुरु भक्ति भई नहिँ जानै जीव सु मिथ्या दीन्हा ।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल - पखान नहिँ बंधा,
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा ।
गोप, ग्वाल, गोकुल नहिँ आए, कर ते कंस न मारा ;
मेहेरबान है सबका साहेब, ना जीता ना हारा ।
वे करता नहिँ बौध कहावै, नहा असुर को मारा ;
ज्ञान - हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा ।
वे करता नहिँ भए कलंकी, नही कलिंगहि मारा,
ई छल - बल सब मायै कीन्हा, जतिन - सतिन सब टारा ।
दस अवतार ईस्वरी माया करता कै जिन पूजा ;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, उपजै - खपै सो दूजा ।

माया

ई माया रघुनाथ कि बैरिनि, खेलन चली अहेरा हो ;
चतुर चिकनिया चुनि - चुनि मारे, कोइ न राखा नेरा हो ।
मौनी, पीर, दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो ;
जंगल मे के जंगम मारे, माया किनहु न भोगी हो ।
बेद पढ़ंते बेदुवा मारे, पुजा करंते स्वामी हो,
अर्थ बिचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो ।

सृंगी ऋषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो;
नाथ मुछंदर चले पीठि दै, सिगल हू मे बोरी हो।
साकठ के घर करता-धरता, हरि-भक्तों के चेरी हो;
कहहि 'कबीर' सुनो हो संतौ, ज्यों आवै त्यों फेरी हो।

माया महा ठगिनि हम जानी;
निरगुन फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी;
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी।
जोगी के जोगिनि ह्वै बैठी, राजा के घर रानी;
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, यह सब अकह कहानी।

अवतार तथा माया-संबंधी उपर्युक्त छंदो से प्रकट हुआ होगा कि कबीर साहब अवतारी, देवी, देवता आदि को माया के अंग समझते और नही मानते थे।

कर्म-गति

करम-गति टारी नाहिँ टरी।
मुनि बसिष्ठ-से पंडित ज्ञानी, सोधि कै लगन धरी;
सीता-हरन, मरन दसरथ को, बन में बिपति परी।
कहँ वह फंद, कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी;
सीता को हरि लैगो रावन, सुबरन लंक जरी।
नीच हाथ हरिचंद बिकाने, बलि पाताल धरी;
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग गिरगिट-जोनि परी।
पँडवार्जुन के आप सारथी, तिन पर बिपति परी;
दुरजोधन को गरब घटायो, जदु-कुल-नास करी।
राहु, केतु औ' भानु, चंद्रमा बिधि संजोग परी;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, होनी ह्वै के रही।

यह पद सूरदास के ऐसे ही एक पद से बहुत कुछ मिलता है। संभव है, उन्हीं का पद कबीर साहब के शिष्यों ने इनकी रचना में रख दिया हो, क्योंकि यह इनके सिद्धांतों से भी बहुत कुछ नहीं मिलता, जैसा कि नीचे के वर्णन से प्रकट होगा।

आवागमन

इस सिद्धात पर हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर है। हिंदुओं का सिद्धात है कि प्रत्येक मनुष्य, वरन् देहधारी, जीवन में जैसे कार्य करता है, तदनुसार भविष्य मे अन्य योनियाँ प्राप्त करके संसार में कर्म कमाता है। उधर मुसलमानों का मत है कि जीवात्मा एक ही बार मनुष्य-योनि पाकर फिर उसमे कभी नहीं आता। कबीर साहब की रचना पढ़कर इस प्रश्न पर भ्रम-सा होता है, क्योंकि आप इन दोनो विरुद्ध सिद्धांतों के समर्थन मे स्थान-स्थान पर छंद लिखते है। इसीलिये यह निश्चय नहीं होता कि कर्मों के सिद्धात पर इनका दृढ़ मत क्या था?

उदाहरण—

हिंदू-विचार

निर्गुन नाम बिना पछितैहो फिरि-फिरि यहि नगरी।
कहत 'कबीर' बसा है हंसा आवागमन मिटावै।
दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहौ।
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ;
काँटा पर कै पानी पैहौ, प्यासन ही मरि जैहौ।
दूजा जनम सुवा का पैहौ, बाग बसेरा लैहौ;
टूटे पंख, बाज मँडराने, अधफड़ प्रान गँवैहौ।
बाजीगर के बंदर ह्वै हौ, लरिकन नाच नचैहौ;
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ।
सत्त नाम की टेर न करिहौ, मन-ही-मन पछितैहौ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, नरक निसानी पैहौ।
अष्ट कमल से ऊपजै, लीला अगम अपार,
कह 'कबीर' चित चेतिकै आवागमन निवार।

मुसलमानी विचार

सोच-समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी;
कह 'कबीर' धरि राखु जतन से, फेरि हाथ नहिं आनी।
जियरा ऐसा पाहुना, मिलै न दूजी बार।
मानुष-तन दुर्लभ अहै, बहुरि न दूजी बार;
पक्का फल जो गिरि परै, बहुरि न लागै डार।

राम

राम को कबीर साहब दशरथ-नंदन अथवा अवतार समझकर नहीं जपते थे,

वरन् ईश्वरीय शब्द ररंकार के संबंध मे पवित्र मानते थे। इनके गुरु स्वामी रामानंद ने जो इन्हें राम का मंत्र दिया था, उससे उनका प्रयोजन अवतार ही का था। फिर भी कबीर की रचना मे सैकड़ों स्थानों पर राम-नाम होते हुए भी उससे अवतार का संबंध कभी नहीं बैठता। इससे जान पड़ता है कि शिष्य होने के बहुत दिन पीछे, अपने विचार दृढ़ कर लेने पर, कबीर साहब ने इन छंदों की रचना की। इन्होंने यद्यपि गुरु-मत्र का भाव छोड़ दिया, तथापि उसके शब्दों से श्रद्धा नहीं हटाई।

उदाहरण—

रमै घट-घटन में, आपु न्यारा रहै, पूर्न आनंद है राम सोई।
पाँच पचीस गुन सील से रहित है, कौन-सी दृष्टि से राम देखा।
दसरथ-सुत तिहुँ लोकहि जाना; राम-नाम का मर्म है आना।
अब सुनि लेहु जवाहिर मोदी खरा-खोट नहिँ बूझा;
सिव, गोरख अस जोगी नाही, उनहूँ को नहिँ सूझा।
बड़-बड़ साधू बाँधे छोरे, राम भाग दुइ कीन्हा;
'रा-रा' अच्छर पाखर लीन्हा, 'मा' हि मरम तजि दीन्हा।
राम के नाम ते पिंड ब्रह्मंड सब, राम को नाम का मर्म बानी;
निर्गुन निरंकार के पार परब्रह्म है, तासु को नाम रंकार जानी।
रसना राम-राम गुन पीजै; गुनातीत निर्मूलक लीजै।
निर्गुन ब्रह्म जपौ रे भाई, जेहि सुमिरत सुधि-बुधि सब पाई।
कहै 'कबीर' वह शख़्स तहक़ीक़ कर राम का नाम जो पृथी लाया।

ज्ञान

ज्यों अँधरे को हाथिया सब काहू को ज्ञान;
अपनी-अपनी कहत हैं, काको धरिए ध्यान।
ज्ञानी से कहिए कहा, कहत 'कबीर' लजाय;
अंधे आगे नाच ते कला अकारथ जाय।
ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रह्यो निज रूप;
बाहर खोजैं बापुरे, भीतर वस्तु अनूप।
जौ लौं तारा जगमगै, तौ लौं उगै न सूर;
तौ लौं जिय जग कर्म बस, जौ लौं ज्ञान न पूर।

उपर्युक्त प्रथम तीन दोहों में झूठे ज्ञान की निंदा की गई है, सच्चे की नहीं। तीसरे दोहे में बुद्धि की निंदा और प्रतिभा की स्तुति हुई है। चौथे में सच्चे ज्ञान की महिमा गाई गई है।

भक्ति और प्रेम

अर्ब - खर्ब लौं दर्बि है, उदय - अस्त लौं राज ;
भक्ति महातम ना तुलै, ये सब कौने काज ।
और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति-कर्म निष्कर्म ;
कहै 'कबीर' पुकारिकै भक्ति करौ तजि भर्म ।
जो जन बिरही नाम के सदा मगन मन माहिं ;
ज्यों दर्पन की सुंदरी किनहूँ पकरी नाहिं ।
बिरह-बान जिहि लागिया, औषध लगत न ताहि ;
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जियै, उठै कराहि-कराहि ।
सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय ;
आँखि न खोलूँ डरपता मति सपना ह्वै जाय ।
सबही तरु तर जायकै, सब फल लीन्हों चीखि ;
फिरि-फिरि 'कबिरा' माँगता दरसन ही की भीखि ।
यह तौ घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ;
सीस उतारै, भुइँ धरै, तब पैठै घर माहिं ।
हिरदै मे महबूब है, हरदम का प्याला ;
पीएगा कोइ जौहरी, गुरु-मुख मतवाला ।
पियत पियाला प्रेम का सुधरे सब साथी ;
आठ पहर झूमत रहै, जस मैगल हाथी ।
बंधन काटे मोह के बैठा निरसंका,
वाके नजर न आवता, क्या राजा - रंका ।
धरती जो आसन किया, तंबू असमाना ;
चोला पहिरा खाक का, रह पाक समाना ।
गही टेक छोड़ै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय ;
ऐसो तप्त अँगार है, ताहि चकोर चबाय ।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर के चित्त में भक्ति एवं ईश्वरीय प्रेम की मात्रा अथाह थी ।

जप

अजपा जाप जपै मन लाई ; जाके जपे मिटै दुचिताई ।
लूटि सकै, तौ लूटिए सत्तनाम की लूटि ;
पाछे फिरि पछिताहुगे, प्रान जाहिं जब छूटि ।

दुख मे सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय ;
जो सुख मे सुमिरन करै, तौ दुख काहे होय।

यत्न

द्वार धनी के परि रहै, धका धनी का खाय ;
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय।
जिन ढूँढा, तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि ;
मै बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि।

जप और यत्न को सभी संत लोग पसंद करते हैं। इन्हें कबीर साहब ने भी अच्छा कहा है। उक्त पाँचों छंद ऐसे लोक-प्रिय हुए कि कहावतों मे परिणत हो गए हैं। महात्मा कबीरदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य भारत में बहुत अधिक पड़ा है। सिवा गोस्वामी तुलसीदास के और किसी हिंदी-कवि का प्रभाव इन प्रांतों में कबीर साहब से बढ़कर नहीं पड़ा। इस कथन का प्रयोजन स्वामी शंकराचार्य से पीछेवाले महात्माओं और कवियों से है।

गुरु

गुरु दयाल कब करिहौ दाया ;
काम, क्रोध, हंकार बियापै, नाहीं छूटै माया।
जौ लगि उत्पति बिंदु रचो है साँच कभूँ नहिँ पाया ;
पाँच चोर सँग लाय दियो है, इन सँग जन्म गँवाया।
तन-मन डस्यो भुवँगम भारी, लहरै वार न पारा ;
गुरु गारुड़ी मिल्यो नहिँ कबहीं, बिष पसरयो बिकरारा।
कह 'कबीर' दुख कासो कहिए, कोई दरद न जानै ;
देहु दिदार दूर करि परदा, तब मेरो मन मानै।
चकई बिछुरी रैनि की आय मिली परभात ;
सतगुरु से जे बीछुरे मिलैं दिवस नहिँ रात।
गुरु गोबिद दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय ;
बलिहारी गुरु आपने, गोबिँद दिया बताय।
'कबिरा' ते नर अंध है, गुरु को कहते और ;
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिँ ठौर।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर साहब गुरु का मान बहुत करते थे। ईश्वर के पीछे, आप गुरु को ही मानते थे।

सखी-संप्रदाय मे आत्मा का वर्णन

कबीर साहब ने आत्मा को स्त्री मानकर ईश्वर मे प्रायः पति-भाव स्थापित

किया है। रूपक की भाँति इन दोनो के विवाहों के भी अनेक बार अनेक प्रकार से वर्णन किए गए हैं। आपकी भक्ति सखी-संप्रदाय की थी। इनकी रचनाओं में शृंगार-पूर्ण वर्णन इस संबंध में बहुत आया है, किंतु उनमें भी शृंगार का आभास-मात्र है। प्रत्येक स्थान पर पाठक को भासित होता जाता है कि शृंगार कहने हो भर को है, वास्तविक वर्णन जीवात्मा तथा परमात्मा ही का है। इन कारणों से आपका शृंगार-वर्णन अरुचिकर हो गया है, और उसे पढ़कर अधिकतर स्थानो में काव्यानंद नही आता। आपके ऐसे थोड़े ही इस प्रकार के छंद है, जिनमें काव्य का स्वाद मिलता है। कई स्थानों पर भावों मे जीवात्मा और परमात्मा का विचार इतना दृढ़ है कि उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के ऊपरी कथन को सत्य मानने से स्त्री के काम इतने उन्मत्तता-पूर्ण हो गए है कि कोई कुलटा भी उतनी निर्लज्जता न दिखलावेगी। ऐसे स्थानो पर जीवात्मा एवं परमात्मा का ही विचार मानने से वर्णन ठीक बैठता है, और ऊपरी स्त्रीवाला कथन मिलाने से रूप बिलकुल बिगड जाता है। स्त्री पति से मिलने को इतनी उत्सुक है कि ऊँचे रपटीले रास्ते मे चढती चली जाती है। रास्ता विकट है, पैर आगे नही पडता; वह गिर-गिर पडती है, किंतु चली ही जाती है। पति महाशय ऊपर बैठे है। उनको इसकी रत्ती-भर भी परवा नही कि ऐसे स्थान पर पहुँचने मे उनकी स्त्री की क्या दशा होगी? ऐसे अधिकतर वर्णनों मे पति की ओर से पूर्ण उदासीनता देख पड़ती है, किंतु स्त्री को इतना प्रेम है कि मिलने के लिये उसका प्राण ही निकला जाता है। अपने पिता से कहती है कि बाबा, मेरा विवाह कोई अच्छा वर ढूँढ़कर करा दो, और जब तक ऐसा वर न मिले, तब तक तुम्ही वर का काम करो। यहाँ पिता से गुरु का प्रयोजन है, और पति से ईश्वर का। मतलब यह है कि जब तक ईश्वर से पूरी लगन लग न सके, तब तक उसके स्थान पर गुरु को ही मानना चाहिए। इतना ही आध्यात्मिक विचार सीधे ढंग से बहुत अच्छा बैठता है, किंतु पुत्री द्वारा पिता से यह कहलाना बड़ा ही गर्हित है। रूपक सच्चा वह है, जिसमे उसके दोनो पक्षो मे भाव ठीक उतर जाय। जब तक वर्णन दोनो पक्षो को न निबाहे, तब तक उसका रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के रूप मे कथन ही वृथा है। कबीर साहब के अधिकांश शृंगार-पूर्ण कथन इस कसौटी पर कसने से ओछे बैठते है। इसीलिये इनकी रचना में आध्यात्मिक विषय तो बहुत अच्छा, ऊँचा और आनंदप्रद है, किंतु उसमे साहित्यिक मज़ा वैसा नही आता। इनके होली, चाँचरा, विवाह आदि के वर्णन इन्ही विचारों से ओछे पड़ते हैं। कहते तो है कि होली खेलो, किंतु पिचकारी मारते है ज्ञान की, जिसका प्रयोजन यह निकलता है कि होली न

खेलकर उससे बिलकुल विपरीत आचरण द्वारा ज्ञानोपार्जन करो। यदि ऐसी शिक्षा देनी है, तो दीजिए, हम बड़ी प्रसन्नता से सुनने को तैयार हैं; किंतु मिथ्या आशा न दिलाइए। ऐसी दशा मे साहित्यानंद का पूर्ण अभाव हो जाता है। जो कहना हो, वही ठीक-ठीक कहिए, किंतु और का और न हो। यदि अन्योक्ति आदि में वर्णन करना हो, तो ऐसा मौक़ा निकालिए, जिसमे उनकी आवश्यकता जान पड़े। यथा—

वहि लज्जा अरजा रहति यहि हौं चाहति सैन;
हे रतौंधि, यह बात मम सैन समै बिसरै न।

(दास कवि)

यहाँ कथन तो रतौंधी से किया जा रहा है, किंतु प्रयोजन है नायक के चेताने का। साफ़ कहने से साथवाले जान जाते, इससे रतौंधी को संबोधन करके बात कही गई। मौक़ा अन्योक्ति के लिये अच्छा है, अतः काव्यानंद आता है। इसी प्रकार बहुत स्थानों पर कबीर साहब ने भी अन्योक्तियाँ, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि से गर्भित कथन अच्छे भी किए है, किंतु आपके अधिकतर ऐसे विवरण फीके हो गए है। उदाहरण—

(१) दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना;
बहियाँ पकरि पिय लै चले, तब उजुर न करना।
इक अँधियारी कोठरी, दुजे दिया न बाती;
देहिँ उतारि ताही धरों जहँ संग न साथी।
इक अँधियारी कुइयाँ, दुजे लेजुर टूटी;
नैन हमारे अस ढुरै, मनो गागर फूटी।
लगन सुनत गवने कै, मुँह कुम्हिलाइन हो;
लै रे उतारिन तेहि घरा, जहँ दिसि न दुवार हो।

(२) यार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय;
धन मैली, प्यू ऊजला, लागि न सक्कूँ पाँय।
जहाँ गैल सिलसिली चढ़ौं गिरि-गिरि परौं;
उठहुँ सँभारि-सँभारि चरन आगे धरौं।
समझ-सोच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय;
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहिँ ठहराय।
अधर भूम जहँ महल पिया का हम पै चढ़ो न जाय;
दूती सद्गुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय।

(३) दुलहिनी गाओ मंगलचार, हमारे घर आए रजा राम भरतार।
तन रति कर मै मन रति करिहौं, पाँचो तत्त्व बराती;
रामदेव मोहिँ ब्याहन आए, मै जोबन-मद-माती।
सरिर सरोवर बेंदी करिहौं, ब्रह्मा बेद उचारा;
रामदेव सँग भाँवरि लैहौं, धन-धन भाग हमारा।
सुर तैंतीसौ कौतुक आए, मुनिबर सहस अठासी;
कह 'कबीर' मोहिँ ब्याहि चले हैं पुरुख एक अबिनासी।
बालम आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे;
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसो नेह रे।
अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे;
ज्यौं कामी को कामिनि प्यारी, ज्यौं प्यासे को नीर रे।
है कोइ ऐसा पर-उपकारी, पिय सों कहै सुनाय रे;
अब तो बेहाल 'कबीर' भए है, बिन देखे जिउ जाय रे।
सेजरिया बैरिन भइ, हमको जागत रैन बिहाय।
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार;
दीनदयाल, दया करि आओ समरथ सिरजनहार।
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी करि लेव;
दास 'कबीर' बिरह अति बाढेव, हमको दरसन देव।

(४) खेलि ले नैहरवा दिन चारि।
पहिली पठौनी तिन जन आए नौवा, बाम्हन, भाट रे,
बाबुलजी, पैयाँ तोरी लागौं, अब की गवन दे टारि रे।
दुसरी पठौनी आपै आए लैकै डुलिया-कहार रे;
धरि बहियाँ डुलिया बैठारिन, कोउ न लगै गुहार रे।
लै डुलिया जाइ बन माँ उतारिन, कोइ न संगी हमार रे;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, इक घर है दस द्वार रे।

उपर्युक्त छंदों के विषय मे हम अपना मत ऊपर लिख आए हैं। छंदावली नंबर ३ में स्त्री का पद पुरुष की अपेक्षा बहुत ही नीचा और आश्रित है। जीवात्मा और परमात्मा के विचार में सब ठीक है। नंबर ४ में पति यमराज ही हो गया है। स्त्रियों के विषय में कबीर साहब का मत यों भी उनकी उचित महिमा के प्रतिकूल था। आपने लिखा है—

साँप-बीछि को मंत्र है, माहुर झारे जात;
बिकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात।

अन्योक्ति

हे गुनवंती बेलरी, तुव गुन बरनि न जाय;
जर काटे ते हरिअरी, सींचे ते कुम्हिलाय।
बेलि कुढंगी, फल बुरो, फुलवा कुबिधि बसाय;
मूल बिना सो तूमरी, सरोपात करुवाय।
हम जान्यो कुलहंस हौ, ताते कीन्हों संग;
जो जनत्यों बक-बरन हौ, छुवन न देत्यौं अंग।

रूपक

कुबुधि कमानी चढ़ि रहो कुटिल बचन का तीर;
भरि-भरि मारै कान लौं, सालै सकल सरीर।
झीनी-झीनी खीनी चदरिया।
काहे क ताना, काहे कि भरनी, कौन तार से हीनी चदरिया;
इँगला-पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तार ते बीनो चदरिया।
आठ कँवल, दस चरखा डोलैं, पाँच तत्त्व, गुन तीनी चदरिया;
साईं को सियत मास दस लागै, ठोंकि-ठोंकि कै लीनी चदरिया।
सो चादर सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़िकै मैली कीनी चदरिया;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया।

उपर्युक्त चद्दर का रूपक बहुत ही अच्छा बना है। इसमें योग-संबंधी शब्द भी अच्छे हैं। आपने रूपक बहुत अच्छे कहे हैं।

उल्टवाँसी और सांकेतिक पद

कबीर साहब ने उल्टवाँसी बहुत-सी कही हैं। इनमें देखने को तो उल्टा कथन किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक अर्थ लगाने से वह ठीक बैठ जाता है। इसीलिये इन्हें उल्टवाँसी कहते हैं। इन्हीं से मिलते हुए बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो संकेत में किए गए हैं, और जिनका अर्थ साधारण पाठक कठिनता से लगा सकते हैं। "पाँच पचीस को दमन करो।" एक ऐसा ही वाक्य है। इसी प्रकार के बहुत-से कथन ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं। वैदिक साहित्य का कुछ स्वाद इन महात्मा की रचना में कहीं-कहीं मिलता है। उदाहरण—

(१) बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता।

यहाँ अष्ट से योग, कष्ट से ज्ञान, नौ से नवधा भक्ति और सूत से जीव का प्रयोजन है।

(२) चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय;
आवागमन कि गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।

यहाँ चिउँटी से बानी का प्रयोजन लिया गया है, और राई से बुद्धि का।

(३) संतो, जगत नींद ना कीजै;
काल न खाय, कल्प नहिँ ब्यापै, देह जरा नहिँ छीजै।
उलटा गंग समुद्रहि सोखै, ससि औ' सूरहि ग्रासै;
नौ ग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिंब प्रकासै।
बिनु चरनन को दुहुँ दिसि धावैं, बिनु लोचन जग सूझै;
संसय उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज कोइ बूझै।
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सीधे सों जल भरिया;
जेहि कारन नर भिन्न - भिन्न करैं, गुरू प्रसादैं तरिया।
बैठि गुफा मैं सब जग देखे, बाहर कछू न सूझै;
उलटा बान पारधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै।
गायन करे कबहुँ नहिँ गावै, अनबोला नित गावै;
नटवट बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै।
कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी;
धरती उलटि अकासहि बेधै, ई पुरुखन की बानी।
बिना पिया के अमिरित अँचवै, नदी नीर भरि राखै;
कहै 'कबीर' सो जुग - जुग जीवै, राम-सुधा-रस चाखै।

इसका अर्थ पूर्णदास ने लिखा है। यहाँ सब लिखना अनावश्यक है।

(४) तेहि पानी दुइ परबत, दरिया लहर समानी।

(५) संतो, अचरज यक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी।
पिताहि के सँग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी;
खसमहिँ छाँड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु बिचारी।
भाई के सँग ससुरे गवनी, सासुहि सावन दीन्हा;
ननद - भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा।
समधी के सँग नाहीं आई, सहज भई घरवारी;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, पुरुख जनम भो नारी।

ऐसे-ऐसे उलटे कथनों से भी सीधे अर्थ निकलते हैं। जिसे अर्थ देखना हो, वह टीका पढ़े। सीधा अर्थ फीका क्या, अशुद्ध है, किंतु आध्यात्मिक शुद्ध। इसे अन्योक्ति भी कहते हैं।

(६) पहिले जनम पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे ;
बाप - पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे।
इंदुर राजा टीका बैठे, बिषहर करै खवासी ;
स्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर मे दासी।
कार दुकार कार करि आगे, बैल करै पटवारी ;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, भैंसे न्याव निबारी।

(७) जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै ;
कातूँ सूत हजार चरखुला जिन जरै।
बाबा मोरा ब्याहु कराओ अच्छा बरहि तकाय ;
जौलौं अच्छा (बर) ना मिलैं, तौलौं तुमहि बिहाय।
प्रथमै नगर पहुँचतै परि गौ सोक सँताप ;
एक अचंभा देखिया, बिटिया ब्याहिल बाप।

(८) माटि क कोट, पषान को ताला ; सोइ के बन सोई रखवाला।
भूकि-भूकि कूकुर मरि गयऊ ; काज न एक सियार से भयऊ।
मूस बिलारी एक सँग कहु कैसे रहि जाय ;
अचरज यह देखा हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय।

(९) माई, मैं तो दोनो कुल उजियारी।
सास - ससुर को लातन मारी, जेठ कि मूछ उखारी ;
राँध - परोसिन कीन्ह कलेवा, धरि बुढ़िया महतारी।
पाँच पूत कोखिया के खाए, छठए ननद दुलारी,
स्वामी हमरे सेज बिछावैं, सूतब गोड़ पसारी।
पाँच खसम नैहर में कीन्हे, सोरह किए ससुरारी ;
वा मुंडो का मूड़ मुड़ाऊँ, (जु) सरबरि करै हमारी।
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, आपै करौ बिचारी ;
आदि - अंत कोइ जानत नाहीं, नाहक जनम खुआरी।

इन सब कथनों से आध्यात्मिक अर्थ न केवल निकाले गए हैं, वरन् कबीर साहब ने जान-बूझकर उपदेशों को भड़कीला बनाने के विचार से उलटे कथनों द्वारा भी गूढ़ धार्मिक अर्थ निकालने की विधि रक्खी है। ऐसे उलटे कथनों में मूर्ख-मोहिनी विद्या आ जाती है। यही दोष पड़ता है। आपकी रचना कहीं-कहीं मूर्ख-मोहिनी है, और कहीं-कहीं परमोच्च, अतएव उससे मूर्ख या पूर्ण ज्ञानी प्रसन्न हो सकते हैं, साधारण पुरुष नहीं।

उपमा और तत्तुल्य अन्य अलंकार

इनका समावेश भी कबीर साहब की रचना में जहाँ-तहाँ पाया जाता है।

पतिबरता पति को भजै और न आन सुहाय ;
सिंह-बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय।
संत न छाँड़े संतई, कोटिक मिलैं असंत ;
मलय भुजंगन बेधिया सीतलता न तजंत।
'कबिरा' संगति साधु की ज्यो गंधी का बास ;
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी मिले सुबास।

मधुर बचन हैं ओषधी, कटुक बचन है तीर ;
स्रवन द्वार ह्वै सचरैं, सालैं सकल सरीर।
मूरख को समुझावते ग्यान गाँठि का जाय ;
कोइला होय न ऊजरो नौ मन साबुन लाय।
मूरख सों क्या बोलिए, सठ सों कहा बसाय ;
पाहन मे क्या मारिए, चोखा तीर नसाय।
जब दिल मिला दयाल सों, तब कुछ अंतर नाहिँ ;
पाला गलि पानी भया, यों हरिजन हरि माहिँ।

कर्मकांड

कबीर साहब ने कर्मकांड पर सदैव घोर अश्रद्धा प्रकट की—

मूड़ मुड़ाए हरि मिलै, सब कोइ लेइ मुड़ाय ;
बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुंठ जाय।
पूजा, सेवा, नेम, ब्रत, गुड़ियन का-सा खेल ;
जब लग पिउ परसे नहीं, तब लग संसय मेल।
आचारी सब जग मिला, मिला बिचारि न कोय ;
कोटि अचारी वारिए, एक बिचार जो होय।
जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं जहँ गाहक नाहिँ ;
बिनु बिबेक भटकत फिरैं पकरि सब्द की छाहिँ।
'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर-पीर ;
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।
नेति-नेति जेहि बेद कह, जहाँ न मन ठहराय ;
मन-बानी को गम नहीं, ब्रह्म कहा किन आय।
फंद ः गावै लवलीन ह्वै, कटै न, संसय-फाँस ;

सबै पछोरे थोथरा एक बिना बिसवास।
अनजाने को नरक सरग है, हरि जान को नाहीं।

कर्ता एक और सब बाजी ; ना कोइ पीर, मसायख, काजी।
बाजी ब्रह्मा, बिष्नु, महेसा ; बाजी इंदर, चंद गनेसा।
बाजी जलचर सकल जहाना ; बाजी जान जमी, असमाना।
बाजी बरनौ इस्मृति - बेदा ; बाजी गर का लखै न भेदा।
जिन दुनिया में रची मसीद ; झूठा रोजा, झूठी ईद।
कहु दो भिस्त कहाँ ते आई ; किसके हित तुम छुरी चलाई ?
कर्ता किरतिम बाजी लाई ; हिंदु तुरुक दुइ राह चलाई।
साँच एक अल्ला का नाम ; ताको झुक - झुक करो सलाम।
कह 'कबीर' कछु आन न कीजै, राम-नाम जपि लाहा लीजै।

अहिंसा

अहिंसा का आपने सदा प्रतिपादन किया है। मुसलमान होकर भी कबीर साहब ने हिंसा से पूर्ण घृणा दिखलाई, जिससे एवं अन्य बातों से जान पड़ता है कि आप चित्त से हिंदू थे—

मैं तुहिं पूछौं मूसलमाना ; लाल जर्द का ताना - बाना।
काजी, काज करौ तुम कैसा ; घर - घर जबै कराओ वैसा।
बकरी, मुरगी किन कर माया ; किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दर्द न जानैं, पीर कहावैं ; बेता पढ़ि - पढ़ि जग समुझावैं।
कह 'कबीर' सैयद कहलावैं ; आप सरीखा जगत भुलावैं।

दिन - भर रोजा धरत हौ, राति हनत हौ गाय ;
एक खून, एक बदगी, कैसे खुसी खुदाय।

उपदेश

कबीर साहब ने उपदेश और चेतावनियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं—

और के छिए लेत हौ सींचा ; तुमसों कहहु कौन है नीचा।
जासु नाम है गर्ब - प्रहारी ; सो कस गर्बहि सकहि सँभारी।

जो तू साँचा बानियाँ, साँची हाट लगाव ;
अंदर झाड़ू देय कै कूरा दूरि बहाव।

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप ;
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।

मोर - तोर की जेवरी बटि बाँधा संसार ;
दास 'कबीरा' क्यों बँधै, जाके नाम अधार।

मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जानु;
दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछानु।
बड़ा हुआ, तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूरि;
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूरि।
प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोय;
कह 'कबीर' प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय।
जहँ आपा तहँ आपदा, जहँ ससौ तहँ सोग;
कह 'कबीर' कैसे मिटैं चारो दीरघ रोग।
निदक एकहु मति मिलै, पापी मिलैं हजार;
इक निदक के सीस पर कोटि पाप को भार।
चलौ-चलौ सब कोइ कहै, पहुँचै बिरला कोय;
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय।
मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय;
तन-मद, मन-मद, जाति-मद, माया-मद, सब लोय।
बिद्या-मद अरु गुनहु मद, राज-मद्द उनमद्द;
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद्द।
सुख का सागर सील है, कोइ न पावै थाह;
सब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहिँ साह।
जो जल बाढ़ै नाउ में, घर मे बाढ़ै दाम;
दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन को काम।
माँगन गे सो मरि रहे, मरे सो माँगन जाहिँ;
तिनसे पहिले वे मरे, होत कहत जे नाहिँ।
गो-धन, गज धन, बाजि-धन और रतन-धन-खान;
जब आवै संतोष-धन, सब धन धूरि-समान।
नीचे-नीचे सब तरे जेते बहुत अधीन;
चढ़ि बोहित अभिमान की बूड़े ऊँच कुलीन।
सबते लघुताई भली, लघुता से सब होय;
जस दुतिया का चंद्रमा सीस नवै सब कोय।
रूखा-सूखा खायकै ठंडा पानी पीव;
देखि बिरानी चूपरी मति ललचावै जीव।
'कबिरा' साईं मुझको रूखी रोटी देय;
चुपरी माँगत मै डरूँ, रूखिहु छीनि न लेय।

आधी औ' रूखी भली, सारी सों संताप ;
जो चाहैगा चूपरी, बहुत करैगा पाप।
'कबिरा' बैरी सबल हैं, एक जीव रिपु पाँच ;
अपने - अपने स्वाद को बहुत नचावैं नाच।
हिरदै भीतर आरसी मुख देखा नहिं जाय ;
मुख तौ तब ही देखता दिल को दुबिधा जाय।
जूवा, चोरी, मुखबिरी, ब्याधि, घूस, परनारि ;
जो चाहै दीदार को एती बस्तु निवारि।
'कबिरा' मै तो तब डरौं जो मुझ ही में होय ;
मीचु, बुढ़ापा, आपदा सब काहू में सोय।
लंबा मारग, दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार ;
कह 'कबीर' कस पाइए दुरलभ गुरु - दीदार।
एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत ;
एक कर्म है भूँजना, उदै न अंकुर सूत।
करु बहियाँ बल आपनी, छाँड़ु बिरानी आस ;
जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास।
ऊपर की दोऊ गईं, हिय की गईं हिराय ;
कह 'कबीर' चारिउ गईं, तासों कहा बसाय ?
रचनहार को चीन्हि ले, खाने को क्या रोय ;
दिल - मंदिर मे पैठि करि तानि पिछौरा सोय।
सबसे आछी मधुकरी भाँति - भाँति का नाज ;
दावा काहू का नहीं, बिना बिलायत राज।
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ;
जो दिल खोजूँ आपना, मुझ - सा बुरा न होय।
प्रेम-प्रीति का चोलना पहिरि 'कबीरा' नाच ;
तन - मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै साँच।

चेतावनी

ऐसी गति संसार की, ज्यौं गाडर की ठाट ;
एक पड़ी जेहि गाड़ में, सबै जायँ तेहि बाट।
चलती चक्की देखिकै दिया 'कबीरा' रोय ;
दुइ पट भीतर आयकै साबुत गया न कोय।

काम, क्रोध, मद, लोभ की जब लग घट मे प्रान ;
कहा मूर्ख, कह पंडिता, दोनो एक समान।
माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिँ जाय,
मान बड़े मुनिवर मिले, मान सबन को खाय।

मन

मन के विषय में भी इन महात्मा ने अच्छे-अच्छे छंद कहे है—

केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ौ सौ बार ;
मन को क्यों नहिँ मूड़िए, जामे बिषय-बिकार।
मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ;
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक।
मन-मुरीद संसार है, गुरु-मुरीद कोइ साधु ;
जो मानै गुरु-बचन को, ताको मता अगाधु।
'कबिरा' मन तौ एक है, भावै सोई पाय ;
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै बिषय कमाय।
मन के बहुतक रंग है, छिन-छिन बदलै सोय ;
एकै रँग मे जो रहै, ऐसा बिरला कोय।
मनुवा तौ पंछी भया, उड़िकै चला अकास ;
ऊपर ही ते गिरि परा या माया के पास।
मन-कुंजर महमंत था, फिरता गहिर गँभीर ;
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गइ प्रेम-जँजीर।
'कबिरा' मनहि गयंद है, आँकुस दै-दै राखु ;
बिस की बेली परिहरौ, अमिरित का फल चाखु।
मन माया तौ एक है, माया मनहि समाय ;
तीनि लोक संसै परा, काहि कहूँ समुझाय।
मन-सागर, मनसा-लहरि, बूड़े-बहे अनेक ;
कह 'कबीर' ते बाँचिहैं जिनके हृदय बिबेक।
नैनन आगे मन बसै रलि-पिलि करे जो दौर ;
तीनि लोक मन-भूप है, मन-पूजा सब ठौर।
तन-बोहित, मन काग है, लख जोजन उड़ि जाय ;
कबही दरिया अगह बहि, कबहीं गगन समाय।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ;
कह 'कबीर' प्यो पाइए मन ही की परतीत।

तीन लोक टीड़ी भई, उड़िया मन के साथ ;
हरिजन हरि जाने बिना परे काल के हाथ।
बाजीगर का बंदरा ऐसा जिउ मन साथ,
नाना नाच नचायकै राखै अपने हाथ।
मन - गयंद मानै नही, चलै सुरति के साथ,
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ।
मन स्वारथ आपहि रसिक बिषय लहरि फहराय,
मन के चलते तन चलै, ताते सरबसु जाय।
देस - देस हम बागिया ग्राम - ग्राम की खोरि ;
ऐसा जियरा ना मिला, जो ले फटकि-पछोरि।

मेरा - तेरा मनुवा कैसे एक होय रे।

मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ;
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखा उरझोय रे।
मैं कहता तू जागत रहना, तू रहता है सोय रे ;
मै कहता निरमोही रहियो, तू जाता है मोय रे।
जुगन-जुगन समुझावत हारा, कहा न मानत कोय रे ;
तू तो रंडी फिरै बिहंडी सब धन डारे खोय रे।
सतगुरु धारा निरमल बाहै, वामे काया धोय रे ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, तबही वैसा होय रे।

नीति

सिहो के लेहेडे नही, हसों की नहिँ पाँति ;
लालों की नहिँ बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति।
लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि,
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि।
नवन - नवन बहु अंतरा, नवन - नवन बहु बान ;
ये तीनो बहुतै नवैं चीता, चोर, कमान।
'कबिरा' सीप समुद्र की खारा जल नहिँ लेय ;
पानी पावै स्वाति का सोभा सागर देय।
ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर ;
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर।
हंसा, बक यकरँग लखिय, चरैं एक ही ताल ;
छीर - नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल।

गुनिया तो गुन को गहै, निरगुन गुनहि घिनाय,
बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझै, क्या खाय।
बना - बनाया मानवा बिना बुद्धि बेतूल,
कहा लाल लै कीजिए बिना बास का फूल।
प्रेम-प्रीति सो जो मिलै, तासों मिलिए धाय;
अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय।
खुलि खेलौ संसार मे, बाँधि न सक्कै कोय;
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय।
सब काहू का लीजिए साँचा सब्द निहारि,
पच्छपात नहिं कीजिए, कहै 'कबीर' बिचारि।

तीव्र आलोचना

कबीर साहब सत्य-प्रिय तथा भारी उपदेशक होने के कारण अनुचित बातों की तीव्र आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे—

बावन - रूप छल्यो बलि राजा, बाम्हन कीन्ह कौन को काजा।
बाम्हन ही सब कीन्ही चोरी; बाम्हन ही को लागल होरी।
अंध सो दर्पन बेद - पुराना, दरबी कहा महारस जाना।

संतौ, पाँड़े निपुन कसाई।
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतो, कलि माँ बाम्हन खोंटे।
फूटी आँखि बिबेक की, लखै न संत - असंत;
जाके सँग दस - बीस है, ताको नाम महंत।

तीव्र आलोचना के बहुत-से उदाहरण अन्य प्रसंगो मे ऊपर आ चुके हैं, और आगे भी आवेंगे।

मृत्यु

अन्य उपदेशकों की भाँति आप भी श्रोताओं को मृत्यु की याद प्रायः दिलाया करते हैं—

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल हो।
चँदन-काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठौ री सखी, मोरि माँग सँवारौ, दुलहा मोसे रूसल हो,
आए जमराज, पलँग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धूधू ऊटल हो;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, जग से नाता छूटल हो।

साधो, ई मुरदन के गाँव ।
पीर मरे, पैगंबर मरिगे, मरिगे जिंदा-जोगा,
राजा मरिगे, परजा मरिगे, मरिगे बैद औ' रोगी ।
चंदौ मरिहैं, सुरजौ मरिहैं, मरिहैं धरनि-अकासा,
चौदह भुवन चौधरी मरिहै, इनहुन कै का आसा ।
नौ हू मरिगे, दस हू मरिगे, मरिगे सहस-अठासी;
तैंतिस कोटि देवता मरिगे, परिगे काल कि फाँसी ।
नाम अनाम रहै जो सद ही, दूजा तत्त न होई;
कहैं 'कबीर' सुनौ भइ साधो, भटकि मरै मति कोई ।
नाथ मुछंदर नहिँ बचे, गोरख, दत्त औ' ब्यास;
कहै 'कबीर' पुकारि सब परे काल की फाँस ।
पानी केरा बुदबुदा, असि मानुस की जात,
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ।
जुआ, जरा, बालापन बीत्यो, चौथि अवस्था आई;
जस मुसवा को तकै बिलैया, तसि जम घात लगाई ।
जंत्र बजावत हौं सुना टूटि गए सब तार;
जंत्र बिचारा क्या करै, गया बजावन हार ।

कहावतें

इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ो पद कहावतों के रूप मे आज सब छोटे-बड़ों की जिह्वा पर हैं—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि;
हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठि ।
संत नाम कड़वा लगै, मीठा लागै दाम;
दुबिधा मे दोऊ गए, माया मिली न राम ।
साध कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर;
चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर ।
आछे दिन पाछे गए, गुरु से किया न हेत;
अब पछितावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ।
कालिह करन सो आजु कर, आजु करन सो अब्ब;
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ।
माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोहिँ;
यक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूँगी तोहिँ ।

आया है सो जायगा, राजा, रंक, फकीर,
इक सिंहासन चढ़ि चला, इक बँधि जात जँजीर।
आस - पास जोधा खड़े, सबै बजावैं गाल;
माँझ महल से लै चला, ऐसा काल कराल।
मलिया आवत देखि कै कलियाँ करैं पुकार—
फूली - फूली चुनि लईं, काल्हि हमारी बार।
दस द्वारे का पींजरा, तामे पंछी पौन,
रहिबे को आचरज है, गए अचंभा कौन।
जो तोको काँटा बवै, ताहि बोय तू फूल,
तोहिँ फूल के फूल हैं, वाको है तिरसूल।
दुरबल को न सताइए, जाकी मोटी हाय,
बिना जीव की साँस से सार भसम ह्वै जाय।
पोथी पढ़ि - पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय;
ढाई अच्छर प्रेम के पढ़ै, सो पंडित होय।
पर - नारी पैनी छुरी, मति कोउ लाओ अंग;
रावन के दस सिर गए पर - नारी के संग।
छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उतपात;
कहा बिष्नु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ?
मरि जाऊँ, माँगूँ नहीं अपने तन के काज;
परस्वारथ के कारनै मोहिँ न माँगत लाज।
बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल;
जो नर बकरी खात है, तिनके कौन हवाल।
देह घरे का दंड है, सब काहू को होय;
ग्यानी भुगतै ग्यान ते, मूरख भुगतै रोय।
फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन सों रोय,
ज्यों - ज्यों भीजै कामरी, त्यों - त्यों भारी होय।
एकै साधे सब सधैं, सब साधे सब जाय;
जो तू सेवै मूल को, फूलै - फलै अघाय।

कैसे दिन कटिहै, जतन बताए जैयो।
यहि पार गंगा, वहि पार जमुना, बिचवा मड़ैया हमका छ्वाए जैयो।
मुखड़ा क्या देखै दरपन मे; तेरे दया-धरम नहिँ तन मे।
आम कि डार कोयलिया बोलै; सुवना बोलै बन मे।

एेंठी धोती, पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन मे,
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, वे क्या चढ़िहै रन मे।
तोहिं मोरि लगन लगाए रे फकिरवा।
सोवत ही मैं अपने मंदिर मे, सबदन मारि जगाए रे फकिरवा,
बूड़त ही भय के सागर मे, बहियाँ पकरि समुझाए रे फकिरवा।
एकै बचन बचन नहिं दूजा, मोसों बंद छोड़ाए रे फकिरवा,
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, सत्त नाम-गुन गाए रे फकिरवा।

संतों के नाम

कबीरदास के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उनमे रामानंद, गोरख, मुछंदर, तकी और रैदास के नाम आए हैं—

साधन माँ रैदास संत है, सुपच रिषी से भगिया,
घट-घट है अबिनासी, सुनौ तकी तुम सेख।
कहत 'कबीर' सुनो हो गोरख, तरै सहित परिवारा।
कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए।
दसौ दिसा ते क्रोध की उठी अपरबल आगि;
सीतल संगति साधु की तहाँ उबरिए भागि।

हिंदुआनी और मुसलमानी मतों पर विचार

आदम आदहि सुधि नहिं पाई, मामा हौवा कहूँ ते आई।
तब नहिं हते तुरुक औ' हिंदू; माय के रुधिर, पिता के बिंदू।
तब नहिं होते गाय कसाई; तब बिसमिल्ला किन फरमाई।
तब नहिं होते कुल औ' जाती; दोजख-भिस्त कौन उतपाती।
मन-मसले की सुधि नहिं जाना; मति भुलान दुइ-तीन बखाना।
जो खुदाय मसजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा;
तीरथ मूरत राम निवासी, दुइ माँ किनहु न हेरा।
पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा;
दिल में खोजि दिलहि माँ देखौ, इहै करीमा, रामा।
चौदह तबक किया निरबारा, अब नीचे का सुनो बिचारा;
सात तबक में छा रखवारा, भिन-भिन सुनो पसारा है।
सेस, धवल, बाराह कहाई, मीन, कच्छ औ' कुरम रहाई;
सो छा रहे सात के माही, यह पाताल पसारा है।
पेटहिं काहु न बेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुक नहिं आया;
जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाए; और राहि तुम काहे न आए!

जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटै काहे न सुनति कराया ?
कारी, पीरी दूहो गाई, ताकर दूध देहु बिलगाई।
छाँड कपट नर अधिक सयानी, कह 'कबीर' भजु सारँगपानी ;
दुइ जगदीस कहाँ ते आए, कहु कौने भरमाया ?

अल्ला, राम, करिम, केसव, हरि, हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना, तामे भाव न दूजा,
कहन - सुनन को दुइ करि थापे, यक नेवाज, यक पूजा।
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम कहिए ;
कोइ हिंदू, कोइ तुरुक कहावै, एक जमी पर रहिए।
बेद - किताब पढ़े, वै कुतबा, वै मुलना, वै पाँड़े,
बिगत - बिगत कै नाम धरायो, यक माटी के भाँड़े।
कह 'कबीर' वे दोनो भूले, रामहिँ किनहुँ न पाया,
वे खसिया, वे गाय कटावैं, बादै जनम गँवाया।
गुप्त - प्रगट है एकै मुद्रा ; काको कहिए बाँभन - मुद्रा।
झूठ गरब भूलै मति कोई ; हिंदू, तुरुक झूठ कुल दोई।

बहुरि नहिँ आवना या देस।

जो - जो गए, बहुरि नहिँ आए, पठवत नहिँ संदेस,
सुर, नर, मुनि औ' पीर, औलिया, देबी, देव, गनेस।
धरि-धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा, बिष्नु, महेस,
जोगी - जंगम औ' संन्यासी, दीगंबर, दरबेस।
चुंडित, मुंडित, पंडित लोई सरग, रसातल, सेस,
कोइ रहीम, कोइ राम बखानैं, कोइ कहै आदेस।
नाना भेख बनाय सबै मिलि ढूँढि फिरे चहुँ देस,
कहै 'कबीर' अंत न पैहो बिन सतगुरु-उपदेस।

ना जानैं तेरा साहिब कैसा है।

महजिद भीतर मुला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है,
चींटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहिब सुनता है।
साँच कहौं तो मारन धावैं, झूठे जग पतियाना,
आतम मारि पषानहिँ पूजै, उनमे कछू न ग्याना।
बहुतै देखे पीर - औलिया, पढ़ैं किताब - कुराना ;
कह हिंदू मोहिँ राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।

हिंदु-तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई ;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतो, राम न कहेउ खोदाई ।
जिन दुनिया में रची मसीद ; झूठा रोजा, झूठी ईद ।
साँच एक अल्ला का नाम ; ताको नय-नय करौ सलाम ।
कहु धौं भिस्त कहाँ ते आई ; किसके हित तुम छुरी चलाई ?
करता किरतिम बाजी लाई , हिंदु, तुरुक दुइ राह चलाई ।
अरे, इन दोउन राह न पाई ।
हिंदू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई ;
बेस्या के पाँयन तर सोवै, यह देखो हिँदुआई ।
मुसलमान के पीर - औलिया मुरगी-मुरगा खाई ;
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि मे करैं सगाई ।
बाहर से यक मुरदा लाए, धोय-धाय चढ़वाई ,
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठी, घर-भर करै बड़ाई ।
हिंदुन की हिँदुआई देखी, तुरुकन की तुरुकाई ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, कौन राह ह्वै जाई ।

मुसलमानी विचारों का प्रभाव

तासु के बदन की कौन महिमा कहौं, भासती देह अति नूर छाई ।
सून्य के बीच मे बिमल बैठक, जहाँ सहज असथान है गैब केरा ।
छोड़िना सूत मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी ;
जाय जाहूत में खुदा खाविंद जहँ, वही मकान साकेत साजी ।

(यहाँ मुसलमानी स्थान मलकूत, जबरूत, लाहूत आदि को लिखते हुए कवि ने वही साकेत का कथन कर दिया, जो विष्णु का स्थान है ।)

मुरसिद नैनों बीच नबी है ।
कर नैनों दीदार महल मे प्यारा है ।
सत्त पुरुख इक बस पच्छिम दिस तासों करो निहोर ।

हिंदूपन का प्रभाव

खाला केरी बेटी ब्याहै घर ही करैं सगाई ।
सुनति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिए ।
अरध सरीरी नारि बखानी, ताते हिंदू रहिए ।

इन कथनों से प्रकट है कि कबीर साहब के बिचार बहुत ऊँचे थे । आप हिंदू-मुसलमानो के अंतर को बिलकुल नापसंद करते थे, और दोनो को एक

करना चाहते थे। आपकी रचना में नूर, ग़ैब, मलकूत, जबरूत, लाहूत, ख़ुदा, अल्ला, क़ाज़ी, मशायख़ (शैख़ की जमा), मुरशिद, दीदार, नबी, किताब आदि के कथन आने से आपके चित्त पर मुसलमानों का प्रभाव प्रकट होता है। इसी विचार से आपने पश्चिम में ईश्वर का स्थान बतलाया है। ख़ाला की संतानों का आपस मे विवाह अनुचित समझना तथा सुन्नत से मुसलमान होने को न मानना एवं उपनिषदों के सिद्धांतो का समादर करना आपके ऊपर हिंदू प्रभाव प्रकट करते है। सैकड़ों छंदों से प्रकट है कि इनकी रचना और विचारों पर हिंदू प्रभाव बहुत अधिक था। ईश्वर-संबंधी विचार हिंदुओं के है। इसी प्रकार उपदेश आदि मे भी हिंदू-विचार ही हैं। कहा जा सकता है कि आप मुसलमाननुमा हिंदू थे, अर्थात् कहने को तो मुसलमान थे, किंतु थे वास्तव मे हिंदू। मुसलमानी विचारों से नबी हिदायत करनेवाले को कहते है। कहा जाता है, १,२४,००० नबी हो गए हैं। नबियों से बढ़कर दरजा किताबियों का है, जिनमे चार प्रधान है। पैग़ंबर ईश्वर के बसीठी को कहते है। चारो मुख्य पैग़ंबरो के नाम हैं—मूसा, दाऊद, ईसा और मुहम्मद। इनकी किताबें क्रम से तौरीत, ज़ुबूर, इंजील और क़ुरआन है। इनके अनुयायियों को क्रम से यहूदी (या मूसवी), ईसाई और मुसलमान कहते है। मूसा के पूर्व इब्राहीम भी मुख्य थे। इन दोनो के धर्म एक ही हैं, केवल खान-पान के विचार मूसा ने जोड़े। इब्राहीम की पुस्तक छोटी-सी है, जिसे सहीफा इब्राहीमी कहते है। तौरीत को Old Testament भी कहते है। इंजील New Testament है। दोनो मिलकर बाइबुल है। ज़ुबूर कोई पुस्तक नही है, वरन् तौरीत मे जो दाऊद की शिक्षाएँ हैं, वे ही ज़ुबूर कही जा सकती है। दाऊदी कोई धर्म नही है, वरन् मूसवी उन्हे भी बुज़ुर्ग मानते है। मुसलमानो का विचार है कि इन चार पैग़ंबरों में से किसी को भी माननेवाला क़िताबी है, क्योकि वह किसी न-किसी ईश्वरीय किताब को मानता है। उनके विचार से हिंदू किताबी नही, मुशरिक हैं, अर्थात् ईश्वर का शरीकदार (साझी) मानते हैं। यह मुसलमानी विचार अशुद्ध है, क्योंकि हिंदू भी एकेश्वरवादी हैं।

कबीर साहब के विषय में कुछ अन्य साधारण कथन

आपने प्रायः सब मुक्तक पद्य लिखे। आप ५ तत्त्व और २५ प्रकृतियों का प्राय: कथन करते है (पाँच तत्त पचीस प्रकिरती तीनो गुनन मिलावै)। रूपक आपने बहुत कहे है। जीव-सीव ऐसा कथन बहुत आया है। सीव से ईश्वर का प्रयोजन लगाया गया है, यद्यपि शिव को आप ईश्वर नहीं मानते। आपने अवतारों, प्रतिमाओं तथा त्रिमूर्ति की प्राय: निंदा की है, किंतु जो ग्रंथ हमारे

देखने में आए हैं, उनमें पैग़ंबरों की खुली खुली निंदा नहीं है, यद्यपि आप उन्हें मानते नहीं हैं। रोज़ा, ईद, मस्जिद, शैख़, सैयद आदि की आपने खुली-खुली निंदा की है। उस समय ऐसे कथन करने में बड़े साहस की आवश्यकता थी, क्योंकि तब इतनी स्वतंत्रता न थी, जितनी अब है। तब मनुष्य अपने नए विचारों के कारण प्राण-दंड तक पा सकता था, जैसा कि मंसूर का हाल हुआ। इसलिये कबीर साहब के निर्भीक वाक्य उनके भारी साहस के भी साक्षी हैं। आपके छंदों में अपने ही विचार अधिकता से हैं। अन्यों के विचारों को आप अपने शब्दों में कम कहते थे, किंतु कहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है। यथा—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी-बस का रे;
बिरध भया कफ बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।

ये पद मोह-मुद्गर

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः;
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।

के आधार पर हैं।

कबीर साहब भी दुःखवादी समझ पड़ते हैं। यथा—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा;
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ बिबेखा।
बाटे-बाटे सब कोउ दुखिया, क्या गिरही, बैरागी;
सुकाचार्य दुख ही के कारन गरभै माया त्यागी।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना;
आसा-तृस्ना सब घट व्यापै, कोइ महल नहिं सूना।
साँच कहौं, तौ सब जग खीझै, झूठ कहा नहिं जाई;
कह 'कबीर' तेई भे दुखिया, जिन यह राह चलाई।
यह संसार कगद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है;
यह ससार काँट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ' झाँखर, आगि लगै बरि जाना है;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, सतगुरु-नाम ठिकाना है।

कबीर साहब होली, बसंत, चाँचरा आदि के वर्णन करने में उन विषयों पर बहुत कम कहकर मुख्य कथन अपने प्रिय सिद्धांतों का करते हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास मिथिला, दंडक आदि सभी विषयों के सहारे केवल राम का कथन करते हैं।

कबीर साहब ने अपने अधिकांश छंद संतों को संबोधित करके कहे हैं। "कहै कबीर सुनो भइ साधो" इस प्रकार कहकर शेष पद में उस भजन के उपयुक्त कथन किए है। आप प्रतीकोपासना और कर्मकांड को निंद्य कहकर एकेश्वरवाद, अहिंसा, गुरु, जप, भक्ति, सदाचार, सद्विचार और सत्य पर ज़ोर दिया करते हैं। सब बातों पर विचार करने से आप बहुत बड़े उपदेशक समझ पड़ते हैं; और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के पीछे उत्तरी और मध्य-भारत पर गत बारह सौ वर्षों में आप ही का प्रभाव जनता पर सबसे अधिक पड़ा है।

साहित्य-संबंधी विचार

आपने तुकांत-हीन कविता भी लिखी है। यथा—

सतगुरु की परतीति, सत्तनाम निज सार है;
सोई मुक्ति-सँदेस सुनो साध सत भाव से।

जब रीतियों, नियमों आदि का मान आपने किसी बात में नहीं किया, तब साहित्य-संबंधी नियमों को ही क्यों मान देते? आपकी रचना में छंदोभंग बहुत पाए जाते है। संभव है, यह त्रुटि लिखनेवालों की भूल से आ गई हो, क्योंकि आपने हाथ से क़लम छुआ ही नहीं। यद्यपि आपने पढ़ने-लिखने पर कभी ध्यान नहीं दिया, और लेखनी तक हाथ से नहीं छुई, तथापि आपकी रचनाओं से पांडित्य का पता लगता है। इन्होंने उस काल के अद्वितीय विद्वान् स्वामी रामानंद का शिष्य होना दिखला दिया है। इनकी रचना मे अनेकानेक स्थानों पर योग, अद्वैतवाद आदि से सबंध रखनेवाले शब्द बहुत आए हैं, जो पांडित्य को प्रकट करते हैं। इसके उदाहरण-स्वरूप केवल एक पद यहाँ लिखा जाता है—

सबका साखी मेरा साईं।
ब्रह्मा, बिष्नु, रुद्र, ईश्वर लौं, औ' अब्याकृत नाईं।
सुमति पचीस पाँच से कर ले, यह सब जग भरमाया;
अकर, उकार, मकार, मातरा इनके परे बताया।
जाग्रत, सुपन, सुषुप्ति, तुरीया, इनते न्यारा होई;
राजस, तामस, सात्विक, निरगुन, इनते आगे सोई।
सुक्षम, थूल, कारन महँ कारन, इन मिलि भोग बखाना;
तेजस, बिस्व, पराग आतमा, इनमें सार न जाना।
परा, पसँती, मधमा, बैखरि, चौबानी ना मानी;
पाँच कोस, नीचे कर देखो, इनमें सार न जानी।

पाँच ग्यान औ' पाँच कर्म की ये दस इंद्री जानो;
चित सोइ अंतःकरन बखानो, इनमें सार न मानो।
कुरम, सेस, किरकिला, धनंजय, देवदत्त कहँ देखो,
चौदह इंद्री, चौदह इंद्रा, इनमें अलख न पेखो।
ततपद, त्वंपद और असीपद बाच्य-लच्छ्य पहिचाने;
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने।
सतगुरु मिलि सत-सब्द लखावै, सार सब्द बिलगावै;
कहत 'कबीर' सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै।

यहाँ ईश्वर का वर्णन है। अव्याकृत सांख्य का शब्द है, जिससे अप्रकट का प्रयोजन है। २५ की संख्या सांख्य-शास्त्र की २४ पदार्थ-संख्या तथा २५वाँ साक्षी पुरुष मिलाकर पूरी होती है। पंच से विकार (काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार), पंचप्राण, पंचेंद्रिय, पंचतन्मात्राएँ (क्षिति, जलादि के मूल) आदि का प्रयोजन लिया जा सकता है। ओ३म् हमारे यहाँ बहुत पुनीत है। अकार, उंकार, मकार, मात्रा से उसी ओ३म् का प्रयोजन है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, राजस, तामस, सात्त्विक, सूक्ष्म, स्थूल, कारण-शरीर, तैजस, विश्व, प्राज्ञ, आत्मा आदि अद्वैत मत से संबंध रखते हैं। परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी चौबानी (चार बानी)योग तथा निरुक्ति से संबद्ध हैं। पंच कोषों का संबंध वेदांत से है। कूर्म, शेष, किरकिला, धनंजय, देवदत्त आदि दस प्राणों के भेद हैं। १४ इंद्रियाँ पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को मिलाने से होती हैं। चौदह इंद्रा का मतलब प्रत्येक इंद्रिय का देवता है। तत्पद, त्वंपद और से असी-पद से तत्त्वमसि का प्रयोजन है, जो अद्वैत-मत का मूल मंत्र है। वाचक, लक्ष्य, जहद्, अजहद्लक्षणा का वर्णन काव्य, वेदांत और न्याय में आता है। इन बातों से प्रकट है कि इस एक पद में इन महात्मा ने हिंदू शास्त्रों का अपना विस्तृत ज्ञान दिखला दिया है।

कबीर साहब ने खड़ी बोली में भी रचना की है। कुछ ग़ज़लें भी कहीं। साधारणतः आपकी भाषा बनारस की है—

हमन है इश्क़ मस्ताना, हमन को होशियारी क्या;
रहैं आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते;
हमारा यार है हममें, हमन को इंतिज़ारी क्या।
ख़लक सब नाम अपने को बहुत कर सर पटकती है;
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।

न पल बिछुड़ैं पिया हमसे, न हम बिछुड़ैं पियारे सें ;
उन्हीं से नेह लागा है, हमन को बेक़रारी क्या।
'कबीरा' इश्क़ का माता, दुई को दूर कर दिल से,
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या।
कोइ कुच्छ कहै, कोइ कुच्छ कहै, हम अटके हैं जहँ अटके हैं ;
नित सुरत कमल पर अमल किया, महबूब नाम से भटके हैं।
संसार बिचार के छोड़ दिया, हम इसी बात पर सटके हैं ;
इस दास 'कबीर' के झुलने में सब पंडित, काजी फटके हैं।

अपने विषय में कथन

कबीर साहब ने अपने को पैग़बर ज़ोर देकर तो नहीं कहा, किंतु कहीं-कहीं इसकी ध्वनि अवश्य निकलती है। वह ऊँचे थे, और अपने को वैसा ही समझते भी थे। उनका विचार था कि संसार उनके सिद्धातो पर चलकर लाभ उठा और मुक्त हो सकता है। इतना होने पर भी आपने यावज्जीवन कपड़ा बनाने का काम नही छोड़ा, और कविता मे भी अपना जुलाहापन अनेक स्थानों पर दर्शाया। आपको जुलाहा होने की ग्लानि न थी, वरन् उसे आप अच्छा समझते थे।

उदाहरण—

बसीठीपन-संबंधी

साधु - संत तेई जना, (जिन) मानल बचन हमार ;
आदि, अंत, उत्पति, प्रलय देखहु दृष्टि पसार।
अंध भया सब डोलता, कोय न करै बिचार ;
कहा मोर मानै नहीं, क्यों छूटै भ्रम - जार।
कासी मे हम प्रगट भए है, रामानंद चेताए ;
समरथ का परवाना लाए, हस उबारन आए।
घर - घर हम सबसों कही, सब्द न सुनै हमार ;
ते भवसागर डूबहीं लख चौरासी धार।
सुर, नर, मुनिजन, औलिया ये सब उरली तीर ;
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया 'कबीर'।
अठवँ चकरि अनुरोध बखाना, तहाँ जोलहदी ताना ताना ;
जाका नाम कबीर बखाना, सो संतन सिर धारा है।
जोग - जुगति सो रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे ;
कहै 'कबीर' अनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

ब्रह्मा, बिष्नु, महेस न सेसवा ; जोगि न, जंगम, मुनि दरबेसवा।
आदि न अंत, न काल कलेसवा; दास 'कबीर' ले आए सँदेसवा।
सार सब्द गहि चलु वहि देसवा।

सो चादरि सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीन्ही चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-का-त्यों धरि दीनी चदरिया।
एक नाम है अगम गंभीरा, तहवाँ अस्थिर दास कबीरा।
छाँड़े लोक, अमृत की काया, जग में जोलह कहाया ;
चौरासी की बंदि छुड़ाया, निरअच्छर बतलाया।
साधु सबे मिलि आरति गावैं, सुकिरिति भोग लगाया ;
कहै 'कबीर' सब्द टकसारा, जम सो जीव छुड़ाया।

जुलाहेपन से संबंध रखनेवाले

अस जोलहा कोइ मर्म न जाना ; जिन जग आनि पसारेनि ताना।
कहै 'कबीर' राम - रस - माते जोलहा-जाति कबीरा हो।
मन दीया कहिँ और ही, तन सावन के संग ;
कह 'कबीर' कोरी गजी, कैसे लागै रंग।
कहैं 'कबीर' सूत भल काता ; रहँट न होय मुक्तिकर दाता।

उपसंहार

महात्मा कबीरदास के विषय में हमे जो कुछ कहना था, वह हम ऊपर कह चुके हैं। हिंदी-नवरत्न के अन्य कवियों की रचनाओं के उदाहरण हमने समालोचना-विभाग में थोड़े ही देकर अंत में कुछ विशेषता से लिखे हैं। महात्मा कबीरदासजी की रचनाओं के उदाहरण हम समालोचना के भीतर ही बहुत-से देते आए हैं। इसीलिये अंत में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कहा जा सकता है कि इनके उदाहरण कुछ अधिकता से आए हैं। इनकी रचना ऐसी आरोचन-पूर्ण समझ पड़ी कि हमें कुछ अधिक उदाहरण देना अच्छा लगा। जितने उदाहरण दिए गए हैं, वे या तो काव्य-गौरव के कारण, या उनमें विशेष विचार होने के कारण आए हैं। भरसक ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं दिया गया, जिसमें इन दोनो में से एक भी बात न हो।

कबीरदास को हमने पहले सेनापति की श्रेणी में रक्खा था। यह हमारी सभी श्रेणियों में उच्चतम है, और इसके कवि नवरत्नवालों के सिवा और सबसे अच्छे हैं। इधर हिंदी-नवरत्न की द्वितीयावृत्ति निकालने में विचार उठा कि इस ग्रंथ में कबीरदास को न रखना ठीक नहीं है ; परंतु जिन कवियों को एक बार नवरत्न में लिख चुके हैं, उनमें से किसी को निकालना भी हमें अच्छा नहीं लगा। उधर

कठिनता यह हुई कि कवियों में नव के स्थान पर दस कवि अलग-अलग आने से ग्रंथ ही 'नवरत्न' कैसे रह जायगा ? अतएव भूषण और मतिराम को त्रिपाठी बंधु कहकर एक मान लिया, और कबीर को भी स्थान दे दिया। आप वास्तव में पैग़ंबर (ईश्वर के बसीठी), मिस्टिक, सिद्ध, योगी, ब्रह्मानंदी, समाधिस्थ आदि पहले हैं, और कवि पीछे। इसीलिये हमने हिंदी के नवरत्नों मे आपको सातवाँ नंबर दिया।

कबीरजी ने अपनी रचना साहित्यानंद-प्रदान के लिये न करके उपदेशार्थ की। जो पैग़ंबर आदि की उपाधियाँ यहाँ लिखी गई है, वे यो ही उदाहरणार्थ नहीं लिखी गई, वरन् हमारे कबीर साहब उन गुणों से वास्तव में भूषित समझ भी पड़ते है। ब्रह्मानंदो कवि भी होता है, या नहीं, यह प्रश्न कठिन है। हमें तो समझ पड़ता है कि वह कवि भी है, और ऊँचे दरजे का साहित्य ऐसे ही लोग रच सकते है। ब्रह्मानंद का उद्गार कविता मे अच्छा होगा, क्योकि यह उसका अच्छा माध्यम है। यह निर्विवाद समझ पड़ता है कि जितने लोगो ने हिंदी-रचना की है, उनमें गोरखनाथ, रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक आदि सर्वोत्कृष्ट पुरुष है। ईश्वर-संबंधी भाव कबीरदास ने प्राय: सबसे ऊँचे कहे हैं। विचार पूर्वक पढ़ने से प्रकट होगा कि हिंदी का कोई भी भारी कवि इस विषय मे इनकी बराबरी नही कर सका है। हिंदी-नवरत्न मे ईश्वरीय विचार से आप सबसे ऊचे मनुष्य हैं, इसमे हमे संदेह नहा। संभव है, कोई अन्य महाशय गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास को इनसे बढ़कर या इनके बराबर बतलावें। हमारी समझ मे ये महात्मा लोग कबीरदास की ईश्वर-संबंधी धार्मिक उच्चता को नही पहुँचे। इसमे हिंदू-मुसलमान का विचार करना भूल की बात है। फिर, वास्तव मे, कबीरदासजी के ईश्वरीय विचार उपनिषदों पर ही अवलंबित हैं।

व्यक्तित्व मे बहुत ऊँचा कहने के पीछे जब कविता के विषय मे कथन करना पड़ता है, तब लेखनी कुछ रुकने लगती है। यह निर्विवाद है कि कबीर साहब उच्च कोटि के कवि भी है। वर्तमान भारत के कवि-शिरमौर स्वय श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने इन्हे सत्कवि मानकर इनके बहुत से पदो का ऋँगरेज़ी में अनुवाद किया। उस अनुवाद ग्रंथ के देखने से भी कबीर साहब का साहित्यिक गौरव ऊँचा जान पड़ता है। इनके मूल पदों में अव्वल दरजे का साहित्य गौरव मिलता है; पर इनकी रचना बहुत विस्तृत है, और चुने हुए छंदों को छोड़कर सब कही उसमें वैसा आनंद नही आता। ख़ास-ख़ास मौक़ों को छोड़कर, काव्य-दृष्टि से, वह अवश्य फीकी लगती है। फिर भी हमारा दृढ़ सिद्धांत है कि फीके छंदों के कारण

किसी की अच्छी रचनाओं का मान न घटना चाहिए। कवि का मान सर्वोच्च छंदों से है, साधारण से नहीं। यदि साधारण को छोड़कर केवल उच्च कविता से कोई ऊँचे स्थान का अधिकारी हो, तो हम साधारण छंदों को इतना तक भुला देंगे, मानो उसने उन्हें रचा ही नहीं। महात्मा कबीरदास के ग्रंथों में कम-से-कम प्रायः १०० पृष्ठ ऐसे निकल सकते हैं, जिनमें उच्च कोटि की कविता है। शेष भागों में उन्हीं विचारों के बार-बार आने तथा किसी विशेष चमत्कार के न होने से वैसा काव्यानंद नहीं मिलता। यदि उन भागों को छोड़ दें, तो ये १०० पृष्ठ अवश्य उत्तम मिलते हैं। इनमें ईश्वर संबंधी उच्चातिउच्च विचार हैं। मनोरंजकता की मात्रा भी कम नहीं है। इन्हें हिंदी नवरत्न के कवियों की रचनाओं से मिलाने पर हमें केवल काव्य की दृष्टि से इन महाकवि का स्थान मतिराम और चंद के बीच में समझ पड़ता है। ऐसा कथन साहस से ख़ाली नहीं है, क्योंकि इतने बड़े महात्मा को किसी भी दृष्टि से तुलसी और सूर को छोड़कर और किसी से कम कहना सुननेवालों को अच्छा नहीं लगेगा, ऐसा भय है। विशेष करके कबीर साहब एक पंथ के भी प्रवर्तक थे। इन विचारों से हम आपको हिंदी-साहित्यकारों में तुलसी और सूर के पीछे प्रायः सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, किंतु केवल साहित्य की दृष्टि से मतिराम के पीछे समझते हैं। आशा है, पाठक लोग हमें क्षमा करेंगे; और यदि कोई मतभेद हो, तो हमारा यह कथन हठवाद न समझेंगे, क्योंकि संसार रुचि प्रधान है। एक को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही दूसरे को ख़राब।

यदि कबीर साहब साहित्य की दृष्टि से ग्रंथ बनाते, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस कोटि की इनकी रचना है, उससे बहुत श्रेष्ठ लिख सकते। आपमें सत्कवि होने के सब गुण थे, केवल इच्छा न थी। आपने सत्कवि होना चाहा ही नहीं। आप तो उपदेशक और धर्म-प्रचारक थे। आप काव्य, कवि होने को न करके, धर्म-प्रचारार्थ करते थे। जहाँ तक हमें स्मरण है, आपने अपने को कवि कहा भी नहीं। लोकप्रियता में आपकी रचना केवल गोस्वामी तुलसीदास के पीछे है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। रचना में उद्दंडता अच्छी है। हम उसमें धर्मोपदेशक और गुरु के ओजस्वी वाक्य प्रचुरता से पाते हैं, किंतु मित्र कवि की मीठी मनोमोहिनी वाणी कम मिलती है। गुरु-पद के अधिकारी होने से आप उच्च शिक्षा कर्कश शब्दों तक में देते, किंतु मित्र न होने से मधुरता का समावेश रचना में नहीं कर सके हैं। मृदुलता-पूर्ण हास्य, शृंगार, वीर आदि रसों का आस्वादन आप कम कराते हैं। अद्भुत रस, भयानक रस, शांत रस, बीभत्स रस आदि के लिये आपके छंद देखने योग्य हैं।

आपका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब हिंदी अपनी पूर्व-माध्यमिक दशा मे थी। आपके पहले सत्कवियो में केवल चंद बरदाई, खुसरो और विद्यापति ठाकुर की गणना है । ऐसे समय में उत्पन्न होकर अनेकानेक ग्रंथों द्वारा आपने हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार भी किया। संसार में आपका मान अच्छा हुआ। रीवॉ के तत्कालीन महाराजा वीरसिहदेव आपके शिष्य थे। इनके विषय में मिश्रबंधु-विनोद मे हमने निम्न-लिखित सम्मति प्रकट की थी—

"इन्होंने खरी बातें बहुत उत्कृष्ट और साफ-साफ कही हैं, अथच इनकी कविता मे हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके-से बेधड़क कहने-वाले कवि बहुत कम देखने मे आते हैं। कबीरजी का अनुभव बहुत बढ़ा-चढा, और दृष्टि अत्यंत पैनी थी। कहीं-कहीं इनकी भाषा मे कुछ गँवारूपन आ जाता है, पर उसमे उद्दंडता की मात्रा अधिक होती है। आपने प्राय: साधारण बातों ही मे ज्ञान कहा है। इनके कथन देखने मे तो साधारण समझ पड़ते हैं, पर उनमें गूढ आशय छिपे रहते है । इन्होने रूपको, दृष्टातों, उत्प्रेक्षाओं आदि मे धर्म-संबधी ऊँचे विचारो एवं सिद्धातों को सफलता-पूर्वक व्यक्त किया है। साधारण भजनो मे प्राय: कबीरदास ने संसार की असारता दिखलाई है।"

उक्त कथन को हम अब भी ठीक मानते है। आपकी रचना तथा जीवन की सर्वोत्कृष्ट बातें सिद्धता और हिंदू-मुसलमानों को मिलाने के प्रयत्न हैं। आपका जीवन एवं काव्य धन्य है!

कबीर-पंथ मे हिंदू-मुसलमान दोनो है। उसमें यौगिक क्रियाओं का भी समावेश है। वह गोरख-पंथ से कुछ-कुछ मिलता है। सिक्ख-धर्म मे आपके वचनों का मान है । दादूदयाल आदि अनेक महात्मा भी इनके सिद्धांतो का मान करते थे।

(८)

महाकवि चंद बरदाई

महाकवि चंद बरदाई वास्तव मे हिंदी के प्रथम कवि है। इनके पहले भी प्रायः ३८ कवि हो गए हैं, परंतु उन सबकी रचना मे महत्ता कम मिलती है। चंद बरदाई की कविता से प्रकट होता है कि वह प्रौढ रचना है, और छंद आदि की रीतियों पर उसमे ऐसा अनुगमन हुआ है कि जान पड़ता है, यह महाशय दृढ रीतियो पर चलते थे, और स्वयं इन्ही ने हिंदी-काव्य रचना की नींव नहीं डाली। उस समय वंदीजन, चारण आदि राजो महाराजो के यहाँ प्राय: रहा करते थे, और उनका यह काम ही था कि हिंदी-कविता मे राजा का यशोगान करें। स्वयं कवि चंद ने लिखा है कि गुजरात मे एक बार राजा भोराभीमंग के राजकवि से उनसे वाद हुआ। इससे भी उस समय दरबारो में कवियों के उपस्थित रहने का प्रमाण मिलता है। कवियो की उस काल इतनी चाह थी कि चित्तौर के रावल समरसिंह का ब्याह जब पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि से हुआ, तब उन्होंने कलेवा करने के समय दायज मे कवि चंद के पुत्र जल्हन कवि को लेकर ही भोजन किया। यह हाल रासो मे लिखा है। रासो के समाप्त करने के पहले ही कवि चंद का शरीर-पात हो गया। तब उनके इसी पुत्र (जल्हन) ने उसका अंतिम भाग लिखकर ग्रंथ समाप्त किया। इन सब बातों से प्रकट है कि उस समय हिंदी कविता का अच्छा प्रचार था, पर तत्कालीन अन्य कवियों के बहुतेरे ग्रंथ ऐसे उत्कृष्ट न थे कि आठ सौ वर्षों के पीछे भी अब तक जीवित रहते, अथच उनका प्रचार रहता। क्षेपक-बाहुल्य के कारण रासो के कथनों का ऐतिहासिक मूल्य संदिग्ध भी है। उस समय के और उससे पहले के प्रधान ग्रंथों में काल के कुचक्र ने केवल इस एक ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त कुछ को ही सजीव रक्खा है। कराल काल ने शेष सब ग्रंथो को निगलकर अपने उदर-समुद्र मे सदा के लिये लीन कर लिया, जहाँ से अब उनका निकलना ऐसा ही दु:साध्य है, जैसा स्थिर महासागर मे फेंके गए लोहे के एक छोटे-से टुकड़े का। अत: यद्यपि वास्तव मे कवि चंद हिंदी के प्रथम कवि न थे, तथापि वह हिंदी के प्रथम उत्कृष्ट कवि अवश्य थे। काल ने अब प्राय: ३८

•कवियों को छोड़ अन्य सभी के यशों को चर्वित करके चद ही को हिंदी का प्राय: प्रथम उत्कृष्ट कवि बना भी दिया है।

कवि चंद ने अपने जन्मादि का कुछ वर्णन नहीं किया, और राजकीय घटनाओं के संवत् लिखते हुए भी अपने विषय में कोई सन्-संवत् नहीं लिखा। हम लोग इतना अवश्य जानते हैं कि आप जगात-गोत्र के भाट थे, और लाहौर मे जन्मे थे, पर इससे अधिक—जन्म, पूर्व-पुरुष आदि के विषय—निश्चयात्मक रीति पर कुछ नहीं जानते। चंद के कथनानुसार पृथ्वीराज का जन्म-संवत् १२०६ वि० मे हुआ। ओझाजी कहते हैं कि यह जन्म-काल सं० १२२१ से पूर्व नही हो सकता। अनुमान से जान पड़ता है कि यह पृथ्वीराज से अवस्था में कुछ बडे थे, क्योंकि एक तो पृथ्वीराज इनकी सलाहो को आदर से सुनते थे, दूसरे, एक स्थान पर उनके अपनी सलाह न मानने पर आपने लिखा कि राजा ने धन और वय से मत्त होकर मेरी सम्मति नही मानी। यदि यह राजा से बड़े न होते, तो ऐसा लिखने का इन्हे साहस ही न होता। फिर यदि ऐसा लिखते भी, तो राजा इन पर अवश्य रुष्ट हो जाते, पर पृथ्वीराज का इनसे रुष्ट होना पाया नहीं जाता। ऐसा लिखने के पीछे भी इनका पूर्ववत् मान बना रहा। इसके सिवा पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि के विवाह के समय इनका पुत्र जल्हन ऐसा गुणी हो चुका था कि रावल समरसिंह ने उसे हठ करके दायज में माँग लिया। वह उस समय संभवत. २५ वर्ष का होगा, और चंद शायद ४५ साल के हों। इसके पीछे संवत् १२२८ मे पृथ्वीराज ने एक खजाना पृथ्वी के नीचे खुदवाकर पाया, जिसका वर्णन रासो के ७३८ वे पृष्ठ मे है। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४९ में, ४३ वर्ष की अवस्था मे, हुई। उसी समय चंद की भी मृत्यु हुई, क्योंकि यह राजा के साथ ही मारे गए। १२४९ वि० में चद की अवस्था संभवत: ६६ वर्ष की हो। अत: इनका जन्म-काल ११८३ वि० के लगभग समझ पड़ता है। इनकी अवस्था इससे बहुत अधिक भी नहीं जान पड़ती, क्योंकि यदि अधिक बुड्ढे होते, तो मृत्यु-पर्यंत युद्धों मे न सम्मिलित रह सकते। इस दूसरे हिसाब से भी इनकी अवस्था पृथ्वीराज से प्राय: २३ वर्ष अधिक निकलती है, जो अनुमान से भी मिलती है। चद की मृत्यु पृथ्वीराज के साथ ही हुई, यह बात प्रसिद्ध है। अत: चंद संवत् १२४९ मे मरे। कहते हैं, जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को पकड़ ले गया, तब राजा को छुड़ाने के विचार से चंद गोर-देश को गए, और वहीं मारे गए। कहीं-कहीं यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज और चंद एक ही दिन उत्पन्न हुए। पृथ्वीराज-संबंधी रासो की घटनाएँ संदिग्ध होने से कवि चंद-संबंधी भी उपर्युक्त कथन असंदिग्ध नहीं हैं।

चंद के पिता राव बेनू थे। चंद लाहौर में उत्पन्न हुए, और अजमेर में इनका पालन-पोषण हुआ। यह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की राजधानी थी। यहीं चंद पृथ्वीराज के साथ रहने लगे, और यहीं आप पृथ्वीराज के तीन प्रधान मंत्रियों में से एक हो गए। पृथ्वीराज के शेष दोनो मंत्रियो के नाम कैमास और गुरुराम पुरोहित थे। कैमास तीनो मे प्रधान था। चंद अजमेर से लेकर मृत्यु-पर्यंत सदैव पृथ्वीराज के साथ रहे, और युद्धों मे भी लड़ते रहे। जो हाल रासो मे वर्णित है, उसमें एक प्रकार से चंद की भी जीवनी है। इनकी स्त्री बड़ी गुणवती थी, और रासो उसी से कहा गया। बीच-बीच में उसने बहुत-से प्रश्न भी किए। चंद का पुत्र जल्हन बड़ा गुणी था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रावल समरसिंह उसे दहेज़ में ले गए, और वह उसी समय से चित्तौर मे रहने लगा। यह रावल समरसिंह चित्तौर नरेश एवं वर्तमान उदयपुर के महाराणा के पूर्व-पुरुष कहे गए हैं। रावलसमरसिंह का समय प्रसिद्ध ऐतिहासिक ओझाजी सं० १३५८ बतलाते हैं, किंतु हमारा विचार है कि वह समरसिंह दूसरे थे, और रासो वाले पहले (देखिए हमारा भारत का इतिहास)। दूसरे समरसिंह के पूर्व-पुरुष पहले समरसिंह के पुत्र करणसिंह थे। यह कथन टाड-कृत राजस्थान के भी अनुकूल है। सं० १५१७वाले महाराणा कुंभकर्ण के शिलालेख में, मेवाड़-नरेशों के वर्णन मे, समरसिंह का नाम नहीं है, किंतु महाराणा राजसिंहवाले सं० १७३२ के शिलालेख मे है। एक बार कैमास पृथ्वीराज की ओर से गुजरात के राजा भोराभीमंग से लड़ने गया, पर भीमंग की भेजी हुई एक खत्रानी पर ऐसा आसक्त हुआ कि पृथ्वीराज को छोड़ भीमंग से मिल गया, और उसने नागौर पर उनका अधिकार करा दिया। यह दशा देख चंद बरदाई एक सेना-सहित नागौर जाने लगे। मार्ग में भीमंग के दल से युद्ध भी हुआ, पर उसको घोर समर में पराजित करके, यह वीर कवि जान पर खेलकर कैमास के पास जा पहुँचा। इसे देखकर कैमास को ऐसी लज्जा लगी कि वह सिर न उठाता था। तब चंद ने उसे समझाया कि भूल सबसे हो जाती है, पर भूल का न सुधारना ही मुख्य रूप से निंद्य है। इस पर चंद और कैमास ने मिलकर युद्ध में भोराभीमंग के दल को पराजित कर नागौर पर फिर पृथ्वीराज का अधिकार कराया। फिर दोनो दिल्ली लौट आए। इस वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि चंद बरदाई कोरे कवि ही नहीं, अपितु प्रचंड युद्धकर्ता अथच राजनीतिज्ञ भी थे। इस युद्ध का ऐतिहासिक मूल्य संशयाकीर्ण है।

पृथ्वीराज के यहाँ चंद की ऐसी प्रतिष्ठा थी, जैसी ख़ास राजा के भाई की हो। एक बार चंद द्वारकापुरी को दर्शनार्थ गए। उस समय इनके साथ बहुत-से हाथी, सैकड़ों घोड़े और हज़ारों पैदल गए। मार्ग मे आप चित्तौर के समीप भी

ठहरे। तब पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि स्वयं इनके डेरे पर इनसे मिलने आई। अनंतर यह कविजी चित्तौर जाकर महारानी के भाई की भाँति दो चार दिन पहुनई मे वहाँ रहे। महारानी पृथाकुँअरि रावल समरसिंह की पटरानी थी। यह हाल भी रासो मे लिखा है। इससे इन कविरत्न के सम्मान का हाल स्पष्ट प्रकट होता है। द्वारका से पलटते समय चंद कवि पृथ्वीराज के शत्रु भोराभीमंग के यहाँ गए। वहाँ भी आपने पृथ्वीराज का यशोगान किया। इसी अवसर पर चंद ने वहाँ के राजकवि को वाद मे हराया। कन्नौज के महाराज जयचंद के भतीजे का विवाह एक परम सुंदरी राजकुमारी से हो रहा था। बरात भी जा चुकी, पर राजकुमारी की इच्छा पृथ्वीराज के साथ विवाह करने की थी। यह सुनकर पृथ्वीराज ने सेना लेकर वहाँ जाने का विचार किया। यही झगड़ा जयचंद से फिर शत्रुता के उभड़न का प्रधान कारण हुआ। चंद ने इस अवसर पर पृथ्वीराज को ऐसा करने से बहुत रोका, पर उन्होने न माना। इसी पर चंद ने लिखा कि धन वयोमत्त राजा ने उनकी सम्मति का आदर न किया। यदि चंद की सम्मति मानी जाती, तो पृथ्वीराज का जयचंद से झगड़ा एवं वैर न बढ़ता, और न शहाबुद्दीन ग़ोरी पृथ्वीराज को पराजित कर सकता।

चंद बरदाई का एकमात्र ग्रंथ पृथ्वीराज-रासो है, परंतु इसी एक ग्रंथ में २४०० से ऊपर पृष्ठ हैं। यह ग्रंथ मानो उस काल का प्राचीन इतिहास है। यह अपने समय का बड़ा मनोहर और ऐसा इतिहास बतलाता है, जो अन्यत्र विस्तार से अप्राप्य है। रासो अपने समय का परम दुष्प्राप्य सजीव इतिहास का ज्ञान कराता है। इस ग्रंथ-रत्न मे पृथ्वीराज के समकालीन प्रायः सभी भारतवर्षीय राजों का सविस्तर वर्णन मिलता है। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि रासो का बतलाया हुआ इतिहास एवं घटना चक्र बहुत संदिग्ध है। इस बात का विशेष कथन आगे आवेगा। दुर्भाग्य-वश यह ग्रंथ अप्राप्य हो गया था। यह देखकर काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने साहस पूर्वक, यथेष्ट धन ख़र्च करके, इसे प्रकाशित किया। पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या ने रासो पर बहुत अधिक और परम प्रशंसनीय श्रम किया, और इसके विषय मे बहुत-सी बातें खोज करके निकालीं। उनके साथ बाबू राधाकृष्णदास एवं रा० ब० डॉक्टर श्यामसुंदर-दासजी ने भी इसके विषय मे प्रचुर श्रम किया। यह ग्रंथ इन्हीं तीनो सज्जनों की संपादकता मे प्रकाशित हुआ। दो भागों के पीछे बाबू राधाकृष्णदास की अकाल मृत्यु हो गई। शेष भागों का संपादन पूर्वोक्त दो ही महाशय करते रहे। अनंतर पंड्याजी का भी पीछा हो गया। संपादकों ने रासो के फ़ुट-नोटों में अर्थ-पाठांतर आदि भी दिए हैं, जो संतोषदायक हैं। सं० १६४० के लगभग मेवाड़ के

महाराणा अमरसिह ने चंद की रचनाओं को एकत्र कराया। कहा जाता है, समय-समय पर रासो के तीन संपादन हुए, और इसमें बहुत कुछ घट-बढ गया है। फिर भी रासो का प्राचीन भाग असली अवश्य है। घटने-बढने का फल यही हुआ कि इसमे बहुत-से नवीन भाग मिल गए, और बहुत-सी ऐतिहासिक अशुद्धियाँ आ गईं। कहते है, समय के साथ प्राचीन रासो ग्रंथ बिखर गया था, और तब सं० १६२६ से ४२ तक मेवाड़ नरेश महाराणा अमरसिह ने किसी कवि द्वारा उसे संपादित कराया। इस ग्रंथ की सं० १६४२ की एक प्रतिलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय मे प्रस्तुत है।

रासो से प्रकट होता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ होती गईं, वैसे-ही वैसे उसकी रचना भी हुई। ऐसा नहीं हुआ कि सब घटनाओं के पीछे वह एक साथ बनाया गया हो। इसी कारण, जैसे कविगण किसी घटना के वर्णन मे प्रायः कह दिया करते है कि इस घटना से आगे चलकर बहुत उपद्रव अथवा लाभ हुए है, जो आगे लिखे जायँगे, वैसे कथन रासो मे नहीं पाए जाते। इसमे प्रत्येक घटना का बड़ा ही सजीव, पूर्ण एवं भव्य वर्णन है। प्रत्येक में मंत्रियो से जैसी जैसी सलाहें ली गईं, और जिस-जिस मंत्री ने जो-जो कहा, वह सब रासो मे लिखा है, चाहे वे अनुमतियाँ नितांत साधारण क्यों न हों। इसी प्रकार युद्धों मे जितने दिनों तक जो युद्ध रहा, जिसमे जो जैसा लड़ा, और जिस प्रकार अपनी अथवा शत्रु की चमू रक्खी गई, सो सब पूर्णता के साथ कहा गया है। बहुधा युद्धों मे चंद ने अपनी तथा शत्रु सेना की शोभा का वर्णन प्रायः सदैव भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। इसी प्रकार उन्होने न-जाने कितने युद्धों के वर्णन दिए हैं, परंतु उन सबमें पार्थक्य वर्तमान है। इससे भी प्रकट होता है कि चंद ने घटनाओं के साथ-ही-साथ रासो को बनाया, नहीं तो एक ही प्रकार का घटनाएँ लिखने मे एक ही-से वर्णन हो जाते, और उनमें वैचित्र्य बहुत कम रहता। प्रक्षिप्त भागों के बाहुल्य से ऐसे कथन भी कुछ संशयाकीर्ण हो जाते हैं। सम्भवत क्षेपककारों ने भी पुरानी कथन-प्रणाली स्थापित रक्खी।

इन बातों के रहते हुए भी पंडितवर, महामहोपाध्याय, रायबहादुर डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा को रासो के असली ग्रंथ होने में संदेह हो गया है। उनका यह मत है कि रासो को किसी ने सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में, चंद के नाम से, बनाया। इस संदेह की पुष्टि में दो प्रधान कारण दिए जाते हैं; एक तो यह कि रासो में प्रति सैकड़े १० के लगभग अरबी-फ़ारसी आदि के शब्द हैं, और दूसरे, इसमें लिखी हुई घटनाओं के सब संवत् अशुद्ध हैं। कहा जाता है, चंद के समय हिंदी

में इतने विदेशी शब्दों का होना असंभव है, क्योंकि मुसलमानों के आने के पीछे ही उनके शब्द हिंदी मे आ सकते थे।

विदेशी शब्दों के विषय मे पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या का यह मत है कि रासो मे इतने अधिक विदेशी शब्द नही है, और थोड़े-बहुत ऐसे शब्दो का होना शंका का कारण नही हो सकता। बाबू श्यामसुंदरदास का मत है कि रासो मे सैकड़े-पीछे प्राय: १० ऐसे शब्द है, किंतु इसके कारण कोई संदेह न होना चाहिए। भारत मे शहाबुद्दीन के साथ ही यवनों का प्रवेश नहीं हुआ। उसके प्राय: पौने दो सौ वर्ष पहले से ही महमूद गज़नवी की चढ़ाइयाँ होने लगी थी, और पजाब का एक बड़ा भाग मुसलमानो के अधिकार में चला गया था। महमूद से भी तीन सौ वर्ष पहले सिंध तथा मुलतान के देशों पर मुसलमानो का अधिकार हो गया था। अत: पंजाबी-भाषा मे मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही था। फिर, चंद बरदाई का जन्म लाहौर मे हुआ, जहाँ उस समय मुसलमानों ही का अधिकार था। चद ने अपना बाल्य-काल इसी स्थान पर बिताया। स्वयं पृथ्वीराज के यहाँ शहाबुद्दीन का भाई हुसैन और उसका पुत्र, दोनो रहते थे। उन्हे जागीर भी मिली थी। पृथ्वीराज के राज्य की सीमा मुसलमानी राज्य से मिली हुई थी। ऐसी दशा में व्यापारिक संबंध से भी मुसलमानों का यातायात हिंदुओ के बीच अवश्य रहता होगा। इन सब कारणों से चद की भाषा मे मुसलमानी शब्दो का होना स्वाभाविक था, और इन शब्दों को देखकर हम रासो के असली होने के विषय मे कोई संदेह नहीं उठा सकते। इतनी और भी बात है कि रासो का एक भाग ही असली समझ पड़ता है, और उसका बृहदंश प्रक्षिप्त है। ऐसी दशा में पूरे ग्रंथ में शब्दों के पड़ते से कोई दृढ़ निष्कर्ष नही निकलता, क्योंकि उसमे प्रक्षिप्त भागों का भी पड़ता शामिल है।

चंद के दिए हुए संवतों मे घटनाओं का काल अटकलपच्चू नही लिखा गया। इतिहास द्वारा विदित समय से चंद के कहे हुए संवत् प्राय: सदा ९० वर्ष कम होते हैं, और यही अंतर एक-दो नहीं, प्राय: प्रत्येक घटना के संवत् में देख पड़ता है। यदि चंद के किसी संवत् में ९० जोड़ दें, तो इतिहास से सिद्ध यथार्थ संवत् निकल आता है। चद ने पृथ्वीराज के जन्म, उनके दिल्ली मे गोद जाने, कन्नौज जाने तथा अंतिम युद्ध के क्रमश: १११५, ११२२, ११५१ और ११५८ संवत् दिए है। इनमे ९० जोड़ देने से प्रत्येक घटना का यथार्थ संवत् निकल आता है (पृथ्वीराज-रासो, पृष्ठ १४० देखिए)। प्रत्येक घटना में केवल ९० साल का अंतर होने से प्रकट है कि कवि इन घटनाओं के संवतो से अनभिज्ञ न था, नहीं तो यदि किसी में ९० वर्षों का अंतर पड़ता, तो किसी में इससे कम

या ज़्यादा का। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि रासो में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है, जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ६० वर्ष पीछे था। अब देखना चाहिए कि चंद ने इस विभिन्नता का कुछ संकेत भी दिया है या नहीं। रासो के १३८ वें पृष्ठ पर ये दो दोहे मिलते हैं—

> एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद,
> तेहि रिपु जयपुर हरन को भय पृथिराज नरिंद।
> एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रम सुत्त;
> त्रतिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्र गुन गुप्त।

इससे प्रकट है कि चंद कवि ११११ विक्रम-अनंद संवत् में पृथ्वीराज का जन्म बताता है। अतः वह साधारण संवत् न लिखकर 'अनंद' संवत् लिखता है। अनंद का अर्थ साधारणतः आनंद कहा जा सकता है, पर इस स्थान पर आनंद का अर्थ लगाने से ठीक अर्थ नहीं बैठता। यदि आनंद शब्द होता, तो आनंदवाला अर्थ बैठ सकता था। अतः प्रकट होता है कि चंद अनंद संज्ञा का कोई विक्रमीय संवत् लिखता है। यह अनंद संवत्, जान पड़ता है, साधारण संवत् से ६० वर्ष पीछे था। पंडितवर पंड्याजी ने लिखा है कि तत्कालीन चित्तौर नरेश समरसिंह और उनकी महारानी पृथा के कुछ पट्टे-परवाने आदि भी मिले हैं, जो असली जान पड़ते हैं। इनमें भी इसी अनंद संवत् में समय दिया गया है, जो साधारण संवत् से ६० वर्ष पीछे है। उन्होंने यह भी कहा है कि बाप्पा रावल आदि के भी समय इसी संवत् से मिलाए जा सकते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में जो पुराने आज्ञा पत्र (पृथ्वीराज, समरसिंह आदि के) मिले हैं, उनमें भी इसी संवत् का प्रयोग हुआ है। अतः जान पड़ता है, उस समय राजों के यहाँ यही अनंद संवत् प्रचलित था।

अनंद संवत् किस प्रकार चला, और साधारण संवत् से वह ६० वर्ष पीछे क्यों है, इसके विषय में पंड्याजी ने कई तर्क दिए हैं, पर दुर्भाग्य-वश उनमें से किसी पर हमारा मत नहीं जमता। बाबू श्यामसुंदरदास ने भी एक कारण बतलाया है, पर वह भी हम ठीक नहीं जान पड़ता। यदि अनंद संवत् का पता न लगे, तो भी क्षेपकों के बाहुल्य से सन् संवतों का गड़बड़ रासो के असली भागों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। यह भी मानना ही पड़ेगा कि रासो की बहुतेरी घटनाएँ और उनके संवत् अशुद्ध हैं। फिर भी आगे आनेवाले कारणों से प्रकट है कि पूरा रासो जाली नहीं है। पृथ्वीराज के समय में ही चंद ने इसके एक भाग को बनाया। रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉक्टर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने

रासो में इतिहास-संबंधी कई मोटी-मोटी भूलें दिखाकर उसे जाली प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, किंतु समझ ऐसा पड़ता है कि प्रक्षिप्त वर्णनों के बाहुल्य से इसमें अशुद्ध कथन अवश्य आ गए हैं, और रासो का कुछ भाग प्रक्षिप्त है, किंतु पूरा-का-पूरा रासो जाली मानने के प्रमाण अभी हमारे सामने नहीं हैं।

अब हम श्रीमान् ओझाजी के खंडनात्मक तर्कों पर विचार करते हैं। आप पृथ्वीराज के समकालीन अथच राजकवि जयानक के 'पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य पर बहुत बड़ा भरोसा करते हैं, क्योंकि आपके कथनानुसार उसके द्वारा कथित घटनाएँ मालवे और गुजरात के शिलालेखों से मिल जाती हैं। यह ग्रंथ पृथ्वीराज के मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट लिखता है, न कि चंद। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि चंद भाट होकर भी मुख्यतया राजमंत्री थे, और साहित्य रचना शौक़िया करते थे, जैसा हम लोग (मिश्रबंधु) स्वयं करते हैं। ऐसी दशा में उनकी भाटों में संज्ञा न होनी कोई बात नहीं है। हमारी रियासतों के राजकवियों के कथन करने मे आज भी कोई हमारे नाम नहीं लेता। ओझाजी स्वयं लिखते हैं—"पृथ्वीराज विजय के पाँचवें सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चंद्रराज का वर्णन करते हुए जयानक ने उसकी अच्छे वृत्त (छंद) संग्रह करनेवाले चंद्रराज से उपमा दी है।" इसका उत्तर आप यह देते हैं कि जब वह स्वयं पृथ्वीभट को मुख्य भाट मानता है, तब इस चंद्रराज से चंद वरदाई का अस्तित्व नहीं प्रमाणित हो सकता। इतना अवश्य निश्चय होता ही है कि उस काल कोई चंद कवि था, जिसे पृथ्वीराज का राजकवि सम्मानार्थ चंदराज कहता है, और जिसके उपमान बनने से एक राजकुमार तक की महत्ता समझी गई। जयानक उसे अच्छे छंदों का बनानेवाला भी कहता है। चंद के विषय में वह श्लोक इस प्रकार है—

तनयश्चन्द्राजस्य चन्द्रराज इवाभवत्;
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात।

ओझाजी का विचार है कि यह चंद्रराज वह 'चंद्रक' कवि हो सकता है, जिसका नाम विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्धवाले कश्मीरी क्षेमेंद्र कवि लेते हैं। किंतु क्षेमेंद्र किसी छोटे-से कवि चंद का कथन करते हैं, जिसे वह चंदक-मात्र कहते हैं। इधर जयानक किसी महापुरुष चंद्र का वर्णन चंद्रराज करके करता है। ये चंद्रक और चंद्रराज एक नहीं समझ पड़ते। चंद-कृत रासो देखने से प्रकट है कि वह राजमंत्री तथा पूज्य व्यक्ति एवं अच्छा कवि था। जयानक भी एक चंद को अच्छा कवि कहकर उससे राजकुमार की उपमा देने में राजकुमार का ही सम्मान समझता है। हमारी समझ में इन कथनों से रासोकार चंद के अस्तित्व का अच्छा समर्थन होता है।

चंदीय भाषा के विषय में ओझाजी की निम्न-लिखित सम्मति है—

"दोहों और कुछ-कुछ कवित्तों की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं-कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी भरमार है, जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नक़ल की हो। साथ ही कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में पाई जाती है, जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के रूप पुराने ढंग के हैं। कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है।"

इस सम्मति से भी प्रकट है कि इसके कुछ भाग पुराने अवश्य हैं। ऐसी दशा में भाषा की साक्षी कुछ प्रक्षिप्त भागों की प्रस्तुति बतलाने के अतिरिक्त चंदीय अनस्तित्व को बिलकुल प्रमाणित नहीं करती, वरन् उसका प्राचीन अस्तित्व सिद्ध करती है। अतएव हमारा और ओझाजी का केवल इतना मतभेद रह जाता है कि उनकी राय में इसमें क्षेपकों के बाहुल्य से प्राचीन होकर भी ग्रंथ बेकार है, किंतु हम बेकार नहीं समझते, वरन् आदर के साथ इसे साहित्य के इतिहास-ग्रंथ में स्थान देते हैं। क्षेपकों के न्यूनाधिक अस्तित्व से इतना हम भी कहेंगे कि इसमें कथित घटनाएँ ऐतिहासिक काम की तब तक न होंगी, जब तक वे अन्य दृढ़ आधारों से भी समर्थित न हों। इतिहास की दृष्टि से बेकार होकर भी रासो साहित्यिक दृष्टि से एक श्रेष्ठ ग्रंथ है, और इसका कुछ भाग बारहवीं शताब्दी का अथच चंद-कृत है। केवल इतने छोटे मतभेद पर ओझाजी का ऐसा कहना अयोग्य था कि चंद था ही नहीं, और पूरा-का-पूरा रासो सोलहवीं शताब्दी का है। स्वयं उन्हीं की जाँच से इसके कुछ भाग अवश्य प्राचीन हैं।

अब हम ओझाजी के कुछ अन्य विचारों पर सम्मति प्रकट करेंगे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने कुछ तत्कालीन पट्टे-परवानों की नक़ल खोज में छापी है, जिनसे चंद, तत्पुत्र जल्हन, पृथाकुँअरि (पृथ्वीराज की बहन) तथा समरसिंह के संबंध प्रकट होते हैं। आप इनको जाली कहते हैं। हम इस कथन को साहस-मात्र समझते हैं। इनसे चंद-संबंधी हमारे बहुतेरे कथनों की पुष्टि मिलती है। यदि ये न होते, तो भी वे कथन अन्य प्रकार से समर्थित हैं। आप पृथाकुँअरि का अस्तित्व इस वास्ते नहीं मानते कि एक समरसिंह सं० १३५८ तक प्रस्तुत थे, और इधर रासो एक समरसिंह की मृत्यु पृथ्वीराज के साथ, सं० १२४९ में, मानता है। यह निश्चित है कि तेजसिंह के पुत्र और जैत्रसिंह के पौत्र समरसिंह सं० १३५८ तक चित्तौर के राजा थे, किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि सं० १२४९ में मरनेवाले कोई समरसिंह थे ही नहीं। हमारा मत है

कि वह पहले समरसिंह थे, और सं० १३५८ वाले दूसरे। केवल दूसरे समरसिंह के अस्तित्व से पहले का अस्तित्व नहीं कटता। खुमान रासो आदि के आधार पर टाड महाशय भी पृथ्वीराज के बहनोई समरसिंह का अस्तित्व मानते हैं। महाराणा कुंभा द्वारा अकथित होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि इनकी वास्तविक महत्ता रासो के कथनों से बहुत कम हो। इस अकथन से अनस्तित्व अनिश्चित है, और यदि समरसिंह का अस्तित्व असिद्ध भी हो, तो यह कथन भी क्षेपक मानकर रासो के प्राचीन भाग दृढ़ रहते हैं।

रासो में गुजरात के भीमदेव की पृथ्वीराज से लड़ाई कथित है। भीमदेव का राजत्व-काल सं० १२ ५ से १२९८ तक है। इसी बात से ओझाजी अनुमान करते हैं कि गद्दीनशीनी के समय भीमदेव बिलकुल बाल्यावस्था में था। उधर इतिहास कहता है कि अपने पूर्ववर्ती राजा तथा भाई दूसरे मूलराज के समय में भीमदेव ने शिहाबुद्दीन ग़ोरी को युद्ध में पराजित किया था, और तब वह भाई के स्थान पर राजा भी हो गया। ऐसी दशा में उसका पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को युद्ध में मारना तथा पृथ्वीराज की उससे लड़ाई असंभव नहीं। हाँ, उसका पृथ्वीराज द्वारा मारा जाना-मात्र प्रक्षिप्त है। ओझाजी भीमदेव की सं० १२३५ में बाल्यावस्था का निराधार अनुमान करके स्वयं रासो के प्रतिकूल अशुद्ध दोषारोपण करते हैं। इतिहास भी १२३५ के पूर्व भीमदेव को भारी युद्धकर्ता बतलाता है।

कुछ लोगों का विचार है कि रासो में थोड़े बहुत प्रक्षिप्त भाग अवश्य हैं। यह विचार उसमें कई ऐतिहासिक अशुद्धियों तथा भाषा-वैषम्य पर निर्भर है। कुछ भाषा नई देख पड़ती है, और कहीं-कहीं पुरानी तथा कुछ स्थानों पर पुरानी की नक़ल सी। ओझाजी महाशय यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि रासो सब-का-सब जाली है, और उसका कोई भाग प्राचीन नहीं। उसके जाली होने में आपको इतनी प्रसन्नता होती है कि इसके समर्थन में कैसी भी भद्दी दलील हो, वह बावन तोले पाव रत्ती ठीक जँचती है, और इस बात पर इतनी दृढ़ता है कि रासो के किसी अंश को पृथ्वीराज का समकालीन माननेवाले उन्हें हठवादी-मात्र समझ पड़ते हैं। आप कहते हैं, यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रासो पहले छोटा था, और पीछे लोगों ने उसे बढ़ा दिया होगा, क्योंकि चंद के वंशधर कवि यदुनाथ ने सं० १८०० के अपने ग्रंथ वृत्तविलास में रासो का वही आकार बतलाया है, जो उसका वर्तमान आकार है। आपका विचार है—"जदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल-ग्रंथ अवश्य होगा, जिसके आधार पर उसने उक्त ग्रंथ का परिमाण लिखा होगा।" आपकी समझ में सं० १२४८ से सं० १८०० तक रासो में कोई क्षेपक का बढ़ना असंभव था,

और यदुनाथ पूरे ६०० वर्षों के रासो संबंधी आकार के खजांची बने-बनाए हैं। आपका यह भी विचार है कि प्रमार, परिहार, सोलंकी और चौहान को अग्नि वंशी पहलेपहल चंद ही ने कहा, और जब सोलहवीं शताब्दी तक के किसी अन्य ग्रंथ में वे अग्नि-वंशी न कहे जाकर सूर्य या चंद्र-वंशी कहे गए, तब उन्हें अग्नि-वंशी कहनेवाला रासो भी प्राचीन ग्रंथ न होगा। सं० १५५० के हम्मीर महाकाव्य चौहान अग्नि-वंशी नहीं कहे गए हैं। यह भी कोई दृढ़ तर्क नहीं है। ये क्षत्रिय यज्ञ के कारण अग्नि वंशी कहलाए। यज्ञ के प्रथम भी ये प्रस्तुत थे ही, और उस काल सूर्य या चंद्र-वंशी आदि कहलाते ही होंगे; ऐसी दशा में यदि कुछ ग्रंथों में इनके पुराने वंश कहे गए, तो इससे रासो के प्रतिकूल कुछ भी सिद्ध नहीं होता, वरन् यह बात उसकी प्राचीनता-व्यंजक है। यह तो प्रकट ही है कि दो-तीन शताब्दियों से ऐसे सब क्षत्रिय निर्विवाद रूप से अपने को अग्नि-वंशी कहते आए हैं। यदि यह बात पहलेपहल रासो द्वारा सोलहवीं शताब्दी में ही उठाई गई होती, तो इतना शीघ्र सर्वमान्य कभी न हो जाती। चंद्र-वंशी नानूराम के पास सं० १४५५ की लिखी हुई रासो की एक प्रति पंडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा कही गई है। यह बात यदि सत्य हो, तो रासो की प्राचीनता बहुत पीछे जाती है।

रासोकार पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का सात बार हारना कहता है, किंतु इतिहास उसका एक ही बार हारना लिखता है। इतिहास बहुधा मुसलमानी कथनों पर अवलंबित है, जिनमें उनकी हीनता का घटाना स्वाभाविक था। फिर भी यह ऐतिहासिक अशुद्धता समझ पड़ती है, जो क्षेपकों के कारण हो सकती थी, अथवा चंद द्वारा अपने स्वामी के अनुचित प्रताप-कथन का फल हो। पृथ्वीराज की अवस्था, उनके विवाह तथा कुछ और बातों में भी ओझाजी ने ऐतिहासिक भूलें दिखलाई हैं। संभव है, अधिक ग्रंथ-पठन से उनका समर्थन हो सके। विवाहों के विषय में कुछ अत्युक्ति अवश्य समझ पड़ती है। फिर भी संभव है, कुल-नामादि एकआध साधारण भूल के कारण ही ओझाजी पूरे निबंधों को अशुद्ध कहते हों। पुरातत्त्ववेत्ता लोग इस विषय पर जाँच करेंगे। अपने को तो साहित्य से प्रयोजन है। ऊपर के कथनों से यह अवश्य सिद्ध है कि रासो के कुछ अंश पृथ्वीराज के समकालीन और कुछ क्षेपक हैं। भाषा और घटनाओं पर पूर्ण विचार करने से इन दोनों भागों की मात्राएँ न्यूनाधिक सिद्ध हो सकती हैं। फिर भी इतना हर हालत में दृढ़ है कि चंद पृथ्वीराज का समकालीन था, और उसने तथा उसके पुत्र जल्हन ने रासो बनाया, जिसमें पीछे के कवियों ने बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया है। इससे अधिक छान-बीन हम रासो के ही पंडितों पर छोड़ते हैं।

यह बड़ा भारी ग्रंथ लगभग २५०० पृष्ठों का है, और इसमें कई प्रकार के वर्णन आए हैं, जिनमे युद्ध और श्रृंगार प्रधान हैं। मगलाचरण में कवि ने एक छंद में आदि-देव-गुरु आदि की स्तुति करके फिर तीन षट्पदों मे (जिन्हे वह कवित्त कहते है) धर्म, कर्म एवं मुक्ति की स्तुति की है। इसके पीछे वह पुराने कवियो की स्तुति करते है, जिनमे व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, डडमाली और जयदेव का उल्लेख हुआ है। इनमे सब कवि संस्कृत के है, पर शायद डडमाली प्राकृत का कवि हो। चंद ने कहा है कि इसने गंगा-नदी का वर्णन किया। यथा—

सतं डंडमाली उलाली कवित्तं ; जिनै बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं।

तदनंतर चंद की स्त्री उनसे प्रश्न करती है, और तब वह ईश्वर-प्रभाव, पुराणादि का वर्णन करते है। ईश्वर के संबंध मे चंद ने प्रथम तो एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म का कथन किया, पर अंत मे ब्रह्मा की उत्पत्ति कहकर अन्य देवतों की भी चर्चा कर दी। आपने यहाँ विष्णु एवं शिव का विवरण नहीं दिया। ईश्वर-वर्णन १८५ पृष्ठ पर अच्छा है। उक्त वंदना से, उदाहरण-स्वरूप, दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं—

साटक (शार्दूलविक्रीड़ित छंद)

आदीदेव प्रनम्य नम्य गुरुयं वानीय वंदे पयं
सिष्टं धारनधारयं वसुधनी लच्छीस चर्नाश्रयं,
तंगुं तिष्ठति ईस दुष्ट दहनं सुर्नाथ सिद्धि श्रयं
थिर्चजंगम जीव चंद नमयं सर्वेस वर्दामयं।

यह रासो का प्रथम छंद है।

कवित्त (छप्पय)

सम बनिता बर बंदि चरन जंपिय कोमल कल ;
सबद ब्रह्म इह सत्ति अपर पावन कहि निर्मल।
जिहित सबद नहिं रूप रेख आकार ब्रन्न नहिं ;
अकल अगाध अपार पार पावन त्रयपुर महिं।
तिहिं सबद ब्रह्म रचना करौ गुरु प्रसाद सरसे प्रसन ;
जद्यपि सुउकुति चूकौं जु गति कमलवदनि कबि तहँ हसन।

अष्टादश पुराण कहने के बाद चंद महाशय अपनी लघुता बताते और फिर खल-स्वभाव कहकर सरस्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति करते हैं। इस प्रकार

६४ छंदों में वंदना तथा भूमिका [illegible] क्रमशः परीक्षित, वशिष्ठ, आबू-गिरि उत्पत्ति आख्यानों के साथ, चहुआन-उत्पत्ति तथा क्षत्रियों के ३६ वंशों की उत्पत्ति आदि की कथा कही गई है। इसके पीछे चहुआनों के वंश का वर्णन किया और बीसलदेव की उत्पत्ति लिखकर आना का जन्म कहा। आना ने अपनी माता से सुना कि बीसलदेव [illegible] राक्षस होकर मनुष्य खा गया, परंतु पुनः पुरुषत्व प्राप्त करके उसने अनुचित आचरण किया। [illegible] ने बालुकाराय से युद्ध किया, और फिर गौरी वैश्या का सतीत्व नष्ट कर डाला। वैश्या ने उसे शाप दिया, जिसके अनुसार सर्प ने उसे डस लिया, और वह मर गया। तदनंतर उसकी चिता से ढूँढा-नामक राक्षस उत्पन्न हुआ। ढूँढा ने बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव को मारकर अजमेर उजाड़ दिया। [illegible] सारंगदेव का पुत्र आना ढूँढा के पास गया। ढूँढा ने प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे अजमेर दे दिया, और वह स्वयं तारिक ऋषि से उपदेश ग्रहण कर महात्मा हो गया। आनाजी ने आनासागर बनवाया, जो अब तक एक प्रसिद्ध तालाब है। आनाजी का प्रपौत्र सोमेश्वर था, जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। आनाजी के पीछे उनका पुत्र जयसिंह राजा हुआ, और उसके पीछे उसका पुत्र आनंददेव गद्दी पर बैठा। इन्हीं के पुत्र महाराज सोमेश्वर हुए। दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री पृथ्वीराज की माता थी। चंद ने पृथ्वीराज की कथा अपनी स्त्री की इच्छा के अनुसार कही। मंगला-चरण में, प्रायः साठ पृष्ठों में, दशावतार की कथा कही गई है, जो उत्कृष्ट है। ये सब उपर्युक्त वर्णन २५४ पृष्ठों में समाप्त हो गए हैं। शेष ग्रंथ में पृथ्वीराज की कथा, विस्तार-पूर्वक, वर्णित है। पृथ्वीराज का शत्रुओं से प्रायः युद्ध हुआ करता था। रासो में अधिकतर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों एवं मृगया के ही वर्णन हैं। अतः, विस्तार-भय से अधिक न कहकर, हम रासो के अनुसार, यहाँ पृथ्वीराज के शत्रुओं, शत्रुता के कारणों और युद्धों का दिग्दर्शन कराए देते हैं—

शत्रु	शत्रुता के कारण तथा परिणाम
(१) भोराभीमंग (गुजरात का राजा)	पृथ्वीराज के सामंत कन्ह ने एक बार इसके भाइयों को कहा सुनी में मार डाला। यह सलष की कन्या इछिनी को चाहता था, पर पृथ्वीराज ने उससे विवाह कर लिया। इसने पृथ्वीराज के पिता को एक युद्ध में मारा। अंत को, कई युद्धों के बाद, पृथ्वीराज ने इसे मार डाला। पृथ्वीराज द्वारा भीमंग-वध अनैतिहासिक है।

(२) नाहरराय
(मंडोवर का राजा)

एक विवाह के कारण इससे युद्ध हुआ। इसने प्रथम अपनी कन्या पृथ्वीराज से ब्याहने को कहा था, पर पीछे यह नट गया। अंत को यह पराजित हुआ, और विवाह संपन्न हुआ।

(३) जियाउद्दीन
मुदगलराय मेवाती

इसने दंड नहीं दिया था, पर इसे पराजित होना पड़ा।

(४) शिहाबुद्दीन ग़ोरी

इसकी चित्ररेखा नाम की एक परम सुंदरी वेश्या थी। इसका भाई हुसैन उससे अनुरक्त हो गया। इस पर इन दोनों में खटपट हुई, और हुसैन पृथ्वीराज की शरण आया। इसी पर ग़ोरी से बहुत बार युद्ध हुए, और सदा वह हारा। कई बार पकड़ा भी गया, पर दुर्भाग्य-वश पृथ्वीराज ने उसे दंड लेकर हर बार छोड़ दिया। इतिहास इसका एक ही बार पकड़ा जाना कहता है। पृथ्वीराज ने अपनी बहन पृथाकुँअरि का विवाह जब रावल समरसिंह से किया, तब इनके सब सामंतों के साथ शिहाबुद्दीन ने भी रावल को दहेज दिया। अंत को, ११९३ ई० में, उसने राजा को युद्ध में पकड़ लिया, और मार डाला। उसके बाद भारत का बादशाह हो गया। फिर पश्चिम के घक्करों ने उसे भी मार डाला, पर उसके दास कुतुबुद्दीन के हाथ से भारत का राज्य नहीं छूटा। इस भाग के कुछ कथन रासो पर न होकर इतिहास पर आश्रित हैं।

(५) कुमोदनि
(कुमाऊँ का राजा)

यादवराज विजयपाल की पुत्री पद्मावती का इससे विवाह होता था, पर पृथ्वीराज ने इसे पराजित करके पद्मावती से अपना विवाह किया।

(६) जयचंद
(कन्नौज का राजा)

यह भी वैसे ही अनंगपाल का दौहित्र था, जैसे पृथ्वीराज, पर उस(अनंगपाल)ने राज्य पृथ्वी-राज ही को दिया। देवगिरि के राजा यादवराज की कन्या शशिव्रता से इसके भतीजे का विवाह होता था, पर पृथ्वीराज ने शशिव्रता को हरकर उससे अपना विवाह किया। इन दोनो बातों से, विशेषकर अंतिम बात से, कुढ़कर जयचंद ने एक यज्ञ में पृथ्वीराज की मूर्ति का अपमान किया। इस पर पृथ्वीराज ने यज्ञ विध्वंस कर डाला, और उसकी पुत्री संयोगिता को हरकर उससे विवाह किया। इन्हीं कारणों से जयचंद ने शिहाबुद्दीन से मिलकर, अदूरदर्शिता से पृथ्वीराज का सर्वनाश करवा डाला, पर दूसरे ही साल, ११९४ ई० में, शिहाबुद्दीन ने इसे मारकर बनारस का भी राज्य ले लिया। जयचंद के वर्णन में रासो में कई ऐतिहासिक भूलें हैं।

(७) अनंगपाल

यह पृथ्वीराज का नाना था। इसने दिल्ली का विशाल राज्य प्रसन्नता-पूर्वक पृथ्वीराज को देकर बदरीनाथ की यात्रा की, पर इसके वंशधर तोंवर राजपूतों ने पृथ्वीराज से अप्रसन्न होकर इसे बहकाया, और उनसे लड़ा दिया। इसके पराजित होने पर पृथ्वीराज इसके पैरों पर गिर पड़ा, और उसने इसे बहुत प्रसन्न किया। अंत में यह फिर बदरीनारायण को चला गया। अनंगपाल की भी ऐतिहासिक शुद्धता संदिग्ध है।

(८) कर्नाटक-युद्ध

पृथ्वीराज ने विजय-लालसा से यह युद्ध ठाना था। अंत को कर्नाटकी नाम की एक रूपवती वेश्या पाकर यह वहाँ से प्रसन्नता-पूर्वक लौट आया।

(९) गज्जरराय

यह भीम का साथी था। इसने पृथ्वीराज के बहनोई समरसिंह की राजधानी चित्तौर पर धावा किया था। पृथ्वीराज ने इसे भी हराया।

(१०) भीम (उज्जैन का राजा)	इसने पहले अपनी कन्या इंद्रावती का विवाह पृथ्वीराज से करने का वचन दिया, पर पीछे से यह नट गया। युद्ध में इसे हराकर पृथ्वीराज ने यह विवाह किया।
(११) भान (काँगडा का राजा)	इसने पृथ्वीराज के दूत का अनादर किया। यह पराजित हुआ, और अपनी कन्या इसने पृथ्वीराज को ब्याह दी।
(१२) पंचाइन (चंदेरी का राजा)	यह रणथंभौर के राजा भान की कन्या हंसावती से विवाह करना चाहता था, पर भान ने अपनी कन्या पृथ्वीराज को ब्याह दी। इसी पर पंचाइन से युद्ध हुआ, और वह पराजित हुआ।
(१३) बालुकाराय	यह जयचंद का आश्रित राजा था। उन्हीं के कारण पृथ्वीराज से दो बार लडा, और अंत को मारा गया।
(१४) परिमाल (महोबे का राजा)	कन्नौज से संयोगिता-हरणवाले युद्ध से पलटते समय पृथ्वीराज के थोडे-से सामंत राह भूलकर महोबे चले गए, और झगड़ा होने पर कुछ का परिमाल ने वध कर डाला। इस पर पृथ्वीराज ने प्रचंड कोप करके परिमाल के हितू मलिखान को सिरसा में मारा, और महोबे पहुँचकर, आल्हा, ऊदल आदि को पराजित करके, अथच परिमाल को जीतकर, महोबा खोद डाला। इस युद्ध में पृथ्वीराज की सेना की भी बड़ी हानि हुई।

इन सब राजाओं का उस काल अस्तित्व तथा सब कथित युद्धों की सत्यता इतिहास से स्थापित नहीं होती। समझ पडता है कि इन वर्णनों के कई भाग प्रक्षिप्त हैं।

इस वर्णन से विदित होता है कि चौदह प्रधान शत्रुओं में नव से शत्रुता का कारण पृथ्वीराज के ब्याह थे। यदि इन्हें विवाह करने का इतना भारी शौक़ न होता, तो ४३ वर्ष की ही अल्पावस्था में ऐसा पराक्रमी राजा शिहाबुद्दीन से हारकर काल-कवलित न होता, और भारत उस समय यवनों के अधिकार में न जाता। पृथ्वीराज जितने पराक्रमी, शूर तथा उदार थे, उतने ही अदूरदर्शी और हठी भी। इन्हीं कारणों से बड़े-बड़े सामंत और बृहत् सेना रखने पर भी

एक क्षुद्र शत्रु से हारकर वह राजपाट और जीवन तक खो बैठे। पृथ्वीराज ने दस विवाह किए, और एक वेश्या को रक्खा। रासो के देखने से प्रकट होता है कि इनके प्राय: तीन ही काम थे—विवाह, आखेट और युद्ध।

ऊपर कहा जा चुका है कि रासो का प्रथम संपादन सं० १६४० के लगभग हुआ, और कुल तीन संपादन हुए। इसमें क्षेपक बहुत मिल गए, और ग्रंथ में छान-बीन, घटाव-बढ़ाव प्रचुरता से हुए। ऐसी दशा में कुछ ऐतिहासिक अशुद्धियों का आ जाना स्वाभाविक था। अतएव रासो में लिखे हुए उपर्युक्त कथनों को जब ऐतिहासिक घटनाओं से मिलाया जाता है, तब कुछ गड़बड़ पड़ती ही है। हमने अपने भारतीय इतिहास के द्वितीय भाग में, पृष्ठ ३६६ से ३७२ पर्यंत, चौहानों के वंश का हाल लिखा है। उसके देखने से विदित होगा कि महाराजा पृथ्वीराज के निकटवाले पूर्व-पुरुषों के विषय में भी ऐतिहासिकों में मत-भेद है, और उसका वर्णन, विविध आधारों से, अनेक प्रकार से है। टाड साहब राजपूताने के हिंदू ऐतिहासिकों के आधार पर चलकर पृथ्वीराज की वंशावली इस प्रकार लिखते हैं—बीसलदेव—सारंगदेव—आनाजी—सोमेश्वर—पृथ्वीराज (चर्महरदेव भाई)—रैनसी। यह वंशावली चंद के वर्णन से बहुत कुछ मिलती हुई है। उधर चित्तौर में एक शिला-लेख मिला है, जिसके अनुसार अजय के पुत्र आना सं० ११५० वि० में जीवित थे। बीसलदेव इन्हीं आना के पुत्र कहे गए, जिनके पौत्र पृथ्वीराज थे। स्मिथ महाशय किसी काश्मीरी ग्रंथ के आधार पर पृथ्वीराज को बीसलदेव का भतीजा मानते हैं। डफ़ महाशय ने अजमेर के चौहान-राजों की जो वंशावली लिखी है, उसमें चार विग्रहराज लिखे हुए हैं, जो नरेश नंबर ३, १२, १८ तथा २२ थे। इन्हीं में एक बीसलदेव था। तीसरे विग्रहराज के पुत्र प्रथम पृथ्वीराज लिखे हैं, जिनके पुत्र अजयराज या सल्हण थे। कहीं-कहीं आनाजी के पुत्र जयसिंह भी अजयराज लिखे हैं। अजयराज के पुत्र अरुणराज थे, जिनके पुत्र चौथे विग्रहराज तथा दूसरे पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर लिखे हुए हैं। डफ़ ने अजयराज का संवत् ११८७, अरुणराज का १२०७ एवं दूसरे पृथ्वीराज का १२२७ लिखकर चौथे विग्रहराज तथा सोमेश्वर के बीच पृथ्वीभट नाम का एक और राजा लिखा है। जान पड़ता है, स्मिथ महाशय ने चौथे विग्रहराज को असली बीसलदेव मानकर पृथ्वीराज को बीसलदेव का भतीजा लिखा है। वास्तव में तीसरे विग्रहराज बीसलदेव थे। यदि उनके पुत्र पहले पृथ्वीराज का उपनाम आनाजी मानें, तो चंद के अनुसार भी वंशावली प्राय: मिल जाती है, क्योंकि ऐसी दशा में आनाजी के पुत्र अजयराज मिलते हैं, और उनके अरुणराज, जिनका दूसरा नाम आनंददेव हो सकता था। इन्हीं के पुत्र सोमेश्वर थे, जो पृथ्वीराज

के पिता थे। इस हिसाब से केवल इतना भेद पड़ता है कि चंद ने आनाजी को बीसलदेव का पौत्र लिखा है और डफ ने पुत्र। बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव ने बहुत कम समय तक राज्य किया, और वह ढूँढा द्वारा मारे गए। उन्हीं के पुत्र आनाजी थे। संभव है, थोड़े ही काल तक राज्य करने के कारण उनका नाम डफ की नामावली से छूट गया हो, और उनके स्थान पर उनके पुत्र बीसलदेव को पौत्र न लिखकर पुत्र लिख दिया गया हो। इस प्रकार की क्षुद्र भूलें पौराणिक राजवंशों में भी मिलती हैं। हर हालत में अंतर यदि है भी, तो बहुत थोड़ा। बीसलदेव के पूर्व की वंशावली में चंद ने पूरे नाम लिखने का प्रयत्न न करके केवल कुछ विशेष नाम-मात्र गिना दिए हैं। अतएव, हमारी समझ में, ऐतिहासिक विचारों से चंद-कृत पृथ्वीराज की वंशावली थोड़ी-बहुत मिल जाती है। फिर भी उपर्युक्त कई कारणों से रासो के लिये यह कोई भारी प्रश्न नहीं है।

अब पृथ्वीराज-संबंधी घटनाओं के विषय में चंद ने जो लिखा तथा उनके समसामयिक लोगों का जो कथन किया, उस पर विचार करना शेष है। चंद बरदाई ने पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का कई बार पकड़ा जाना लिखा, किंतु इतिहास में ऐसा होना एक ही बार माना गया है। हो सकता है, पृथ्वीराज ने उसे दो-तीन बार पकड़ा या जीता हो, जिसे घटाकर मुसलमानी ऐतिहासिकों ने एक ही बार रक्खा हो, और चंद ने बढ़ाकर कई बार कह दिया हो। एक यह अंतर अवश्य पड़ता है कि चंद ने शिहाबुद्दीन को सुल्तान कहा है, किंतु जब तक उसने पृथ्वीराज को जीता, तब तक वह सुल्तान का भाई-मात्र था। उस सुल्तान के मरने पर शिहाबुद्दीन पीछे से सुल्तान हुआ। यह अवश्य है कि वह शिहाबुद्दीन को बहुत अधिक मानता था, जिससे संभव है, उस काल के हिंदुओं को उसके सुल्तान होने का ही भ्रम हो गया हो। संभव है, शत्रुओं पर आतंक जमाने को उसके सैनिक उसके सुल्तान न होने पर भी उसे सुल्तान ही कहते हों, जिससे चंद को भ्रम हो गया हो।

पृथ्वीराज के समसामयिक जिन १४ लोगों के नाम ऊपर दिए गए हैं, उनमें से गुजरात-नरेश भीम, मंडोवर के नाहरराय, शिहाबुद्दीन गोरी, कन्नौज के जयचंद और महोबे के राजा परिमाल ऐतिहासिक पुरुष हैं। कुमाऊँ-पति कुमोदभानु, चंदेरी के पंचाइन, उज्जैन-पति भीम, काँगड़ा-पति भान और बालुकाराय की चर्चा इतिहास में नहीं है। मुद्गलराय मेवाती और गजरराय साधारण पुरुष-मात्र थे। पृथ्वीराज के ससुर आबू-पति सलष का पता इतिहास में मिलता है। इतिहास बनारस को जयचंद की राजधानी बतलाता है, न कि कन्नौज को, किंतु समझ पड़ता है कि कन्नौज उसकी दूसरी राजधानी थी। चंद कवि ने पृथ्वीराज

का वर्णन विशेषकर दिल्ली के संबंध में किया है, किंतु इतिहास का कथन है कि पृथ्वीराज अजमेर में राज्य करते थे, और उनकी ओर से गोविंदराय दिल्ली का शासन-चक्र चलाते थे। चंद ने महाराजा सोमेश्वर के समय में दिल्ली में पृथ्वीराज का विशेष वर्णन किया है। आपने यह भी लिखा है कि पिता के पीछे पृथ्वीराज दिल्ली तथा अजमेर, दोनो के स्वामी हुए। इतिहास में पृथ्वीराज-कृत कर्नाटक-युद्ध का उल्लेख नहीं है।

जो मोटी-मोटी ऐतिहासिक भूलें रासो में हैं, वे प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण समझ पड़ती हैं। बहुत-से वर्णनों के मुख्यांग ठीक हैं तथा उपांग संदिग्ध। संवतों में भी कई गड़बड़ हैं, जो क्षेपकों के कारण हो सकते हैं।

रासो प्राय: संवत् १२२५ से १२४८ तक बनता रहा। यह वह समय था, जब प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का अंत हो रहा था, और हिंदी का प्रचार। प्राकृत का अंतिम व्याकरणकर्ता हेमचंद्र हुआ, जिसकी मृत्यु संवत् १२२६ में हुई। अपने समयानुसार रासो में प्राकृत-मिश्रित भाषा है, पर चंद कवि शब्दों को प्राय: शुद्ध रूप में भी लिखते थे। अपनी भाषा के विषय में उन्होंने यह श्लोक कहा है—

उक्तिधर्मविशालस्य राजनीति नवं रसम्;
षड्भाषाश्च पुराणञ्च कुरानं कथितं मया।

(रासो- पृष्ठ २३)

चंद की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की विशेष है। प्राकृत-रूप-मिश्रित भाषा लिखने का कारण चंद ने अनुस्वार से द्वितीया के स्थान पर प्रथमा का भी काम ले लिया है। तो भी भाषा से इनका अगाध पांडित्य प्रकट होता है। इन्होंने संस्कृत के अच्छे-अच्छे शब्द लिखे तथा पुराणों की कथाओं का अच्छा ज्ञान दिखाया है, यद्यपि संस्कृत के ग्रंथ उस समय अनुवादित नहीं हुए थे। इनकी भाषा ऐसी कठिन है कि एकाएक पूरी समझ में नहीं आती। कठिन छंदों का प्राय: आशय मात्र समझ में आता है। पूर्णतया समझने को परिश्रम की आवश्यकता है। इनकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण है, एवं प्राकृत के-से रूपों का प्राधान्य होने के कारण वह वर्तमान हिंदी से बहुत भिन्न है, और मिलित वर्णों तथा अनुस्वारों का बाहुल्य एवं चंदह नारंदह आदि शब्दों के प्राचीन रूपों का प्रयोग होने से, पढ़ने में, एक प्रकार की दूसरी ही भाषा जान पड़ती है, फिर भी, ध्यान-पूर्वक देखने पर, वह वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती भी है। चंद ने उस समय की प्रचलित हिंदी लिखी, और हम लोग आज-कल की हिंदी लिखते हैं। क्षेपकों में पीछे की भी हिंदी है। यह मानना ही पड़ेगा

कि उस समय के देखते वर्तमान हिंदी ने बड़ी उन्नति कर ली है, पर चंद की हिंदी अब भी अपने बालकपन में ही एक अलौकिक आनंद देती है। जन्म-ग्रहण के थोड़ा ही पीछे हिंदी ने जो रूप पाया उसका प्रामाणिक ऐतिहासिक प्रमाण चंद की असली हिंदी है।

यह कवि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष के समकालिक थे। इन्होंने श्लोकों से मिलते हुए कई प्रकार के छंद कहे है। आपके साटक एक प्रकार से हिंदी के श्लोक है। इनकी मात्रा चंद की कविता में बहुत है, और ये मनोहर है। षट्पद छंद का भी चंद ने विशेष आदर किया है। छंद अपनी मनोहरता के कारण आदरणीय भी हैं। इनके अतिरिक्त चंद ने बहुत-से छंद लिखे है, और किसी को इतनी दूर नही चलाया कि वह अरुचिकर हो जाय। चंद ने कथा और छंद ऐसे क्रम-बद्ध प्रकार से कहे कि जान पड़ता है, चंद ही इस प्रथा के चलानेवाले नहीं हैं, वरन् यह रीति उस समय के कवियों में स्थिर थी। चंद ने एकआध छंद ऐसा भी कह दिया, जिसका अब पता लगाना कठिन है। यथा बथूवा-छंद, रासो, पृष्ठ ८। पंड्याजीने इसे रिड्डुक-छंद माना है। उदाहरणार्थ यह लिखा जाता है—

प्रथम सु मंगल मूल श्रुतिचिय, स्मृति सत्य जल सिंचिय,
सुतरु एक घर ब्रम्म उभ्यो,
त्रिषट साप रम्मिय त्रिपुर, बरन पत्त मुख पत्त सुभ्यो।
कुसुम रंग भारह सुफल, उकति अलंब अभीर;
रस दरसन पारस रमिय, आस अमन कवि कीर।

चंद ने श्लोक भी अच्छे-अच्छे, संस्कृत में, कहे है।

इन महाकवि ने युद्ध और शृंगार-रस का कथन तो उत्कृष्ट किया ही है, अन्य प्रकार के भी अनेकानेक बढ़िया वर्णन रासो में वर्तमान है।

आपने कई स्थानों पर, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, देवतों की बिनतियाँ बहुत विशद कही हैं। यथा शिव-स्तुति (८३ तथा ७७ पृ०), ईश्वर-स्तुति (१६० पृ०), भूमि-देवी-वर्णन (५८६ पृ०), सूर्य आदि के वर्णन (१६६ तथा १३९७ पृ०), देवी-स्तुति (४६२ पृ०)। चंद ने नीति, वसंत (१२८३, १५०४, १५०७ पृ०), उपवन (५५३ पृ०), बाग़ (५१२ पृ०), पक्षी (२४२ पृ०), तलवार (१२२५ पृ०), मृगया (१५१२, ४३६ पृ०), सवारी (५९९ पृ०), खेमे (४८५ पृ०), सिंह (५७८ पृ०), वन, वर्षा, शरद् (७६४ पृ०), पकवान, भोजन, राज्याभिषेक (५९६ पृ०), विवाह-तैयारी (६४९ पृ०), नख-शिख (५६२ पृ०) आदि सभी परमोत्कृष्ट कहे। पृष्ठ १०८४, १०८७ में पृथ्वीराज की रानियों के वर्णन, ८०१ ८०२ में नख-शिख, ७७९, १२८१, १३४३

मे शृंगार-रस आदि के अच्छे कथन है। पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि (६४५ पृ०) के चित्रण मे भी नख-शिख (६५२ पृ०) अच्छा कहा गया है। हंसावती के कथन मे संयोग-शृंगार मनोहर । वियोग का भी यत्र-तत्र कथन विशद हुआ है। षट्ऋतु (१५७८, १५८८ पृ०) और नख-शिख (१२४२, ५६३, ५६६ पृ०) चंद ने कई बार और कई प्रकार से कहे। १५६ पृष्ठ पर पृथ्वीराज की शोभा वर्णन करने मे कवि ने उपमाएँ अच्छी-अच्छी दी । कैमास जिस स्त्री पर लुब्ध होकर, कुछ दिनो के लिये पृथ्वीराज का साथ छोड़, भाराभीमंग का साथी हो गया था, उसके वर्णन का एक छंद यहाँ लिखते हैं—

चंद वदन, चख कमल, भौंह जनु भ्रमर गंध-रत,
कीर-नास, बिंबोष्ठ, दसन दामिनी दमकंत।
भुज मृणाल, कुच कोक, सिंह लंकी, गति वारुन;
कनक कांति-दुति देह, जंघ कदली-दल आरुन।
अजसंग नयन मयनं मुदित, उदित अनंगह अंग तिहि .
आनी सुमंत्र-आरंभ बर, देखत भूलत देव जिहि।

पृथक्-पृथक् वर्णनो मे इन कविरत्न ने उपमा, रूपक आदि के भी परमोत्कृष्ट कथन किए है (पृष्ठ ७७३, ७७४, ८२१, ११३४, ११३५, १३०४, १३०५, १४१८ आदि)।

चंद ने प्रभात एवं सूर्य का कई बार बढिया वर्णन किया (१३९६, १३९७, १२२५, १२२६ पृ०)। दो-चार स्थानो पर योगियो की क्रियाओ का भी विवरण है (१४५०, १२४५, १२४६ पृ०)। पृथ्वीराज के गुण तथा कीर्ति आदि के बहुत अच्छे वर्णन कई बार किए गए हैं (१२८४, १२८५, १४५५ पृष्ठ मे तेज और आकार का निर्णय आदि)।

इन कविरत्न ने शोभा को हरएक स्थान पर देखा है। क्या देवता, क्या स्त्री, क्या सिंह, क्या मृगया, क्या युद्ध, क्या क़नौज आदि, सभी स्थानों और बातों मे उसका ध्यान नहीं छोड़ा, और कविता में भली भाँति सन्निवेश किया (पृष्ठ १४७२, १६२३, १६६७, १५७३, १५७४, ५५०, ५५२, ५७२, ५७८, ५७६, ५६६ आदि)।

यह युद्ध-प्रधान ग्रंथ है। अतः इसमें युद्ध का वर्णन बहुत बार और कितने ही प्रकार का हुआ है (पृष्ठ ७०३, ७०८, ८१५, १२२५, १२२६, ११३४, ११३५, १३७५, १३७६, १३८१, १३८२ आदि)। चंद ने युद्ध तो प्रायः उचित कहे है, पर कवियों की विस्तारकारिणी प्रकृति के वशवर्ती होकर सेना संख्या मे अत्युक्ति कर दी है। जयचंद एवं सुल्तान के दल की गणना में इन्होंने क्रमशः ३० और १८ लाख मनुष्य कहे हैं, जो सर्वथा असंभव है।

इन महाकवि ने स्त्रियों के रूप, शृंगार, शोभा आदि के भी कई बार श्लाघ्य कथन किए हैं (पृष्ठ ५५०, ५६२, ५६६, ५७३, ६४५, ६४६, ६५२, ६५६, ७७६, ७८१, ८०१, ८०४, १२४२, १२४३, १०८४, १०८७, ११८१, १३०४, १३०५, १३४३, १४८२ आदि)।

चंद ने शिव का शृंगार भी अच्छा कहा (पृष्ठ १५७३, १५७४)। इन्होंने ये और ऐसे-ही-ऐसे अन्य सैकड़ों वर्णन रासो में बड़ी उत्तमता से किए। पृष्ठ आदि का जहाँ हवाला है, वहाँ नागरी-प्रचारिणी सभावाली रासो की प्रति का है।

चंद बरदाई जैसे भाषा के प्राचीन कवि थे, वैसे ही संस्कृत के आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की भाँति वर्णन भी प्राय पूर्ण और मनोहर करते थे। काव्य-प्रौढता में चंद का पद बहुत बड़ा हुआ है, और जितने विषयों के इन महाकवि ने उत्कृष्ट तथा पूर्ण कथन किए हैं, उतने के प्रायः अन्य भाषा-कवियों ने नहीं किए। चंद को नवरत्नों में रियायत से अथवा पुराने कवि होने के कारण नहीं स्थान दिया गया है, वरन् इनकी काव्य-प्रौढता ही के कारण इन्हें यह सम्मान मिला है। अब यह जाना-माना गया है कि रासो का बृहदंश सत्रहवीं शताब्दी का है, और वह चंद के असली भागों से बहुत कुछ हिल-मिल गया है। यहाँ जो चंद का वर्णन है, वह रासो का समझना चाहिए। ये चंद अवश्य हीं, और उनके प्राचीन कथन रासो में हैं ही। यदि कोई परिश्रम करके रासो के प्राचीन भाग अलग छापे, तो समालोचना भी अधिक मान्य बने। अभी तो पूरे रासो पर साहित्यिक कथन किए गए हैं। रासो भी हिंदी का एक अमूल्य रत्न है, और प्रत्येक हिंदी-रसिक को इसे पढ़ना चाहिए। इन लेख के भाषा-संबंधी भाग में रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुंदरदास के एक उस लेख से भी सहायता ली गई है, जो उन्होंने कृपया हमारे पास भेज दिया था।

अब चंद की कविता के और भी उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

भयो जनम पृथिराज द्रुग्ग ग्वालेरिय सिम्बर गुर,
भयो भूमि भुवचाल धमकि-धममासिय अरिन पुर।
गढन कोट मलोट नीरसारतन बहु बड्ढिय;
भौचक भय भूमिया नमक चक्किन चित चड्ढिय।
खुरसान खान खल-भल परिय ग्रंमपाल भय ग्रभनिय,
बैताल बीर विक्रम मनहु पृथिराज ग्रह उव निय।

× × ×

बेस्या बछित भूप रूप मनसा श्रृंगारहारावली,
सोयं सूरति लच्छि अच्छि तगुनं बेली मुकामावली।
का बबैं कवि उक्ति जुक्ति मनयं त्रैलोक्यमं साधनं;
सोयं बाल तिरत्त उष्ट विद्रमं कामोद जोगेश्वरं।

× × ×

क्रम उघरीय किपाट चौर भग्गंत रोर तनु;
चक चक्की जंमिलहि उघरि सतपत्र मत्त जनु।
भृंगभृंगि सम भ्रमहि बज्जि मारुत सौरभ चलि;
गय उड़गन ससि घटिय बढ़िय आकास किरनिकर।
सैंबिधि सुरंग ब्यापार घन रबि रत्तौ भुय दिष्षयौ,
भासकर सहसकर क्म्मकर नव कर कमुद बिसष्षयौ।
कंठय भूषन छंद प्रकासय; बारह अच्छर पिंगल भासय।
अठय संजतु मत्त प्रमानय; कंठय भूषन छंद बषानय।
उग्गिरतं रत अंमर भासय; भानु सुदेव दिवालय थानय।
पाप हरै तन क्म्म प्रगासय, कौ जम तात जमुन्नय भासय।
तात करन्नय पूरन पूरय; बंधकनोदनि को मत सूरय।
बंध जत्रासुर ओपम थानय; अक पलासन काम बिरामय।
कौ सुनि तात सनी सर सूरय; भास करै करुना मति पूरय।
है कर संक्षति भाप प्रकारय; तारय नाथ दिनं मति तारय।
है वर ओप करं गिर पारय; मानहुं देव दिवालय साजय।
भंजन कुंजअनूबत पंडय; सो भरि ध्यान धरंत बिरंचय।
एक घरी धरि ध्यान न दिष्षिय; मुक्ति सलच्छिअ संपन अष्षिय।
सरद चंद प्रतिब्यंब तिमर तारन गयंद घर;
ब्रह्म बिष्नु अंगुल उदंत आनंद नंद हर।
इक चक्र चिहुं दिसै चलत दिगपाल तुंग तन;
कमल पानि सारी अरुन्न संसार जियन जन।
उत्तुंग बीर छच्छुव पवन मिरारंभ समह सुभुय;
कबि चंद छंद इमि उच्चरे हरो मिच दोह दीन दुय।

× × ×

खिसिर समय दिन नरसगत मधु माधव बल मंडि;
भार अष्टदस बेल तरु पत्र पुरातन छंडि।

नूतन रत मंजरि धरिय परिमल प्रगटि सुबास ;
छत्र रुचिर छबि काम जनु अलि तुट्टत सुर रास ।
आगम बसंत तरु पत्र डार , उठि किसल नइय रँग रत्तधार ।
अकुरित पत्र गद्दरंति डार , लहलहत जंग अट्ठार भार ।
मधु-पुंज गुंज कमलनि अधीन ; जनु काम कोक संगीत कीन ।
तरु तरनि कूक कोकिल सभार , बिरहिनी दीन दंपति अधार ।
कलरव करंत षग-द्रुमति रोर , निसि बीति सिसिर रतिराज भोर ।
त्रिय पुरुष स्रवनि रुचि अनंग बड्ढि ; दंपति अनंग बिरहिनी जड्ढि ।
इम अवनिराज रित गवन कीन , नव मुग्ध मध्य कंतन अधीन ।
ग्रह-ग्रहनि गान गायंत नारि ; मन हरित मुग्ध मध्या धमारि ।
तन भरति रत्त रँग पीत पानि , हिय मोद प्रगट तन धरन जानि ।
इम हुअ बसंत आगम अवन्नि , मदमत्त करिय जनु गवनवन्नि ।
मसि भीज दिननि पिय तन बनंग ; अवतार अवनि जनु धरि अनंग ।
मुष हर्ष गंडमंडल प्रकास ; फरकंत अधर मधु रस बिलास ।
बिगसंत कमल छबि नयन मंडि ; बंधूक अरुन रुचि षंडि छंडि ।
मधुमास सुक्क निसि रुचिर चंद ; यहि गंध पवन छबि सीत मंद ।
हुअ रोम पंचसर अंच देह ; कल मलिय ज्वलिय बनिता सनेह ।
निसि प्रथम प्रहर तट गवन कीन ; सुभ सोम बाग मन हुअ अधीन ।
सगपन्न धार इक लिय चढ़ाइ ; जल्लैब इक्क अँग पवन पाइ ।
पिष्षे सुबाग बानिक रसाल ; निरषंत नयन सोभा बिसाल ।

× × ×

एक सुपुत्रिय पंग दीय दच्छिन सुदेव ग्रह ;
मानहीन माननिय रूप उप्पम रंभा कह ।
कमल अनूपम काज कछू ओपम मन मानिय ;
मुबर काम रति बाम मनो फेरिय सो आनिय ।
लच्छन बतीस बयसंधि इह सो ओपम अगकथ्थयौ ;
चढ़नही सुमनमथ चित्त रथ चढ़नेमति चित रथ्थयौ ।
संजोग संधि जोबन प्रबेस ; चित मंडि सुनौ संभरि नरेस ।
श्रीषंड - पंक कुंकुम सुरंग ; मानो सुकरी कर मरदि गल्ल ।
उप्पमा नथ्थ आवै न कब्बि ; तिन पक्की होइ मयुषन सरब्बि
इक अंग उपम कहिय सुदुत्ति ; तारकन तेज द्रप्पन सुमुत्ति

पिडुरी अंग झलकत सुरूर ; मनु रत्त रंग कंचन कि चूर ।
आपम्म नष्प फिर कहि उषाइ ; कन्नैर कली फूलंत राइ ।
पिंडुरी पाइ सोभंत बाम ; अॅभस्रोन षभ सोवन्न बाम ।
उर जंघ दंड ओपम निरंग ; गज सुंड डिभ कै स्रोन रंग ।
नित्तंब तुंग इन भाइ कब्बि ; धरि चक्र सॅवरि दुज बाम रब्बि ।
नित्तंब भाग उत्तंग छंड ; मनु तुलत काम धरि लंक दंड ।
लकह प्रमान मुट्ठीत षट्ठि ; बैंनी ढलक्क दीसंत पुट्ठि ।
चिंते सुकब्बि ओपम्म ओर ; नागिन सो हेम-षंभह सुजोर ।
राजीव रोम अंकुरिव बार ; मानो पपील बंधी बिलार ।
गति हंस चलत मुक्कत बिचार ; सिखवंत रूप गहि बॉधि भार ।
कुच सरल दरस नारिंग रंग ; मरदे के कुंक कंचन उपंग ।
जोबन प्रसंग इह रूप हद्द ; छुर करी हरी मुक्कै मसद्द ।
तब लग्गि होत हमथान मत्ति ; जब लग्गि आनि सैसव कि रत्ति ।
अधबीच बात हम सुनी तास ; कहि लेख लोग आवै न हास ।
कलग्रीव रहे त्रिबलीय चाहु ; बैठोति चंद आसनति राहु ।
धर अधर अरुन दीसै सुरंग ; जानै कि बिंब फल-चंद जंग ।
ओपम सु चंद बरदाइ लीन ; मनु अगर चंद मिलि संग कीन ।
मधु-मधुर बानि सहसहति रंग ; कलयंठ कंठ केकीन लंघ ।
बर दसन-पंति दुति यों सुभाई ; मोहक्क चंद जुब्बन बनाइ ।
नासिक अनूप बरनी न जाइ ; मनु दीप भवन निध्धातपाइ ।
सुंदरि बदन्न दूनौ बनाइ ; मनु रथ्य रब्बि दीपहि मनाइ ।
कहॅ लग्गि कहों चहुआन-बाम ; सैसव सुबाल कंपैति काम ।
अंबुज नयन्न मधुकर सहित्त ; षंजन चकोर चमकंत चित्त ।
बेनीतिसाल सोभै बिसाल ; मनो अरध उरग चढ़ि कनक साल ।

स्रवननि सहचरि बचन चित्त गुरुजन संभारिय ;
रसन बचन चाहंत पन सु अप्पनौ बिचारिय ।
समभिलास गंध्रब्ब भयौ किलकिंचित नारिय ;
नयन उमड़ि जलबिंद बदन अंसू परि भारिय ।
उपमान इहै कबि चंद कहि बाल जदिन मुर संभयौ ,
उफ्फेन अमौ मज्झह रह्यो स सि कलंक उपफनि गयौ ।
दिगु रत्ते करि बाल भौंह बकी करि षिज्झिय ;
सो ओपम बरदाइ चंद राजस मन भज्जिय ।

सैसव, जुबन नरिंद परसपर लरत बिस्रान ;
मनु सम रष्यत बाल दुहुन सों षीझत आनं।
मोहन्नि तीर जाने छुरी दुहुन बीच अड्डी करी ;
पो रूप देषि संजोगि कौ उठि सहचरि मंतह हरी।
स्यामंगं कलधूतनूतसिखरं मधुरे मधू वेष्टिता ;
बीते सीत सुगंध मंद सरसा आलोल संचेष्टिता।
कंठी कंठ कुलाहले मुकलया कामस्य उद्दीपने ;
रत्ते रत्त बसंत मत्त सरसा संजोग भोगायते।
मवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिप दीसं ;
भवर भाव भुल्लै भ्रंत मकरंदव सीसं।
बहत बात उज्जलति मौर अति बिरह अगनि किय ;
कुहूकुहंत कलकंठ पत्र राषस रति अग्गिय।
पय लग्गि प्रानपति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु ;
दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटय कंत बसंत न गम करहु।
धुम्र चलिय बग पवन भ्रमत मकरंद कँवल कलि ;
भय सुगंध तहँ जाइ करत गुंजार अलिय मिलि।
बलहीना डगमगहि भाग आवै भोगी जन ;
थरथर लगै समूह कंपि भौ सीत भयतनन।
लत परी ललित सब पहुप रति तन सनेह जल पबित किय ;
निकरै भ्रंग अंबुज हरुअ सीत सुगंध सुमंद लिय।
लै बंधं सुरथट्ट डंक्रित मधू, उन्मत्त भ्रंगी धुनी ;
कंद्रप्पे सुमनो बसंत रमनं, प्राप्तो घनं पावनं।
कामं तेग मनं धनुष्य सजनं, भीतं वियोगी मुनी ;
बिरहिन्या तन ताप पत्त सरसा संजोगिनी सोभनं।

× × ×

षट रिति बारह मास गय, फिरि आयो रु बसंत ;
सो रिति चंद बताउ मुहि, तिया न भावै कंत।
जौ नलिनी नीरहि तजै, सेस तजै सुरतंत ;
जौ सुबास मधुकर तजै, तौ तिय तजै सु कंत।
रोस भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग ;
उह रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग।

× × ×

चरने रत्तय पत्तराइ रितए कंजाय चंद्रानने,
मातंग गयहंसमत्तगमने जंघाय रंभायने।
मध्यं छीन मृगेंद्रभारजघना नाभि च कानालये;
सिभे सिभ उरज्ज त्यो नयनयो एनै ससी भालये।

तल चरन अरुन तिरत्तये; जल नलिन सोक सपत्तये।
नष - पंति - कंतिय मुत्तए; जनु चंद अम्रत जुत्तए।
नग जरित नूपुर बज्जए; कलहंस सत्र दवि लज्जए।
गति मत्त गरब गयंदए; कवि कहत कबिबर चंदए।
गहि पिंड कनक बिमानयं, रँग रंग बंदन सानयं।
कर करिय जंघनि ओपमं; रँग फटिक केसरि सोपमं।
घन जघन सघन नितंबयं, छिन काम केलि बिलंबयं।
कटि सोभ बर मृग राजयं; कहि चंद यो कबिराजयं।
बनि नाभिकोस सुकंजयं; मनु काम भ्रमरय रंजयं।
रव मधुर मृदु कटि किंकिनी, झलमलत झनझननी कनी।
सलि उदर त्रिबलि त्रिरेषयौ, कुच जघन मंडि सुभेषयौ।
बनि रोमराजि सपंतयं; प्रतिबिंब दैनि सुभंतयं।
उर उरज जलज बिराजहीं; कलधौत श्रीफल लाजहीं।
उर पुहुपहार उहासियं; इक होत जोजन बासियं।
गर लजित कंठ तु कामिनी; कलयंठ कोक सु धामिनी।
रुचि चिबुक बिंद सु स्यामए; जनु कमल बसि अलिधामए।
बलि पुहुपतिलक सुनासिका; जनु कीर चुंचप्रहासिका।
तिन मुत्ति बेसर सोभए; ससि सुक्र मिलि रसि लोभए।
तस नयन षंजन कंजए; सुरराज सुर मन रंजए।
आटंक नग जर जगमगै, बिय चक्र करि ससि पुर जगै।
बिय भोंह बंकित अंकुरी; जनु धनुक कामति संकुरी।
तसु मध्य तिलक जराइ कौ; रबि चंद मिल रस आइ कौ।
गुथि केस चिक्कन बेनियं; जनु ग्रसित अहि ससि एनियं।
सत दिब्ब अंमर अंभरं; नह मलिन होत अडंबरं।
अँग बास आस सुगंधयं; सँग चलत मधुब्रत संगयं।
सम उदधि मथि कीनौ हरी; फटि फेन प्रगटित सुंदरी।

× × ×

गजपंति चल्लिय जलदहल्लिय गरज नग धन भुल्लियं ;
हलहलन घंटन घोर घुंघर नाग दुंभर डुल्लियं ।
गत लग्गि गिरिवर पुरहि तरवर हलहि धरवर धावही ;
झलकंत दंत कि पंत बग धन धाम कल सति गावही ।
गज बहत मद हद मनहुँ धन मद छुट्टि छिछ्छन उम्भरै ,
पग जोरि-जोरि मरोरि मुर जनु दिष्ष सुरपति छुम्भरै ।
बनि पीलवानिन ढाल हालनि बनिय बैरष साजही ,
मनु सिषर गिरिवर काम अंगन छत्र चमर कि राजही ।
बहु अंधधुंधन चलत मग्गन सुनत बज्जन चल्लही ;
वै कोट ओटन अगढ़ मन्नत सिषर गिररद भल्लही ।
दल मुष्य मंडिय मेघ छंडिय मनहु सुरपति वज्जयं ,
सुर सोम सोमह मज्झ मोमह गेह तजि प्रज भज्जयं ।
परि देस-देसन रौरि दौरिय सुनिय संभरि रज्जयं ;
बर मंगि बाजिय सिलह संजिय बहै भौरा अज्जयं ।

× × ×

सुनि एक राह संभरि नरेस ; पुरसान षान बंधे असेस ।
धनु धनुक धार अज्जुन समान ; मनि रतन निद्धि जस आसमान ।
बर तेज ओज जम जोर-जोर ; अरि छिपै तेज मनु चंद चोर ।
झिन बान तेज गज मुक्कि मद्द ; चतुरंग सजि चत्र कलन सद्द ।
इह जोग बीर मुर्बी न बीर ; बेधन्त सत्त बर एक तीर ।
कनवज्ज रीति बजि जेय कंध ; इहथक्कि राज सह होइ निंध ।
जोगिनी भूप औधूत रूप ; कह कहों रूप पंषी अनूप ।
अम्भर तपंत पल्लव सु बास ; मंजरिय तिलक षंजरिय पास ।

× × ×

अलि अलक कंठ कलयंठ मंत ; संजोगि भोक बर भुम्म बसंत ।
मधुरे हिमंत रितुराज मंत ; परसपर प्रेम सो पियन कंत ।
कुहकित भौर सुरगंध बास ; मिलि चंद कुंद फूले अकास ।
बन बग्ग मग्ग हलि अंब मोर; सिर ढरत जानि मनमथ्थ चोर ।
चलि सीत, मंद, सुगंध बात ; पावक्क मनो बिरहनी पात ।
कुह-कुह करंत कलयंठ जोट ; दल मिलहि जानि आनंग कोट ।
तरु पलव पीत् अरु रत्त नील; हरि चलहिँ जानि मनमथ्थ पील!

कुसमेष कुसम नव धनुष साज, मंगी सुपंति गुन गरुश्र गाज।
संजर सुवान सो मनहु नेह, बिद्वारि जानि जुव जननि देह।
उच्चलिय चलिय चंपक सरूप, प्रजरहि प्रकट कंदप्प कूप।
कर बत्तपत्त केलुकि सुकत्ति; बिहरंत रत्त, बिछुरंत छत्ति।
परिरंभ अनिल कंदलि कृपान; सिर धुनहि सरस धुनि जान तान।
झंकुर झमूर अभिराम रम्म, नन करहिं पीय परदेस गम्म।
फूलिग पलास तजि पत्त रत्त; रनरंग ससिर जीतौ बसंत।
दिष्षहि तपंत जिहि कंत दूरि; थकि बोलि-बोलि जल रहिय पूरि।
संजोग भोग जुवतिन प्रबीन; पै कंठ नादि दुह भगिय लीन।
रविजोग भोग ससि नौय थान; दिन धरयौ देव पंचमि प्रमान।

× × ×

तन पंच प्रकारं, कहि समरा, तत उच्चारं, तिद्धारं;
सुति ग्यान प्रसंसं, नसयति ससं, बसयति हंसं, जिद्धारं।
मन पंच दुआरं, मभय निनार्यं, रुक्कि सवारं, अनहद्दं;
सुरभ्रन्न सबद्दं, चितय जद्दं, नासिक तद्दं, तन भद्दं।
गुरुगम्य सु थानं, चितिय ध्यानं, ब्रह्म गियानं, रमि जीयं;
मन सून्य रमंतं, झिलमिल मंतं, नन भुलि जंतुं, सो सीयं।
तजि कामय क्रोधं, गुरु बच सोध, संभ्रित बोधं, सब्बानं;
अगुष्ठ प्रमानं, भौंहँ बिचानं, निगम न जानं, तिब्बानं।
गुर मुष्यय वत्तं, चिंतिय गत्तं, सिद्ध रमंतं, मुनि मोती;
षट महयं थान, पिंड समानं, मंडि सुध्यानं, दिठ जोती।
जब लष्यिय रूपं, भजि भ्रम कूपं, दीपक नूपं, सो भूपं;
तब नंसिय संसं, मुक्कि रमंसं, जोगय जंसं, सो रूपं।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

—:○०○:—

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म भादों-सुदी ७, संवत् १९०७ वि० को, काशीपुरी मे, हुआ। हर्ष का विषय है कि इन महाकवि की जीवनी इनके वात्सल्य-भाजन गोलोकवासी बाबू राधाकृष्णदास और आरा निवासी बाबू शिवनंदनसहायजी ने लिखी। प्रथम पुस्तक में १९४ और द्वितीय मे ४४६ पृष्ठ है। ये दोनो ग्रंथ बहुत ही संतोषदायक है। इन दोनो महाशयो का श्रम प्रशंसनीय है। हम लोग इस विषय मे बाबू शिवनंदनसहाय के बहुत ही कृतज्ञ है कि उन्होने परिश्रम करके भारतेंदु की भारी जीवनी देखने का हम लोगो को अवसर दिया। इस जीवनी मे बाबू साहब ने गद्य-काव्य भी अच्छा किया है, और कई स्थानों पर इसकी भाषा पढ़ने मे बड़ा आनंद आता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप हम पाठको से इनके पृष्ठ ३३७ को पढ़ने का अनुरोध करेंगे। इन दोनो जीवनियो के अतिरिक्त 'सरस्वती' के प्रथम भाग मे भी इनकी छोटी-सी जीवनी दी हुई है। इनके विषय मे बहुत कुछ इन तीनो जीवनियो से विदित हो जाता है, अतः हम उसे यहाँ संक्षेप में लिखते हैं।

इनके मूल-पुरुष राय बालकृष्ण थे, जिनके प्रपौत्र प्रसिद्ध सेठ अमीचंद और पौत्र बाबू हर्षचंद हुए। इन्हीं के पौत्र बाबू हरिश्चंद्र और दौहित्र बाबू राधाकृष्णदास थे। भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरिधरदास, एक सत्कवि हो गए हैं। इनका वर्णन इनकी कविता की समालोचना मे अलग लिखा गया है। मुकुंदी बीबी भारतेंदु की बड़ी और गोविंदी बीबी छोटी बहन थीं, और बाबू गोकुलचंद छोटे भाई। गोकुलचंदजी के दो पुत्र और दो पौत्र हुए। भारतेंदु के दो पुत्र और विद्यावती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। इनके पुत्र शैशवावस्था ही में परलोकगामी हुए। कन्या के पाँच पुत्र हुए।

इनकी बुद्धि ऐसी प्रखर थी कि केवल पाँच वर्ष की अवस्था में, जब कि और बालक शुद्ध बोलना तक नहीं जानते, इन्होंने निम्न-लिखित दोहा बनाया—

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्रीअनिरुद्ध सुजान ;
बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारत - कुमुदिनि - बंधु भारतेंदु हरिचंद,
जिन बिरची कविता करन जातीयता बुलंद।

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

इनकी माता का देहांत सं० १६१२ में और पिता का स० १६१७ में हुआ। इनको पैतृक संपत्ति लाखों रुपयों की मिली थी, अत: केवल १० वर्ष की अवस्था में यह संपन्न घर के स्वच्छंद बालक हो गए। एक बार इनके पिता तर्पण कर रहे थे। इन्होंने उनसे पूछा—"बाबूजी, पानी में पानी मिलाने से क्या लाभ?" इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा कि तू हमारे घर को डुबोवेगा। इसी प्रकार इन्होंने "करन चहत जस चारु कछु कछुआ-भगवान को" इस पद का, केवल ६ वर्ष की अवस्था में, एक चमत्कार-पूर्ण अर्थ सभा मे लगाया था, जिस पर प्रसन्न होकर इनके पिता ने कहा—

"तू मेरा नाम चलावेगा।" इनके पिता के ये दोनो वाक्य यथार्थ हुए, जैसा कि इनकी जीवनी से प्रकट होगा। बाल्यावस्था मे यह बड़े उपद्रवी थे, यहाँ तक कि एक बार तीन कोस तक बराबर दौड़ते ही चले गए।

भारतेंदु के हिंदी, फ़ारसी और अँगरेज़ी के प्रथम शिक्षक क्रमश: पं० ईश्वरीदत्त तिवारी, मौलवी ताजअली और बाबू नंदकिशोर थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के मकान पर एक स्कूल था। उसमे भी कुछ दिन तक यह पढ़े। इसी कारण यह राजा साहब को भी गुरुवत् मानते थे। इन्होंने कुछ दिन बनारस के क्वींस कॉलेज में भी शिक्षा पाई। पढ़ने में इन्होंने कभी मन नहीं लगाया; फिर भी अपनी बुद्धि की तीव्रता से यह अपने सब सहपाठियों से श्रेष्ठतर परीक्षा देकर अध्यापकों को आश्चर्य में डाल देते थे। ११ वर्ष की अवस्था में पढ़ना छोड़कर सकुटुंब जगन्नाथजी की यात्रा की। इन्होने मराठी, बँगला, गुजराती, माड़वारी आदि अनेक भाषाएँ समय-समय पर स्वयं सीख लीं। इनके काव्यगुरु पंडित लोकनाथ थे।

१४ वर्ष की अवस्था में, बाबू गुलाबराय की कन्या मन्नोदेवी से, इनका विवाह हुआ। इन्होने सं० १९२३ मे कुचेसर की, सं० १९२८ मे हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर आदि की और सं० १९३४ मे पुष्कर-क्षेत्र की यात्राएँ कीं। इस साल प्रयाग मे एक व्याख्यान भी दिया। सं० १९३६ में सरयूपार की यात्रा की। उसी वर्ष काशी-नरेश के साथ आपने वैद्यनाथजी के दर्शन किए। सं० १६३८ मे यह, महाराणा सज्जनसिंह से मिलने को, मेवाड़ पधारे। वहीं श्रीनाथ द्वारे के दर्शन किए। सं० १९४० में बलिया गए। डुमराँव, पटना, कलकत्ता, हरिहर-क्षेत्र और इलाहाबाद भी प्राय: जाया करते थे।

इनमें स्वदेश-प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यों और कार्यों से इसके बहुतेरे उदाहरण मिल सकते हैं। उनमे से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है—

(१) इन्होंने सं० १९२३ में चौखंभा-स्कूल स्थापित किया, जिसमें बिना फ़ीस दिए बालक पढ़ते थे। असमर्थों को भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि की सहायता भी दी जाती थी। इस स्कूल को भारतेंदु ने १२ वर्ष तक अपने ही व्यय से चलाया। फिर म्युनिसिपैलिटी और सरकार ने भी कुछ-कुछ सहायता दी। धीरे-धीरे यह हाइस्कूल हो गया, और अब तक हरिश्चंद्र-हाइस्कूल के नाम से इनकी कीर्ति बढ़ा रहा है।

(२) सं० १९२५ में आपने 'कवि-वचन-सुधा' नाम की मासिक पत्रिका निकाली। यह दूसरे साल पाक्षिक हो गई, और इसमें गद्य-काव्य भी दिया जाने लगा। कुछ काल के उपरांत यह साप्ताहिक हुई, और इसमें काव्य, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों के लेख निकलने लगे। इसे भारतेंदुजी ने ७½ साल तक बड़ी योग्यता और उत्तमता से चलाया। तदनंतर यह अन्य हाथों में जाकर लोगों की सहानुभूति खो बैठी। फिर, भारतेंदु के अस्त होने पर, जब इसने एक दिन भी अपना कालम काला नहीं किया, अथच शोक में एक अक्षर भी नहीं लिखा, तब सबकी आँखों में घृणास्पद होकर, उसी साल, अपना मुँह काला कर, इस संसार से कूच कर गई।

(३) सं० १९३० में इन्होंने 'हरिश्चंद्र-मैगज़ीन' निकाली। यह आठ मास चलकर 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। सं० १९३६ में भारतेंदुजी ने इसे मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या को दे दिया। उनके प्रबंध में थोड़े ही समय के बाद चंद्रिका अस्त हो गई। सं० १९४० में भारतेंदुजी ने 'नवोदिता' के नाम से इसे फिर निकाला, परंतु तीन ही मास प्रकाशित होकर यह सदैव के लिये अदृश्य हुई।

(४) सं० १९३० में इन्होंने स्त्रियों के उपकारार्थ, गवर्नमेंट के इच्छानुसार, 'बाल-बोधिनी' नाम की पत्रिका निकाली, परंतु वह भी चार ही वर्ष चली।

(५) सं० १९२७ में इनके द्वारा कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित हुई। इसमें प्रसिद्ध कवि सरदार, सेवक, बाबा दीनदयाल गिरि, नारायण कवि, द्विजकवि (मन्नालाल) आदि उपस्थित होते थे। भारतेंदु स्वयं पुस्तक-रचना करते थे, तथा पुरस्कार एवं प्रशंसा-पत्र देकर और-और लेखकों को भी इस काम के वास्ते उत्साहित करते थे। इसी सभा से पंडित अंबिकादत्त व्यास, द्विज बलदेव आदि को प्रशंसा-पत्र मिले।

(६) सं० १९३० में इन महाशय ने 'तदीय समाज' स्थापित किया। इसमें सभ्यों से कई नियम पालन करने को प्रतिज्ञा-पत्र लिखाया जाता था। इन नियमों में हिंसा-निषेध एवं स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार भी था। इस समाज

से 'भगवद्भक्ति' नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी, जो कुछ दिन चलकर बंद हो गई। यह समाज इनको बहुत प्रिय था।

(७) इसी संवत् में इन्होंने 'पेनीरीडिंग-क्लब' कायम किया। उसमें सुलेखकों के लिखे हुए अच्छे-अच्छे लेख भी पढ़े जाते थे। एक बार बाबू साहब उसमे श्रांत पथिक का वेष बनाकर गए, और गठरी पटक, पैर फैलाकर, इस ढंग से बैठे कि दर्शकगण अत्यंत ही प्रसन्न हुए। इसी में एक बार थिएटर का स्टेज बनाकर यह चूसा पैगंबर बने। कई गज़ कागज़ जोड़कर जन्मपत्री की भाँति लपेटे हुए आप हाथ में लिए थे, जिसे खोलते और अपने उपदेश पढ़ते जाते थे। इस पाँचवें पैगंबर के उपदेशोंवाला लेख हास्य-रस में व्यंग्य से सच्चे उपदेश का अच्छा नमूना है।

(८) सं० १६३१ मे इनके द्वारा वैश्यहितैषिणी सभा स्थापित हुई। अपनी स्थापित सभाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सभाओं और देश-हितैषी कार्यों में भी यह सहायक रहते थे।

(६) सं० १६३२ मे इन्होंने श्रीनिबार्क, श्रीरामानुज, श्रीमध्व और श्रीविष्णुस्वामी-नामक वैष्णवों के चार संप्रदायों में प्रविष्ट, प्रवीण और पारंगत नाम की तीन परीक्षाएँ नियत कीं। इनमें परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों को पारितोषिक भी देते थे।

(१०) इन्होंने सामाजिक सुधार पर भी ध्यान दिया, और अपनी पुत्री के विवाह में अश्लील गीतों का गाना बंद कर दिया। इस विषय में इनकी कविता में स्थान-स्थान पर बहुत कुछ पाया जाता है।

इनकी जीवन-यात्रा की प्रायः सभी बातों का निचोड़ ज़िंदादिली है, और वह इनके सभी कार्यों से प्रकट होती है। शतरंज अच्छी खेलते, गाने-बजाने का शौक रखते और ख़ुद भी कई बाजे बजाते थे। कबूतर उड़ाने का व्यसन था। ताश भी खेलते थे। हुकुम, चिड़िया, ईंट और पान के स्थान पर इन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म रक्खे। इसी प्रकार बीबी, बादशाह की जगह देवी-देवतो के रूप थे। बुढ़वामंगल के मेले में आप बड़ा उत्सव करते थे। उदारता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कवियों, पंडितों आदि को हजारों रुपए दान कर देते थे। जिसने इनकी कोई चीज़ पसंद की, वह तुरंत उसकी नज़र हुई। दीपमालिका को इतर के चिराग़ जलाते थे, और देह में लगाने के वास्ते तो सदैव तेल के स्थान पर इतर ही बर्ता जाता था। सारांश यह कि रुपए को पानी की तरह बहाते थे। इनकी यह दशा सुनकर महाराज काशी-नरेश ने एक दिन इनसे कहा—'बबुआ, घर को देखकर काम करो।" इस पर इन्होंने तुरंत उत्तर दिया—"हुजूर! यह धन मेरे बहुत-से बुज़ुर्गों को खा गया है; अब मैं इसको खा डालूँगा।" सं० १६२७

में यह अपने छोटे भाई से अलग हुए थे, और थोड़े ही वर्षों में इन्होंने अपने हिस्से की समस्त पैतृक संपत्ति उड़ा डाली। अपने ननिहाल की कई लाख रुपयों की संपत्ति के यह और इनके छोटे भाई उत्तराधिकारी थे। इनकी उड़ाऊ दशा देखकर इनकी नानी ने कुल संपत्ति का हिबानामा इनके अनुज के नाम लिख दिया, परंतु बिना इनकी रज़ामंदी के वह क़ानून के अनुसार ठीक न था। अपनी नानी के कहने पर इन्होंने तुरंत उस पर हस्ताक्षर कर दिए, और इस प्रकार अपने भाग के दो-ढाई लाख रुपए छोड़ देने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं किया। यह काम इन्हीं का-सा दरियादिल आदमी कर सकता था। आपके जीवन एवं साहित्य का सबसे बड़ा प्रभाव देश और हिंदी-साहित्य में जातीयता का वर्द्धन था। आप ही ने हिंदी में धार्मिक के स्थान पर देशभव जातीयता का भारी प्रचार किया।

इनमें हास्य की मात्रा इतनी थी कि होली में लकड़ी का बड़ा मोटा कुँदा कमर में बाँधकर कबीर गाते गलियों मे निकलते थे। पहली एप्रिल को अँगरेज़ी सभ्यता के अनुसार मनुष्य दिल्लगी के लिये कोई भी झूठ बोल सकता है। भारतेंदु उस दिन कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे। एक बार आपने नोटिस दी कि महाराज विजयानगरम् की कोठी में एक योरप के विद्वान् सूर्य और चंद्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हज़ारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए, परंतु कुछ न देखकर लज्जित हो लौट गए। एक बार प्रकाशित कर दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चंद्र-स्कूल में मुफ्त गाना सुनावेंगे। जब हज़ारो आदमी एकत्र हुए, तब परदा खुला, और एक मनुष्य विदूषक के वस्त्र पहने, उलटा तानपूरा लिए, घोर खर-स्वर करने लगा। यह देख लोग हँसते हुए शरमाकर लौट गए। एक बार इन्होंने एक मित्र से नोटिस दिला दी कि एक मेम रामनगर के पास खड़ाऊँ पर सवार होकर गंगाजी को पार करेगी, और खड़ाऊँ न डूबेगी। हज़ारों लोग एकत्र हुए, परंतु न कहीं मेम, न खड़ाऊँ। पीछे सब समझे कि यह भी मज़ाक़ था। भारतेंदु ने सुंदर कपड़े, खिलौने, फ़ोटो एवं अपूर्व पदार्थों का संग्रह सदैव किया। इन्हे तसवीरों का संग्रह बहुत ही प्रिय था, और इन्होंने बड़ा परिश्रम करके बहुत-से बादशाहों एवं अन्य महाशयों की तसवीरें एकत्र की थीं; परंतु एक हज़रत ने आकर उनकी बड़ी प्रशंसा की, और इन्हें अपनी आदत से विवश होकर वह संग्रह उन्हें दे डालना पड़ा। इसी दान के पीछे लोगों ने इन्हें पछताते देखा। फिर उन्होंने ५००) तक व्यय करके वह संग्रह उन हज़रत से माँगना चाहा, परंतु उन्होंने न दिया। इनके साथ के बैठनेवाले हमारे बनारसी मित्र स्वर्गीय बाबू ठाकुरप्रसाद खत्री हमसे कहते थे कि इनके साथ बैठने में लोगों का जी

इतना प्रसन्न रहता था कि कभी चित्त ऊबता ही न था। चाहे जितना शोक क्यों न हो, इनके पास पहुँचे कि चित्त प्रफुल्लित हो गया।

सुनते है, अच्छे पदार्थों के शौक क साथ इन्हे मद्य की भी लत पड़ गई थी, परंतु, फिर भी, अपने काव्य मे इन्होने मदिरा की बड़ी निंदा की। मल्लिका नाम की एक बंगालिन से भी इनका लगाव हो गया, और इन्होने उसे घर बिठा लिया। इनके सब गुणो मे माधवी और मल्लिका-विषयक दोष बिलकुल छिप जाते है। महाकवि कालिदास के मतानुसार "एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।" यह भारतेंदु थे भी, सो इनमें कुछ कलक का भी होना स्वाभाविक ही था। अतः लोगो को उस पर दृष्टि भी न डालनी चाहिए। अपने स्वभाव का इन्होने स्वयं बड़ा ही बढिया एवं यथार्थ वर्णन किया है। यथा—

> रसिक गुनीजन के, चाकर चतुर के है,
> कबिन के मीत, चित हित गुन गानी के;
> सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
> 'हरीचंद' नगद दमाद अभिमानी के।
> चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही
> नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के;
> सरवस रसिक के, दास-दास प्रेमिन के,
> सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के।

मेवाड़-यात्रा मे इन्हे भय हुआ कि अंतकाल निकट आ गया। उस समय इन्होने अपने अनुज से पत्र द्वारा अपनी स्त्री को प्रसन्न रखने तथा मल्लिका को भी लाज रखने का आग्रह किया। इनका सम्मान साधारण जन-समाज एवं राजो-महाराजों मे बहुत अधिक था; और, होता क्यो न? ऐसे पुरुष-रत्न इस स्वार्थी संसार मे कहाँ देख पड़ते है? और सब बाते छोड़कर हम इनके सम्मान के विषय में केवल एक बात यहाँ लिखते है। संवत् १९३७ मे पं० रामशंकर व्यास ने 'सारसुधानिधि' नामक पत्र में इन्हे 'भारतदु' की पदवी से विभूषित करने का प्रस्ताव छपवाया। उसी समय समस्त पत्रो एवं सब मनुष्यों ने मुक्त कंठ से इन्हे भारतेंदु कहना शुरू कर दिया, और तभी से इन्हे यह उपाधि मिली। हिंदी, हिंदू और हिंद के प्रचंड दुर्भाग्य से संवत् १९४० में यह महाशय क्षय-रोग से पीड़ित हुए, और सब कुछ दवा होने पर ६ जनवरी, संवत् १९४१ को पौने दस बजे, रात के समय, यह भारत का चंद्र संसार को रोता छोड़ अस्त हो गया!

इन महाकवि ने केवल ३५ वर्ष इस संसार को सुशोभित किया, और प्रायः

१८ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ की। पहले यह केवल गद्य लिखते थे, पीछे से पद्य भी लिखने लगे। इस १७ वर्ष के अल्पकाल में इन्होंने १७५ ग्रंथ बनाए। ७५ ग्रंथ इनके द्वारा संपादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाए हुए और भी वर्तमान हैं। यों तो इन्होंने पाँच वर्ष की आयु में ही एक दोहा बनाया था, परंतु १६ या १७ वर्ष की अवस्था से काव्य रचना आरंभ कर दी। इन्होंने अपनी समस्त रचनाओं के प्रकाशित करने का स्वत्व बाबू रामदीनसिंह, अध्यक्ष खड्गविलास-प्रेस, को दे दिया था जिन्होंने इनके मुख्य मुख्य ग्रंथों को 'हरिश्चंद्र-कला' के नाम से, छ भागों में, प्रकाशित किया।

प्रथम भाग (नाटकावली)

(१) 'नाटक'-नामक ४३ पृष्ठों के लेख में इन्होंने नाटक के लक्षण, नाटक बनाने की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा। इनके अतिरिक्त और बहुत सी जानने योग्य बातें नाटक के विषय में वर्णित हैं, जो पढने योग्य हैं। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई।

(२) 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक संवत् १९३२ में बना। यह आर्य-क्षेमेश्वर-कृत 'चंडकौशिक' के आशय पर बनाया गया, परंतु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और भारतेंदु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। इसमें महाराज हरिश्चंद्र की सत्य परीक्षा का वर्णन है। राजों के यहाँ पूर्व काल में जिस प्रकार ऋषियों का आदर होता था, वह इसमें पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। महारानी शैव्या के स्वप्न में आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन करा दिया गया है। राजा हरिश्चंद्र की सत्य-प्रियता इतनी बढी हुई थी कि स्वप्न में भी पृथ्वी का दान देने पर दानपात्र के न मिलने से वह विकल थे, और सोचते थे कि इसका क्या प्रबंध करूँ? विश्वामित्र और हरिश्चंद्र की बातचीत से यह साफ़ प्रकट होता है कि ऋषि को पृथ्वी का लेना अभीष्ट नहीं था ; वह किसी उपाय से राजा को सत्य भ्रष्ट-मात्र करना चाहते थे। ऐसे समय हरिश्चंद्र के मुख से यह वाक्य कहलाना बहुत ही योग्य और स्वाभाविक था—

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार ;
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को टरै न सत्य विचार।
बेंचि देह-दारा-सुवन होय दास हू मंद ;
रखि है निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचंद।

इस ग्रंथ में कवि ने विश्वामित्र का तक़ाज़ा, गंगा वर्णन, हरिश्चंद्र का स्त्री और अपने को बेचना, श्मशान वर्णन और रोहिताश्व के मरने पर शैव्या और हरिश्चंद्र का विलाप आदि स्थल बहुत ही उत्कृष्ट कहे हैं। इसने भारतेंदु की

कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इस नाटक का अभिनय इनके सामने, बलिया में, संवत् १९४० में, हुआ। इसमें ८२ पृष्ठ हैं। कथा मूल-रूप में भी अनैतिहासिक है। इसका वर्णन केवल अदृढ़ पुराणों में है, किंतु लोक में ख्याति बहुत है।

(३) 'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना बढ़िया हुआ है कि किसी स्वतंत्र ग्रंथ से कम आनंददायक नहीं है। ग्रंथ १०६ पृष्ठों का है। इसमें चंद्रगुप्त को राज्य देने और राक्षस को उनका मंत्री करा देने के कारण चाणक्य और राक्षस मंत्री में ख़ूब ही नीति की चोटें चली हैं। अंत में चाणक्य से हारकर राक्षस को चंद्रगुप्त का मंत्री बनना ही पड़ा। नीति का जटिल विषय होने पर भी इसकी भाषा ऐसी मीठी है कि पाठ करने में बड़ा ही आनंद आता है। नाटक में चंद्रगुप्त के कौशल का पतन बहुत अनुचित और इतिहास-विरुद्ध है। मंत्री राक्षस की जितनी प्रशंसा की गई है, वैसी बुद्धिमत्ता के उनके काम नहीं दिखाए गए हैं। केवल स्वामिभक्ति तथा ईमानदारी समुचित साधन नहीं हैं। यह कथा भी अनैतिहासिक है। चाणक्य तीन पुश्तों तक चंद्र के घराने में सचिव रहे। राक्षस कात्यायन के मित्र सुबुद्धि शर्मा थे। कात्यायन नंद-वंश के मंत्री वास्तव में थे।

(४) 'धनंजय-विजय' कांचन-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद है। यह भी स्वतंत्र ग्रंथ की भाँति मनोहर है। १६ पृष्ठों का है। संवत् १९३० में बना। रचना-कौशल साधारण है।

(५) 'कर्पूरमंजरी' को राजशेखर कवि ने प्राकृत में बनाया था। उसी का यह ३२ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९३२ में बना। इसमें एक प्रेम-कहानी कही गई है। हास्य का भाग विशेष है।

(६) 'चंद्रावली-नाटिका' ख़ास इन्हीं की बनाई है। इसमें किसी ग्रंथ का अनुवाद या छाया नहीं है। यह ४५ पृष्ठों की है, और इसकी रचना संवत् १९३३ में हुई। इसका समर्पण बहुत ही अच्छा है—

भरित नेह नव-नीर नित बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब-घन कोऊ लखि नाचत मन मोर।

यह दोहा इनको बहुत पसंद था, और इनकी बहुत-सी रचनाओं में वंदना के स्थान पर लिखा गया है। इस पुस्तक में भी यह वंदना में दिया गया है। इस नाटिका में चंद्रावली का प्रेम वर्णित है, और ग्रंथ आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। ऐसा प्रेम से छलकता हुआ कोई दूसरा ग्रंथ हमने नहीं देखा। इस ग्रंथ में सिवा प्रेम के दूसरा वर्णन नहीं है। इसको सर्वसाधारण ने इतना पसंद

किया कि एक महाशय ने व्रजभाषा में और द्वितीय ने संस्कृत में इसका अनुवाद किया। इस ग्रंथ में शुकदेवजी, नारद, चंद्रावली के प्रेम छिपाने, प्रेमोन्मत्तता, यमुना और योगिनी के वर्णन बड़े ही हृदयग्राही हैं। नाटकों में यह और सत्य-हरिश्चंद्र भारतेंदु को बहुत पसंद थे। वास्तव में ये दोनो ग्रंथ इनकी रचना और भाषा-साहित्य के शृंगार हैं। इन ग्रंथों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि यह महाशय गद्य में भी शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग कर सकते थे। स्टेज पर खेलने में यह नाटक मनोरंजक न होगा, क्योंकि इसमें विषय-परिवर्तन बहुत कम है, और स्टेज के योग्य कई अन्य बातों का भी अभाव है। इसमें नाटकत्व कम है, और साधारण काव्य विशेष।

(७) 'विद्यासुंदर' की कथा का वर्णन चौर कवि ने संस्कृत की चौर-पंचाशिका में किया था। उसके आधार पर श्रीयुत यतींद्रमोहन ठाकुर ने बँगला में विद्या-सुंदर-नामक नाटक बनाया। उसी ग्रंथ का अनुवाद भारतेंदु ने किया। यह ग्रंथ संवत् १९२५ में, केवल १८ वर्ष की अवस्था में, इन्होंने बनाया, परंतु फिर भी इसकी भाषा ऐसी मधुर है, और इसमें ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंद हैं कि उनकी प्रशंसा किए बिना रहा नहीं जाता। उदाहरणार्थ इस ग्रंथ का एक छंद नीचे दिया जाता है—

हमहूँ सब जानतीं लोक कि चालन, क्यों इतनो बतरावती हौ ;
हित जामैं हमारो बनै, सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ।
'हरिचंदजू' यामैं न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ ?
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन को का समुझावती हौ ?

(८) 'भारत-जननी'-नाटक किसी अन्य कवि ने भारत-माता-नामक बँगला नाटक से अनुवादित किया था। इसको भारतेंदु ने शोधकर प्रकाशित किया। इसमें भारत-संतानों की वर्तमान दुर्दशा का एवं गौण रूप से पूर्व-गौरव का वर्णन है। स्वदेश-भक्ति-पूर्ण एक होली भी बड़ी मनोहर कही गई है। ग्रंथ १२ पृष्ठों में समाप्त हुआ, और प्रशंसनीय है। स्वदेशानुराग की इसमें बहार है। रचना साधारण है।

(९) 'भारत-दुर्दशा' इनका स्वतंत्र नाटक है, जो सं० १९३७ में लिखा गया। इसमें बड़ा ही उग्र एवं हृदयग्राही वर्णन है। भारत की वर्तमान दुरवस्था एवं उसके कारणों का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है। इसमें इन्होंने फूट, बैर, कलह, सुस्ती, संतोष, खुशामद, कायरता, बहु धर्म, छुआछूत, शराब, पुराणों के वाक्य, जाति, ऊँच-नीच, विवाहों में जन्मपत्री का मिलाना,

बहु विवाह, बाल-विवाह, अपव्यय, अदालत, फैशन, सिफ़ारिश, उपाधि, विधवा-विवाह न करना, विलायत-गमन की रोक, बहुत देवी, भूतो और प्रेतो के पूजन आदि बातों की निंदा की है, और यह व्यक्त किया है कि भारतवर्ष में टिकस, क्षुधा-पीड़ा, अकाल, महँगी, रोग आदि की जो विपत्तियाँ है, और हिंदोस्तानी जो काफ़िर, काले, नीच पुकारे जाते है, ये सब बातें उपर्युक्त अवगुणों ही के कारण हैं। भारत-दुर्दैव और सत्यानास फौजदार की बातचीत मे पहले भारत की वर्तमान दशा का वर्णन है, तदनंतर क्रमशः रोग, आलस्य, मदिरा और अंधकार का प्रवेश हुआ है। इसके पीछे छ हिंदोस्तानी सभ्यों की एक सभा का वर्णन है, जिसमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक संपादक, एक कवि और दो देशी भद्र पुरुप विद्यमान थे। सभा मे सब सभ्यों के व्याख्यान हुए हैं, और रचयिता ने जिस देश के लोग जैसी हिंदी बोलते है, तथा जिस देश के जैसे विचार है, उनका ठीक उसी प्रकार से वर्णन इसमे किया है। युक्त-प्रदेशीय सभ्यो का बोदापन और कवि की अकर्मण्यता अच्छी दिखलाई गई है। इस ग्रंथ में तुलसीदास की चौपाइयाँ बहुत ही मज़ाक़ के साथ लिखी गई हैं। प्रायः सभी स्थानों पर हास्य-मिश्रित वर्णन किया गया है; फिर भी, उस हास्य में गूढ़ आशय छिपे हुए है। इस ग्रंथ से भारतेंदु का अपार देश-प्रेम एवं उत्कृष्ट और ज़ोरदार कविता करने की शक्ति प्रकट होती है। यह २२ पृष्ठों का एक बडा ही अनोखा ग्रंथ है, जिससे जातीयता टपकी पड़ती है।

(१०) 'नीलदेवी' एक जातीयता-पूर्ण काल्पनिक नाटक है। इसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ख़ाँ का महाराज सूर्यदेव के देश पर धावा करने का वर्णन है। अमीर की ओर सब बातचीत शुद्ध उर्दू मे है। यह २० पृष्ठों का अपूर्व ग्रंथ संवत् १९३७ मे बना। इसमें प्रत्येक वर्णन आद्योपांत बहुत ही अच्छा है। देव-वाक्य सुनकर रोएँ खड़े हो जाते हैं। पागल का पार्ट भी अनोखा है। कवि ने मानो सच्चा पागल लाकर दिखला दिया है। इसमे क्षत्रियों के युद्धोत्साह में कवि ने वीर-रस का चित्र सामने खड़ा कर दिया, और उद्दंडता की हद कर दी है। यह नाटक बलिया में भारतेंदु के सम्मुख खेला भी गया। इस ग्रंथ से इनका उत्कट स्वदेश-स्नेह देख पड़ता है, और प्रकट होता है कि यह वीर-कविता भी परम मनोहर कर सकते थे।

(११) 'माधुरी' सं० १९४० में बनी। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है कि यह किसी अन्य कवि का बनाया हुआ ग्रंथ है। इसमे वृंदावन का वर्णन है, और केवल ८ पृष्ठों मे प्रेम कहा गया है।

(१२) 'पाखंडविडंबन' संवत १९२९ में बनाया गया। यह प्रबोधचंद्रोदय के तृतीय अंक का अनुवाद है। इसमें ११ पृष्ठ हैं।

(१३) 'अंधेर-नगरी' संवत् १९३८ में बनी। यह १४ पृष्ठों का जातीयता-पूर्ण प्रहसन एक ही दिन में बना। इसमें सौदा बेचनेवालों की आवाजों एवं मुक़द्दमे का वर्णन अच्छा है। इसके मूल-ग्रंथ बँगला और गुजराती में हैं।

(१४) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' २० पृष्ठों का छोटा-सा प्रहसन संवत् १९३० में बना। इसमें मांस खानेवालों और मद्यपों की बहुत निंदा है। कवि ने ब्राह्मणों की भी निंदा की है। इसमें शास्त्रार्थ एवं उन्मत्तता के वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं। हास्य-रस का अच्छा कौतूहल है, किंतु भोज्याभोज्य वस्तुओं पर इतना ज़ोर दिया गया है कि अनौचित्य तक आ गया है।

(१५) 'विषस्य विषमौषधम्' में एक महाराजा के सिंहासनच्युत होने का इतिहास हास्यमय वर्णन में कहा गया है, और परस्त्रीगमन की निंदा है। यह प्रायः गद्य ही में है। यह ९ पृष्ठों का ग्रंथ संवत् १९३३ में बनाया गया। इनके कई अन्य ग्रंथों की भाँति यह भी मनोहर है।

(१६) 'दुर्लभ बंधु' शेक्सपियर-कृत 'मर्चेंट ऑफ् वेनिस' का अनुवाद है। इसमें ८४ पृष्ठ हैं। यह संवत् १९३१ में बना। यह भी एक परमोत्कृष्ट अनुवाद है, और अँगरेज़ी से अनुवादित होने पर भी इसमें भाव बिगड़ने नहीं पाए हैं।

(१७) 'सतीप्रताप' एक अपूर्ण नाटक था, जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया। इसमें २८ पृष्ठ है, और इसका भारतेंदु-कृत भाग १९४० में बना। इसमें पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री का वर्णन है। पातिव्रत का श्रेष्ठ चित्र तथा उसका अच्छा फल दिखाया गया है। बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूर्ण भी ठीक किया है; रूप बिगड़ने नहीं पाया है।

(१८) 'रत्नावली' में केवल ४ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९२५ में हुआ था, और फिर यह अपूर्ण रह गया।

(१९) 'प्रेमयोगिनी' एक बड़ा ही विशद ग्रंथ बन रहा था, परंतु दुर्भाग्य-वश अपूर्ण ही रह गया। इसका केवल प्रथम अंक बना, जिसमें २६ पृष्ठ हैं। इस नाटक में भारतेंदु अपने विषय में बहुत कुछ लिख रहे थे। इसके नायक रामचंद्र स्वयं वही हैं। समस्त ग्रंथ बहुत बड़ा होता, और इसमें उनके चित्त की वृत्तियाँ बहुत कुछ जान पड़तीं; परंतु शोक है कि यह अमूल्य ग्रंथ अपूर्ण रह गया। इसमें बनारसी, महूला की, माड़वारी और गुजराती भाषाओं में कविता की गई है। रोज़ की बोल-चाल तथा साधारण घटनाओं का कथन है, और इस कारण बड़ा ही स्वाभाविक एवं प्राकृतिक वर्णन है। यद्यपि यह महाशय वल्लभीय

संप्रदाय के थे, तथापि इन्होंने गोस्वामियों के निकृष्ट आचरणों की यह कहकर निंदा कराई है कि "भाई ! मालौ लूटैं, मेहरुवौ लूटैं ।" इसमें काशी की निंदा एवं स्तुति बड़ी बढ़िया कही गई है। इसी भाँति मिसिर, झपटिया और कहार की बातचीत एवं भूरीसिंह और दूकानदारों का मज़ाक़ बहुत अच्छा है। यह ग्रंथ अनोखा और प्राकृतिक है। इसकी कविता बहुत ही मनोहर एवं औवल दरजे की है। यह ग्रंथ संवत् १६३२ में बना, परंतु न-जाने क्यों अपूर्ण रह गया।

द्वितीय भाग (इतिहास-समुच्चय)

नाटकों के अतिरिक्त भारतेंदु में इतिहास-प्रेम भी बहुत था। हमारे अन्य सत्कवियों में से किसी ने इतिहास-विषयक इतने ग्रंथ नहीं लिखे।

(१) 'काश्मीर-कुसुम' की भूमिका में भारतेंदु ने इतिहास का अभाव, राजतरंगिणी का चार भागों में बनाना, उसकी समालोचना, हर्षदेव का कथन और काश्मीर के वर्तमान राजघराने का वर्णन किया है। कुसुम में इन्होंने एक चक्र दिया है, जिसमें राजसंख्या, नाम, समय, गत कलि, डायर के मत से, कनिंघम के मत से, विल्सन के मत से, राज्यकाल और विशेष वर्णन सूक्ष्मतया कहे गए हैं। इसमें बड़ा परिश्रम किया गया है, और इनके ऐतिहासिक ग्रंथों में यह इन्हें सबसे अधिक पसंद था। इसमें २५ पृष्ठ हैं।

(२) 'महाराष्ट्र देश का इतिहास' केवल ६ पृष्ठों में है। इसमें कोई नई बात नहीं है।

(३) रामायण के समय में बहुत-सी ऐसी बातों का कथन है, जो उस काल थी, परंतु भ्रम-वश कुछ लोग उन्हें आधुनिक समझने लगे हैं। वे बातें निम्न-लिखित हैं—भुशुंडी, जैन-भिक्षुक, कौशल्या का घोड़ा काटना, मुनियों का मांस न खाना, गोलोक का वर्णन, सड़क का होना, काग़ज़ पर लिखा जाना, जल-सेना, मनुस्मृति के श्लोकों का होना, इस बात का ज्ञान कि चंद्र सूर्य के प्रकाश से चमकता है, गुलाबपाश, संस्कृत का बोला जाना। इस ग्रंथ में १० पृष्ठ हैं।

(४) 'अगरवालों की उत्पत्ति' ७ पृष्ठों में।

(५) 'खत्रियों की उत्पत्ति' १४ पृष्ठों में।

(६) 'बादशाहदर्पण' में दिल्ली के बादशाहों का हाल है। इसमें भी चक्र द्वारा ही वृत्तांत सूक्ष्म रूप से वर्णित है। तदनंतर उनका अल्प वृत्तांत कहा गया है। कुल २२ पृष्ठ हैं।

(७) 'उदयपुरोदय' में २७ पृष्ठों द्वारा बाप्पा रावल के समय तक का इतिहास लिखा गया है।

(८) 'पुरावृत्तसंग्रह' मे ४६ पृष्ठो द्वारा स्फुट ऐतिहासिक विषय एवं दान-पत्रादि का वर्णन है।

(६) 'चरितावली' में ६० पृष्ठ है। इसमे इन महाशयो के चरित्र लिखे है—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकर, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नैपोलियन, महाराजा जंगबहादुर, द्वारकानाथ मित्र, श्रीरामनारायण शास्त्री, लॉर्ड मेओ, लॉर्ड लारेंस और तृतीय सिकंदर जार। कई महापुरुषों की कुंडलियाँ भी इस ग्रंथ मे दी हुई हैं। इन कुंडलियों मे रावण की भी है।

(१०) 'पंच पवित्रात्मा' मुहम्मद, अली, बीबी फ़ातिमा, इमामहसन और इमामहुसैन के जीवन-चरित्र वर्णित है। यह ग्रंथ २२ पृष्ठों मे है।

(११) 'दिल्ली-दरबार-दर्पण' मे संवत् १६३३ के दिल्ली-दरबार का मनोहर वर्णन, २५ पृष्ठों मे, किया गया है।

(१२) 'कालचक्र' मे २० पृष्ठो द्वारा संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं के समय निरूपण किए गए हैं।

भारतेंदु के ऐतिहासिक विषयो से विदित होगा कि इन्होंने अच्छे-अच्छे विषयों को वर्णनार्थ चुना, और चुनते क्यो न ? इतने बड़े लेखक और कवि होकर यह महाशय अपना समय कैसे अनुचित विषयो पर खोते ? इन्होंने इतिहासो का लंबा-चौड़ा वर्णन कभी नहीं दिया, और थोड़े ही स्थान मे बहुत कुछ कह देने का सदैव प्रयत्न किया। वर्तमान खोजों से जो नई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, वह इनके लिखे हुए कई वर्णनों को पूरा बना सकती है।

शेष चार भागो में विविध विषयों के कथन हैं। 'भक्तमाल उत्तरार्द्ध' मे नाभादास के पीछे के भक्तो का वर्णन है। इसमे कविता बिलकुल नाभादास की-सी और उसी रीति पर है। यदि इसको नाभादास के ग्रंथ में मिला दें, तो अंतर जानना कठिन हो जायगा। इसमे ३६ पृष्ठ और छप्पय-छंद विशेष हैं।

पंचम भाग का काव्य कुल मिलाकर प्रशंसनीय है। इसमें पदों का आधिक्य है, परंतु सवैयों और घनाक्षरियों का अभाव नहीं है। यहाँ कई भाषाओं मे कविता की गई है। विषयो में प्रायः प्रेम का प्राधान्य रक्खा गया है। ऐसे वर्णन औरों से अच्छे भी हैं। कविता की दृष्टि से इसके प्रथम और पंचम भाग ही विशेष प्रशंसा-पात्र हैं।

भारतेंदु की रचना विस्तार में बड़ी है, किंतु नाटकावली के अतिरिक्त उसका प्रचार नहीं है। यदि इनके ग्रंथों से उत्कृष्ट भाग छाँटकर भारतेंदु-सुधा बनाई जाय,

तो शायद शेष उत्कृष्ट रचना का भी कुछ विशेष मान लोक मे हो जाय। अब हम भारतेंदु की कविता के कुछ गुण नीचे लिखते है—

(१) इनके काव्य मे जातीयता के पीछे सबसे अधिक और बढिया वर्णन प्रेम का है। इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमे प्रेम की मात्रा अथाह थी। अत: इनके सब लेखों मे उसी की विशेषता रहती थी। इसके उदाहरण 'चंद्रावली-नाटिका' और पंचम भाग के प्राय: सभी ग्रंथ कहे जा सकते है। इनमे ईश्वरीय तथा सासारिक, दोनो प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था, और इन दोनो के वर्णन इनके काव्य मे प्राय: मौजूद है।

(२) यह महाशय अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। जो-जो बड़ी घटनाएँ इनके समय में हुईं, प्राय: उन सभी पर इन्होने कविता की। महाराज मल्हारराव गायकवाड़ का पदच्युत होना, दिल्ली-दरबार, युवराज का आगमन, मिसर और अफ़ग़ानिस्तान मे युद्ध आदि सभी विषयो पर इन्होने काव्य-रचना की। इसी प्रकार उस समय भारतवर्ष को जिन-जिन बातो की आवश्यकता थी, उसमे जो-जो दोष थे, उन सबका इन्होंने सविस्तर वर्णन किया है। हिंदी-साहित्य को जिन-जिन बातो की आवश्यकता थी, प्राय: उन सभी विषयों पर इन्होने साहित्य-रचना की है। ऐसा उन्नतिशील और प्रतिनिधि कवि हिंदी-साहित्य मे कोई दूसरा नहीं हुआ।

(३) इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था। इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी मे उस समय हो। स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था। भारतेंदु के बराबर हिंदोस्तान के दोषो पर आँसू बहानेवाला एवं उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य महाकवि हिंदी के साहित्य मे न होगा। हिंदोस्तान के विषय मे इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया। यह पुरुष-रत्न हिंदी, हिंदू और हिंदोस्तान के वास्ते कल्पवृक्ष हो गया है। हास्य के ग्रंथो तक मे इन्होंने देश-हित का चिंतवन नहीं छोड़ा। 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा'-ग्रंथ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

(४) इनकी कविता मे हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी। इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट मालूम होती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर-नगरी' तो मानो इसके रूप है। और-और जगहो पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है।

(५) इनके काव्य में ज़ोरदारी (Force) भी बहुत है। भाषा-कवियो में से कम की रचना में इतना ज़ोर पाया जाता है। 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे।

(६) इनमे विविध विषयों की यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही प्रकृष्ट किए। सौंदर्य के तो उपासक ही थे, अतः प्रत्येक विषय में सुंदरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी। इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते है। फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चंद्र का बिकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, झपटिया, दलाल आदि की बातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य है। जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्ही के सामने प्राय: इनके सभी श्रेष्ठ नाटको के अभिनय भी हो गए।

(७) इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया है। उदाहरण-स्वरूप चंद्रावली-नाटिका मे योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए।

(८) इन महाशय ने पुरानी प्रथा के नायिका, अलंकार, छंद, रीति आदि विषयों पर एक भी ग्रंथ नहीं बनाया। रसो में इन्होंने ९ पुराने रसो के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम के चार नए रस माने, जिनको कुछ पंडितों ने भी प्रामाणिक समझा। इनमे से कई को कुछ वैष्णव लोग भी मानते थे, और मानते है। इसी प्रकार शृंगार-रस मे भी कई नए भेद माने है, जिनका विशेष वर्णन इनकी जीवनी (खड्गविलास-प्रेसवाली) के ११८ पृष्ठ में हुआ है। इसी जीवनी में इनके ग्रंथों का समय भी दिया हुआ है।

(९) इनके समय तक हिंदी-भाषा में उपन्यास प्राय: नहीं लिखे गए थे। अत: इन्होंने लोगों को उपन्यास लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। आपने स्वयं भी दो उपन्यास लिखने आरंभ किए थे, परंतु वे अपूर्ण ही रह गए। उनके नाम हैं 'एक कहानी कुछ आप-बीती कुछ जग-बीती' और 'हम्मीर-हठ'।

(१०) इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ बातें लिखी हैं, जो इनके ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलती और भारत-दुर्दशा-नाटक में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक सुधारों का भी वर्णन किया गया।

(११) इन्होंने पद्य मे व्रज-भाषा और गद्य में खड़ी बोली का विशेष आदर किया। तो भी उर्दू, खड़ी बोली, व्रज-भाषा, मारवारी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में काव्य किया, जो प्राय: सरस है। गद्य और पद्य प्राय: बराबर लिखे। परिवर्तन काल (सं० १८९०-१९२५) मे खिचड़ी अथवा विशुद्ध हिंदी के प्रयोग मे मतभेद था। राजा शिवप्रसाद खिचड़ी को चाहते थे, और राजा लक्ष्मणसिंह तथा स्वामी दयानंद सरस्वती संस्कृत-शब्द-गर्भित विशुद्ध हिंदी को। भारतेंदु ने प्रचलित उर्दू-

शब्दों को भी अपनाया, तथा अन्य प्रकार से संस्कृत-शब्द-संगुंफित विशुद्ध हिंदी का आदर किया। समय के साथ अब फिर सांस्कृत संगुंफन बढ रहा है।

भारतेंदु की रचना से उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

अहा ! स्थिरता किसी को भी नही है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी-वल्लभ और लौकिक तथा वैदिक, दोनो कर्मों का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल-सर्प की शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गवाँकर, देखो, समुद्र मे गिरा चाहता है।

प्रेमयोगिनी

झपटिया—का हो मिसिरजी, तोरी नीद नाही खुलती। देखो, संखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चले तौ आइत्थई, अधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करै ? तोरे तरह से हम हू के घर में से निकसि के मंदिर मे घुस आवना होता, तौ हम हूँ जल्दी आवते। हियाँ तौ दारानगर से आवना पड़ता है। अबहीं सुरजौ नाही उगे।

झपटिया—का हो जगेसर ! ई नाहीं कि जब संखनाद होय, तब झटपट अपने काम से पहुँचि जावा करौ।

जलधरिया—अरे, चल्ले तौ आवत्थई। का भहराय पड़ी ! का सुतल थोरै रहली ? हम हूँ के झापट कंधे पर रखके यहर-ओहर घूमै के होतै, तब न ! हियाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला।

चंद्रावली

अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान मे मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़ों मे मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे है। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं, और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नही मिली।

मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं है। और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो विषयी है, उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नही कि इधर झुके। अहा! इस मदिरा का शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकती। धन्य है, धन्य! और दूसरा ऐसा कौन ?

भारत-दुर्दशा

मदवा पी ले पागल, जोबन बीत्यो जात;
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं, मानु हमारी बात।
पी प्याला छक-छक आनँद सों नितहि साँझ अरु प्रात;
झूमत चलु डगमगी चाल से मारि लाज को लात।
हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू जाके पिए लखात;
ऐसी सिद्धि छाड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

पी ले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम - हरी - रस का रे;
धिधिकिट धिधिकिट धिधिकिट धाधा बजै मृदंग थाप-झमका रे।

नीलदेवी

सोओ सुख-निँदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख - निँदिया प्यारे ललन।
भई आधी रात, बन सनसनात,
पसु - पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिँ पावत तरु न हलन।
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत 'हाय',
सतरात बैन आलस जनाय,
सनसन लगि सीरी पवन चलन।
सोए निसि के सब नींद घोर,
जागत कामी, चिंतित चकोर;
बिरहिनि, बिरही, पाहरू, चोर,
इन कहँ छिन रैनिहु हाय कल न।

अंधेर-नगरी

चूरन अमलबेद का भारी, जिसको खाते कृष्णमुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना, जिसको खाता श्याम सलोना।
हिंदू चूरन इसका नाम, बिलायत-पूरन इसका काम।
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा।
चूरन चला दाल की मंडी, इसको खाएँगी सब रंडी।
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिशवत तुरत पचावैं।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन-रोग।
चूरन खावै एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिँ बात।
चूरन पूलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।

प्रेमयोगिनी

तोहरे आँखि मेँ चरबी छाई माल न चाप्यो गोजर,
कैसी दून कि सूझि रही है असमानों के ऊपर।
कहाँ कि ई तू बात निकासी खासी सत्यानासी;
भूखे पेट कोऊ ना सुतता ऐसी है ई कासी।
देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।
आधी कासी भाँड़-भँड़रिया, बाँभन औ' संन्यासी;
आधी कासी रंडी-मुंडा, राँड़, खानगी खासी।
लोग निकम्मे, भंगी, गंजड़, लुच्चे, बेबिसवासी;
महा आलसी, झूठे, सोहदे, बेफिकरे, बदमासी।
मैली गली भरी कतवारन, सड़ी चमारन पासी;
नीचे नल ते बदबू उबलै, मना नरक-चौरासी।
फिरैं उचक्का, दै-दै धक्का, लूटैं माल मवासी;
कैद भए की लाज तनिक नहिं बेसरमी नंगासी।
साहेब के घर दौरे जावैं, चंदा देईं निकासी;
चढ़ै बोखार नाम मंदिर का सुनतै हार्यं उदासी।
घर की जोरू, लड़के भूखे, बने दास औ' दासी;
दाल कि मंडी रंडी पूजैं, मानो इनकी मासी।
आप माल कचरैं, छानैं उठि भोरै कागाबासी;
बाप कि तिथि दिन बाँभन आगै धरैं सरा औ' बासी।

और ब्योहार साख बाँधै मनु पूरी दौलति दासी;
चालि रुपैया, काढ़ि देवाला, माल डकारैं ठासी।
काम-कथा अमिरित-सी पीवै, समुझै ताहि बिलासी;
राम नाम मुँह ते नहिं निकसै, सुनतै आवै खाँसी।

विद्यासुंदर

धिक है वह देह औ' गेह सखी जेहिके बस नेह को टूटनो है;
उन प्रान-पियारे बिना यहि जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है।
'हरिचंदजू' बात ठनी सो ठनी, नित की कुलकानि सों छूटनो है;
तजि आन उपाय अनेक भटू, अब तौ हमको बिख घूटनो है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अनेकानेक विषयो को लिया, और प्रायः सबमें इनको सफलता प्राप्त हुई। इन्होंने भक्ति, तीर्थ, व्रत, धर्म, वीर, शृंगार, हास्य, करुणा, बीभत्स, राजनीति, समाज, प्राकृतिक दृश्य आदि सभी विषयों पर काव्य किया, और अपनी क़लम का ज़ोर दिखलाया। सबमें इनको कृतकार्यता प्राप्त हुई। शुद्ध हिंदी मे गद्य लिखने के तो मानो यह एकमात्र सुधारक थे। इनके प्रथम राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद भी गद्य के लेखक थे, परंतु प्रथम ने बहुत करके केवल अनुवाद और द्वितीय ने उर्दू-मिश्रित भाषा मे प्रबंध लिखे। सबसे प्रथम साहित्य-पूर्ण सर्वांग-सुंदर गद्य के लेखक भारतेंदु ही हुए। उस समय से अब तक सैकड़ों गद्य-लेखक हो गए, और विद्यमान हैं। यह भी ठीक है कि अब गद्य-लेखन-प्रणाली ने, तुलना की दृष्टि से, ख़ासी उन्नति कर ली है; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कोई लेखक कुल मिलाकर इनसे श्रेष्ठ हुआ, या है। दो-चार वर्तमान लेखकों की भाषा इनसे कुछ गंभीर और परिमार्जित अवश्य है, परंतु कुल मिलाकर भारतेंदु के लेखों में रोचकता वर्तमान सुलेखकों से भी अधिक है। भारतेंदु उत्तम गद्य-लेखन के जन्मदाता और अद्यापि सर्वश्रेष्ठ गद्य-लेखक हैं। जितनी भाषाओं में इन महाकवि को काव्य रचना करने की क्षमता थी, उतनी में काव्य रचने की शक्ति या योग्यता हमारे अन्य किसी भी एक कवि में नहीं है, और न कभी थी ही।

भारतेंदु के पहले हिंदी में नाटकों का अभाव-सा था, और स्वतंत्र नाटक का परमोत्कृष्ट ग्रंथ एक भी न था। इन महाकवि ने इस त्रुटि के दूर करने का पूरा प्रयत्न किया, और एक-एक करके १८ नाटक-ग्रंथ बनाए, जिनमें से, कहा जाता है, दो इनके नहीं हैं। इनमें से ६ ग्रंथ ख़ास इन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं, और शेष संस्कृत आदि से अनुवादित। एक अँगरेज़ी का भी अनुवाद है। इनके

अनुवादो में ऐसा आनंद आता है, जैसा स्वतंत्र ग्रंथों मे आना चाहिए। वर्तमान कवियों में गद्यानुवाद कई लोग ऐसा ही कर लेते हैं, परंतु पद्य-विभाग मे भी रोचक अनुवाद करना इन्ही का हिस्सा था।

इनके स्वतंत्र नाटको मे सभी उत्कृष्ट हैं, परंतु, उनमें भी, सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली और नीलदेवी बहुत ही श्लाघ्य बने हैं। आपने अच्छे नाटक बनाए। इन नाटको की गणना संस्कृत के श्रेष्ठ नाटको के साथ हो सकती है। शेक्सपियर के सब नाटक इनकी बराबरी नही कर सकते। भारत-दुर्दशा और प्रेमयोगिनी भी अपने ढंग के अपूर्व नाटक है। सती-प्रताप से भारतीय स्त्री-धर्म का उच्चाति-उच्च आदर्श प्रकट होता है। अंधेर-नगरी और वैदिकी हिंसा भी अच्छे मनोरंजक प्रहसन हैं, यद्यपि ये अनुवाद-से हैं।

इतिहास और धर्म-प्रेम भी इनकी कविता से भली भाँति प्रकट होते हैं। यह सच है कि इनकी कोरी कविता भाषा के प्रशंसनीय कवियों की रचनाओं की समता नहीं कर सकती, परंतु नाटको को भी मिला लेने से इनका पद बहुत ऊँचा हो जाता है। वर्तमान काल में हिंदी-भाषा की इतनी उन्नति किसी एक व्यक्ति के द्वारा नही हुई, जितनी कि भारतेंदु के द्वारा। इस एक ही व्यक्ति ने हिंदी-भाषा मे कितने ही नए विषयों को उपस्थित कर दिया। कितने ही प्रकार के लेख और लेखक इनकी रचनाएँ पढ़कर तैयार हो गए। सचमुच यह वर्तमान हिंदी के जनक हो गए हैं। आशु-कविता करने की शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि आप धाराप्रवाह से नए छंद कहते चले जाते थे, और जिह्वा नहीं रुकती थी। कविता से इतना प्रेम था कि यह सोते मे भी उसी के आनंद में निमग्न रहते थे। यहाँ तक सुना जाता है कि इन्होंने सोते मे भी कुछ छंद बनाए।

हम हिंदी के ६ प्रसिद्ध और सर्वोत्कृष्ट कवियो में इनकी भी गणना करते हैं। अब विस्तार के साथ इनकी रचना के कुछ और उदाहरण देकर हम यह ग्रंथ समाप्त करते हैं। उदाहरण—

सत्यहरिश्चंद्र

प्रगटहु रबिकुल-रबि, निसि बीती, प्रजा-कमलगन फूले ;
मंद परे रिपुगन तारा-सम जन-भय तम उनमूले।
नसे चोर, लंपट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो ;
मागध, बंदी, सूत चिरैयन मिलि कल-रोर मचायो।

* * *

गंग उज्जल जल-धार हार-हीरक-सी सोहति;
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता, मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत;
जिमि नरगन-मन बिबिध मनोरथ करत, मिटावत।
सुभग स्वर्ग-सोपान-सरिस सबके मन भावत;
दरसन, मज्जन, पान त्रिबिध भय दूर मिटावत।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरबर-सम सोहत;
कहुँ छतुरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका;
घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका।
धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत;
बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।
सुंदरि ससि-मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत;
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।
दीठि जहाँ जहँ जाति, रहति तित ही ठहराई;
गंगा-छबि 'हरिचंद' कछू बरना नहिँ जाई;

* * *

हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत;
जल-थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत।
हम हीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी;
यक हम ही सँग जात तजत जब पितु, सुत, नारी।
सो हम नित थित यक सत्य मैं, जाके बल सब जग जियो;
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो।

* * *

सोई मुख, सोई उदर, सोई कर-पद दोय;
भयो आजु कछु और ही परसत जेहि नहिँ कोय।
हाड़, माँस, लाला, रकत, बसा, तुचा सब सोय;
छिन्न-भिन्न, दुरगंधमय मरे मनुज के होय।
फूल-बोझ हू जिन न सहारे, तिन पै बोझ काठ बहु डारे।
सिर-पीड़ा जिनकी नहिँ हेरी, करत कपाल-क्रिया तिन केरी।

छिन हू जे न भए कहुँ न्यारे, तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे।
जो दृग-कोर महीप निहारत, आजु काक तेहि भोज बिचारत।
भुजबल जे नहिँ भुवन समाए, ते लखियत मुख कफन छिपाए।
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे, गने काल सब एकहि लेखे।
सुभग, कुरूप, अमृत-बिख-साने, आजु सबै यक भाव बिकाने।
कुरु, दधीचि, कोऊ अब नाहीं, रहे नाम ही ग्रंथन माहीं।

❀ ❀ ❀

साँझ सोई पट लाल कसे कटि, सूरज खप्पर हाथ लह्यो है,
पच्छिन के बहु सब्दन के मिस जीअ-उचाटन मंत्र कह्यो है।
मद्य-भरी नर-खोपरी सो ससि को नव बिंबहु धाइ गह्यो है;
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कपालिक नाच रह्यो है।
सूरज धूम बिना की चिता, सोई अंत मे लै जल माहिँ बहाई;
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम, रोवत सो मनु लोग-लुगाई।
धूम अँध्यार, कपाल निसाकर, हाड नछत्र, लहू-सी ललाई;
आनँद हेतु निसाचर के यह काल मसान-सी साँझ बनाई।

❀ ❀ ❀

रुरुआ चहुँ दिसि ररत, डरत सुनिकै नर-नारी;
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी।
अंधकार-बस गिरत काक अरु चील्ह करत रव,
गिद्ध, गरुड़, हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद दव।
रोवत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावई;
सँग दादुर-झीगुर-रुदन-धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई।

मुद्राराक्षस

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन-मोर।
कौन है सीस पे, चंदकला, कहा याको है नाम, यही त्रिपुरारी;
हाँ यही नाम है भूलि गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी।
नारिहि पूछत चंदहि नाहिँ कहै बिजया जदि चंद लबारी;
यो गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरैं सब पीर तुम्हारी।
पादप्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे;
हाथ नचाइबे सों नभ मै इत के उत टूटि परैं नहिँ तारे।

देखन सों जरि जाहिँ न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे ;
यो थल के बिनु कष्ट सों नाचत सर्व हरैँ दुख सर्व तुम्हारे।

❀ ❀ ❀

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै ; ललाई नए चंद-सी जौन धारै।
जँभाई समै काल-सो जौन बाढै ; भलो सिंह को दंत सो कौन काढै।

❀ ❀ ❀

काल सर्पिनी नंदकुल क्रोध - धूम - सी जौन ;
अबहूँ बाँधन देत नहिँ अहो सिखा मम कौन ?
दहन नंद - कुल - बन सहज अति प्रज्वलित प्रताप ;
को मम क्रोधानल पतँग भयो चहत अब आप ?

❀ ❀ ❀

प्रिया दूरि, घन गरजहीं अहो दुःख अति घोर ;
औषध दूरि हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर ?

❀ ❀ ❀

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सों भागहीं ;
जे रहे तेहू जाहिँ, तिनको सोच मोहिँ जिय कछु नहीं।
सत सैन हू सो अधिक साधिनि काल की जेहि जग कहै ;
सो नंद-कुल की खननहारी बुद्धि नित मोमैं रहै।

❀ ❀ ❀

नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहेब गनन सों डरते रहौ ;
पुनि बिटहु जे अति पास के, तिनको कह्यो करते रहौ।
मुख लखत बीतत दिवस - निसि, भय रहत संकित प्रान है ;
निज उदर पूरन हेतु सेवा - वृत्ति स्वान - समान है।

❀ ❀ ❀

जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधुनी - कन सीतल रहैं ;
जहँ लौं बिबिध मनि - खंड - मंडित समुद दच्छिन दिसि बहैं।
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सो तोहिँ सीस झुकावहीं ;
तिनके मुकुट - मनि - रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं।

❀ ❀ ❀

मूरख स्वामी लहि गिरै चतुर सचिव हू हारि ;
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन है लहि बारि।

धनंजयविजय

लीकहु नहि लखि परत चक्र की ऐसे धावत
दूरि रहत तरु-बृंद छिनकु मै आगे आवत।
जदपि बायु-बल पाइ धूरि आगे गति पावत,
पै हय निज खुर-बेग पीछे ही मारि गिरावत।
फेरत धनु टंकारि, दरप सिव-सम दरसावत;
साहस को मनु रूप काल-सम दुसह लखावत।
जय लछिमी-सम बीर धनुष धरि रोष बढ़ावत;
को यह, जो कुरुपतिहि गिनत नहिं इत ही आवत?

❀ ❀ ❀

कंचन-बेदी बैठि बड़ोपन प्रगट दिखावत;
सूरज को प्रतिबिंब जाहि मिलि जाल तनावत।
अस्त्र - उपनिषद - भेद जानि भय दूरि भजावत,
कौरव - कुल - गुरु पूज्य द्रोन आचारज आवत।

कर्पूरमंजरी

मंद-मंद लै सिरिस-सुगंधहि सरस पवन यह आवै;
करि संचार मलय-परबत पै बिरहिनि-ताप बढावै।
कामिनिजन के बसन उड़ावत, काम-धुजा फहरावै;
जीवन प्रानदान सो बितरत बायु सबन मन भावै।
देखहु लहि ऋतुराजहि उपबन फूली चारु चमेली;
लपटि रही सहकारन सों बहु मधुर माधवी-बेली।
फूले बर बसंत बन-बन में कहुँ मालती नवेली;
तापै मदमाते - से मधुकर गूँजत मधुरसरेली।

❀ ❀ ❀

फूलैंगे पलास बन आगि-सी लगाय क्रूर,
कोकिल कुहूकि कल - सबद सुनावैगो,
त्यौं ही सखी लोक सबै गावैगो धमारि, धीर-
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो।

सावधान होहु री बियोगिनी सँभारि तन,
अतन तनक ही मैं तापन ते तावैगो ;
धीरज नसावत, बढावत बिरह, काम
कहर मचावत बसंत अब आवैगो ।

❀ ❀ ❀

राजा (आश्चर्य से)—अहाहा ! जैसे रूप का ख़ज़ाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गए। यह रूप, यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन ! कुछ कहा नहीं जाता। मालूम होता है, यह नहाकर बाल सुखा रही थी, उसी समय पकड़ आई है। अहा ! धन्य है इसका रूप ! इसकी चितवन कलेजे मे से चित्त को जोराजोरी निकाल लेती है। इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है। अहा ! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं, मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते है। काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहावने हो रहे है, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए है। बाल हाथो में लिए है, उनसे पानी की बूँदें ऐसी टपकती है, मानो चंद्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलो ने नागिनी को ऐसा दबाया है कि उसकी पूँछ से अमृत बहा जाता है। भीगे वस्त्र से छोटे-छोटे इसके कठोर कुच अपनी ऊँचाई और श्यामताई से यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी-गोरी जाँघे इसकी चिपके हुए भीगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं, तो भी यह उनको दबाए देती है, वरंच इसी अंग उघरने से यह लजाकर सकपकानी-सी भी हो रही है, और योगबल से, खिँच आने से, जो कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो-होकर भूले हुए मृग-छौने की भाँति अपने चंचल नेत्र नचाती है।

❀ ❀ ❀

विच० । गोरे तन कुंकुम सुरँग प्रथम न्हवाई बाल ,
राजा । सो तो जनु कंचन तप्यो होन पीत सों लाल ।
विच० । इंद्रनील-मनि - पैंजनी ताहि दई पहिराय ,
राजा । कमल-कली जुग घेरिकै अलि मनु बैठे आय ।
विच० । सजी हरित सारी सरिस जुगल जंघ कहँ घेरि ;
राजा । सो मनु कदली-पात निज खंभन लपट्यो फेरि ।
विच० । पहिराई मनि-किंकिनी छीन सु कटि-तट लाय ;
राजा । सो सिँगार - मंडप बँधी बंदनवार सुहाय ।

विच० । गोरे कर कारी चुरी चुनि पहिराई हाथ ;
राजा । सो साँपिनि लपटी मनहुँ चंदन-साखा साथ ।
विच० । निज कर सों बाँधन लगी चोली तब वह बाल ;
राजा । सो मनु खीचत तीर भट तरकस ते तेहि काल ।
विच० । लाल कंचुकी मैं उगे जोबन जुगल लखात ;
राजा । सो मानिक-संपुट बने मन-चोरी हित गात ।
विच० । बड़े - बड़े मुक्तान सो गल अति सोभा देत ;
राजा । तारागन आए मनो निज पति ससि के हेत ।
विच० । करनफूल जुग करन मै अति ही करत प्रकास ;
राजा । मनु ससि लै द्वै कुमुदिनी बैठ्यो उतरि अकास ।
विच० । बाला के जुग कान मै बाला सोभा देत ;
राजा । स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ पियत मकर करि हेत ।
विच० । जियरंजन खंजन-दृगनि अंजन दियो बनाय ;
राजा । मनहुँ सान फेरयो मदन जुगल बान निज लाय ।
विच० । चोटी गुँथि पाटी सरस करिकै बाँधे केस ,
राजा । मनहुँ सिँगार इकत्र ह्वै बँध्यो बार के बेस ।
विच० । बहुरि ओढ़ाई ओढ़नी अतर-सुबास बसाय ;
राजा । फूल-लता लपटी किरन रबि-ससि की मनु आय ।
विच० । यहि बिधि सों भूषित करी भूषन-बसन बनाय ;
राजा । काम बाग झालरि लई मनु बसंत ऋतु पाय ।

❀ ❀ ❀

मनभावनि भइ साँझ सुहाई ;
दीपक प्रगटि कमल सकुचाने, प्रफुलित कुमुदिनि निसि ढिग आई ।
ससि-प्रकास पसरित तारागन उगन लगे नभ मै अकुलाई ;
साजत सेज सबै जुवतीजन पीतम हित हिय देत बढ़ाई ।
फूले रैनि फूल बागन मै, सीतल पवन चली सुखदाई ,
गौरी-राग सरस सुर सब मिलि गावत कामिनि काम-बधाई ।

❀ ❀ ❀

तजौ गरब अब चद तुम, भूलौ मति मन माहिँ ;
क्रोध, हसनि, भ्रूभंग छबि, तुममै सपनेहुँ नाहिँ ।

चंद्रावली

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ;
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत।
कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत ;
नारायन, गोबिंद, कृष्ण ये नाम उचारत।
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत ;
जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत जिहि सुनि नर भवजल तरत।
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मन भाई ;
लै अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई।
आरोहन, अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ;
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग मन मोहैं।
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुनगन के प्रगट ;
ये अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तौ हूँ अघट।

* * *

प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हौ, चलौ भला सब अपनी बीरता हमी पर दिखानी थी। हाँ ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, बिराना, सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमैं छोड़ के क्या पाया ? और जो धर्म-उपदेश करो, तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता। निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती। मुँह ढकौ, फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हौ ! चलो वाह ! अच्छी प्रीति निबाही। जो हो, तुम जानते ही हौ, हाय कभी न करूँगी। यों ही सही, अंत मरना है। मैंने अपनी ओर से खबर दे दी। अब मेरा दोष नहीं, बस।

केवल तुम्हारी

* * *

देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय मैं बिरह-घटा घहरि-घहरि उठै ;
त्यौं ही इंद्रधनु, बगमाल देखि बनमाल
मोती-लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै।
'हरिचंद' मोर-पिक-धुनि सुनि बंसी-नाद
बाँकी छबि बार-बार छहरि-छहरि उठै ;

देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत-
पट - छोर मेरे हिय फहरि - फहरि उठै।

❀ ❀ ❀

जोगिनि मुख पर लट लटकाई ;
कारी, घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई।
छूटे केस, गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई ;
साँचे - ढरी प्रेम की मूरति अँखिया निरखि सिराई।

❀ ❀ ❀

तरनितनूजा - तट तमाल - तरुवर बहु छाए ;
झुके कूल सों जल - परसन - हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा ;
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनु आतप - बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ;
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन, मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ;
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ;
कै उमँगे प्रिय - प्रिया - प्रेम के अनगिन गोभा।
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई ;
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई।
कै पिय - पद - उपमान जानि यहि निज उर धारत ;
कै मुख करि बहु भृंगन मिसि अस्तुति उचारत।
कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आईं ;
कै ब्रज - तियगन - बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल बगरे फिरत ;
कै जानि लच्छमी - भौन यहि करि सतधा निज जल धरत।
परत चंद प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो ;
लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो।
मनु हरि - दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो ;
कै तरंग - कर मुकुर लिए सोभित छबि - छायो।
कै रास - रमन मैं हरि - मुकुट - आभा जल दिखरात है ;
कै जल - उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है।

कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ;
पवन-गवन-बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै,
कै तरंग की डोर हिँडोरन करति कलोलै।
कै बाल-गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती ;
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती।
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल ;
कै तारागन गगन लुकत प्रगटत ससि अबिकल।
कै कालिंदी नीर-तरंग जिते उपजावत ;
तितने ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत।
कै बहुत रजत-चकई चलत, कै फुहार-जल उच्छरत ;
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत।
कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत ;
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत ;
सुक, पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पंछी करत ;
जलपान, न्हान करि सुख-भरे तट-सोभा सब जिय धरत।

❀ ❀ ❀

पचि मरत बृथा सब लोग जोग-सिर-धारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।
बिरहागिनि-धूनी चारो ओर लगाई ;
बंसी-धुनि की मुद्रा कानों पहिराई।
अँसुअन की सेली गल मैं लगत सुहाई ;
तन धूरि जमी, सोइ अंग भभूति रमाई।
लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।
यह है सुहाग का अचल हमारे बाना ;
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना।
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना ;
कर चूरी, मुख में रंग तमोल जमाना।

पीना प्याला भर रखना वही खुमारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।
है पथ हमारा नैनो के मत जाना ;
कुल, लोक, बेद सब औ' परलोक मिटाना।
सिवजी - से जोगी को भी जोग सिखाना ;
'हरिचंद' एक प्यारे से नेह बढ़ाना।
ऐसे बियोग पर लाख जोग बलिहारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।

❀ ❀ ❀

कहै को चंद-बदन की सोभा ;
जाको देखत नगर-नारि को सहजहि ते मन लोभा।
मनु चंदा आकास छोड़ि कै भूमि लखन को आयो ;
कैधौं काम बाम के कारन अपनो रूप छिपायो।
भौहें कमान कटाच्छ बान से अलक भ्रमर घुंघरारे ;
देखत ही बेधत है मन-मृग, नहिं बचि सकत बिचारे।

भारत-दुर्दशा

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई। ध्रुव।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन, बल दीनो ;
सबके पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो ;
सबके पहिले बिद्याफल जिन गहिं लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई।
जहँ भए साक्य, हरिचंदऽरु नहुस, जजाती,
जहँ राम, जुधिष्ठिर, बासुदेव, सरजाती।
जहँ भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती ;
तहँ रही मूढ़ता, कलह, अबिद्या राती।
अब जहँ देखहु, तहँ दुःख - हि - दुःख दिखाई ;
हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई।
लरि बैदिक, जैन डुबाई पुस्तक सारी ;
करि कलह बुलाई जवन-सैन पुनि भारी।

तिन नासी बुधि, बल, बिद्या, धन बहु बारी ;
छाई अब आलस - कुमति - कलह - अँधियारी ।
भय अंध, पंगु सब दीन - हीन बिलखाई ;
हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई ।
अँगरेज राजसुख-साज सजे सब भारी ;
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ।
ताहू पै महँगी काल - रोग बिस्तारी ;
दिन - दिन दूने दुख ईस देत हा-हारी ।
सबके ऊपर टिक्कस की आफति आई ;
हा - हा ! भारत - दुर्दसा न देखी जाई ।

* * *

उपजा ईश्वर - कोप से आया भारत बीच ;
छार-खार सब हिंद करूँ मैं तो उत्तम, नहिँ नीच ।
मुझे तुम सहज न जानो जी ;
मुझे यक राक्षस मानो जी ।
कौड़ी - कौड़ी को करूँ मैं सब को मुहताज ;
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ॥ मुझे० ॥
काल भि लाऊँ, महँगी लाऊँ और बुलाऊँ रोग ;
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग मे सोग ॥ मुझे० ॥
फूट, बैर औ' कलह बुलाऊँ, लाऊँ सुस्ती, जोर ;
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर ॥ मुझे० ॥
काफिर, काला नीच पुकारूँ तोड़ूँ पैर औ' हाथ ;
दूँ इनको संतोष, खुसामद, कायरता भी साथ ॥ मुझे० ॥
मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ूँ महँगा करके अन्न ;
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ धन्न है मुझको धन्न ॥ मुझे० ॥

* * *

रचि बहु बिधि के बाक्य पुरानन माहिँ घुसाए ;
सैव, साक्त, बैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए ।
जाति अनेकन करीं, नीच अरु ऊँच बनायो ;
खान-पान-संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो ।
जन्म-पत्र बिन मिले ब्याह नहिँ होन देत अब ;
बालकपन में ब्याहि प्रीति, बल नास कियो सब ।

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल, बीरजु मारयो ;
बिधवा-ब्याह निषेध कियो, बिभिचार प्रचारयो।
रोकि बिलायत-गमन, कूप-मंडूक बनायो ;
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देबी, देवता, भूत-प्रेत पुजाई ;
ईस्वर सो सब बिमुख किए हिंदू घबराई।

❀ ❀ ❀

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नही अच्छा ;
मर जाना पै उठ के कहीं जाना नही अच्छा।
बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा ;
बंदर की तरह धूम मचाना नही अच्छा।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो तो हो ;
पर जीभ बिचारी को सताना नही अच्छा।
फाक़ों से मरिए, पर न कोई काम कीजिए ;
दुनिया नहीं अच्छी है, जमाना नही अच्छा।
सिजदे से गर बिहिश्त मिलै, दूर कीजिए ;
दोज़ख़ हि सही, सर का झुकाना नही अच्छा।
मिल जाय हिंद ख़ाक में, हम काहिलों को क्या ;
ऐ मीरे-फ़र्श रंज उठाना नही अच्छा।

❀ ❀ ❀

दूध सुरा, दधि हू सुरा सुरा अन्न धन, धाम ;
बेद सुरा, ईस्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम।
जाति सुरा, बिद्या सुरा, बिनु मद रहै न कोइ ;
सुधरी आजादी सुरा, जगत सुरामय होइ।
ब्राह्मन, छत्री, बैस्य अरु सैयद, सेख, पठान ;
दे बताय मोहिँ कौन, जो करत न मदिरा-पान।
पियत भट्ट के ठट्ट अरु गुजरातिन के बृंद ;
गौतम पियत आनंद सो पियत अग्र के नंद।
होटल मै मदिरा पियैं, चोट लगै नहिँ लाज,
लोट लिए ठाढ़े रहत, टोटल दीबे काज।
मद्यहि के परभाव सो रचत अनेकन ग्रंथ ;
मद्यहि के परकास सों लखत धरम को पंथ।

मद पी बिधि जग को करत, पालत हरि करि पान ;
मद्यहि पी कै नास सब करत संभु भगवान।
सोक-हरनि, आनँद - करनि, उमँगावनि सब गात ;
हरि मैं तप बिनु लय-करनि केवल मद्य लखात।

* * *

छठा दृश्य

[स्थान—गभीर वन का मध्य भाग]

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

[भारत-भाग्य का प्रवेश]

भारत-भाग्य—(गाता है—राग चैती-गौरी)

जागो, जागो रे भाई ;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।
निसि की कौन कहे, दिन बीत्यो, कालराति चलि आई ;
देखि परत नहिँ हित - अनहित कछु परे बैरि - बस जाई।
निज उद्धार - पंथ नहिँ सूझत, सीस धुनत पछिताई,
अबहूँ चेति पकरि राखौ किन, जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिँ ह्वै है, रहि जैहौ मुँह बाई ;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।

(भारत को जगाता है, और भारत जब नहीं जागता, तब अनेक यत्न से फिर जगाता है। अंत में हारकर उदास होकर)

हाय! भारत को आज क्या हो गया है? क्या निस्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है? हाय! क्या भारत के फिर वे दिन न आवेंगे? हाय! यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था?—

भारत के भुज-बल जग रच्छित ; भारत-विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत - तेज जगत बिस्तारा ; भारत - भय कंपत संसारा।
जाके तनिकहिँ भौंह हिलाए ; थर - थर कंपत नृप डर पाए।
जाके जय की उज्जल गाथा ; गावत सब महि मंगल साथा।
भारत - किरन जगत उजियारा ; भारत - जीव जियत संसारा।
भारत बेद, कथा, इतिहासा ; भारत बेद - प्रथा परकासा।
फिनिक, मिसिर, सीरीय, युनाना ; भे पंडित लहि भारत - ज्ञाना।
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा ; ज्वलित अनल-समान अवनीसा।

साहस, बल इन सम कोउ नाहीं ; तबै रह्यौ महिमंडल माही।
कहा करी तकसीर तिहारी ; रे बिधि, रुष्ट याहि की बारी !
सबै सुखी जग के नर-नारी ; रे बिधना, भारतहि दुखारी !
हाय रोम ! तू अति बड़भागी ; बर्बर तोहिं नास्यो जय लागी।
तोरे कीरति-थंभ अनेकन ; ढाहे गढ़ बहु करि प्रन टेकन।
मदिर, महलनि तोरि गिराए ; सबै चिह्न तुव धूरि मिलाए।
कछु न बची तुव भूमि-निसानी; सो बरु मेरे मन अति मानी।
भारत-भाग न जात निहारे ; थाप्यो पग तो सीस उघारे।
तोरयो दुर्गन, महल ढहायो , तिनही मै निज गेह बनायो।
ते कलंक सब फेरत फेरे ; ठाढ़े अजहूं लखो घनेरे।
कासी, प्राग, अजोध्या-नगरी ; दीन - रूप सम ठाढ़ी सगरी।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई; रहीं सबै भुव मुँह-मसि लाई।
हाय पंचनद, हा पानीपत ; अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत।
हाय चितौर, निलज तू भारी; अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो; तेहि दिन क्यो नहिँ धरनि समायो।
रह्यौ कलंक न भारत-नामा ; क्यों रे तू बारानसि - धामा।
सब तजिकै, भजिकै दुख भारो; अजहुँ बसत करि भुव मुख कारो।
अरे अग्रबन तीरथराजा ; तुमहुँ बचे अबलौं तजि लाजा।
पापिनि सरजू, नाम धराई, अजहूं बहति अवध - तट जाई।
तुममै जल नहिँ जमुना, गंगा; बढ़हु बेगि करि तरल तरंगा।
धोवहु यह कलंक की रासी; बोरहु किन झट मथुरा, कासी।
कुस, कन्नौज, अंग अरु बंगहि; बोरहु किन निज कठिन तरंगहि।
बोरहु भारत - भूमि सबेरे ; मिटै करक जिय के तब मेरे।
अहो भयानक भ्राता सागर; तुम तरंग - निधि अति बल - आगर।
बोरे बहु गिरि, बन, अस्थाना; पै बिसरे भारत हित जाना।
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई; देहु भरत - भुव तुरत डुबाई।
घेरि छिपावहु बिंध्य, हिमालय; करहु सकल जल भीतर तुम लय।
धोवहु भारत-अपजस-पंका ; मेटहु भारत - भूमि - कलंका।

हाय ! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे !—

जेहि छिन बलभारे ; हे सबै तेग धारे।
तब सब जग धाई , फेरते हे दुहाई।

जग - सिर पग धारे; धावते रोस भारे।
विपुल अवनि जीती; पालते राजनीती।
जग इन बल काँपै; देखि कै चंड दापै।
सोइ यह पिय मेरे; है रहे आज चेरे।

ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान, करते अमृतोपम वेद-गान।
तब मोहत सब नर-नारि-बृंद; सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद।
जग के सब ही जन धारि स्वाद; सुनते इन ही का बीन-नाद।
इनके सुर होतो सजहिं मैन; इन ही कुल नारद, तानसैन।
इन ही के क्रोध कीन्हे प्रकास; सब काँपत भूमंडल, अकास।
इन ही के हुंकृति-सब्द घोर; गिरि काँपत है सुनि चारि ओर।
जब लेत रहे कर मैं कृपान; इन ही कहँ हो जग तृन-समान।
सुनि कै रन-बाजन खेत माहिं; इन ही कहँ हो जिय संक नाहिं।

याही भुव महँ होत है हीरक, आम, कपास;
इत ही हिम-गिरि, गंग-जल, काव्य-गीत परकास।
जाबाली, जैमिनि, गरग, पातंजलि, सुकदेव;
रहे भारतहि अंक मैं कबहिं सबै भुवदेव।
याही भारत मध्य मैं रहे कृष्ण-मुनि-ब्यास;
जिनके भारत-गान सों भारत-बदन प्रकास।
याही भारत मैं रहे कपिल, सूत, दुरबास;
याही भारत मैं भए साक्यसिंह संन्यास।
याही भारत मैं गए मनु, भृगु आदिक होइ;
तब तिनसों जग मैं रह्यौ घृना करत नहिं कोइ।
जासु काव्य सो जगत मधि अब लौं ऊँचो सीस;
जासु राज-बल, धर्म की तृषा करहिं अवनीस।
सोई ब्यास अरु राम के बंस सबै संतान;
ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन, रूप समान।
सोई बंस, रुधिरहु वही, सोई मन बिस्वास;
वही बासना, चित वही, आसय वही बिलास।
कोटि-कोटि ऋषि पुन्य-तनु, कोटि-कोटि अति सूर;
कोटि-कोटि बुध, मधुर कबि मिले इहाँ की धूर।
सोइ भारत की आज यह भई दुर्दसा हाय;
कहा करैं, कित जायँ, नहिं सूझत कछू उपाय।

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोह-निद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नही । सच है, जो जान-बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा ?

हा दैव ! तेरे विचित्र चरित्र है । जो कल राज करता था, वह आज जूते मे टाँका उधार लगवाता है । कल जो हाथी पर सवार फिरते थे, वे आज नंगे पॉव वन की धूल उड़ाते फिरते है । कल जिनके घर लड़के-लड़कियो के कोलाहल से कान नही दिया जाता था, आज उनका नाम-लेवा और पानी-देवा कोई नही बचा, और कल जो घर अन्न-धन-पूत-लक्ष्मी हर तरह से भरे-पुरे थे, आज उन घरों मे तूने दिया बालनेवाला भी नहीं छोड़ा !

हा ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाण भट्ट प्रभृति कवियो के नाम-मात्र से, अब भी, सारे संसार से, ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम, रूस तक माना जाता था, उस भारत का यह दुर्दशा ! जिस भारत मे राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र-चरित्र लोग हो गए हैं, उसकी यह दशा ! हाय, भारत भैया, उठो । देखो, विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है । अब सोने का समय नहीं है । अँगरेजी का राज्य पाकर भी न जगे, तो कब जगोगे ? मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए । अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहचाना । विद्या की चर्चा फैल चली । सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आईं । तुमको उस पर भी वे ही साधो बातें, भाँग के गोले, ग्राम्य गीत, वही बाल्य-विवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि, वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने मे प्रीति और सत्यानाशी चाल !

हाय ! अब भी भारत की यह दुदशा ! अरे, अब क्या चिता पर सँभलेगा ? भारत भाई, उठो, देखो, अब यह दुःख नही सहा जाता । अरे, कब तक बेसुध पड़े रहोगे ? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया । छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उस पर भी नहीं चेतते । हाय ! मुझसे तो अब यह दशा नही देखी जाती । प्यारे, जागो (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय ! इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है । किसी तरह होश मे नहीं आता । हा भारत ! तेरी क्या दशा हो गई । हे करुणासागर भगवान् ! इधर भी दृष्टि कर । हे भगवती राजराजेश्वरी ! इसका हाथ पकड़ो । (रोकर) अरे, कोई नहीं, जो इस समय अवलंब दे । हा, अब मै जीकर क्या करूँगा । जब भारत-ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा मे

पड़ा है, और मै उसका उद्धार नही कर सकता, तो मेरे जीवन को धिक्कार है! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मै जीता रहूँ, तो बड़ा कृतघ्न हूँ। **(रोता है)** हा विधाता! तुझे यही करनी थी। **(आतंक से)** छिः-छिः, इतना क्लैब्य क्यों? इस समय यह अधीरजपना! बस, अब धैर्य। **(कमर से कटार निकालकर)** भाई भारत! मै तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ। मुझसे वीरो का कर्म नही हो सकता, इसी से कायर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ। **(ऊपर हाथ उठाकर)** हे सर्वांतर्यामी! हे परमेश्वर! जन्म-जन्म मुझे भारत-सा भाई मिले, जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो। **(भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर)** भैया, मिल लो। अब मैं बिदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नही उठाते? मै ऐसा बुरा हो गया क्या कि जन्म-भर के वास्ते बिदा होता हूँ, तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते? मै ऐसा ही अभागा हूँ, तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या? बस, यह लो! **(कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनिका-पतन)**

नीलदेवी

धनि-धनि भारत की छत्रानी ;
बीर-कन्यका, बीर - प्रसविनी, बीर - बधू जग जानी।
सती-सिरोमनि, धरम-धुरंधर, बुधि-बल-धीरज-खानी ;
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी।

❀ ❀ ❀

सब मिलि गाओ प्रेम-बधाई ;
यहि संसार रतन यक प्रेमहि, और बादि चतुराई।
प्रेम बिना फीकी सब बातैं कहहु न लाख बनाई ;
जोग, ध्यान, जप, तप, ब्रत, पूजा प्रेम बिना बिनसाई।
हाव-भाव, रस - रंग - रीति बहु काव्य - केलि - कुसलाई ;
बिना लोन बिंजन सो सब ही प्रेम-रहित दरसाई।
प्रेमहि सो हरि हू प्रगटत हैं, जदपि ब्रह्म जगराई ;
तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई।

❀ ❀ ❀

इस राजपूत से रहो हुशियार, ख़बरदार ;
ग़फ़लत न ज़रा भी हो, ख़बरदार, ख़बरदार।
ईमाँ कि क़सम दुश्मने-जानी है हमारा ;
काफ़िर है ये पंजाब का सरदार, ख़बरदार।

अज़दर है, भभूका है, जहन्नुम है, बला है,
बिजली है, ग़ज़ब इसकी है तलवार, ख़बरदार।
दरबार में वह तेग़े-शररवार न चमके,
घर-बार से बाहर से भी हर बार ख़बरदार।
इस दुश्मने-ईमाँ को ह धोके से फँसाना;
लड़ना न मुक़ाबिल कभी ज़िनहार, बरदार।

❀ ❀ ❀

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाहीं;
जागत ही सब रहैं, रैनि हू सोवहिँ नाहीं।
कसे रहैं कटि राति-दिवस सब बीर हमारे,
अस्व-पीठि सो होहिँ चारजामे जनि न्यारे।
तोड़ा सुलगत चढे रहैं घोड़ा बंदूकन;
रहैं खुली ही म्यान, प्रतंचे नहिँ उतरैं छन।
देखि लेहिँगे कैसे पामर जवन बहादुर;
आवहिँ तो चढि सनमुख कायर, कूर सबै जुर।
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिँ चखाई;
जो पै यक छन हू सनमुख ह्वै करहिँ लराई।

❀ ❀ ❀

पिकदानो चपरगट्टू ख़ाँ है [बस] नाम हमारा;
यक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा।
उमरा जो कहे रात, तो हम चाँद दिखा दें;
रहता है ख़ुशामद से भरा जाम हमारा।
कपड़ा किसी क, खाना कहीं, सोना किसी जा;
ग़ैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा।
हो रंज जहाँ, पास न जाएँ कभी उसके;
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा।
ज़र दीन है, ईमान है, क़ुरआँ है, नबी है;
ज़र ही मेरा अल्लाह है, ज़र राम हमारा।

❀ ❀ ❀

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

अब सुख-सूरज को उदै नहीं इत ह्वैहै
सो दिन फिरि इत अब सपनें हू नहिं ऐहै।
स्वाधीनपनो, बल, धीरज सबै नसैहै,
मंगलमय भारत-भुव मसान ह्वै जैहै।
दुख-ही-दुख करिहै चारिहु ओर प्रकासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
इत कलह, बिरोध सबन के हिय घर करिहै;
मूरखता को तम चारिहु ओर पसरिहै।
बीरता, एकता, ममता दूरि सिधरिहै;
तजि उद्यम सब ही दास-वृत्ति अनुसरिहै।
ह्वै जैहैं चारिहु बरन सूद्र बनि दासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
ह्वै हैं इन के सब भूत-पिसाच-उपासी;
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयंप्रकासी।
नसि जैहैं सिगरे सत्य-धर्म अबिनासी;
निज हरि सों ह्वैहैं बिमुख भरत-भुव-बासी।
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ बिलासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
अपनी बस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई;
निज चाल छोंड़ि गहिहैं औरन की धाई।
तुरकन-हित करिहैं हिंदुन संग लराई;
जवनन के चरनहि रहिहै सीस चढ़ाई।
तजि निज कुल करिहैं नीचन-संग निबासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
रहे हमहु कबहुँ स्वाधीन आर्य बल-भारी;
यह देहैं जिय सों सब ही बात बिसारी।
हरि बिमुख, धरम बिनु धन-बल-हीन, दुखारी;
आलसी, मंद, तन-छीन, छुधित संसारी।
सुख सों सहिहैं सिर जवन-पादुका त्रासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

❀ ❀ ❀

कहाँ करुनानिधि केसव, सोए !
जागत नेकु न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए।
यक दिन वह हो, जब तुम छिन नहिँ भारत-हित बिसराए ;
इत के पसु-गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
यक-यक दीन, हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई ;
अपनी संपति जानि इनहि तुम रह्यो, तुरंतहि धाई।
प्रलय-काल-सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी ;
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी !

❀ ❀ ❀

चलहु बीर, उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ ;
लेहु म्यान सों खरग खींचि, रन-रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठौ, धनुष पै धरि सर साधौ,
केसरिया बानो सजि-सजि रन-कंकन बाँधौ।
जौ आरजगन एक होय निज रूप सँभारैं,
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद विचारैं।
तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी ;
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ?
पद-तल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस जवन-चय ;
तनिकहुँ संक न करहु, धर्म जित, जय तित निश्चय।
चिउँटिहु पद-तल दबे डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक ;
ये प्रतच्छ अरि, इनहिँ उपेछै जौन, ताहि धिक !
धिक तिन कहँ, जे आर्य होइ जवनन को चाहैं !
धिक तिन कहँ, जे इनसों कछु संबंध निबाहैं !
मारू बाजे बजैं, कहूँ धौंसा घहराहीं ;
उड़हिँ पताका, सत्रु-हृदय लखि-लखि थहराहीं।
चारन बोलहिँ आर्य-सुजस, बंदी गुन गावैं ;
छुटहिँ तोप घनघोर, सबै बंदूक चलावैं।
चमकहिँ असि, भाले दमकहिँ, ठनकहिँ तन बख्तर ;
हींसहिँ हय, झनकहिँ रथ, गज चिक्करहिँ समर-थर।

अंधेर-नगरी

अंधेर-नगरी, अनबूझ राजा ; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा।
नीच-ऊँच सब एकहि ऐसे ; जैसे भँड़ुए, पंडित तैसे।

कुल-मरजाद न मान-बड़ाई; सबै एक-से लोग - लुगाई।
जाति-पाँति पूछै नहिँ कोई; हरि का भजै, सो हरि का होई।
बेस्या, जोरू एक समाना; बकरी, गऊ एक करि जाना।
साँचे मारे मारे डोलैं; छली, दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं।
प्रगट सभ्य, अंतर छलधारी; सोई राजसभा बल भारी।
साँच कहै, ते पनही खावैं; झूठे बहु बिधि पदवी पावैं।
छलियन के एका के आगे; लाख कहौ, एकहु नहिँ लागे।
भीतर होइ मलिन की कारो; चहिए बाहर रँग चटकारो।
धर्म, अधर्म एक दरसाई; राजा करै, सो न्याव सदाई।
भीतर स्याही, बाहर सादे; राज करहिँ अमले अरु प्यादे।
अंधाधुंध मच्यो सब देसा; मानहु राजा रहत बिदेसा।
गो, द्विज, स्रुति आदर नहिँ होई; मानहु नृपति बिधर्मी कोई।
ऊँच, नीच सब एकहि सारा; मानहुँ ब्रह्म - ज्ञान बिस्तारा।
अंधेर-नगरी, अनबूझ राजा; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।

यह माया हरि की कलवारिनि, मद पियाय राखा बौराई;
एक पड़ा भुइयाँ माँ लोटै, दूसर कहै चोखि दे भाई।
ऐसा है कोइ हरिजन मोदी, तन की तपन बुझावेगा;
पूरन प्याला पियै हरी का, फेर जनम नहिँ पावेगा।
तिल - भरि मछरी खाइबो, कोटि गऊ को दान;
ते नर सीधे जात हैं सुरपुर बैठि बिमान।
कलवारिन मदमाती काम - कलोल;
भरि-भरि देति पियलवा महा ठठोल।

विशिष्ट नामों की तालिका